भारतीय राजनीति और शासन

भारतीय राजनीति और शासन

[१८५८ से]

लेखक

के० आर० बम्वाल

एम० ए०, यू० पी० ई० एस०

सहायक प्रोफेसर, राजनीति विभाग

डी० बी० एस० राजकीय डिग्री कालेज, नैनीताल

१९५५

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

मूल्य आठ रुपये आठ आना

मुद्रक
रसिक प्रिन्टर्स
५, सन्त नगर
करोलबाग, नई दिल्ली

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मेरी *Indian Politics and Government*, जिसे भारतीय विश्वविद्यालयों के राज्य-विज्ञान के छात्रों के लिए लिखा गया था, का हिन्दी रूपान्तर है। इसका विषय भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन और वैधानिक विकास का इतिहास है। मूल पुस्तक को तैयार करने में लेखक ने अपने व्यक्तिगत अनुसन्धान के अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थकारों की सहायता से भी लाभ उठाया था, और उनके प्रति अपने ऋण को पादटिप्पणियों और अन्त में दी गई पुस्तक-सूची में स्वीकार किया था। भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम के विषय में निपट अवैयक्तिक दृष्टिकोण रखना असम्भवप्राय है, फिर भी लेखक ने इस संग्राम के विभिन्न चरणों, ब्रिटिश सरकार द्वारा इसका सामना करने के हेतु अपनायी गई नीतियों और समय-समय पर भारत में किए वैधानिक सुधारों का संतुलित निरूपण और मूल्यांकन करने का यथासम्भव प्रयत्न किया था।

Indian Politics and Government का यह अनुवाद तैयार तो लगभग दो वर्ष पूर्व ही हो गया था, परन्तु कुछ अप्रत्याशित कठिनाइयों के परिणाम-स्वरूप इसके प्रकाशन में विलम्ब हुआ है। ऐसी दशा में दो-एक स्थानों पर संशोधन की आवश्यकता प्रतीत होती है। आशा है यह त्रुटियाँ अगले संस्करण में दूर हो जायेंगी। यह अनुवाद मेरी धर्मपत्नि और गुरुभक्त शिष्य श्री विश्वप्रकाश के परिश्रम का फल है। श्री विश्वप्रकाश का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ, क्योंकि उन्होंने अनुवाद के साथ मूल सामग्री में यत्र-तत्र महत्त्वपूर्ण परिवर्धन कर दिए है। अतएव आशा है कि यह पुस्तक छात्रों के लिए *Indian Politics and Government* से भी अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

के० आर० बम्वाल

विषय सूची

भारतीय राजनीति
और
शासन

अध्याय १

विषय-प्रवेश

१. अँग्रेजों की भारत-विजय

१८४९ मे पजाब मे सिक्ख राज्य के अन्त के साथ ही भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापन और सगठन का कार्य भी पूरा हो गया। विदेशी शासन की छाया इस विस्तृत प्रायद्वीप के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रसरित हो गई। वस्तुत अँग्रेजो की भारत विजय एक मद, अव्यवस्थित और खडश सम्पन्न प्रक्रिया थी। यह विजय केवल सामरिक विजय ही नही थी। भारत मे अपने राज्य-विस्तार के लिए अँग्रेजो ने कई उपायो का प्रयोग किया। इनमे सबसे प्रभावशाली उपाय देशी नरेशो की पारस्परिक ईर्ष्या से लाभ उठाना था। इस चाल मे अँग्रेज अपने विपक्षी फ्रासीसियो से बाजी मार ले गये। पहले पहल उन्होने दीवानी के रूप मे भारतीय प्रदेश पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया, तत्पश्चात् दुहरे शासन का छद्मवेश उतार फेका और अन्त मे वे स्वय शासक ही बन बैठे। इङ्गलैड के अधिपति चार्ल्स द्वितीय ने बम्बई को १० पौंड प्रति वर्ष के पट्टे पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हवाले कर दिया। कम्पनी ने निजाम के शासनाधीन प्रदेश मे ब्रिटिश सैन्यदल के प्रतिपालन हेतु बरार को निजाम से नकद वेतन के बदले मे ले लिया। लॉर्ड डलहौजी की बेदखली की नीति भी बहुत से देशी राज्यो को ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत लाने मे सफल हुई। पजाब को तलवार की नोक के बल पर जीता गया। इस प्रकार, अँग्रेजो ने कूटनीति, सैनिक-विजय और अनैतिक उपायो का अवलम्बन लेकर भारत मे अपने साम्राज्य का निर्माण किया।

मद, अव्यवस्थित और खडशः सम्पन्न प्रक्रिया

अँग्रेज़ भारत मे व्यापारी बनकर आये थे और यहाँ शासक बन कर रहे। कतिपय कहा करते हैं कि परिवर्त्तन आकस्मिक ही हो गया। माना कि भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना और विस्तार करते समय किसी पूर्व निश्चित योजना के अनुसार काम नही हुआ। फिर भी इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि सत्रहवी शताब्दी की समाप्ति के पूर्व भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रधान सर जोशिया चाइल्ड ने "भारत मे **सदैव के लिए** एक विशाल और सुदृढ अँग्रेजी राज्य की नीव डालने" का उद्देश्य अपने सम्मुख रक्खा था। लेकिन सर जोशुआ के उत्तराधिकारी इस नीति से सहमत नही थे और उन्होंने साधारणतया साम्राज्य-स्थापन की नहीं, प्रत्युत वाणिज्य-विस्तार की ही नीति का पालन किया। १७४६ ई० मे कर्नल जेम्स मिल्स नामक एक व्यक्ति ने बगाल की विजय के लिये एक योजना तय्यार की थी। परन्तु चूँकि ब्रिटिश अधिकारी ऐसी किसी योजना के प्रति उदासीन थे, अत उसने अपनी योजना आस्ट्रिया के सम्राट् के सम्मुख रक्खी। यह ठीक है कि ईस्ट इडिया कम्पनी के सचालको ने राज्य-विस्तार सम्बन्धी नीति का बहुधा विरोध भी किया, परन्तु फिर भी यह तर्क बिल्कुल निराधार है कि अँग्रेजो ने भारत, मस्तिष्क की अर्द्ध चेतन अवस्था मे जीता। हो सकता है कि सुदूर ब्रिटेन मे स्थित कम्पनी के सचालको ने भारतीय प्रदेशो मे सत्वर बढते हुए अँग्रेजी प्रभुत्व का सदैव विचार या समर्थन न किया हो। लेकिन भारत मे स्थित कम्पनी के कर्मचारी इस बात को भली भाँति जानते थे कि उन्हे क्या करना है। ७ जून १७५९ को क्लाइव ने **अर्ल ऑफ चैथम** को भारत मे "एक ऐसी सेना निरन्तर तय्यार रखने के सम्बन्ध में लिखा था जो प्रथम अवसर आते ही उनकी साम्राज्य-विस्तार विषयक महत्वाकाक्षा की पूर्ति मे सहायक हो सके।" अँग्रेजो ने देखा कि भारत मे विद्यमान राजनीतिक अराजकता उन्हे साम्राज्यवादी लिप्सा-पूर्ति का अनुपम अवसर प्राप्त कर रही है और उन्होंने इस स्वर्ण अवसर से लाभ उठाने मे कोई कसर नही छोडी।

क्या अँग्रेजों ने भारत, मस्तिष्क की अर्द्ध चेतन अवस्था में जीता ?

२. विदेशी शासन के दोष—अवनति और असन्तोष

१५० वर्षों से अधिक के अपने सम्पूर्ण शासन-काल मे अँग्रेज़ शासक भारतीय जनता को ब्रिटिश राज्य के तथाकथित वरदानो के मनमोहक वर्णनो के ऊपर ही बहलाते रहे। भारतीय इतिहास के ऊपर लिखी हुई पाठ्य-पुस्तको मे ब्रिटिश शासन-काल मे भारत द्वारा की गई नैतिक एव भौतिक उन्नति के आकर्षक विवरण पर्याप्त मात्रा मे होते थे, लेकिन इस उन्नति के लिए भारत को

ब्रिटिश राज्य के तथाकथित वरदान

क्या मूल्य चुकाना पडा, इसका ऐसी अधिकाश पुस्तको में उल्लेख मात्र भी नही किया जाता था। इस बात को तो अस्वीकार नही किया जा सकता कि ब्रिटिश राज्य ने भारत को रेल, टेलीफोन और टेलीग्राफ आदि सभ्यता के कतिपय बाह्य उपादान प्रदान किये लेकिन यहाँ यह भी स्मर्त्तव्य है कि जापान ने जो उन्नीसवी शताब्दी के मध्यकाल तक सभ्यता की दौड मे बहुत ही पिछडा हुआ देश था, सभ्यता के समस्त उपकरणो को भारत की तुलना मे कही अधिक शीघ्रता से प्राप्त कर लिया, और वह भी बिना किसी विदेशी शासन की आधीनता को स्वीकार किए। भारत का राजनीतिक एव प्रशासनिक एकीकरण जिसका अँग्रेजो को श्रेय दिया जाता है, राष्ट्रीय स्वाधीनता एवं आर्थिक समृद्धि के मूल्य पर सम्पन्न हुआ। इसमे कोई सदेह नही कि पाश्चात्य शिक्षा ने राष्ट्रीय चेतना के विकास मे सहयोग दिया, परन्तु अँग्रेजो ने उसका सूत्रपात परहित की भावना से प्रेरित होकर नही किया था। सच तो यह है कि भारत जैसे विशाल देश का शासन-सचालन करने मे अँग्रेजो को असुविधा होती थी, सम्यक् शासन-सचालन के लिए उन्हे सस्ते क्लर्कों की आवश्यकता थी। अँग्रेजी शिक्षा ने उनकी इस आवश्यकता को पर्याप्त मात्रा मे पूरा किया। पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा ने पहले पहल शिक्षित भारतीयो की आँखो मे तीव्र चकाचौध उत्पन्न की जिसके फलस्वरूप वे धीरे धीरे अपने धर्म, साहित्य और सस्कृति से विमुख होते गए। लेकिन यह चकाचौध कब तक बनी रह सकती थी? इसकी भी एक सीमा थी। जहाँ यह सीमा पार हुई शिक्षित भारतीयों को यह समझते देर न लगी कि विदेशी शासन मे हमारा भयकर राष्ट्रीय पतन हुआ है।

राजनीतिक स्वाधीनता का अपहरण तो अँग्रेजो की भारत-विजय का एक ऐसा परिणाम था, जो बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता था। लेकिन इस राजनीतिक पराधीनता के साथ ही साथ कुछ और भी नतीजे हुए जो यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से तो दिखाई नही दिये परन्तु जिन्होंने भीतर ही भीतर भारत की आर्थिक समृद्धि की जडे काट डाली तथा देश के आध्यात्मिक एव सास्कृतिक पतन का पथ प्रशस्त किया।

भारत का आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दासत्व

जब अँग्रेज भारत में आये, देश समृद्ध था। वस्तुत भारत के धन और ऐश्वर्य ने ही अँग्रेजो को अपनी ओर आकृष्ट किया था। लेकिन अँग्रेजी राज्य की स्थापना देश के आर्थिक ह्रास का कारण बन गई। भारत के श्रेष्ठ हस्त-कला-कौशल एव उद्योग-धन्धे सभी कुछ धीरे धीरे चौपट होगये क्योंकि उन्हे विदेशी उद्योग धन्धो से अत्यन्त प्रतिकूल एव विषम परिस्थितियो मे टक्कर लेनी पडी।

यातायात के साधनो के शीघ्र विकास ने अँग्रेजो को भारत वर्ष में अपनी शक्ति सबल करने मे सहायता दी। इसी समय इङ्गलैंड से मशीनो की बनी वस्तुओ का भारत मे आना और बिकना शुरू हो गया। इसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि भारत की शिल्पकलाओ और घरेलू उद्योगधन्धो को अपार क्षति पहुची। अँग्रेजो ने अवनति करते हुए भारतीय उद्योगधन्धो को तनिक भी सहारा नही दिया। उन्होने तो भारतवर्ष को ब्रिटिश यन्त्रोद्योगो के वास्ते कच्चे माल का प्रदाता और अपने माल का ग्राहक बनाने की निर्धारित नीति का पूर्ण रूप से अनुसरण किया। ब्रिटिश सरकार की इस नीति ने भारत के विश्वविश्रुत जुलाहो के मुँह की रोटी छीनने के लिये लकाशायर और मैचेस्टर के विशाल यन्त्रोद्योगो का मार्ग निष्कटक कर दिया। दूसरी कोई सदय सरकार इस विनाश को रोक सकती थी। अँग्रेज सब कुछ थे, न थे, तो केवल भारत के हितैषी। इसका घातक परिणाम यह हुआ कि सहस्रो शिल्पियो की जीविका का अन्त हो गया और उन्हे कृषि का आश्रय लेना पडा। जब भूमि पर अधिक दबाव पडना प्रारम्भ हुआ, उसकी उर्वरा शक्ति जवाब देने लगी। ऐसी स्थिति मे जनता दु ख-दैन्य मे कराह उठी। इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाता है ब्रिटिश राज्य के कारण भारत को न केवल राजनीतिक पराधीनता ही भोगनी पडी, प्रत्युत उसके पैरो मे आर्थिक दासता की बेडियाँ भी पड गई।

विदेशी शासन की छाया मे भारत के आर्थिक और राजनीतिक पतन के साथ ही साथ, यहाँ के गाँवो मे सहस्रो वर्षो से जो स्व-शासन चला आ रहा था, उसकी भी नीवे हिल गईं। भारतीय ग्रामो की पचायती शासन-व्यवस्था मे मुगल सम्राटो ने भी कोई हस्तक्षेप नही किया था। उन्होने अपनी सत्ता के प्रयोग को लगान-वसूली और सेना की भरती तक ही सीमित रक्खा था। लोक-प्रिय पचायते अधिकाशत उन समस्त कार्यो को करने के लिये स्वतत्र थी जिनका दैनिक जन-जीवन पर प्रभाव पडता था। अँग्रेजो ने भारतवर्ष मे अपने पैर जमाते ही इस परम्परा को उलट दिया। वे देश मे केन्द्रोन्मुखी शासन-पद्धति की स्थापना करने के लिये कटिबद्ध थे। धीरे धीरे ब्रिटिश शासन सम्पूर्ण देश मे व्याप्त होगया और उसने यहाँ की लोक-तन्त्रात्मक सस्थाओ का अन्त कर दिया। यह भारतीय जनता की राजनीतिक आत्म-निर्भरता पर निर्मम आघात था।

गोरे साम्राज्यवादियो के पीछे पीछे क्रिश्चियन मिशनरियो ने भारत मे पदार्पण किया। शासन का उनके शीश पर वरद हस्त था। भारतीय जनता की बढती हुई दरिद्रता और सामाजिक जीवन को खोखले करने वाले बुरे रीति-रिवाजो तथा व्यव-हारो के कारण ईसाई धर्म को अपने प्रचार के लिये व्यापक क्षेत्र मिला। असहनीय दरिद्रता से मुक्ति एव सामाजिक न्याय को पाने की लालसा से लोगों ने बहुत बडी

सख्या मे ईसाई धर्म की दीक्षा ग्रहण की। इस बात का पहले ही सकेत किया जा चुका है कि अग्रेजो ने भारतीयो को मानसिक एव आध्यात्मिक दासता के पाश मे आवद्ध करने के लिये देश मे पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात किया था। अँग्रेज़ी भाषा तथा साहित्य के सौंदर्य तथा पाश्चात्य विचारो की प्राजलता ने भारत के शिक्षित वर्ग को मोह लिया। इस प्रकार, वे ही लोग जिनका देश के लिए सबमे अधिक महत्व था, डाक्टर पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दो मे "विदेशी शासन के उपासक" बन गये। "उस समय जबकि किसान और कारीगर विदेशी शासन के जुए मे अपनी अन्तिम घडियाँ गिन रहे थे, राष्ट्र भौतिक, औद्योगिक, बौद्धिक और नैतिक रूप मे दिवालिया हो रहा था, अँग्रेजियत के रग मे रगे भारतीय नौकरियो तथा पदवृद्धि के लिये सघर्ष कर रहे थे। यह एक ऐसे दुर्बल एव पुरुषत्वहीन राष्ट्र का चित्र था जो न केवल अपना बल ही अपितु आत्मविश्वास भी खो बैठा था और अब अत्यन्त असहाय एव दयनीय अवस्था मे विदेशी शासको की कृपाकोर का याचक था।"*

३. १८५७ का भारतीय विद्रोह

१८५७ का सिपाही विद्रोह भारत के राष्ट्रीय इतिहास की प्रथम महत्वपूर्ण घटना है। कतिपय यूरोपीय इतिहासकारो का दृष्टिकोण रहा है कि वह केवल उन थोडे से असन्तुष्ट सिपाहियो का ही विद्रोह था जिन्हे कुछ अधिकारच्युत एव प्रतिष्ठा-हीन सामन्तो ने अपने स्वार्थ-साधन के लिये भडका दिया था। इसमे तो कोई सन्देह नही कि विद्रोह उस स्वतन्त्रता-आन्दोलन से सर्वथा भिन्न था जिसका सूत्रपात १८५८ से कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् हुआ। विद्रोह के सगठन में शिथिलता थी एवं उसे जनता की वास्तविक तथा अनवरत सहायता भी नही मिली। इसके अतिरिक्त विद्रोह एक प्रजातान्त्रिक और प्रगतिशील आन्दोलन होने की अपेक्षा एक प्रतिगामी आन्दोलन ही अधिक था। लेकिन फिर भी, वह भारत की स्वतन्त्रता का प्रथम युद्ध था, ब्रिटिश शासन को जड से उखाड कर फेंक देने का एक प्रचड और गौरवपूर्ण प्रयास था। उसने विदेशी शासन के प्रति भारत की निष्क्रिय आधीनता के युग का अन्त कर दिया। इसके उपरात राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का सघर्ष, यद्यपि अब उसका रूप दूसरा था, बराबर आगे बढता गया और वह १५ अगस्त १९४७ तक जबकि भारत ने विदेशी शासन से मुक्ति प्राप्त की, जारी रहा।

सन सत्तावन का विद्रोह ब्रिटिश शासन के प्रभाव से उत्पन्न हुए भारतीय जनता के अतुल असन्तोष का आकस्मिक विस्फोट था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लोलुप

* डा. सीतारामय्या: "हिस्ट्री आफ दि नेशनलिस्ट मूवमेंट इन इंडिया, पृ ७०८।"

असन्तोष का प्रचण्ड विस्फोट

नौकरो के दुष्टतापूर्ण कृत्यो, देश के निर्मम आर्थिक शोषण और जनता की बढती हुई दरिद्रता, क्रिश्चियन मिश्नरियों के प्रचार एव पाश्चात्य सस्कृति के प्रसार ने भारत में व्यापक असन्तोष की भावना को उत्पन्न कर दिया था। भारत से विदा लेते समय लॉर्ड डलहौजी का यह दृढ विश्वास था कि मै अपने पीछे शात भारत को छोड़े जा रहा हू। लेकिन वास्तव मे उस समय भारत एक ऐसे ज्वालामुखी के तुल्य था जो अब फटने ही वाला था। सेना मे चरबी लगे कारतूसों के प्रयोग ने तो बारूद मे दियासलाई लगाने भर का काम किया। अवध, सतारा, बीदर और नागपुर के पदच्युत शासको तथा झासी की रानी वीरागना लक्ष्मीबाई ने उस घनीभूत असन्तोष को नेतृत्व एव दिशा प्रदान की।

सन् सत्तावन का विद्रोह अपने उद्देश्य मे सफल न हो सका। अँग्रेज उसका दमन करने मे सफल हुए, लेकिन विद्रोह को दबाने मे अँग्रेजो ने जिस निर्दय और प्रतिहिसात्मक नीति का आचरण किया, हिसा का सामना करते समय जिस पशुता और बर्बरता को अपनाया, चारो ओर जिस भय और आतङ्क की सृष्टि की, वह उनके जातीय जीवन पर कलक का टीका है। गैरेट ने "एन इण्डियन कमेन्ट्री" मे उसका निम्नलिखित शब्दो मे वर्णन किया है, "अँग्रेजो ने अपने सहस्रो बन्दियो को बिना किसी अभियोग की सुनवाई के मौत के घाट उतार दिया, यह सभी भारतीयो की दृष्टि मे बर्बरता की चरम सीमा थी। मुसलमानो को मारने से पहले सूअर की खालों मे सी दिया जाता था, उनपर सूअर की चरबी मल दी जाती थी, फिर उनके शरीर जला दिये जाते थे और हिन्दुओ को बलपूर्वक धर्मभ्रष्ट किया जाता था। हजारो की सख्या मे स्त्री, पुरुष और बालको को न केवल दिल्ली मे प्रत्युत देहातो मे जा जा कर कत्ल किया गया। कुछ गाँवो को अपराधी घोषित कर दिया जाता था और उनके निवासियो को तलवार के घाट उतार दिया जाता था। जहाँ कही अँग्रेजी सेना पहुचती थी, वहाँ के निवासियो के प्राण सङ्कट मे पड जाते थे। उन्हे, चाहे उन्होने कोई अपराध किया हो अथवा नही, अग्नि की ज्वालाओ मे भस्मीभूत कर दिया जाता था।"

सन् सत्तावन के विद्रोह ने एव उस निर्दयता ने जिसके साथ उसका दमन हुआ, जातीय कटुता की भावना को विपुल मात्रा में उत्पन्न किया। भारत के इतिहास मे यह विद्रोह एक युगातरकारी घटना है। इसके साथ भारत मे एक युग का अन्त और दूसरे युग का उदय होता है। विद्रोह के पूर्व ब्रिटिश शासकों एव भारतीय जनता के बीच न्यूनाधिक प्रेमपूर्ण सम्बन्ध बने हुए थे। विद्रोह ने उन प्रेमपूर्ण सम्बन्धो में

विद्रोह के परिणाम

अचानक ही आमूल परिवर्तन कर दिया। पहले अँग्रेज भारतीय जनता के साथ किसी सीमा तक स्नेहमय एव सद्भावनापूर्ण वातावरण मे जीवन-यापन कर रहे थे, रङ्गभेद और जातीय अभिमान की अधिक भावना नही थी, यहाँ तक कि कभी कभी अन्तर्जातीय विवाह भी हो जाते थे, लेकिन विद्रोह ने इस सारी स्थिति को बिल्कुल ही बदल दिया।

जातीय विद्वेष

विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश और आँग्ल-भारतीय समाज ने पृथक् छावनियों और नगर से बाहर स्थित सिविल लाइनो मे रहना प्रारम्भ कर दिया। अब उनका भारतीयो के साथ सरकारी कामो के अतिरिक्त बहुत ही कम सम्पर्क रहने लगा। फलत: शासको और शासितो के बीच भेद की खाई उत्पन्न होगई और जैसे जैसे दिन बीतते गये, उसका विस्तार होता गया। अँग्रेजो ने भारतीयो को नितात असभ्य समझना प्रारम्भ कर दिया और उनके हृदय मे इस विश्वास ने घर कर लिया कि भारतीय जनता को तो केवल शक्ति-प्रदर्शन के द्वारा अथवा डरा-धमका कर ही वश मे किया जा सकता है। उन्होने देशवासियो के प्रति जिस घोर घृणा और प्रचण्ड असन्तोष की भावना को प्रश्रय दिया, उसके सुदूर व्यापी परिणाम निकले।

रक्त और लोहे की नीति

भारतीय जनता के प्रति अविश्वास की भावना ने स्वय को अँग्रेजो द्वारा अपनाई गई "रक्त और लोहे की नीति" में व्यक्त किया। भारतीय अँग्रेजो के कोपभाजन बन गये और उनके स्वाभिमान पर पग पग पर आघात किया जाने लगा। अँग्रेजो की नादिरशाह एव मगोलो मे तुलना करते हुए गैरेट इस निष्कर्ष पर पहुचा कि नृशसता और निर्दयता में अँग्रेज इन दोनो मे से किसी मे कम नही थे। उसने लिखा है कि 'जैसे नादिरशाह ने दिल्ली को वीरान कर दिया था, वैसे ही अँग्रेजो ने दिल्ली को वीरान किया। मगोलो ने अपराधियों और निरपराधियो का बिना किसी भेदभाव के समान रूप से बध किया था और गाँवो मे आग लगा कर अपनी बर्बर इच्छाओ की पूर्ति की थी। अँग्रेज भी इसी लकीर के फकीर बने।"* ब्रिटिश शासको ने भारतीयो को जरा जरा सी बात के लिये, अणुमात्र अपराध होने पर भी भयकर दण्ड दिये। इसके विपरीत यदि कोई यूरोपीय किसी भारतीय के प्राण तक ले लेता, तब भी उसे बहुत हल्का दण्ड दिया जाता था। सक्षेप में महारानी विक्टोरिया की वह नीति जिसमें कहा गया था कि "प्रजा की प्रसन्नता में ही हमारा

---

* जी. एन. सिंह द्वारा उद्धृत. लैंड मार्क्स इन इंडियन कास्टीट्यूशनल एंड नेशनल डेवलपमेंट, पृ. १०८।"

नीचे खड़े होने और विदेशी शासकों के विरुद्ध शस्त्र उठाने का अक्षम्य अपराध किया था। एक जाति के तौर पर मुसलमान सरकारी अनुग्रह से हाथ धो बैठे। शासन ने मुसलमानों के प्रति तिरस्कार एवं हिन्दुओं के प्रति पक्षपात का भाव प्रदर्शित किया। यह भारत की दो विशिष्ट जातियों के बीच भेदभाव की सृष्टि करने और उन्हें जानबूझ कर एक दूसरे से अलग करने की नीति का स्पष्ट प्रमाण था। अँग्रेज लोग एक दूसरे को आपस में लड़ाकर अपनी स्थिति सुरक्षित कर लेने की कला में अत्यन्त निपुण थे। बाद में सर सय्यद अहमदखाँ जैसे उत्साही मुस्लिम नेता ही अपनी जाति के प्रति अँग्रेजों के अविश्वास-भाव को दूर करने में सफल हुए। आगे चलकर परिस्थिति ने पल्टा खाया। जैसे जैसे राष्ट्रीयता की भावना बढ़ती गई, अँग्रेजों ने हिन्दुओं के प्रति विरक्ति एवं मुसलमानों के प्रति अनुरक्ति का भाव प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया। ऐसा करने में अँग्रेजों का स्वार्थ यही था कि मुसलमानों को प्रोत्साहित करके, उन्हें कतिपय रियायतें देकर राष्ट्रीयता की बढ़ती हुई तरंगिणी को रोकने के लिये दृढ़ चट्टान की तरह प्रयुक्त किया जाये।

४. विद्रोह के पश्चात् वैधानिक परिवर्त्तन

१८५७ के विद्रोह के सम्बन्ध में यह तो नहीं कहा जा सकता कि वह किन्हीं वैधानिक कारणों का फल था, तथापि उसने भारत की शासन-प्रणाली में कई मौलिक परिवर्त्तन उपस्थित किये। विद्रोह के पूर्व भारतीय शासन का 'निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण' बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के हाथों में था। कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स की स्थिति १८५३ के अधिनियम के फल स्वरूप परामर्शदात्री समिति के तुल्य ही रह गई थी। भारत में कार्यपालिका-शक्ति स-परिषद् गवर्नर-जनरल में निहित थी। प्रांतीय शासन स-परिषद् गवर्नरों के कन्धों पर था। सम्पूर्ण भारत के लिए विधि-निर्माण का कार्य स-परिषद् गवर्नर-जनरल अपने छः विधायी सदस्यों की सहायता से करता था। विधायी सदस्यों में से दो तो कलकत्ते के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा शेष चार सदस्य मद्रास 'बम्बई, बंगाल और आगरे की स्थानीय सरकारों द्वारा नियुक्त सरकारी कर्मचारी होते थे।

विद्रोह के पूर्व का भारतीय शासन

१८५७ के विद्रोह ने कम्पनी के शासन का अंत कर दिया। वैसे तो कम्पनी के शासन को विद्रोह के पूर्व भी वाञ्छनीय नहीं समझा जाता था और ब्रिटिश सरकार धीरे धीरे उसके हाथ से समस्त शक्तियाँ लेती जारही थी। विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को यह स्वर्ण अवसर प्रदान किया कि वह कम्पनी के शासन का अंत कर दे और भारत

कम्पनी के शासन का अन्त

का शासन-प्रबध पूर्णरूप से अपने हाथ मे ले ले। जॉन ब्राइट के शब्दो मे १८५७ की घटनाओ के फलस्वरूप ब्रिटिश राष्ट्र की आत्मा "अदमनीय रूप से जाग उठी और उसने कपनी के तोड देने का निर्णय किया।"* फलत १८५८ के भारत-सरकार-अधिनियम ने कम्पनी के शासन की अत्येष्टि कर भारत का शासन ब्रिटिश सरकार के हाथो में सौंप दिया।

१८५८ का भारत-सरकार-अधिनियम—प्रमुख उपबन्ध

१८५८ का भारत-सरकार-अधिनियम भारत के वैधानिक इतिहास मे अत्यत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अधिनियम के साथ ही साथ भारतीय इतिहास का एक युग समाप्त और दूसरा प्रारम्भ होता है। १८५८ के अधिनियम ने भारत के शासन को ईस्ट इण्डिया कपनी के हाथो मे लेकर ब्रिटिश क्राउन के हाथो मे सौप दिया और निश्चित किया कि भविष्य मे भारत का शासन 'हर मैजेस्टी' के नाम से चलेगा। अधिनियम ने कम्पनी की जल और थल सेना को 'क्राउन' के नियत्रण मे ला दिया और निर्धारित किया कि उनका 'कार्यक्षेत्र, उन्ही प्रदेशो में, उन्ही शर्तों पर और यथापूर्व वेतन, पेंशन, भत्ता तथा विशेषाधिकार के अनुसार होगा' जैसा कि कपनी की सेवा मे होता था।'† अधिनियम ने बोर्ड ऑफ कट्रोल तथा कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का अत कर दिया और उनके स्थान पर भारत-मत्री के एक नए पद का सृजन किया तथा उक्त दोनो निकायो की समस्त शक्तियाँ भारत-मत्री को हस्तातरित की। भारत-मत्री ब्रिटिश मत्रिमण्डल का सदस्य था और मत्रिमण्डल के दूसरे सदस्यो की भाँति ही ससद् के प्रति उत्तर-दायी था। वह ससद् की बैठको मे भाग लेता था और ससद् के सदस्य भारतीय प्रशासन के सम्बध में उससे सब प्रकार के प्रश्न पूँछ सकते थे। ससद् के सदस्यो को भारतीय प्रशासन के सम्बध मे अपनी इच्छानुसार विधेयक उपस्थित करने और उसके किसी पहलू को लेकर सत्तारूढ दल के विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव तक लाने की अनुमति थी। भारतीय शासन के 'निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण' का दायित्व भारत-मत्री के कधो पर था। भारत-मत्री का वेतन भारतीय राजस्व से दिया जाना तय हुआ।

१८५८ के अधिनियम ने भारत-मत्री की सहायता के लिये १५ सदस्यो की एक भारत-परिषद् (Indian Council) बनाई। १५ सदस्यो में से ७ को तो कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स निर्वाचित करते थे और शेष ८ को ब्रिटिश 'क्राउन' नियुक्त करता था।

---

* कीथ द्वारा उद्धृत: "स्पीचेज आन इंडियन पालिसी, खंड १, पृ. ३२०।"
† कीथ: स्पीचेज आन इंडियन पालिसी, पृ. ३८०।"

परिषद् के आधे से अधिक सदस्यो के लिये यह आवश्यक था कि वे कम से कम दस वर्ष तक भारत मे रह चुके हो और उन्हे अपने नए पद को सम्हालते समय अर्थात् परिषद् के सदस्य बनते समय भारत छोड़े दस वर्ष से अधिक समय न बीता हो। परिषद् के सदस्य सदाचारपर्यंत अपने पद पर स्थित रहते थे यद्यपि ससद् के दोनो सदनो की प्रार्थना पर उन्हे अपदस्थ किया जा सकता था। परिषद् के प्रत्येक सदस्य का वेतन १२००० पौड प्रतिवर्ष था। यह वेतन भारतीय राजस्व से दिया जाता था। परिषद का अध्यक्ष भारत-मत्री था और उसे मताधिकार प्राप्त था। बराबर मत होने की स्थिति मे वह अपने एक निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता था। यदि परिषद् का बहुमत भारत-मत्री के किसी प्रस्ताव से सहमत न होता तो भारत-मत्री परिषद् की सम्मति का उल्लघन कर सकता था। लेकिन ऐसा करते समय उसे कारणो का निर्देश करना पड़ता था। भारतीय राजस्व के अनुदान और विनियोग के सम्बध में भारत-मत्री के लिये परिषद् के बहुमत का निर्णय स्वीकार करना आवश्यक था। भारत के विभिन्न अधिकारियो के नाम-निर्देशन, अथवा पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार के विभाजन और वितरण सम्बंधी विनियम बनाने मे भी भारत-मत्री परिषद् के बहु-मत का निर्णय मानने के लिये बाध्य था। इसके अतिरिक्त क्रय, विक्रय सौदा करने और भारत-सरकार की सम्पूर्ण सम्पत्ति के मामलो मे भी परिषद् के बहुमत की ही चलती थी। भारत-मत्री को गवर्नर जनरल से गुप्त पत्र-व्यवहार करने की अनुमति थी। भारत-मत्री के लिये यह आवश्यक नहीं था कि वह अपने गुप्त पत्र-व्यवहार को परिषद के सामने रक्खे।

१८५८ के अधिनियम की एक विशेषता यह थी कि उसने पद-नियुक्ति के अनुग्रहाधिकार को 'क्राउन', स-परिषद् भारत-मत्री और भारतीय अधिकारियो के बीच बाँट दिया। अधिनियम ने निश्चित किया कि वे समस्त नियुक्तियाँ और पदोन्नति जो इस समय भारत-स्थित अधिकारियो के हाथो मे हैं, भविष्य मे भी उन्ही के हाथो मे बनी रहेगी। सिविल सर्विस की नियुक्तियाँ प्रतियोगी परीक्षाओ द्वारा होगी। इन परीक्षाओ के नियम लोक-सेवा-आयोगको की सहायता से स-परिषद् भारत-मत्री बनायेगा। अधिनियम का एक अन्य महत्वपूर्ण उपबध यह था कि उसने भारत-मत्री के लिये प्रति वर्ष ससद् के दोनो सदनो के समक्ष भारत की नैतिक और भौतिक प्रगति का लेखा उपस्थित करना अनिवार्य कर दिया। अधिनियम ने यह भी निश्चित किया कि भारत का राजस्व ब्रिटिश ससद् के दोनो सदनो की स्वीकृति के बिना भारतीय सीमाओ के बाहर किन्ही सैनिक कार्यों के लिये प्रयुक्त नही होगा। अंशत, १८५८ के अधिनियम ने स-परिषद् भारत-मत्री को एक सयुक्त निकाय घोषित किया जो इङ्गलैंड और भारत मे अभियोग का वादी अथवा प्रतिवादी हो सकता था।

१८५८ के अधिनियम की समीक्षा

चाहे यह बात, देखने में विरोधाभास ही क्यो न लगती हो, फिर भी बहुत कुछ सत्य है कि जहाँ ब्रिटिश ससद् ने भारत के ऊपर नियत्रण प्राप्त किया, उसने भारत के ऊपर नियत्रण रखना बंद सा कर दिया। इसका कारण यह है कि पहले भारत का नियत्रण बोर्ड ऑफ कंट्रोल तथा कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के हाथो मे था। यह बात ससद् के लिए एक चुनौती के तुल्य थी और उसे अपनी सत्ता का प्रदर्शन करने के लिये प्रेरित करती थी। विद्रोह के पश्चात् बोर्ड ऑफ कट्रोल तथा कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का अत हो गया और भारतीय प्रशासन की सम्पूर्ण शक्ति भारत-मत्री के हाथो मे आ गई। भारत-मत्री ससद् के प्रति उत्तरदायी था। इसलिए, अब ससद् जो कुछ पाना चाहती थी, वह उसे मिल गया। ऐसी स्थिति मे उसने भारतीय शासन के ऊपर निरतर नियत्रण रखने और उसकी आलोचना करने में ढील डाल दी। भारतीय प्रशासन के प्रति ससद् की उपेक्षा-नीति का दूसरा कारण यह था कि जिन व्यक्तियो को भारत-मत्री के पद पर नियुक्त किया जाता था, वे पर्याप्त योग्य होते थे। चूँकि वे भारत के सुचारु शासन-सचालन के लिए ससद् के प्रति उत्तरदायी थे, अत. वे अपने कर्त्तव्यो तथा दायित्वो का निर्वहन अधिक से अधिक प्रवीण ढङ्ग से करने का प्रयास करते थे। इसके अतिरिक्त १८५७ से १९१५ तक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपने देश की समस्याओ में ही अत्यधिक व्यस्त रहे। उनके पास इतना अवकाश नही था कि वे भारत जैसे विस्तृत प्रायद्वीप की जटिल समस्याओ का गम्भीरतापूर्वक अनुशीलन कर सकते। पुनश्च, भारतीय सिविल सर्विस मे इङ्गलैंड के चुने हुए सुशिक्षित और सुयोग्य व्यक्ति भाग लेते थे। स्वभावत ब्रिटिश जनता का इन व्यक्तियो के ऊपर विश्वास था और वह उनके कार्यो मे टाँग अडाना व्यर्थ समझने लगी।

यद्यपि भारत का शासन कम्पनी के हाथो से 'क्राउन' के हाथो मे जाना एक बहुत बडा परिवर्त्तन था, परन्तु सर एच एस कनिघम के शब्दो मे यह परिवर्त्तन 'सारभूत होने की अपेक्षा उपचारिक ही अधिक था'। इसी मत की पुष्टि करते हुए रैमजे म्योर ने लिखा है कि 'भारतीय साम्राज्य के 'क्राउन' के हाथो मे स्थानान्तरण ने, जितना प्रतीत होता है, उसकी अपेक्षा काफी कम परिवर्त्तन किया।' १८५७ के पूर्व भी भारतीय शासन से सम्बद्ध सपूर्ण वास्तविक शक्ति बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के अध्यक्ष के, जो ब्रिटिश मन्त्रिमडल का एक सदस्य था, हाथो मे आ गई थी। कोर्ट ऑफ-डायरेक्टर्स के हाथो में कोई विशेष शक्ति नही रही थी। उसका काम तो बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल को परामर्श देना भर रह गया था। हाँ, यह बात अवश्य है कि उसके हाथो मे पहल करने की यथेष्ट शक्ति थी। १८५३ के अधिनियम ने उसकी

स्थिति और भी दुर्बल करदी थी। उसको नियुक्तियो के अनुग्रहाधिकार से वंचित कर दिया गया था। उसकी सदस्य-संख्या २४ से घटा कर १८ ही रहने दी गई थी। इन १८ डायरेक्टरो मे से भी ६ को 'क्राउन' नियुक्त करता था। १८५३ के पूर्व ससद् ने जितने भी चार्टर-अधिनियम पास किये थे उनका कार्यकाल २० वर्ष ही रहता था। १८५३ के अधिनियम ने कपनी के चार्टर को २० वर्ष के लिये सशोधित नही किया था। उसने केवल यही कहा कि कपनी 'क्राउन' की ओर से उस समय तक, जब तक संसद् कोई अन्य व्यवस्था न करे, भारतीय प्रदेशो पर धरोहर के रूप मे शासन कर सकती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि १८५३ के अधिनियम ने भारतीय शासन को कपनी के हाथो से लेकर 'क्राउन' के हाथो मे सौप देने का पथ प्रशस्त कर दिया था। १८५८ के अधिनियम ने तो पूर्वकाल से ही प्रारम्भ की गई प्रक्रिया को पूर्णभर किया। १८५८ के पश्चात् भारत-मत्री ने बोर्ड ऑफ कट्रोल के अध्यक्ष तथा भारत-परिषद् ने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का स्थान ग्रहण किया।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा

'क्राउन' द्वारा भारतीय सत्ता के ग्रहण के समाचार से भारतीय जनता को महारानी विक्टोरिया की घोषणा ने परिचित कराया। इस सबन्ध मे लॉर्ड कैनिंग ने जो 'क्राउन' की ओर से भारत के प्रथम वायसराय और गवर्नर जनरल नियुक्त हुए थे, पहली नवम्बर १८५८को इलाहाबादमे एक शानदार दरबार किया और उसमे महारानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र को स्वय पढकर सुनाया। यह घोषणापत्र 'सदयता, उदारता और धार्मिक सहिष्णुता' की भावनाओ से परिपूर्ण था। इसमे देशी नरेशो को यह विश्वास दिलाया गया था कि 'क्राउन' उनके स्वत्वो एव अधिकारो की रक्षा करेगा। घोषणा-पत्र ने भारत-स्थित अधिकारियो को यह आदेश दिया था कि वे जनता के धार्मिक मामलो मे रचमात्र भी हस्तक्षेप न करे और उसे पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता का उपभोग करने दें। घोषणा-पत्र ने यह भी निर्धारित किया था कि भारत के लिये विधि-निर्माण करते समय देश के रीति रिवाजो, परम्पराओ और लोकाचारो का निरन्तर ध्यान रक्खा जायेगा। उसमें यह भी विश्वास दिलाया गया था कि 'हर मैजिस्टी' की भारतीय प्रजा को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागो की प्रजाओ के समकक्ष ही मान्यता प्राप्त होगी। घोषणा-पत्र ने समस्त भारतीयो को बिना किसी भेद-भाव और पक्षपात के योग्यतानुसार शासन के उच्च से उच्च पद देने और समान अधिकार व अवसर प्रदान करने का वचन दिया। घोषणा-पत्र मे यह भी कहा गया था कि विद्रोहियो के साथ दया का व्यवहार किया जाएगा और ईस्ट इण्डिया कपनी के समय की समस्त सन्धियाँ जारी रहेगी। घोषणा-पत्र के अत में भारतीयो को यह विश्वास दिलाया गया था कि ब्रिटिश सरकार उनकी भौतिक तथा नैतिक उन्नति करने में कुछ उठा न रक्खेगी।

महारानी विक्टोरिया के उक्त घोषणा-पत्र का भारत के राष्ट्रीय और वैधानिक विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह घोषणा-पत्र प्राय. ६० वर्षों–१९१७ तक ब्रिटिश सरकार की भारत-विषयक नीति का मूल आधार बना रहा। उसने उन समस्त सिद्धातो को निश्चित किया जिनके अनुसार भारत का शासन-प्रबन्ध होने को था। यद्यपि उसके कतिपय महत्त्वपूर्ण उपबन्धो पर आचरण नही हुआ, फिर भी वह पर्याप्त दीर्घकाल तक भारत मे ब्रिटिश नीति का आदर्श माना जाता रहा।

घोषणा-पत्र का महत्व

१८५८ के भारत-सरकार-अधिनियम ने गृह-सरकार की रूपरेखा में ही परिवर्त्तन किया था। उसने भारतीय शासन-तन्त्र को यथावत् रहने दिया था। युग की परिस्थिति को देखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक था कि भारतीय शासन-तन्त्रो मे भी परिवर्त्तन किये जाये। १८५७ के विद्रोह का मुख्य कारण शासको और शासितो के बीच सम्पर्क का अभाव था। चूँकि गवर्नर जनरल की परिषद् में भारतीय सदस्यो को कोई स्थान नहीं दिया गया था, अत सरकार के पास ऐसा कोई उपाय नही था जिससे वह भारतीय जनमत के सबन्ध में ज्ञान प्राप्त कर सके। सर बर्टिल फेयर जैसे दूरदर्शी विचारको ने इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि शासको और शासितो के बीच बढती हुई भेद की खाई को अविलब पाटा जाये। उन्होने इसी वस्तु को विद्रोह का मूल हेतु ठहराया था। उनका कहना था कि हमारे पास विद्रोह अथवा क्राति के अतिरिक्त यह ज्ञात करने के कि हमारे कानून एव हमारा शासन जनता के मनोनुकूल है अथवा नही, अत्यल्प साधन हैं। सर सय्यद अहमद खाँ ने भी सरकार को यही परामर्श दिया था। १८६१ के अधिनियम ने इस त्रुटि को सबसे पहली बार दूर किया। १८५३ के अधिनियम ने जिस व्यवस्थापिका-सभा की स्थापना की थी, उसके अन्दर कई दोष थे। पहला दोष तो यह था कि विधि-निर्माण के कार्य से गैर-सरकारी व्यक्ति, चाहे वे यूरोपीय हो अथवा भारतीय—बिल्कुल पृथक् रक्खे गये थे। दूसरा दोष यह था कि व्यवस्थापिका-सभा के पास बबई और मद्रास प्रभृति दूसरे प्रातो के लिये आवश्यक कानून बनाने के सबन्ध में पर्याप्त जानकारी नही थी। इन प्रातो के प्रतिनिधियो को यह शिकायत रहती थी कि बगाल के प्रतिनिधियो की अधिक सख्या होने के कारण हमारी एक नही चल पाती। तीसरा दोष यह था कि व्यवस्थापिका-सभा ने कई ऐसे काम अपने हाथ में ले रक्खे थे जिन्हे तत्कालीन शासन-व्यवस्था की दृष्टि से ठीक नही कहा जा सकता था। वह कार्यपालिका के कामो पर तरह तरह

१८६१ का भारत-परिषद्-अधिनियम–पृष्ठभूमि

की आपत्ति करने लगी थी और उसका यह आग्रह था कि गुप्त राजपत्रो को भी उसके सामने रक्खा जाये। व्यवस्थापिका-सभा की यह प्रवृत्ति कार्यपालिका के लिये बडी असुविधाजनक थी। फलत गवर्नर जनरल लॉर्ड कैनिंग ने १८६० मे भारत-मन्त्री लॉर्ड चार्ल्स वुड को इन सारी कठिनाइयो और आवश्यकताओ के सबन्ध मे एक ज़ोरदार पत्र लिखा। ६ जून १८६१ को सर चार्ल्स वुड ने भारत-परिषद्-अधिनियम कॉमन-सभा (House of Commons) के सामने प्रस्तुत किया।

प्रमुख उपबन्ध

१८६१ के भारत-परिषद्-अधिनियम ने पहला काम तो यह किया कि गवर्नर-जनरल की कार्यपालिका-परिषद् मे एक और—पाँचवा—सदस्य बढाया। यह सदस्य कानूनी पेशे मे सबन्ध रखता था। अधिनियम ने दूसरी बात यह की कि गवर्नर-जनरल को परिषद का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये नियम और आदेश बनाने का अधिकार दिया। गवर्नर-जनरल अपनी अनुपस्थिति मे परिषद् की बैठको का सभापतित्व करने के लिए परिषद् मे से ही किसी एक सदस्य को मनोनीत कर सकता था। अधिनियम ने गवर्नर जनरल को यह शक्ति दी थी कि वह भारत मे विभाग-व्यवस्था चला सकता है अर्थात् अपनी कार्यपालिका-परिषद् के प्रत्येक सदस्य को शासन का कोई एक महत्वपूर्ण विभाग सौप सकता है। विभाग-व्यवस्था का मूल सिद्धात यह था कि प्रत्येक विभागाध्यक्ष अपने विभाग को छोटे छोटे प्रश्नो का स्वय ही निर्णय करे और बडे बडे प्रश्नो का अन्य विभागाध्यक्षो से विचार-विनिमय करके तथा गवर्नर जनरल से परामर्श लेकर निर्णय करे। १८६१ के अधिनियम ने तीसरा महत्वपूर्ण परिवर्त्तन यह किया कि उसने विधि और विनियम बनाने के लिये गवर्नर जनरल की परिषद् का विस्तार किया। अधिनियम ने निश्चित किया कि परिषद् मे अतिरिक्त सदस्यो की सख्या कम से कम ६ और अधिक से अधिक १२ रहनी चाहिए। यह आवश्यक था कि इन अतिरिक्त सदस्यो मे कम से कम आधे सदस्य गैर-सरकारी हो। अतिरिक्त सदस्यो का कार्यकाल दो वर्ष था। परिषद् के कार्य और अधिकार विधि और विनियम बनाने तक ही सीमित थे। उसे कार्यपालिका के कार्यो मे हस्तक्षेप करने की शक्ति नही थी। परिषद् के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। सार्वजनिक ऋण और राजस्व, धर्म और सेना आदि विषयो से सबन्ध रखने वाले प्रस्ताव गवर्नर जनरल की पूर्व-स्वीकृति के बिना उपस्थित नही किये जा सकते थे। गवर्नर-जनरल परिषद् द्वारा पास किये गए किसी भी कानून पर न केवल विशेषाधिकार का ही प्रयोग कर सकता था, प्रत्युत उसे आपात-काल मे अध्यादेश निकालने की भी शक्ति थी। गवर्नर-जनरल के अध्यादेश का वही बल और प्रभाव होता था जो कि परिषद् द्वारा पास किये गये किसी कानून का।

अधिनियम ने प्रातीय विधि-निर्माण के लिये प्रत्येक प्रेसीडेन्सी के गवर्नर को यह अधिकार दिया था कि वह अपनी परिषद् में एक तो प्रेसीडेन्सी के महाधिवक्ता को तथा कम से कम चार और अधिक से अधिक आठ अतिरिक्त सदस्यो को नियुक्त कर सकता है। परिषद् का कार्य विशुद्ध रूप से विधायी था। प्रातीय परिषद् द्वारा पास किए गए प्रत्येक कानून पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक थी। अतशः, १८६१ के अधिनियम ने गवर्नर जनरल को विधान-कार्य के लिए नए प्रात बनाने और उनके लिए उप-गवर्नर नियुक्त करने का भी अधिकार दिया। अधिनियम ने गवर्नर जनरल को यह भी शक्ति दी कि यदि वह चाहे तो किसी प्रेसीडेन्सी, प्रात या प्रदेश को विभाजित कर सकता है, अथवा उसकी सीमाए घटा-बढा सकता है।

१८६१ के अधिनियम की समीक्षा

श्री जी एन. सिंह के शब्दो मे "भारत के वैधानिक इतिहास मे १८६१ के भारतीय परिषद्-अधिनियम का महत्व दो मुख्य कारणो से है। पहला कारण तो यह है कि उसने गवर्नर जनरल को विधान के कार्य मे भारतीयो को साथ लेने का अधिकार दिया। दूसरा कारण यह है कि उसने बम्बई और मद्रास की सरकार को फिर से विधान-कार्य का अधिकार दिया और अन्य प्रातो मे भी वैसी ही विधान परिषदें बनाने की व्यवस्था की। इस प्रकार विधान की उस नीति का आरम्भ हुआ जिसके फलस्वरूप अत मे प्रातो को सन् १९३७ मे लगभग पूर्ण आतरिक स्वायत्तता प्रदान की गई।"* इसमे कोई सन्देह नही कि १८६१ का भारतीय परिषद् अधिनियम भारत के वैधानिक इतिहास मे एक महान् सीमा-चिन्ह से कम महत्व नही रखता। बाद में भारत मे जो भी वैधानिक परिवर्तन हुए, उन सबका मूल आधार यही अधिनियम था। यद्यपि अधिनियम ने यह तो स्पष्टत नही कहा कि केन्द्रीय और प्रातीय विधान-परिषदो को सम्मिलित किया जाये। उसमे तो 'गैर सरकारी' शब्द का ही प्रयोग था। लेकिन व्यवहार मे इसका अभिप्राय यही समझा गया कि विधि-निर्माण के कार्य में भारतीयो को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए।

१८६१ के अधिनियम की उक्त विशेषताओ का विवेचन करते समय हमे उसकी कुछ त्रुटियो को भी न भूलना चाहिए। इस अधिनियम की एक बडी त्रुटि यह थी कि इसके आधीन निर्मित विधान-परिषदें कार्यपालिका के ऊपर कोई नियत्रण नही रखती थी। उनके ऊपर प्रतिबन्ध इतने लगे हुए थे कि उनका सारा महत्व दिखावटी ही मालूम पडता था। इसके अतिरिक्त जहाँ तक परिषदो में गैर सरकारी व्यक्तियों की नियुक्ति का प्रश्न था, सरकार जनता के नेताओ को नही, प्रत्युत देशी नरेशो या

*. जी. एन. सिंह:—"भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास" पृ. ८७

पुराने कुलीन परिवारों के सदस्यो को ही नियुक्त करती थी। ये लोग भारतीय जनमत का प्रतिनिधित्व करने मे सर्वथा असमर्थ थे। प्रिंसिपल श्री राम शर्मा के अनुसार "सरकार का यह विचार नही था कि वे कानून-निर्माण में कोई कारगर भाग ले। वे तो कानून-निर्माण की प्रक्रिया के साक्षी भर ही थे।"* सक्षेप में १८६१ के भारतीय परिषद्-अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य यही था कि भारत मे नौकरशाही जैसे तैसे कर के अपना कार्य चलाती रहे।

५. भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म-काल १८७६-१८८४

भारतीय स्वतन्त्रता-सग्राम के उद्भव एव विकास के अध्ययन में १८७६ से १८८४ तक के समय की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। लार्ड लिटन एव लार्ड रिपन के इस शासन-काल को भारतीय राष्ट्रीयता के जन्मकाल के नाम से ठीक ही सम्बोधित किया जाता है। हम देख चुके हैं कि विद्रोह के पश्चात् सरकार द्वारा प्रयुक्त अविश्वास एव दमन की नीति, देशवासियो को आपस मे लडाने के साम्राज्य-वादी दावपेच और जनता के बढते हुए दारिद्र्य आदि तथ्य भारतीयो को विदेशी शासन के दोषो का समुचित परिज्ञान करा रहे थे। यद्यपि भारतीयो ने अभी तक ब्रिटिश शासन का विरोध स्पष्ट एव सगठित रूप से तो नही किया था परन्तु उनके हृदय मे विदेशी राज्य के प्रति विरक्ति की भावना दिन दूनी रात चौगुनी बढती जाती थी। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि उस समय राष्ट्रीयता का अवतरण होने के लिए भूमि तय्यार हो रही थी। ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशनऑफ बगाल, मद्रास नेटिव एसोसियेशन, ईस्ट इण्डियन एसोसियेशन, बॉम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसियेशन और पूना सार्वजनिक सभा आदि राजनीतिक सस्थाए भारत के राजनीतिक रगमच पर पहले से ही प्रकट हो चुकी थी तथा शासन सुधार सम्बधी आन्दोलन करने मे समग्न थी। तथापि, इन सस्थाओ का एक निर्धारित क्षेत्र था। राष्ट्रीय अभ्युदय, एव राजनीतिक स्वाधीनता के किसी सागोपाग प्रोग्राम का उनके पास अभाव था। लार्ड लिटन के शासनकाल में कतिपय ऐसे अन्याय एव दमन के कार्य किए गए जिनके फलस्वरूप जन साधारण और शिक्षित भारतीयों, दोनो के हृदयो में समान रूप से, विदेशी शासन के प्रति रोष की वह भावना जागृत हो गई जिसने १८८५ में राष्ट्रीय महासभा (Indian National Congress) के सस्थापन का मार्ग साफ़ कर दिया।

लिटन डिज़रैली की विचारधारा का साम्राज्यवादी था एव राजकीय शक्ति-सामर्थ्य के प्रदर्शन मे उसकी दृढ आस्था थी। राजनीतिक दूरदर्शिता का उसमें

*. श्री राम शर्मा.—"ए कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इंडिया" पृ. ६६

देहली दरबार

अभाव था और भारतीय जनता की भावनाओ एव उच्चाकाक्षाओ के प्रति उसके हृदय मे तनिक भी सहानुभूति नही थी। उसके शासन काल में महारानी विक्टोरिया की नई उपाधि, कैसरे-हिन्द, भारत साम्राज्ञी, की घोषणा करने के लिए १८७७ मे शानदार देहली दरबार किया गया। इसी दरबार मे ब्रिटिश नौकरशाही, भारतीय नरेशो,सामन्ती मुखियो और अन्य राजभक्तो ने भाग लिया, परन्तु यह 'व्ययसाध्य एव विराट प्रदर्शन' अत्यन्त अनुपयुक्त अवसर पर किया गया। उस समय दक्षिणी भारत में भयकर दुर्भिक्ष पड रहा था। देहली दरबार के आयोजन में धन को पानी की तरह बहाया गया जब कि असख्य मानव प्राणो की रक्षा के लिए उसकी महती आवश्यकता थी। कलकत्ते के एक तत्कालीन पत्रकार ने इसका 'जबकि रोम जल रहा था, नीरो सारगी बजाने मे तल्लीन था' कह कर उल्लेख किया था। भारतीयो के मन मे यह उपेक्षावृत्ति काटे की तरह चुभ गई। इसने उनके हृदय मे अदम्य प्रभावशन्य, विरोध की वेगवती धारा को उत्पन्न किया।

अफगान युद्ध और सैनिक व्यय

लार्ड लिटन के सैनिक अभियानो की वजह से जनता की कठिनाइयाँ और भी बढ गईं। काबुल के ऊपर एक अवाछनीय आक्रमण किया गया जिसके फलस्वरूप अफगान युद्ध हुआ और सैनिक व्यय मे आशातीत वृद्धि हो गई। रूसी आक्रमण के काल्पनिक भय के निवारणार्थ सेना को अनावश्यक रूप से बढा देना तथा वैज्ञानिक सीमान्त की स्थापना के प्रयास बहुत ही खर्चीले प्रयोग थे, जो परोक्षरूप से जनता की कठिनाइयाँ बढाने के उत्तरदायी थे। देहली दरबार, आक्रामक अफगान युद्धो और काल्पनिक रूसी 'हौवे' से बचने के लिए की गई चौकसियो ने भारतीयो के समक्ष इस कटु सत्य को प्रत्यक्ष कर दिया कि उनके शासक जनसाधारण की आपदाए दूर करने की अपेक्षा अपने साम्राज्य को बनाए रखने के लिए अधिक कृत सकल्प हैं।

भारतीय शस्त्र विधेयक

लार्ड लिटन का शासनकाल भारतीय शस्त्र विधेयक जैसे काले कानून को पास करने के लिए भी कुख्यात है। इस विधेयक के द्वारा भारतीयो को बिना आज्ञा के शस्त्र रखने अथवा धारण करने से वचित कर दिया गया। जिस चीज़ से भारतीयो को मर्मान्तक वेदना पहुँची, वह केवल 'निरीह एव असहाय जनता का निशस्त्रीकरण करना ही नही,' अपितु इस दिशा में यूरोपीयो और भारतीयो के बीच बर्ता गया भेदभाव था। भारतीयो के लिए तो शस्त्रो का रखना अथवा धारण करना अपराध माना गया, लेकिन यूरोपीयो, यूरेशियनो, एंग्लोइण्डियनो तथा अन्यान्य

विदेशियो के ऊपर ऐसा कोई अकुश नही लगाया गया। यह भेदभाव भारत के स्वाभिमान के ऊपर भयकर आघात था। सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी के शब्दों में "शस्त्र विधेयक ने हमारे ललाट पर जातीय हीनता की छाप लगा दी।" भारतीय अपने ही देश में द्वितीय श्रेणी के नागरिक बना दिए गए।

वर्नाक्युलर प्रेस विधेयक

लार्ड लिटन के शासनकाल का तीसरा प्रतिगामी कार्य १८७८ का वर्नाक्युलर-प्रेस विधेयक था। विद्रोह के पश्चात भारतीय प्रेस ने बडी शीघ्रता से उन्नति की थी। १८६४ में लगभग ६४४ पत्र प्रकाशित हो रहे थे, उनमे ४०० से अधिक देशी भाषाओ के पत्र थे। देशी भाषाओ में प्रकाशित होने वाले पत्र लॉर्ड लिटन की दमन नीति का तीव्र शब्दो मे विरोध करते थे। उनके लेखो और आलोचनाओ मे जनता का रोष व्यक्त होता था। वे राष्ट्रीय चेतना के विकास में एव जनता के क्रोध को तीव्रता देने में सहायता पहुँचा रहे थे। वर्नाक्युलर प्रेस के नित्यप्रति बढते हुए प्रभाव को देख कर नौकरशाही के सिर मे दर्द होने लगा। लॉर्ड लिटन ने भारत-मन्त्री को 'देशी प्रेस के इस बढते हुए प्रभाव के सम्बन्ध में, जो अब प्रत्यक्ष विद्रोह का सूचक था, लिखा। वायसराय इस बात को अच्छी तरह समझता था कि समाचार-पत्रो की स्वाधीनता और विदेशी शासन का साथ साथ निभ सकना असभव है। परिणामत वर्नाक्युलर प्रेस-विधेयक अथवा 'गलाघोट कानून—जैसा कि वह उस समय विख्यात था—अति शीघ्रता से, भारतीय व्यवस्थापिका-सभा द्वारा, एक ही बैठक में पास किया गया। यह भारतीय पत्रो की स्वाधीनता पर प्रत्यक्ष आक्रमण था। इस विधेयक के द्वारा जिलाधीशो के हाथो में यह अधिकार आ गया कि वे समाचार-पत्रो के मुद्रको और प्रकाशको से जमानते माग सकते है और उनसे ऐसे किसी समाचार के, जो शासन के प्रति अरुचि या जातियों के बीच कटुता की भावना को उत्पन्न करे, प्रकाशित न करने की प्रतिज्ञा करवा सकते है। कानून भग करने पर यह जमानत जब्त की जा सकती थी और इस निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नही की जा सकती थी। वर्नाक्युलर प्रेस-विधेयक इतना घातक था कि भारत-परिषद् के एक सदस्य सर एरस्काइन पेरी ने भी उसको 'अदूरदर्शी, असामयिक और भारत की भावी उन्नति के लिए घातक' बताया था। इस 'गलाघोट' कानून ने और उस सकुचितता ने जिसके साथ वह कार्यान्वित किया गया, विरोध का एक तूफान खडा कर दिया। सारे देश में असतोष की एक लहर दौड गई। भारत के लोक-नेताओ ने इस विधेयक के विरोध में एक देशव्यापी आन्दोलन खडा किया। पाच वर्षों के अविराम प्रयत्नों के पश्चात् १८८२ में यह विधेयक रद्द हुआ। इस विधेयक के निर्माण ने भारतीयो को पराधीनता के पाश

से अवगत करा दिया और उनके हृदय में राष्ट्रीय जागरण की ज्योति प्रज्ज्व-लित की।

कपास आयात-कर

लॉर्ड लिटन ने कपास की बनी वस्तुओ पर से आयात-कर हटा कर भी भारतीयो के हृदय में अंग्रेजी शासन के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न की। भारत में पहली कपास टैक्सटाइल मिल १८५१ में चालू हुई थी और प्रतिकूल परिस्थितियो के होते हुए भी धीरे धीरे उन्नति कर रही थी। लकाशायर और मैंचेस्टर के व्यापारियो ने इसका विरोध किया। क्योंकि भारतीय टैक्सटाइल उद्योग के विकास को उन्होंने अपने एका-धिकार के लिए एक चुनौती समझा, उन्होंने गृह-सरकार पर इस बात के लिए दबाव डाला कि वह भारत-सरकार को, बाहर से आये हुए कपास के कपड़े पर लगाए गए ५ प्रतिशत कर को उठा देने के लिए विवश करे। भारत-मन्त्री ने इस थोथी दलील के आधार पर कि ' इस कर से भारतीय व्यापारियो को अनुचित प्रोत्साहन मिलता है, आयात-कर उठा देने के लिए गवर्नर जनरल को लिखा। लॉर्ड लिटन के पूर्ववर्त्ती लॉर्ड नार्थब्रुक ऐसा करने के लिए सहमत नही हुए क्योंकि उनके विचार से यह भारत के लिए अहितकर था। इसके विपरीत लॉर्ड लिटन ब्रिटिश सौदागरो के हाथो का खिलौना बन गया। उसने आयात-कर को उठा दिया और यह पग उठाते समय अपनी कार्यपालिका-परिषद् के बहुमत की भी परवाह नहीं की। यद्यपि भारतीय व्यापारियों ने देश के अविकसित कपास उद्योग के ऊपर किए गए इस घातक प्रहार का प्राणपण से विरोध किया, परन्तु उसका कोई फल नही निकला। उन्होंने इग्लैण्ड की कॉमन-सभा के समीप भी इस सम्बन्ध में एक आवेदन-पत्र भेजा परन्तु उससे भी कुछ नही बन सका।

इंडियन एसोसिएशन १८७५

लॉर्ड लिटन के प्रतिगामी शासन ने भारतीयों के हृदय में उमड़ती हुई राष्ट्रीय जागरण की भावना को बल प्रदान किया और इस बात के लिए आवश्यक वातावरण तय्यार कर दिया कि देश के विभिन्न भागो में काम करती हुई देशनिष्ठ सस्थाए सामूहिक कदम उठाने के लिए एकता के सूत्र में ग्रुम्फित हो जायें। सुरेन्द्र नाथ बेनर्जी १८७५ में 'इडियन एसोसियेशन' का सगठन कर चुके थे। लॉर्ड लिटन के कठोर कानूनो और न्यायहीन कार्यो ने उन्हे १८७७ में उत्तरी भारत और उसके एक वर्ष पश्चात् १८७८ में दक्षिण भारत का भ्रमण करने की प्रेरणा दी। उन्होने अपने आकर्षक व्यक्तित्व एव भाषण-पटुता के द्वारा वि-भिन्न प्रांतो को 'समान कष्टो तथा समान ध्येय' के आधार पर एक दूसरे के अति निकट ला दिया। सुरेन्द्रनाथ के गतिशील नेतृत्व एव एकता के सद्प्रयत्नो ने इडियन एसोसिये-

शन को 'अखिल भारतीय आन्दोलन का केन्द्र' बनाने मे सफलता प्राप्त की। एसोसियेशन का ध्येय भारतवर्ष मे एक प्रभावशाली लोकमत तथा 'तत्कालीन महत् जन-आन्दोलनों मे जनसाधारण का सगठन, तय्यार करना था। इसके अतिरिक्त एसोसियेशन ने अपने सामने भारतवर्ष की विभिन्न जातियो के बीच सामान्य राजनीतिक हितो और आकाक्षाओ के आधार पर एकता स्थापित करने और हिन्दू-मुसलमानो के बीच समवाय, प्रेम एव बन्धुत्व की भावना को विकसित करने का भी आदर्श रक्खा था।

इडियन सिविल सर्विस की परीक्षा मे बैठने की अवस्था मे जो कमी कर दी गई थी, उसने इडियन एसोसियेशन को एक अखिल भारतीय आन्दोलन खडा करने का अवसर प्रदान किया। आई सी एस की परीक्षा मे बैठने की अवस्था २१ वर्ष मे घटा कर १८ वर्ष कर देने का स्पष्ट आशय उसमे भारतीय नवयुवको की सफलता को जानबूझ कर असभव कर देना था। इस शिक्षित समाज मे जो असन्तोष उत्पन्न हुआ, उसे इसी प्रश्न पर केन्द्रीभूत करने मे इडियन एसोसियेशन ने सफलता प्राप्त की। इगलैण्ड की कॉमन-सभा (House of Commons) के पास सम्पूर्ण देश की ओर से एक स्मृतिपत्र भेजा गया और अत मे, जिस उत्साह के साथ आन्दोलन का सगठन किया गया था, उसके फलस्वरूप वह अपने उद्देश्य मे सफल हुआ। इडियन सिविल सर्विस मे बैठने की अवस्था दुबारा १९ वर्ष से बढाकर २१ वर्ष की कर दी गई।

इल्बर्ट बिल सम्बन्धी वाद विवाद ने जो लार्ड लिटन के अनुवर्ती लार्ड रिपन के उदार शासनकाल मे उठ खडा हुआथा, भारत के राष्ट्रीय जागरण को और भी उत्तेजना दी। लार्ड रिपन के दृष्टिकोण,चरित्र एव व्यवहार मे आकाश पाताल का अन्तर था। लार्ड रिपन अत्यन्त सहृदय एव उदाराशय वायसराय थे। इग्लैण्ड मे ग्लैडस्टन के नेतृत्व मे उदारवादी शासन की स्थापना हो चुकने के पश्चात् वह भारतवर्ष में आये थे। भारतीयो की भावनाओ के प्रति उनके हृदय मे आदर का भाव था। वर्नाक्युलर प्रेस विधेयक रद करके उन्होंने भारतीयो को सान्त्वना देने का प्रयास किया। उन्होने अफगानिस्तान से ऐसी शर्तो पर सन्धि की जिससे कि ब्रिटिश सरकार के सम्मान में वृद्धि हुई। परिणामत सेना के व्यय में अपने आप कमी हो गई। उन्होंने स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहन दिया और १८८२ में अपनी सुविख्यात रिपोर्ट लिखी। इस प्रकार लार्ड रिपन की नीति जनहित की भावनाओ से प्रेरित थी। इस लिए भारत के शिक्षित समाज में वे अत्यन्त लोकप्रिय हो गए। 'हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक प्रत्येक अग्रेजी भाषाभाषी परिवार मे उनका नाम अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया जाने लगा।"

स्वाभाविक रूप से, लार्ड रिपन के उक्त सुधार, जहाँ भारतीयो के सर्वथा मनोनुकूल थे, भारत मे रहने वाले यूरोपीयो की दृष्टि मे वे काटे की तरह खटकते थे। रिपन यूरोपीय समाज के कोपभाजन बन गए। १८८३ मे सर इल्बर्ट कोर्टनी ने भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल मे एक बिल उपस्थित किया जिसका उद्देश्य यह था कि भारतीय एव यूरोपीय न्यायाधीशो के बीच विद्यमान भेदभाव को हटा दिया जाये। इससे पूर्व भारतीय न्यायाधीशो को, चाहे वे कितने ही ऊँचे पदो पर क्यो न प्रतिष्ठित हो, किसी यूरोपीय के विरुद्ध अभियोग सुनने का अधिकार नही था।

इल्बर्ट बिल

अपने मौलिक रूप मे इल्बर्ट बिल ने सभी जिलाधीशो एव सेशन जजों को यूरोपीय अपराधियो के अभियोगो के निर्णय करने का अधिकार प्रदान किया। इस बिल मे किसी को हानि पहुचाने वाली कोई बात नही थी। किन्तु भारत स्थित यूरोपीय समाज इसे सहन न कर सका। लार्ड रिपन ने भारतीयो के सम्बन्ध मे जो उदार नीति अपनाई थी, यूरोपीय समाज उससे बहुत ही रुष्ट हो गया और इल्बर्ट बिलने तो उसके रोषानल मे घृत का काम किया। यह बिल उनको अपने विशेषाधिकारो पर कुठाराघात प्रतीत हुआ और उन्होने इसके विरोध मे प्रचड आन्दोलन खडा कर दिया। यूरोपीयो ने अपने हितो के रक्षणार्थ एक सुरक्षा-सघ का निर्माण किया और यथेष्ट धन एकत्रित करके इल्बर्ट बिल के खिलाफ 'जिहाद' शुरू कर दिया। यह आन्दोलन जिसे कि उन्माद की सी अवस्था मे चलाया गया था, आगे चल कर शिष्टता की सीमाए भी उल्लघन कर गया। यूरोपीयो ने यह भय प्रकट किया कि भारतीय इस सुविधा से अनुचित लाभ उठाएगे। लार्ड रिपन के ऊपर व्यगबाणो की वर्षा होने लगी। कुछ लोगो ने तो यहाँ तक सोचा कि गुप्त रूप मे, लार्ड रिपन को, सरकारी भवन से उडाकर इगलैण्ड रवाना कर दिया जाय। कई बार लार्ड रिपन का निरादर किया गया और उनकी दावतो का बहिष्कार किया गया।

यह झगडा लगातार कई महीनो तक चलता रहा जब कही जाकर समझौता हुआ। १८८४ के तृतीय विधेयक के अनुसार भारतीय जिलाधीशो और सेशन जजों को यूरोपीयो के मुकदमे सुनने का अधिकार तो दे दिया गया, लेकिन इसमे एक शर्त लगा दी गई कि यूरोपीय अपराधियों को यह माग करने का अधिकार होगा कि मुकदमा ज्यूरी की सहायता से सुना जाय और ज्यूरी के आधे सदस्य यूरोपीय अथवा अमरीकन हो। सर जॉन स्ट्रेची के शब्दो मे "इससे यूरोपीयो को भारत मे एक ऐसी सुविधा मिल गई जो एक अग्रेज को अपने देश मे कदापि प्राप्त नही हो सकती थी।"*

समझौता

* सर जॉन स्ट्रेची —"इन्डिया, इट्स एडमिनिस्ट्रेशन एंड प्रोग्रेस" पृ. ३११

प्रभाव

इल्बर्ट बिल सम्बन्धी वाद-विवाद ने भारतीय जन-आन्दोलन के विकास पर भारी प्रभाव डाला। इसने भारतीयो की आँखे खोल दी। अत्यन्त मर्मान्तिक वेदना के साथ उन्होने अनुभव किया कि पराधीनता का अभिशाप कैसा कठोर होता है? "विदेशी शासको ने हमे किस प्रकार से पद दलित किया है और इस हीन अवस्था में डाल रक्खा है" यह बात उनके सामने बिल्कुल स्पष्ट हो गई। अब उन्हें ज्ञात हुआ कि अपनी जातीय श्रेष्ठता के अभिमानी, सकीर्ण मनोवृत्ति वाले शासक वर्ग से न्याय की आशा करना मृग मरीचिका से अधिक कुछ नही है। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के शब्दो मे "कोई भी स्वाभिमानी भारतीय इस बात को सहन नही कर सकता था। उनके लिये जो इसकी महत्ता समझते थे, यह देशभक्ति का आवाहन था।" इल्बर्ट बिल की हलचल ने भारतीयो को एक पाठ पढाया और वह यह कि अपने देश मे भी बराबरी का दर्जा पाने के लिये उन्हे काफी सघर्ष करना पडेगा। इस सारी

राष्ट्रीय सम्मेलन (Indian National Conference) १८८३

हलचल के फल स्वरूप भारतीयो को न केवल जातीय भेदभाव एव राजनीतिक पराधीनता के विरुद्ध एक अविराम सघर्ष की ही आवश्यकता का भान हुआ अपितु यह भी ज्ञान हो गया कि इस सघर्ष की रूपरेखा क्या हो। यूरोपीयो ने इल्बर्ट बिल के सशोधन मे मनोवाछित सफलता प्राप्त की थी, इससे यह स्पष्ट हो गया कि विदेशी शासन का सफल विरोध तभी संभव है जब कि कोई देशव्यापी सगठन ऐसे कामो को अपने हाथो मे ले ले और उसे जनता का सक्रिय सहयोग मिल सके। समय की यह पुकार व्यर्थ नही गई। इल्बर्ट बिल के सम्बन्ध मे यूरोपीयो का जो दृष्टिकोण रहा था, उसे भारतीय नेताओ ने विस्मृत नही किया। दिसम्बर १८८३ मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के पथप्रदर्शन मे प्रथम राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। यह सम्मेलन कलकत्ते मे तीन दिन होता रहा। इसमे, विभिन्न प्रान्तो के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन अपार उत्साह के वातावरण मे सम्पन्न हुआ और उससे भारत की उदीयमान राष्ट्रीयता का अच्छी तरह से परिचय मिलताथा। १८८५ में बम्बई मे राष्ट्रीय महासभा (Indian National congress) की स्थापना हुई। वास्तव मे उक्त सम्मेलन को राष्ट्रीय महासभा का अगुवा, पथप्रदर्शक अथवा निर्माता कहना उचित होगा। सम्मेलन ने अपने को राष्ट्रीय महासभा मे विलीन कर दिया। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि १८७६ से १८८४ तक के ८ वर्षों का, भारत के राष्ट्रीय इतिहास मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस काल की घटनाओ ने ही उस सघर्ष की नीव डाली जिसका अन्त भारत में ब्रिटिश राज के अन्त के साथ हुआ।

सारांश

अंग्रेजों ने भारतवर्ष पर धीरे धीरे बिना किसी पूर्व निश्चित योजना के साथ काम करते हुए अधिकार किया था। १८५२ तक सम्पूर्ण देश ईस्ट इंडिया कम्पनी के आधीन हो गया। यह बात बिल्कुल गलत है कि भारत में, अंग्रेजो ने अपने साम्राज्य का निर्माण. मस्तिष्क की अर्द्ध चेतन अवस्था मे किया। १८ वी शताब्दी में भारत की राजनीतिक दशा अत्यन्त अव्यवस्थित एव शोचनीय थी, अग्रेजो ने इसका लाभ उठाया, और अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में सफलता प्राप्त की।

ब्रिटिश राज्य की स्थापना से भारत की आर्थिक, राजनीतिक एव सांस्कृतिक अवनति हुई। प्रतिगामी ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप देश के पुराने उद्योग धन्धे चौपट हो गए और जनता दरिद्रता के दल दल मे फस गई। केन्द्रित शासन की स्थापना के कारण पचायतें नष्ट हो गई। ईसाई पादरियो के धर्म प्रचार और अग्रेजी शिक्षा के प्रसार ने भारत को सास्कृतिक दासता की बेडियो में जकड दिया।

सन ५७ का विद्रोह ब्रिटिश शासन की बुराइयो के कारण जनता मे बढते हुए असन्तोष का भयकर विस्फोट था। भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता का यह प्रथम युद्ध असफल हुआ और अग्रेजो ने अत्यन्त निष्ठुरता पूर्वक इसका दमन किया। विद्रोह के पश्चात् अग्रेजो ने अविश्वास तथा 'फूट डालो और राज करो' की नीति का आश्रय लिया जिसका फल यह हुआ कि भारतीयो और अग्रेजो के बीच भेद की खाई बढती चली गई।

१८५७ के विद्रोह के पश्चात् भारत की शासन-प्रणाली मे कई मौलिक परिवर्त्तन हुए। १८५८ के भारत सरकार अधिनियम ने भारत में कम्पनी के शासन की अत्येष्टि कर भारत का शासन ब्रिटिश सरकार के हाथो मे सौंप दिया। अधिनियम ने बोर्ड ऑफ कट्रोल तथा कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का अत कर दिया और उनके स्थान पर भारत-मँत्री के एक नए पद का सृजन किया। भारत-मत्री ब्रिटिश मत्रीमडल का सदस्य होता था। अधिनियम ने भारत-मत्री की सहायता के लिए १५ सदस्यों की एक भारत-परिषद् बनाई। कतिपय आलोचको के अनुसार भारतीय शासन का 'क्राउन' के हाथो में जाना एक उपचारिक परिवर्त्तन मात्र था। नयी व्यवस्था का प्रारम्भ महारानी विक्टोरिया की एक घोषणा के साथ हुआ। घोषणा में कहा गया था कि देशी नरेशो के अधिकारो की रक्षा की जायगी, विद्रोहियो के साथ दयाका व्यवहार होगा और सभी धर्मो व जातियो के लोगो को बिना किसी पक्षपात के योग्यतानुसार सरकारी पदो पर नियुक्त किया जायेगा।

जहाँ १८५८ के अधिनियम ने केवल गृह-सरकार की रूपरेखा में ही परिवर्त्तन किया था, १८६१ के भारतीय परिषद् अधिनियम ने भारतीय शासन मे भी कतिपय सुधार किए। इस अधिनियम ने गवर्नर जनरल की कार्यपालिका-परिषद् में एक पाँचवा विधि-सदस्य और बढाया। अधिनियम ने केन्द्र में गवर्नर जनरल को और प्रांतो मे गवर्नरो को यह अधिकार दिया कि वे कानून-निर्माण के कार्य मे भारतीयो को भी सम्मिलित कर सकते हैं। फिर भी, १८६१ के अधिनियम के आधीन निर्मित भारतीय व्यवस्थापिका-सभाओ को कई कठोर प्रतिबधो के आधीन काम करना पडता था।

भारत के राष्ट्रीय इतिहास मे लार्ड रिपन और लार्ड लिटन का शासन-काल अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति, व्यय-साध्य दिल्ली दरबार, अफगान-युद्ध, इल्बर्ट बिल सम्बन्धी वाद-विवाद, शस्त्र-विधेयक समाचार-पत्रो की स्वाधीनता का अपहरण, इडियन सिविल सर्विस की परीक्षा मे बैठने की अवस्था मे कमी कर देना, आदि ऐसी बाते थी जिन्होने भारतीयो के मन मे ब्रिटिश शासन के प्रति व्यापक असतोष की उग्र भावना को उत्पन्न किया जिसके फलस्वरूप १८८५ मे कांग्रेस की नीव पडी।

अध्याय २

भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म

६. भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के उदय के कारण

बहुत से कारणो का परिणाम

भारत मे राजनीतिक चेतना के मन्द जागरण ने १८८५ मे राष्ट्रीय महासभा की स्थापना के रूप मे मूर्त आकार धारण कर लिया। यह स्मरणीय है कि कांग्रेस, जो देशभक्ति का आकर्षण केन्द्र और राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संघर्ष की अग्रणी बन गई उसका जन्म कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। सच तो यह है कि वह उन्नीसवी शताब्दी के राष्ट्रीय नवजागरण का ही एक भाग थी। इसमे कोई सन्देह नही कि वह उस अपार आर्थिक और राजनीतिक असंतोष की अभिव्यक्ति थी जो ब्रिटिश शासन के अन्यायो के कारण पनप रहा था। इसके साथ ही साथ वह उन राष्ट्रवादी शक्तियो की संश्लेषण थी जो पहले से ही धार्मिक-सामाजिक सुधार-क्षेत्र मे सक्रिय थी। बंगाल में रामगोपाल घोष, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी और आनन्दमोहन बोस ने, बम्बई मे दादाभाई नौरोजी और जगन्नाथशंकर सेठ ने, मद्रास मे जी सुब्रम्मण्य अय्यर और महाराष्ट्र मे राव बहादुर के एल नेल्कर तथा एस एच चिपलोन्कर ने राष्ट्रीयता के बीज वपन के लिए भूमि अच्छी तरह तय्यार कर दी थी। भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को यूरोप के राष्ट्रीय आन्दोलनो से प्रभूत प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी मे यूरोप मे राष्ट्रवाद की प्रचण्ड लहर उठी थी जिसके फलस्वरूप विश्र खलित जर्मनी और इटली का एकीकरण हुआ तथा यूनान और बेल्जियम को विदेशी शासन से मुक्ति मिली। मध्यकालीन अधोगति की दशा से जापान के अभूतपूर्व आकस्मिक उत्कर्ष ने भी भारत की राष्ट्रीयता को पर्याप्त प्रभावित किया। संक्षेपतः भारत का राष्ट्रवादी आन्दोलन कई शक्तियो और कारणो के संयोग का परिणाम था। नीचे हम उनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारणो पर विचार करते है।

यद्यपि भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन का स्वरूप प्रतिगामी ही था, फिर भी उसने भारत को राजनीतिक एकता प्रदान कर, जो उसके पास पहले कभी नही थी, भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को प्रोत्साहन दिया। वस्तुतः

भारत का राजनीतिक एकीकरण

भारतवर्ष में, विंसेंट स्मिथ के शब्दों में, "रक्त, रग, भाषा, वेष, रीतिरिवाज और सम्प्रदाय आदि की असख्य विभिन्नताएं रहते हुए भी एक मौलिक एकता रही है।" भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष सदैव एक इकाई का रहा है। इससे भी कही अधिक महत्वपूर्ण भारतवर्ष की सास्कृतिक एकता है जो विदेशियो के अविराम आक्रमणो के बावजूद सदैव अक्षुण्ण रही है। जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही लिखा है कि सम्पूर्ण प्रायद्वीप के निवासियो की मानसिक पृष्ठभूमि, दृष्टिकोण और विचारधारा मे आश्चर्यजनक समानता रही है। "शकराचार्य द्वारा निर्धारित प्रमुख तीर्थ भारत के चार कोनो पर विराजमान थे। उत्तर मे हिमालय के नीचे बद्रीनाथ, दक्षिण में कन्या कुमारी के समीप रामेश्वरम्, पश्चिम मे अरब समुद्र की ओर आँख गडाए हुए द्वारका और पूर्व मे बगाल की खाडी के जल से अठखेलिया करती हुई पुरी। विभिन्न धर्मों के अनुयाइयो के बीच सौहार्द विद्यमान था। भारत ही उनकी पुण्यभूमि थी।"* भारतवर्ष में इस्लाम का प्रवेश इस एकता को छिन्न भिन्न करता हुआ मालूम होता था, लेकिन भारतीय सस्कृति मे दूसरी सस्कृतियो को मिलाने और अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता की जो भावना रही है, उसने यहाँ भी सश्लेषण का मार्ग लिया। यह तो अग्रेजो की "फूट डालो और राज करो" नीति का परिणाम रहा है कि भारत की सश्लेषण शक्ति नष्ट हो गई और भौगोलिक एव सास्कृतिक दृष्टि से सदैव ही एक रहने वाले देश का अग भग हुआ।

यह स्वीकार करना ही पडता है कि ब्रिटिश शासन के पूर्व भारत मे राजनीतिक एकता का अभाव था। अशोक और अकबर जैसे महान् शासको को भी भारत में राजनीतिक एकता स्थापित करने में पूरी सफलता नही मिली। भारत का जो कुछ एकीकरण वे कर सके, वह अल्प-जीवी रहा। इसका एक तो कारण यह है कि जनता में राजनीतिक एकता की उत्कट आकाक्षा नही थी। दूसरे आवागमन के आधुनिक साधन भी उस समय उपलब्ध नही थे। भारत मे राजनीतिक एकता स्थापित करने का श्रेय अग्रेजो को ही प्राप्त है।† वे सम्पूर्ण देश को एक दृढ केन्द्रित शासन व्यवस्था के अंतर्गत लाने में सफल हुये। उन्होने भारतवर्ष को वह राजनीतिक सत्ता प्रदान की जिसके आदेशो का देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक पालन किया जाने लगा। अग्रेजो की इस सफलता का कारण यातायात के साधनो का

---

* जवाहरलाल नेहरू : 'यूनिटी आफ इडिया,' पृ० १६।

† सुब्रह्मण्यं ऐयर ने राष्ट्रीय महासभा के प्रथम अधिवेशन में भाषण देते समय इस महत्वपूर्ण तथ्य की कि देश के इतिहास में जनता के बीच एकता की भावना के दर्शन का (राष्ट्रीय अस्तित्व के मान का) यह सर्वप्रथम अवसर है" चर्चा की थी।

विकास है। यह तो स्पष्ट ही है कि अंग्रेजो ने भारत में प्रशासनिक एकता अपने साम्राज्य के हितार्थ स्थापित की। आवागमन के आधुनिक साधनो का सूत्रपात करने में उनका ही स्वार्थ निहित था। ऐसा होने पर इस देश का आर्थिक शोषण वे और भी सुगमतापूर्वक कर सकते थे। परन्तु इसका परिणाम सर्वथा उनके मनोनुकूल नही हुआ। जवाहरलाल नेहरू के शब्दो में ब्रिटिश शासन द्वारा स्थापित भारत की राजनीतिक एकता "सामान्य आधीनता की एकता थी, लेकिन उसने सामान्य राष्ट्रीयता की एकता को जन्म दिया"।* अखड और स्वतत्र भारत का विचार राजनीतिक एकीकरण का अनिवार्य परिणाम था। उसने लोगो के दिमागो में घर कर लिया। इस समय एकता का विचार कही ऊपर से नही लादा गया था, वह स्वत प्रेरित था। इस विचार ने प्रत्येक देशभक्त भारतीय को नई प्रेरणा एव स्फूर्ति प्रदान की और राष्ट्रीय स्वातत्र्य समर को आगे बढाया। आगे चलकर एकता की इस बढती हुई भावना ने अंग्रेजो को भयभीत कर दिया। अब उन्होने इस एकता को भग करने की चेष्टा की। उन्होने भारतीय राष्ट्रवाद की उन्मुक्त शक्ति को रोकने के लिए "देश वासियो के विरुद्ध देश वासियो के सतुलन" का सिद्धान्त प्रयुक्त किया तथा धार्मिक और साम्प्रदायिक वैमनस्य के बीज बोये। अपनी इस चेष्टा में अंग्रेजो को कुछ सफलता भी मिली, परन्तु राष्ट्रीयता की वेगवती मन्दाकिनी जो एक बार वह निकली उसे न अंग्रेजो की कूटनीति ही और न उनका दमन ही रोकने मे सफल हो सका।

पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति

भारतीय राष्ट्रीयता के जन्म और विकास मे पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली ने भी बडी सहायता दी। अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरुप भारतवर्ष का पश्चिम के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ जिसके सुदूरव्यापी परिणाम हुए, सुशिक्षित भारतीय अंग्रेजी भाषा और साहित्य के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गए, उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के अमृत का आपानक पान किया। शिक्षित भारतीयो ने इटली की राष्ट्रीयता के मत्रद्रष्टा मैजिनी, फ्राँसीसी राज्यक्रांति के प्रशस्ता रूसो और वाल्टेअर, व्यक्तिगत स्वाधीनता उदारवाद और राष्ट्रीय स्वतत्रता के अग्रदूत थॉमस पेन, लॉकबर्क, मैकाले और मिल, आदि लेखको की रचनाओ का अत्यन्त मनोयोग पूर्वक अनुशीलन किया। उन्नीसवी शताब्दी में यूरोप मे जो राष्ट्रीय आन्दोलन हुएथे, उनसे भारतीय नव-युवको को बडी प्रेरणा मिली। इन राष्ट्रीय आन्दोलनो का ही यह फल था कि

---

* "हिन्दुस्तान की राजनीतिक एकता गौण रूप से साम्राज्य की वृद्धि के घुणाक्षर न्याय से प्राप्त हुई थी। बाद में जब यह एकता राष्ट्रीयता के साथ मिल गई और विदेशी राज्य को चुनौती देने लगी तो हमारे सामने फूट डालने और साम्प्रदायिकता को जान बूझ कर बढ़ाए जाने के दृश्य आने लगे जो हमारी भावी उन्नति के मार्ग में जबरदस्त रोडे बने।" जवाहर लाल नेहरू: "ऑटोबाइ आफी;" पृ. ४३७

तुर्की मे यूनान को और हालैण्ड मे बेल्जियम को स्वतत्रता प्राप्त हुई। अपने देश की अधोगति देखकर भारतीय युवको का हृदय ग्लानि से भर गया। दादाभाई नौरोजी के अनुसार जो राष्ट्रीय महासभा की नीव डालने वालो मे से एक थे, पाश्चात्य शिक्षा भारत के राष्ट्रीय जागरण मे एक विशिष्ट स्थान रखती है। "हमे एक नूतन प्रकाश मिला है और उसने बताया है कि राजा प्रजा के लिए होता है, प्रजा राजा के लिए नही"। सक्षेपत पाश्चात्य विचार धारा और साहित्य के ससर्ग ने भारत के बुद्धिजीवियो के समक्ष नवीन आदर्शो की सृष्टि की, उनके प्रति प्रगाढ प्रेम की भावना उत्पन्न की।

वस्तुत भारत मे ब्रिटिश शासको ने पाश्चात्य शिक्षा का सूत्रपात किसी उन्नत अथवा परहित की भावना से प्रेरित होकर नही किया था। इसमे कोई सन्देह नही कि कुछ ऐसे भी व्युत्पन्न अग्रेज थे जिनका अग्रेजी भाषा और सस्कृति की अन्तवर्ती श्रेष्ठता मे दृढ विश्वास था और वे सोचते थे कि भारत की उन्नति अग्रेजी रीतियो को अपनाने पर ही सभव है। राजा राम मोहनराय जैसे कुछ देश भक्तो का भी यही विचार था कि जिस अधोगति मे भारत पडा हुआ है, उससे छुटकारा पाने के लिए पाश्चात्य सस्कृति का सँपर्क अतीव आवश्यक है। परन्तु भारत मे अग्रेजी शिक्षा प्रारंभ करने के पीछे सर्वथा अनपेक्ष उद्देश्य नही थे। अग्रेजो को उस समय सस्ते क्लर्को की आवश्यकता थी, वे शिक्षित भारतीयो को, विदेशी शासन के प्रति राज-भक्त और भूतकालीन सस्कृति तथा धर्म के प्रति विमुख करना चाहते थे। ब्रिटिश शासको की इन प्रेरणाओ का ही यह परिणाम था कि यहा पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली का सूत्रपात किया गया। भारतीय जनता के 'अग्रेजीकरण' के साथ ही साथ भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की नीव को सुदृढ करना ही विदेशी शासको का प्रमुख उद्देश्य था। अधिकाश अग्रेज मोस्टुअर्ट एलफिन्स्टन के इस विचार से सहमत थे कि 'अग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारतीय ब्रिटिश शासन को सहर्ष स्वीकार कर लेगे।' स्पष्ट रूप से यह आशा की गई थी कि 'शिक्षा-प्रसूत सस्कार जनता को ब्रिटिश शासन से सन्तुष्ट कर देगे और उसके हृदय मे विदेशी शासन केप्रति अनुरक्ति का भाव उत्पन्न हो जायगा। मोस्टुअर्ट एलफिस्टन के अनुसार भारतवर्ष मे अग्रेजी शिक्षा एक राजनीतिक आवश्यकता थी। भारत मे ब्रिटिश शासन की स्थापना अत्यन्त सदिग्ध और अनिश्चित वातावरण मे हुई थी, शासक और शासितो के बीच बहुत भेदभाव था। इन कारणो से ब्रिटिश साम्राज्य की स्थिति सर्वथा सुरक्षित नही थी। उसकी सुरक्षा का एकमात्र उपाय यही हो सकता था कि अग्रेजी शिक्षा के प्रचार द्वारा स्वतत्र विचार-शक्ति को कुन्ठित कर दिया जाय। ट्रेवेलियन ने १८३८ मे लिखा था कि अग्रेजी साहित्य का प्रभाव भारत मे अग्रजी साम्राज्य के लिए हितकर होगा।

लेकिन वह यह भूल गया कि अंग्रेजी साहित्य स्वतत्रता की उदात्त भावनाओ से परिपूर्ण है और इस द्वारा राष्ट्रीयता एव स्वाधीनता की भावना को प्रोत्साहन मिलेगा।*

पाश्चात्य शिक्षा का सूत्रपात करने मे अंग्रेजो का ध्येय भारत में अपने साम्राज्य की जडो को मजबूत करना था, लेकिन उसने इन जडो को उखाडने में सहायता दी। भारतीयो को अपने विदेशी शासको के प्रति राजभक्तिका पाठ पढाने के बजाय अंग्रेजी शिक्षा ने उन्हे स्वतत्रता और स्वशासन का पाठ पढाया।' 'शिक्षितभारतीयो ने अमेरिका, इटली और आयरलैंड के स्वातत्र्य सग्रामो के सम्बन्ध मे पढा। उन्होने ऐसे लेखको की रचनाओ का अनुशीलन किया, जिन्होने व्यक्ति गत और राष्ट्रीय स्वाधीनता के सिद्धातो का प्रचार किया है। ये शिक्षित भारतीय भारत के राष्ट्रीय आदोलन के राजनीतिक और बौद्धिक नेता हो गए।"† यह स्मरणीय है कि सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, दादा भाई नौरोजी, गोखले तथा भारत की राष्ट्रीयता के अन्यान्य ज्योति वाहक अंग्रेजी शिक्षा की ही देन थे। मैकाले ने कहा था कि उस दिन को जब योरोपीय ज्ञान में निष्णात भारतीय योरोपीय सस्थाओ की माग करेंगे, मै "ब्रिटिश इतिहास का सर्वाधिक गौरव पूर्ण दिवस" समझूगा। मैकाले का यह स्वप्न बहुत शीघ्र सार्थक हो गया, इतना शीघ्र जिसकी उसने कभी कल्पना भी न की होगी।

अंग्रेजी भाषा से भारत की राष्ट्रीयता को प्रभूत बल प्राप्त हुआ। प्रातीय सीमाओ से ऊपर उठकर उसने अखिल भारतीय भाषा का रूप धारण कर लिया। शिक्षित भारतीयो की लोक भाषा (Lingua Franca) के रूप मे वह देश के विभिन्न भागो के निवासियो के बीच विचारो के आदान प्रदान का माध्यम बन गई। इसने उन्हे एक मच पर मिलने, सामान्य समस्याओ पर विचार करने और कार्य की सामान्य योजना के निर्माण का पथ प्रशस्त किया। दूसरे शब्दो मे अंग्रेजो ने भारत की राजनीतिक दृढता और राष्ट्रीयता के अभ्युत्थान मे महत्वपूर्ण भाग लिया है।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से भारत मे पत्रकारिता का जन्म और प्रातीय भाषाओं के साहित्यो का विकास हुआ। विद्रोह के पश्चात् भारतीय समाचार पत्रो की आशातीत वृद्धि हुई। जब राष्ट्रीय महासभा का जन्म भी नही हुआ था, और भारतीयो के पास कोई सामान्य मच नही था, समाचारपत्रो ने राष्ट्रीयता की भावना के विकास मे बहुत सहायता दी। उन्होने जनता की शिकायतो को

भारतीय प्रेस और वर्नाक्युलर साहित्य

* ओ मेले (सम्पादित): "माडन इडिया एड दि वेस्ट, पृ-६५८–६।"

† ए. आर. देसाई: "सोशल बैकग्राउन्ड ऑफ इडियन नेशनलिज्म" पृ. २६०।

निर्भीक भाषा मे व्यक्त किया और वे सरकारी कामो की तीक्ष्ण आलोचना करने से पीछे नही हटे। भारतीय प्रेसो ने अंग्रेजी और देशी भाषाओं, दोनो में राष्ट्रीयता के शिशु-पादप का सिंचन किया और एग्लोइडियन समाचार पत्रो का मुँह तोड उत्तर दिया।

भारतीय प्रेस के जन्मदाता राजा राम मोहन राय ने १८२१ मे 'सम्वाद-कौमुदी' का प्रकाशन प्रारभ किया। इसका दृष्टिकोण प्रगतिशील एव राष्ट्रवादी था। इसके एक ही वर्ष बाद फार्दन जी मुर्जबान ने उदार राष्ट्रीय पत्र बाम्बे समाचार निकालना शुरू किया। १८३१ मे, भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय, द्वारकानाथ टैगोर और प्रसन्नकुमार टैगोर द्वारा सस्थापित 'बगदूत' का प्रकाशन शुरू हुआ। गुजराती 'रास्तगुफ्तार' की स्थापना १८५१ मे हुई थी और कुछ काल तक उसका सपादन दादभाई नौरोजी ने किया। १८५७ के विद्रोह के पश्चात् तो भरतीय समाचार पत्रो ने विद्युतगति से उन्नति की। एग्लो इडियन 'टाइम्स ऑफ इडिया' (१८६५) 'मद्रास मेल' (१८६८) स्टेट्समैन (१८७५) और लाहौर के 'सिविल एड मिलिटरी गजट' (१८७६) आदि पत्र शासक वर्ग के प्रवक्ता थे। इन पत्रों की चुनौती का उत्तर देने के लिए इसी युग मे 'अमृत बाजार पत्रिका' (१८६८) 'ट्रिब्यून (८७७) और 'पायनियर' (१८७९) का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया। उन्होने राष्ट्रीयता के आदर्श को ग्रहण किया।

भारतीय राष्ट्रीयता के विकाश मे समाचार पत्र-पत्रिकाओ का काफी हाथ रहा है। उन्होने जनता को जागरण का सदेश दिया है और उसे राजनीतिक रूप से शिक्षित किया है। राष्ट्रीय आंदोलन समाचार पत्र पत्रिकाओ का कितना ऋणी रहा है यह इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि "राजा राममोहन राय से लेकर, केशव चन्द्र सेन, गोखले, तिलक, फिरोजशाह मेहता, दादाभाई नौरोजी, सुरेंद्रनाथ बेनर्जी, सी० वाई० चितामणि महात्मा गाधी और जवाहर लाल नेहरू तक सार्वजनिक नेताओ की एक विशिष्ट परम्परा रही है जिन्होंने अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए प्रेस का उपयोग किया है और अब भी कर रहे हैं।"*

इस समय देशी भाषाओ मे जिस साहित्य का सृजन हुआ, उसने भी राष्ट्रीयता की वेगवती धारा को शक्ति प्रदान की। बगाल में बकिमचद्र जैसे साहित्यकारो ने राष्ट्रीयता की ज्वाला को प्रदीप्त रक्खा। उनका 'आनदमठ' तो आधुनिक बगीय राष्ट्रीयता का 'गीता' बन गया। उसने नवयुवको को बहुत प्रभावित किया और "बंगाल मे क्रातिकारी राष्ट्रीयवाद की पाठ्य पुस्तक का काम किया।"† 'वदेमातरम्' जो रवींद्र के 'जन गन गन' के साथ साथ भारत का राष्ट्रीय गीत है, बकिम की रचना

* मार्ग्रेटा बर्न्स : "दि इंडियन प्रेस" पृ. १६।

† जी. एन. सिंह. "लैंडमार्क्स इन इन्डियन नेशनल एंड कांस्टीट्यूशनल डेवलपमेंट" पृ.११७.

है। बहुत से भारतीय यूरोपीय अधिकृत नील के बगीचो मे काम करते थे। वहाँ उनको जिन मुसीबतो का सामना करना पडता था, 'नीलदर्पण' नामक एक बगाली नाटक में उनका सफल चित्रण किया गया। इस नाटक को पढ कर देशभक्त भारतीयो की भावनाओ को उत्तेजना मिली। राष्ट्रवादी आदर्शों का प्रसार करने में, बगाल मे, प्रेस, थियेटर और गुप्त क्रांतिकारी समितियाँ विशेष रूप से सक्रिय थी। गैरीबाल्डी और मैजिनी के जीवन चरित्रो का अनुवाद किया गया और राष्ट्रीय स्वतत्रता के ध्येय को 'स्वप्न में हस्तगत भारत का इतिहास' (History of India gained in a Dream) जैसे शब्दो मे घोषित किया गया।*

धार्मिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीयता

उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे भारतीय राष्ट्रवाद की वेगवती धारा को उस युग के सुधार-आदोलनो ने अपूर्व बल प्रदान किया। शताब्दियो तक विदेशियो के पराधीनता पाश मे फसे रहने के कारण हिंदू अपने सास्कृतिक वैभव को भूल चुके थे। भारत मे ब्रिटिश राज्य की स्थापना के साथ साथ ईसाई धर्म का भी आगमन हुआ और वह हिंदू धर्म के अस्तित्व तक को चुनौती देता प्रतीत होने लगा। यह स्पष्ट था कि उस समय हिंदू धर्म शनै शनै विनाश की ओर बढ रहा था और उसकी रक्षा तभी हो सकती थी जब कि वह अपनी सामाजिक कुरीतियो को दूर कर देता। उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे पश्चिमी ज्ञान के आलोक से आखे खुलने पर तथा पराधीनता की पीडा अनुभव करने पर दूरदर्शी भारतीयो ने अपने देश की दुरवस्था देखी। उन्हे उसमे सशोधन की आवश्यकता जान पडी। इसी के परिणाम आधुनिक धार्मिक सुधार आदोलन थे। इन धार्मिक सुधार आदोलनो ने देश मे जिस पुनर्जागरण का सृजन किया वह भारत की विकासोन्मुख राष्ट्रीयता का एक अविभाज्य अग तथा उसके लिये अपार शक्ति का स्रोत बन गया। भारत के राष्ट्रीय आदोलन के इतिहास मे इन धर्म-सुधार आदोलनो का विशेष महत्व है। भारतीय स्वतत्रता-सग्राम के उद्भव मे इन सुधार-आदोलनो का निर्णायक हाथ रहा है। नीचे हम सर्वाधिक महत्व पूर्ण सुधार-आदोलनो तथा भारतीय जनता के राष्ट्रीय जागरण पर पड़ा उनके प्रभाव का विवेचन करेंगे।

ब्रह्मसमाज के प्रवर्त्तक राजा राममोहन राय (१७७२—१८३३) गत शताब्दी के अग्रगण्य सुधारको में से थे। डा. पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दो में "उनका दर्शन बडा विस्तृत और दृष्टि-बिंदु व्यापक था"। † उन्होने

---

* हस कोहन : "ए हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दी ईस्ट" पृ ३६०

† डा. पट्टाभि सीतारामय्या : "दि हिस्ट्री आफ दी काग्रेस, पृ. १७"।

ब्रह्मसमाज और राजा राममोहन राय २० अगस्त १८२८ को ब्रह्मसमाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित थे :—(१) ईश्वर एक है। वह ससार का स्रष्टा, पालक और रक्षक है। उसकी शक्ति, प्रज्ञा, प्रेम, न्याय और पवित्रता अपरिमित है । (२) जीवात्मा अमर है। उसमे असीम उन्नति करने की क्षमता है और वह अपने कर्मों के लिए भगवान के सामने उत्तरदायी है। (३) आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रार्थना, भगवान का आश्रय और उसके अस्तित्वकी अनुभूति आवश्यक है। (४) किसी भी बनाई हुई वस्तु को ईश्वर समझ कर नही पूजना चाहिए, न किसी पुस्तक या पुरुष को निर्भ्रांत अथवा मोक्ष का एकमात्र साधन मानना चाहिए ।

राजा राममोहन राय के प्रभावशाली नेतृत्व मे ब्रह्म समाज ने चतुर्मुखी उन्नति की। उनकी मृत्यु के पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ और केशव चद्रसेन ने उनके कार्य को आगे बढाया। लेकिन इन दोनो व्यक्तियो के दृष्टिकोण में अतर था, फलत ब्रह्मसमाज के दो भेद हो गए—आदिसमाज और साधारण समाज। आदि समाज के नेता महर्षि देवेन्द्रनाथ थे। इसकी विचार धारा कुछ सकुचित और पुराण-पथी थी। साधारण समाज अधिक आधुनिक और सुधारवादी था।

ब्रह्मसमाज ने हिंदू धर्म की सराहनीय सेवाएं की। उसने हिंदूधर्म की मौलिक पवित्रता व श्रेष्ठता का उद्घाटन किया, अधविश्वासो और बहुदेववाद की निंदा की तथा बाल-विवाह, सती-प्रथा और विधवाओ की दुर्दशा जैसी सामाजिक कुरीतियो को दूर करने में हाथबटाया।

उन्नीसवी शताब्दी का दूसरा महत्वपूर्ण सुधार-आदोलन आर्यसमाज था। इसके संस्थापक स्वामी दयानद का जन्म काठियावाड के एक छोटे से गाँव में १८२४ में हुआ था। वे २१ वर्ष की अवस्था में गौतम बुद्ध की भाँति घर छोड़ कर निकल गए और उन्होने अपनी आध्यात्मिक पिपासा की शाति के लिए बन-बन खाक छानी। १८६० में दयानंद जी को मथुरा में स्वामी विरजानंद के दर्शन हुए। विरजानंद जी ने उन्हें वेदों का सम्यक् अध्ययन कराया और प्रेरणा दी कि वे ससार में वैदिक धर्म का प्रचार करें। गुरु से विदा लेकर दयानन्द जी ने भारत का भ्रमण किया और जनता को वैदिक धर्म की शिक्षा दी। उन्होंने १८७५ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की।

आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द

आर्यसमाज हिन्दू धर्म के अतीत गौरव की पुन.स्थापना के लिये प्रयत्नशील आंदोलन था। उसका मूल सिद्धात था "वेद सब सत्यविद्याओ की पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"। आर्यसमाज और

ब्रह्मसमाज के धार्मिक पहलुओं में अंतर है। आर्यसमाज में समन्वय की उस भावना का जो ब्रह्मसमाज की एक प्रमुख विशेषता थी, अभाव था।

स्वामी दयानद की मृत्यु के पश्चात् सर्वश्री लेखराम, गुरुदत्त विद्यार्थी, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानद और महात्मा हसराज आदि महानुभावों ने आर्यसमाज के आदोलन को शक्तिशाली बनाया। शिक्षा के प्रश्न पर आर्यसमाज में कालिज तथा गुरुकुल नामक दो दल हो गये। कालिज दल ने डी. ए. वी. कालिज की स्थापना करके शिक्षा का प्रसार तथा वैदिक सिद्धातो का प्रचार किया। गुरुकुल दल के नेता स्वामी श्रद्धानंद ने १९०२ में हरिद्वार के पास गुरुकुल कांगडी की स्थापना की। आर्यसमाज ने शिक्षा, हिन्दी-प्रचार, दलितोद्धार, जातिभेद के उच्छेदन, लोक-सेवा तथा राष्ट्रीय जागृति के कार्यों में अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लिया।

आर्यसमाज के दो परस्पर विरोधी पहलू रहे हैं—एक प्रतिगामी, दूसरा प्रगतिशील। वेदो की निर्भ्रांतता पर अत्यधिक बल, व्यक्तिगत निर्णय की उपेक्षा, अन्य धर्मों के प्रति निषेधात्मक तथा कतिपय अंशों में प्रतिकूल दृष्टिकोण ने उसको सार्वजनीन अथवा सच्चा राष्ट्रीय धर्म नही बनने दिया। लेकिन दूसरी ओर जहाँ आर्यसमाज ने ब्राह्मणो की प्रभुता, मूर्तिपूजा और बहुदेववाद विषयक अंधविश्वासों का विरोध किया है, नारी जाति के अभ्युत्थान और शिक्षा-प्रसार के लिए प्रयास किया है, वह एक प्रगतिशील आदोलन रहा है। आर्यसमाज राष्ट्रीय जागरण का वैतालिक था। एक समय राजनीतिक दृष्टि से आर्यसमाज सरकार की दृष्टि में क्रातिकारी आदोलन था और उसके दमन का प्रभूत प्रयास किया गया। सर वैलेन्टाइल शिरोल ने उसे भारत में ब्रिटिश प्रभुता के लिए बहुत बडा खतरा बताया था।*

रामकृष्ण मिशन और विवेकानन्द

श्री रामकृष्ण परमहंस का जन्म १८३४ में हुगली परगने के एक अकिंचन ब्राह्मण कुल में हुआ था। बाल्यकाल से ही उनका धर्मप्रेम असाधारण था। उनका विश्वास था कि परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं, इसलिए उन्होंने कठोर साधना की और भक्ति का जीवन बिताया। श्री रामकृष्ण का विचार था कि सब धर्म सच्चे हैं और वे ईश्वर तक पहुँचाने के भिन्न भिन्न साधन मात्र हैं।

श्री रामकृष्ण के शिष्यों में नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानंद) बहुत प्रसिद्ध हैं। गुरु की मृत्यु के बाद उन्होने संन्यास ग्रहण किया और वे ६ वर्ष तक तिब्बत में बौद्ध धर्म के अध्ययनार्थ भ्रमण करते रहे। १८९३ के सितम्बर मास में शिकागो के धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित होकर उन्होने अपना वह प्रसिद्ध ऐतिहासिक भाषण दिया जिसके

* हंस कोहन : 'ए हिस्ट्री आफ नेशनलिज्म इन दि ईस्ट' पृ. ९८।

अमरीका को भारत के धार्मिक महत्व का पहली बार पूरा ज्ञान हुआ। अमरीका और इङ्गलैंड में हिंदू धर्म का प्रचार करने के बाद वे भारत वापिस लौटे। विवेकानद ने अपने गुरुदेव की शिक्षा के प्रचार के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

विवेकानद महान् धार्मिक नेता ही नही थे, वे महान् राष्ट्र-निर्माता भी थे।' यद्यपि उन्होंने राजनीति में पदार्पण नही किया, परतु उनकी रचनाओ मे उत्कट देशभक्ति का स्वर सुनाई पडता है। वे पश्चिम के स्वातन्त्र्य और जनतत्र के साथ पूर्व के अध्यात्मवाद का सयोग करना चाहते थे।

भारत के धार्मिक तथा राजनीतिक नवजागरण को थियोसोफी से, जो कि एक विश्व-आन्दोलन था, विपुल सहायता मिली। थियोसोफी की स्थापना मैडम ब्लैवेट्स्की तथा कर्नल अल्काट ने १८७५ ई मे अमरीका मे की थी। वे १८७९ मे भारत आये और उन्होंने मद्रास के निकट अडयार मे अपना केन्द्र बनाया। भारत मे इस आदोलन को व्यापक बनाने का श्रेय श्रीमती एनीबीसेंट को है।

थियोसोफी

थियोसोफी आदोलन ने हिंदू धर्म की प्राचीन रूढियो और विश्वासो का प्रबल समर्थन किया। इसका उद्देश्य प्राचीन भारतीय आदर्शों और परम्पराओ को पुनरुज्जीवित करना था। श्रीमती बीसेंट के प्रयत्न से इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बनारस मे 'हिन्दू सेंट्रल स्कूल' की स्थापना हुई जिसने आगे चल कर हिन्दू विश्वविद्यालय का रूप धारण किया। थियोसोफी आन्दोलन ने हिंदू धर्म की बडी सेवाएँ की है। उसने सब धर्मों मे सद्भाव बढाने के लिए सहिष्णुता का प्रचार किया और हमे अपनी सभ्यता पर गर्व करना सिखाया।

भारतीय नवजागरण के प्रभाव से मुसलमान भी अछूते नही बचे और उनमे भी सुधार की भावना जागृत हुई। सैयद अहमद बरेलवी ने अरब के वहाबी आन्दोलन का सन्देश भारत मे प्रसारित किया। उन्होने ईश्वर की एकता पर पुनर्वार बल दिया और कहा कि कुरान की व्याख्या करने का सबको अधिकार है। वहावी आदोलन की भावना अत्यत कट्टर और प्रतिक्रियावादी थी।

मुसलमानो के धार्मिक आन्दोलन

मुस्लिम समाज-सुधारको मे सर सैयद अहमदखाँ का नाम शीर्ष स्थानीय है। उन्होंने 'अलीगढ आदोलन' चलाया और मुसलमानो को पाश्चात्य शिक्षा व सस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया। वे पर्दा-प्रथा के विरोधी और स्त्री शिक्षा के समर्थक थे। उन्होंने १८७५ मे मुहम्मडन एग्लो-ओरिएण्टल कालिज की नीव डाली जिसने बाद मे अलीगढ विश्वविद्यालय का रूप धारण किया।

उन्नीसवी शताब्दी के धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आदोलनो ने राष्ट्रीय जागृति के कार्य मे अपूर्व योग दिया। विदेशी शासन मे भारत तीव्र गति से सास्कृतिक अध पतन की ओर बढ रहा था। धार्मिक तथा सामाजिक सुधार-आदोलनो ने इस पतनोन्मुख प्रवृत्ति को रोका। सदियों से परतन्त्रता की चक्की में पिसते-पिसते भारतवासियो मे जो मानसिक और आध्यात्मिक दुर्बलता आगई थी, सुधार-आदोलनो ने उन्हे इस दुर्बलता से उबारा।

सुधार-आन्दोलनों का प्रभाव

सुधार-आन्दोलनो ने भारत की कुरीतियो को दूर किया। जनता के अध-विश्वासो को तोडा और उसमे जाच-पडताल करने की भावना भर दी। इन आन्दोलनो ने हमें बताया कि हमारे धर्म में कौन सी बाते अच्छी हैं, जिन्हे हम स्वीकार करें और कौन सी बाते बुरी हैं, जिन्हे हम त्यागे। यह धार्मिक सुधार आन्दोलनो का ही फल था कि भारत अध-विश्वासो के घने कुहरे से बहुत कुछ बाहर निकला और उसने प्रत्येक वस्तु को तर्क, विज्ञान और विवेक के प्रकाश में देखना प्रारम्भ किया।

प्राय समस्त धर्म-सुधार-आन्दोलनो ने भारत के अतीत वैभव का चित्र उपस्थित किया। भारतीय जनता ने जब इस चित्र से अपनी वर्तमान स्थिति का मिलान किया तो उसे अपार वेदना हुई। कहाँ तो भूतकाल का जगद्गुरु भारतवर्ष और कहा वर्तमान काल का पराधीन, निर्धन और अशिक्षित भारतवर्ष। स्वभावतः धार्मिक आन्दोलनो ने भारतीय जनता के अन्तस्तल में अपनी वर्तमान दुरवस्था से छुटकारा पाने की अदम्य लालसा उत्पन्न कर दी। इस प्रकार धर्म-सुधार-आन्दोलनो ने राष्ट्रवाद की भावना को धार्मिक क्षेत्र मे व्यक्त किया।

यह स्मर्तव्य है कि राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, स्वामी दयानद और स्वामी विवेकानद प्रभृति सुधारक उच्चकोटि के राष्ट्रवादी थे। उन्होंने अपने अनुयाइयो को देशभक्ति का पुनीत पाठ पढाया। राजा राममोहन राय को आधुनिक भारत का जनक कहा गया है। यद्यपि वे ब्रिटिश शासन के प्रशसक थे, फिर भी वे उन अन्यायो से अवगत थे जिनसे भारतवर्ष पीडित था। दयानन्द जी का तो राष्ट्रप्रेम असन्दिग्ध है। उन्होंने अपने सर्व श्रेष्ठ ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' मे लिखा है "कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा न्याय और दया के साथ विदेशियो का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नही है।" स्वामी विवेकानन्द का हृदय जहाँ वेदान्त की शिक्षाओ से आप्लावित था वहाँ उनके हृदय में देशभक्ति की उत्ताल तरगे भी हिलोरे लेती रहती थी। नवयुवको के लिए उनका सदेश था, "मेरे तरुण मित्रो ! बलवान् बनो ! तुम्हारे लिए मेरी यही सलाह है। तुम

भगवद्गीता के स्वाध्याय की अपेक्षा फुटबाल खेलकर कही अधिक सुगमता से मुक्ति प्राप्त कर सकते हो। जब तुम्हारी रगें और पट्ठे अधिक दृढ होगे, तो तुम भगवद्गीता के उपदेशो पर अधिक अच्छी तरह चल सकोगे। गीता का उपदेश कायरो को नही प्रत्युत अर्जुन को दिया गया था, जो बड़ा शूरवीर, पराक्रमी और क्षत्रिय-शिरोमणि था।"

आर्थिक कारण

शुरू में जब ईस्ट इडिया कम्पनी केवल मात्र वाणिज्य सस्था ही थी; विदेशों से कुछ सामान लाती और उसे भारत के वस्त्र, दस्तकारियो तथा अन्यान्य विलास की चीजों से बदल लेती, तब भारतीय उद्योगों को बड़ा बल मिला और कारीगरी की चीजो में भारत निर्यात वाणिज्य बहुत बढ गया। लेकिन उस समय हालत बिल्कुल बदल गई जब कि इगलैण्ड मे औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम स्वरूप शिल्पकारों का एक नया वर्ग तय्यार हो गया। इगलैण्ड में, सारी राजनीतिक शक्ति का आ जाना भारत की कलाओ और दस्तकारियो के लिए प्राण घातक सिद्ध हुआ। गाडगिल के शब्दो' में इस आर्थिक सक्रमण मे, सभवत: एकमात्र नाटकीय घटना (भारत में) पुरानी दस्तकारियो का पतन है। वास्तव में इन दस्तकारियों का आमूल विनाश आकस्मिक ढंग से हो गया।"* भारतवर्ष से जिन पदार्थों का इंगलैण्ड में आयात होता था, उन पर भारी कर लगा दिए गए। जिससे

भारतीय शिल्प-कलाओं का पतन

यहाँ का निर्यात व्यापार नष्टप्राय हो गया। इसी समय भारत के कर्मियों को निर्दय दमन का सामना करना पडा। सरकार ने, भारत में स्वतंत्र वाणिज्य की भी छूट दे दी परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन के यत्र उद्योगो से तय्यार की हुई सस्ती चीजो की प्रतियोगिता में भारतवर्ष के छोटे-मोटे उद्योग धन्धे बिल्कुल नही ठहर सके। रेल और सवाहनसाधनो की उन्नति ने विदेशियों को भारत के सम्पूर्ण बाजार का शोषण करने और दस्तकारियों के पतन में सहायता दी।

विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश सरकार की बराबर यह कोशिश रही कि भारत इंग्लैण्ड के उद्योगपतियो के हितार्थ कच्चे माल का पूरक और तय्यार माल का ग्राहक बना रहे। इसके लिए उसने यहाँ के उद्योग धन्धो के विरुद्ध विभेद की नीति अपनाई। इसी समय भारत में आधुनिक उद्योग-धन्धे विकसित होने लगे, लेकिन उनके संरक्षण का कोई उपाय नहीं किया गया चेष्टा यह की गई कि उनका उत्कर्ष न हो सके। लार्ड लिटन के प्रतिगामी शासन-काल में कपास से ही आयात कर

* डी.आर. गाडगिल: "दि इंडस्ट्रियल एवोल्यूशन ऑफ इ डिया इन रिसैंट टाइम्स,पृ. ६।

उठालेना इसका उदाहरण है। भारत की पुरानी दस्तकारियो पर ब्रिटिशराज का जो प्रभाव पडा, डा० पट्टाभि सीतारामैया ने उसका सविस्तार वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है " पुरातन-कला कौशल, दस्तकारियाँ नष्ट कर दी गईं। खद्दर,जो ईस्ट इडिया द्वारा जहाजो में भर भर कर बाहर भेजा जाता था, और जिसके बदले में गाव के जुलाहे, छीपी, धोबी और व्यापारी आदि को पर्याप्त धन मिलता था, लकाशायत के कपडे के आयात के साथ समाप्त होने लगा। लकाशायर से आने वाले कपडे का मूल्य १८०३ में तीन लाख था, १८२९ में उन्तीस लाख हुआ और १९२९ में बढते बढते बहत्तर करोड तक जा पहुचा।"* जब भारत में बाहर से यत्र निर्मित सस्ता सामान आने लगा, सहस्रो कर्मियो को अपनी जीविका से हाथ धोना पडा। "बीस लाख जुलाहे अपने कुटुम्ब के लोगो को मिलाकर जिनकी सख्या एक करोड तक पहुँचती थी जीविका से वचित हो गए। इसके साथ ही साथ तीन करोड़ सूत कातने वाले जिनकी वजह से बीस लाख करचे चलते थे, अपनी रोजी से हाथ धो बैठे। इस प्रकार चार करोड व्यक्तियो की रोजी जाती रही। अन्यान्य शिल्प जीवियो का भी यही हाल हुआ। नगरो मे कूडा हटाने वाली गाडी के लिए मोटर टायरो के आयात ने बढई की रोटी छीन ली। बर्मिघम और एन्टवर्प से आने वाले तार, खुन्टी, कब्जे, अर्गला, ताले और तालियो आदि के कारण लोहार की आय मारी गई। जूते भी बाहर से ही आने लगे, फलत. चमार की जीवका का भी कोई ठिकाना नही रहा। रोगन और चीनी के सामान की वजह से कुम्हार अपनी जीवका खो बैठा।"† अग्रेजो ने भारत की पुरानी दस्तकारियो का अत करने के साथ ही साथ यहा के माल तय्यार करने के नए उद्योग-धन्धो को भी मसल डालने की कोशिश की।"‡

---

* पट्टाभि सीतारामय्या हिस्ट्री ऑफ नेशनलिस्ट मूवमेंट इन इडिया. पृ. ५।

† 'उपर्युक्त पुस्तक' पृ. ५-६।

‡ ब्रिटेन ने भारतवर्ष के साथ कपास-वस्त्रों का जो वाणिज्य किया, उसके इतिहास को 'इङ्गलैंड की ओर से भारतवर्ष के प्रति किए गए अन्याय का एक ज्वलत उदाहरण' बताते हुए हारेस विल्सन ने लिखा है - 'यदि इस प्रकार के निषिद्ध कर और व्यवधान न लगे होते, तो मैंचेस्टर और पैस्ले के कारखाने शुरू में ही बन्द हो जाते और फिर वाष्प की शक्ति से भी उन्हें चालित करना कठिन हो जाता। भारतीय शिल्प के बलिदान के बल पर उनका निर्माण हुआ। यदि भारत स्वतन्त्र होता, तो वह प्रतिकार करता। उसे आत्म रक्षा के इस साधन से वचित रक्खा गया। वह विदेशियों की दया का मुखापेक्षी रहा। बिना किसी प्रकार का कर चुकाए विदेशी माल का यहाँ स्वतंत्रता पूर्वक आयात किया गया। विदेशी व्यापारी ने अपने इस प्रतिपक्षी को पछाड़ने और बाद में उसका गला-घोंट देने के लिए राजनीतिक अन्याय का आश्रय लिया जिसके सम्मुख बराबरी की मर्यादा पर वह बिल्कुल नहीं ठहर सकता था।' जे. एस. मिल द्वारा उद्धृत: 'रिप्रेजेंटेटिव गवर्नमेंट', पृ. ३८५।

भारतीय कर्मियों की विपुल बेकारी और शिल्पकलाओं के ह्रास के कारण नगरो की जन सख्या कम हो गई, लोग शहरो को छोड छोड कर गाँवो मे जा बसे और जीविकोपार्जन के लिए उन्होने कृषि की शरण ली।

कृषि पर प्रभाव

ज़मीन पर बढते हुए दबाव, अग्रेजो की भूमि सम्बन्धी नीति, ज़मीदारी प्रथा, और भारतीय कृषि की परम्परागत दुर्बलताओ से खेती को बडा धक्का पहु चा। फलत चारो ओर दरिद्रता प्रसरित हो गई और लोगो के रहन सहन का स्तर नीचे गिर गया। इसने स्वाभाविक रूप से असन्तोष को जन्म दिया। यह स्पष्ट रूप मे दीखने लगा

निर्धनता और असंतोष

कि भारत की दुर्दान्त आर्थिक समस्या, गरीबी को उस काल पर्यत नही सुलझाया जा सकता, जब तक कि भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद से मुक्ति नही पा लेता।

जनता की बढती हुई गरीबी के कारण जो बेचैनी फैल रही थी उसको भारत के उदीयमान नौर्जुआजी (Bourgeoisie) और मध्यवर्गीय शिक्षित जनो के असतोष से भी बल मिला। भारतीय व्यापारी यह अच्छी तरह

व्यापारियो और शिक्षित भारतीयों में असन्तोष

समझ गये कि देश की औद्योगिक उन्नति मे ब्रिटिश राज बहुत बडी बाधा है। ऊची सरकारी नौकरियो के दरवाजे अपने लिए बद देख कर शिक्षित भारतीयो की भी क्रोधाग्नि भडक उठी। विद्रोह के पश्चात् महारानी विक्टोरिया ने अपने घोषणापत्र में जो आशाए दिलाई थी उनको निर्मूल होता देख कर उन्हे और भी परेशानी हुई। वस्तुत आई० सी० एस० की परीक्षा मे बैठने की अवस्था मे कमी कर देने का आशय यही था कि भारतीय शासन सम्बधी किसी भी महत्वपूर्ण पद को न पा सके। ऐसे कृत्यो का किस प्रकार देशव्यापी विरोध हुआ, इसका हम पहले ही उल्लेख कर चुके है। यह स्मरणीय है कि शिक्षित मध्य-वर्ग का असतोष जिसने भारत के राष्ट्रीय आदोलन की गेंद को हिलते डुलते रक्खा, कुछ तो आर्थिक था और कुछ राजनीतिक। यह भी महत्वपूर्ण है कि भारतीय व्यवसायियो ने भी राष्ट्रीय स्वातत्र्य-सघर्ष मे सहयोग दिया। अधिकतर उन्होने पर्दे के पीछे से काम किया, परन्तु उनका प्रभाव बहुत था। स्वदेशी आदोलन और विदेशी "चीजो का बहिष्कार करो" नारे मे उनका बहुत बडा हाथ रहा। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आदोलन में व्यापारी वर्ग के आर्थिक स्वार्थ निहित थे।

भारतवर्ष के प्रशासनिक एकीकरण, आवागमन के आधुनिक साधनो की उन्नति और अग्रेजी शिक्षा पद्धति के प्रसार ने राष्ट्रीय चेतना और एकता के लिये सहायक

वातावरण तय्यार कर दिया । भारतीय जनता की बढ़ती
हुई गरीबी ने असतोष मे वृद्धि की और इस तरह **राजनीतिक एकीकरण**
राष्ट्रीयता की ज्वाला को भड़का दिया ।* परन्तु भारतीय
राष्ट्रीयता के प्रवाह को सबसे अधिक शक्ति राजनीतिक कारणो से ही प्राप्त हुई ।

इन सब राजनीतिक कारणो मे सबसे अधिक शक्तिशाली "जातीय द्वेष" था । कोई भी पराधीन जाति विदेशी प्रभुता को सदैव सहन नही कर सकती । कभी न कभी, जल्दी अथवा देर मे उसके प्रति असतोष उत्पन्न हो ही जाता है । भारतवर्ष में विदेशी शासन ने अत्यन्त उद्धत भाव मे आचरण किया, अत उसके प्रति असतोष की भावना शीघ्र ही जाग्रत होगई । अंग्रेज भारतीयो को अपने से हीन नस्ल का, 'आधे बनमानुष और आधे हब्शी' समझकर घृणा की दृष्टि मे देखते थे । इस प्रकार के दृष्टिकोण से भारतीयो के बीच अनिवार्य रूप मे ब्रिटिश विरोधी भावनाओ का विस्तार हुआ । इसकी वजह मे भारतीयो और उनके श्वेत शासको के बीच बहुत चौडी खाई उत्पन्न होगई । चू कि सभी उच्च सरकारी नौकरियो पर यूरोपीयो की ही नियुक्ति होती थी, इससे ब्रिटिश विरोधी भावनाओ मे और भी वृद्धि हुई । इस जातीय भेदभाव और भारतीय प्रतिभा के तिरस्कार का शिक्षित भारतीयो ने प्रचड रूप मे विरोध किया । गैरेट ने ठीक ही कहा है कि भारतीय राष्ट्रीयता के उदय में जातीय भेदभाव एक प्रधान कारण था ।

अंग्रेजो ने जिस अविश्वास और दमन की नीति पर आचरण किया, उसके कारण असतोष और प्रचड हो उठा । लार्ड लिटन के भ्रातिमय शासनकाल मे जो प्रतिक्रियावादी काम किये गए, उन्होने असतोष के ज्वालामुखी को उस स्थिति तक पहुँचा दिया कि बस उसके फटने की ही देर रह गई थी । मूर्खतापूर्ण अफगान युद्ध के कारण भारत की आर्थिक स्थिति पर कुप्रभाव पडा । जबकि देश भयकर दुर्भिक्ष के पजो मे जकडा हुआ था, जनता की कठिनाइयो की सर्वथा उपेक्षा कर लार्ड लिटन ने शानदार दिल्ली दरबार का आयोजन किया । उसने निरपराध भारतीयो के लिये हथियार रखना अवैध कर दिया जब कि यूरोपीयो के ऊपर ऐसा कोई अकुश नही लगाया । समाचार पत्रो पर प्रतिबध लगाकर उसने आलोचना के स्वर को बद करने की चेष्टा की । इन सब कामो की वजह से 'जनता के असतोष का पुञ्जीभूत ज्वाल

---

* ड्यूक आफ आर्गील ने जो लार्ड नार्थब्रुक के शासन-काल मे भारत के राजमंत्री भी थे, भारत की दरिद्रता का निम्न शब्दो मे वर्णन किया है - 'ग्रामीण भारतवर्ष की विशाल जनसंख्या में जिस दयनीय दरिद्रता और जीवन निर्वाह के निम्न स्तर के दर्शन होते हैं, पाश्चात्य ससार में उसका उदाहरण कहीं नहींमिलेगा' ।

बढ़ता ही चला गया।'* सर विलियम वैडरबर्न के शब्दों में 'रूसी पुलिस के दमन की विधियो से सयुक्त इन सभी प्रतिगामी कामो के कारण लार्ड लिटन के शासनकाल में भारत क्रातिकारी विस्फोट के अतीव समीप पहुच गया था। मिस्टर ह्यू म का थोड़ा भी विलम्ब अत्यत घातक सिद्ध होता। लार्ड रिपन ने बिगडी हुई स्थिति को सम्हालने का भरसक प्रयास किया, परतु इल्बर्ट बिल को लेकर यूरोपीयो ने विरोध का जो तूफान खडा कर दिया, उससे सब किया कराया मिट्टी में मिल गया। जब भारतीयो को यह समझते देर न लगी कि यदि वे विदेशी शासन से टक्कर लेना चाहते हैं, उसके दमन और शोषण से छुटकारा पाने के आकाक्षी हैं, तो उन्हे सगठन के सूत्र में बंध जाना पडेगा। यह स्मरणीय है कि राष्ट्रीय महासभा का जन्म इल्बर्ट बिल सबधी वाद विवाद समाप्त होने क पूर्व ही होगया था।

७. भारतीय राष्ट्रीयता, ब्रिटिश शासन की देन।

भारतीय राष्ट्रीय आदोलन के उदय के कारणो का उक्त विश्लेषण यह सुस्पष्ट कर देता है कि भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश शासन की स्वाभाविक यद्यपि अयाचित परिणाम थी। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दो परस्पर विरोधी पहलू थे। उसे कुछ अशो मे तो क्रातिकारी और कुछ अशो में घोर प्रतिगामी कहा जा सकता है। स्वतत्रता और न्यायप्राप्ति के लिए जो राष्ट्रीय सघर्ष छेड़ा गया उसके उदय और विकास में ब्रिटिश शासन का भी निर्विवाद श्रेय रहा है। हम यह लिख चुके हैं कि भारत के इतिहास मे प्रथम बार अंग्रेजों ने ही उसे राजनीतिक एकता प्रदान की। इसके अभाव में राजनीतिक चेतना असभव हो जाती। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति का सूत्रपात करके, अंग्रेजो ने भारतीय राष्ट्रीयता की शक्ति-सामर्थ्य में वृद्धि की। अंग्रेजी शिक्षा ने भारत के बुद्धिजीवी वर्ग को पश्चिम की ओर उन्मुख कर दिया, जहाँ से शिक्षित भारतीयो ने व्यक्तिगत स्वाधीनता और राष्ट्रीय स्वातत्र्य के क्रातिकारी सिद्धात सीखे और अपने सघर्ष में उन्हे हस्तगत करने के लिए महती प्रेरणा भी प्राप्त की। यह सच है कि अंग्रेजों ने जानबूझ कर भारतीय राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन नहीं दिया। देश का राजनीतिक एकीकरण और पाश्चात्य शिक्षा पद्धति का सूत्रपात करने में उनका ध्येय यही था कि वहाँ वे अपने साम्राज्य की जडो को सुदृढ कर सकें; परन्तु इन सब कामो का परिणाम उनकी आशाओ से भिन्न हुआ।

ब्रिटिश शासन के द्विविध रूप क्रांतिकारी और प्रतिगामी

---

* ए. आर. देसाई: 'सोशल बैक ग्राउंड आफ इंडियन नेशनलिज्म' पृ. २८९।

यदि ब्रिटिश शासन के प्रगतिशील पहलू ने भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना के उद्भव के लिए आवश्यक परिस्थितियो का निर्माण किया तो उसके प्रतिगामी पहलू ने भारतीय राष्ट्रीयता को उग्रता प्रदान की। यदि वास्तव में ब्रिटिश शासन उदार और व्युत्पन्न राज्य-क्रम (Enlightened despotism) रहा होता, तो वह असतोष ही उत्पन्न नही होता जिसने राष्ट्रीय स्वतत्रता की इच्छा को जन्म दिया। यह तो सर्व-विदित है ही कि प्रारम्भ में राष्ट्रीय महासभा राजभक्त भारतीयो और अ-भारतीयो की सस्था थी जिनकी मागे बहुत नरम थी। यदि अग्रेजो ने तनिक बुद्धि चातुर्य और दूरदर्शिता से काम लिया होता, तो वे भारतवर्ष पर और अधिक समय तक शासन कर सकते थे और इसमें उन्हे जनता की सहमति भी मिल जाती। परन्तु उनके पास इन दोनो ही वस्तुओ का अभाव था। साम्राज्यवाद की तो कुछ प्रकृति ही ऐसी है कि वह न तो उदार ही होता है और न व्युत्पन्न ही। भारतीय परम्परा से ही सरल और शांत स्वभाव के रहे हैं। पर अपने जातीय दर्प के कारण अग्रेज उनके घृणाभाजन बन गये। अग्रेजो के अधाधुध आर्थिक शोषण ने भारतीव मस्तिष्क को असन्तुष्ट और अशांत कर दिया। भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवाह के आदि कारण अग्रेज स्वय ही थे, उन्होंने उसे नियन्त्रित करने के लिए दमन के साधनो का प्रयोग किया। परन्तु राष्ट्रीयता का यह अजस्र प्रवाह उनके रोके नही रुका। भारतीय राष्ट्रवादी विदेशी शासन का समूल उच्छेदन करने के लिए बद्ध परिकर हो गये।

८. राष्ट्रीय महासभा का जन्म।

हम देख चुके हैं कि, राष्ट्रीय महासभा (इडियन नेशनल काग्रेस- जिसे सुविधा के विचार से कांग्रेस ही कहेंगे) आर्थिक और राजनीतिक कारणो के सयोग और 'राजनीतिक दासत्व की अनुभूति' का परिणाम थी। "साथ ही वह राष्ट्रीय पुनरुत्थान का प्रतिपादन करने वाली सस्था भी थी।"* इसकी स्थापना का विचार एलेस ऑक्टेवियन ह्यूम के मस्तिष्क में आया, जो एक अवकाश प्राप्त सिविलियन थे।

एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम

वैसे इसके लिए भूमि पहले से ही तैयार की जा चुकी थी। देश के विभिन्न प्रातो में राष्ट्रीय सगठनो की नीव पड चुकी थी। ये संगठन राजनीतिक रूप से सक्रिय भी थे। सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी को राष्ट्रीय सम्मेलन (Indian Natonal Conference) की स्थापना करने में सफलता मिल चुकी थी। परन्तु काग्रेस ने इन सब सहायक नदियों को अपने में मिलाकर शीघ्र ही एक महान तरंगिणी का रूप धारण कर लिया। इस प्रकार की एक सस्था का विचार वायु मडल में व्याप्त

---

* पट्टाभि सीतारामय्या: 'दी हिस्ट्री आफ़ काग्रेस' पृ. १७।

था, कांग्रेस ने एक अखिल भारतीय सस्था की उस आवश्यकता को पूर्ण किया जिसका अनुभव सभी देशभक्तो को हो रहा था।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि काग्रेस की स्थापना का विचार सबसे पहले किस व्यक्ति के मस्तिष्क में उदित हुआ। सामान्यतः ह्यूम को ही इस सस्था का जन्मदाता समझा जाता है। देश के अन्दर बढते हुए असन्तोष के खतरे को पहचान कर तथा यह सोचकर कि यह असन्तोष कही क्रान्ति का रूप धारण न करले उन्होने १ मार्च १८८३ ई० को कलकता विश्व विद्यालय के ग्रजुएटो के नाम एक पत्र लिखा, जो अत्यत हृदयस्पर्शी था। इसमे उन्होने ५० ऐसे निःस्वार्थ और निर्भय आदमियो की माग की थी जो इस सिद्धात पर कि "आत्म बलिदान और निःस्वार्थता सुख और स्वातत्र्य के अचूक पथप्रदर्शक है" काम करने के लिए तय्यार हो। ह्यूम ने अपनी योजना के सम्बन्ध मे नये वायसराय लार्ड डफरिन (Lord Dufforin) से वार्त्तालाप किया। लार्ड डफरिन ने उनकी बातो को ध्यान पूर्वक सुना और योजना के क्षेत्र को बढा दिया। उमेशचन्द्र बनर्जी के अनुसार ह्यूम के मस्तिष्क में सबसे पहले यह विचार आया था कि "भारत के प्रधान राजनीतिज्ञ साल मे एक बार एकत्र होकर सामाजिक विषयो पर चर्चा कर लिया करें।" वह यह नही चाहते थे कि उनकी चर्चा का विषय राजनीति रहे क्योकि बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और अन्य भागो में राजनीतिक मडल थे ही। लार्ड डफरिन ने ह्यूम साहब के विचार को राजनीतिक दिशा प्रदान की। उन्होने कहा कि इस सस्था को "इगलैण्ड की तरह यहाँ सरकार के विरोध का काम करना चाहिए।"* उन्होने यह इच्छा व्यक्त की कि "यहाँ के राजनीतिज्ञ प्रतिवर्ष अपना सम्मेलन किया करे और सरकार को बताया करे कि शासन में क्या क्या त्रुटिया है और उन मे क्या सुधार किए जायें।"† ह्यूम ने अपनी योजना मे वायसराय के निर्देशो के अनुसार सुधार किया और वे इगलैण्ड पहुँचे। इगलैण्ड में उन्होने वहाँ के प्रमुख व्यक्तियो, लार्ड रिपन, डलहौजी, जॉन ब्राइट और मि० स्लेग, आदि से विचार विनिमय किया। भारत लौटने से पूर्व उन्होने इडियन पार्लमेंटरी कमेटी का सगठन किया जिसका उद्देश्य पार्लमेंट के सदस्यों से यह प्रतिज्ञा करवाना था कि वे भारत के मामलो मे दिलचस्पी लेंगे।

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन के सबध मे यह निश्चित किया गया था कि वह पूना में, २५ से २८ दिसबर, (१८८५) तक होगा। लेकिन पूना मे हैजा शुरू हो जाने

---

* डब्लू. सी. बेनर्जीः इंट्रोडक्शन टु इंडियन पालिटिक्स.

† 'वही'

के कारण उक्त निश्चय में परिवर्तन करना पडा। यह ठीक समझा गया कि कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई मे हो। २८ दिसम्बर १८८५ को दिन के १२ बजे गोकुलदास तेजपाल सस्कृत कॉलेज के भवन में कॉंग्रेस का पहला अधिवेशन हुआ। इस प्रकार कॉंग्रेस का जन्म हुआ जिसे 'देशी पार्लमेंट का अँकुर' समझा गया। कांग्रेस की स्थापना भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रमुख प्रतिनिधि, वायसराय, की स्वीकृति और आशीर्वाद से हुई थी। निर्णय यह हुआ था कि सरकारी अफसर इसके कार्य-क्रम मे भाग नही लेगे, परतु यदि वे चाहें तो निरीक्षको के तौर पर उसके अधिवेशन मे उपस्थित हो सकते हैं। कूपलैंड ने लिखा है 'भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की शिशु थी और ब्रिटिश अधिकारियो ने उसके पालने को आशीर्वाद दिया'।* काग्रेस का जन्म भारत मे ब्रिटिश शासन के शत्रु के रूप मे नही, अपितु मित्र के रूप में हुआ था। यह तो बाद के कटु अनुभवो का प्रतिफल था कि राष्ट्रीय शक्तियो ने अहिंसात्मक आदोलन का सगठन करके ब्रिटिश शासको को भारत छोडने के लिये लाचार कर दिया।

९. क्या कॉंग्रेस का मन्तव्य ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करना था ?

श्री ए० ओ० ह्यूम तथा उनके सहयोगियो के कॉंग्रेस का सगठन करने मे क्या वास्तविक उद्देश्य थे, इस सबध मे विद्वान् एकमत नही हैं। (शुरू मे सस्था का नाम इडियन नेशनल यूनियन निर्धारित किया गया था) सबसे अधिक लोकप्रिय मत लाला लाजपतराय का है, जिसका उन्होने अपनी पुस्तक 'यग इडिया' (Young India) में उल्लेख किया है। उनके अनुसार 'कांग्रेस का सत्वर उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करना था'। सर विलियम वेडरबर्न (Sir William Wedderburn) का जो कांग्रेस के प्रारम्भिक नेताओ और ह्यूम के घनिष्ठतम सहयोगियो में से एक थे, भी यही मत था।

कांग्रेसः व्यापक असंतोष के लिए अभयदीप (Safety Valve)

लाला लाजपत राय के उक्त मत की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि ह्यूम साहब को आशा थी कि काग्रेस के द्वारा तत्कालीन असतोष का पता लगाया जा सकता है। यह असतोष उस समय दिन प्रतिदिन प्रचड होता जा रहा था। ह्यूम को सभाव्य खतरे का भान था। जिन कारणो का हम विश्लेषण कर चुके है, उनकी वजह से उस समय भारत द्वितीय क्राति के मुख पर खडा प्रतीत होता था। लार्ड लिटन के दमनकारी शासन को

* कूपलैंड: 'दी इडियन प्राब्लेम' १८३३-१९३५, पृ. २३।

समाप्ति पर "भारत क्रांति के अतीव समीप पहुच चुका था ।" भारतीय जनता की दयनीय दरिद्रता और शिक्षित नवयुवको का घोर असतोष इस बात के स्पष्ट चिन्ह थे कि क्राति का ज्वालामुखी अब विस्फोट करने वाला था। दक्षिण के कृषक विद्रोह ने और बगाल के उग्र क्रातिकारियो की गतिविधियो ने ब्रिटिश सरकार को आगामी खतरे के प्रति सजग कर दिया। ह्यूम को विश्वसनीय सूत्रो से इस बात के कि "राजनीतिक अशाति अन्दर ही अन्दर बढ़ रही है" अकाट्य प्रमाण प्राप्त हो गए थे। इसलिए ह्यूम को ठीक मौके पर सूझी और उन्होने इस काम में हाथ डाला। जनता के असतोष रूपी क्राति विस्फोट को रोकने के लिये एक अभय-दीप (Safety Valve) का निर्माण किया जो कि काग्रेस थी। सर विलियम वेडर बर्न (Sir william wedder burn) ने लिखा है कि मि० ह्यूम ने एक बार कहा था "भारत में असतोष की बढती हुई शक्तियो से बचने के लिए एक अभय दीप की आवश्यकता है और काग्रेस आदोलन से बढकर अभय दीप दूसरी कोई चीज नहीं हो सकती।"*

यह स्पष्ट है कि काग्रेस ने मि० ह्यूम और उन ब्रिटिश अधिकारियो की आशाओ को जिन्होने काग्रेस की स्थापना में योग दिया था पूर्ण किया। वह शिक्षित भारतीयों की बेचैनी का आकर्षण केन्द्र बन गई। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि काग्रेस के मच से इस बेचैनी और असतोष को वैधानिक रूप में व्यक्त किया जाने लगा और इस प्रकार आतकवाद की गति रुकी। "काग्रेस राष्ट्रीय असतोष को व्यक्त करने का शातिमय साधन बन गई। उसकी १८८९ की रिपोर्ट में व्यक्त किये गए निम्न विचार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'काग्रेस आदोलन की यह विशेष महत्ता है कि उसने भारत में फैली हुई छोटी मोटी क्रातिकारी संस्थाओं को दबा दिया और सारे राजनीतिक असंतोष मृदु उपायों द्वारा व्यक्त करने का साधन उपस्थित किया।"

कांग्रेस ने ह्यूम की आशाओं को पूर्ण किया

कांग्रेस की स्थापना के मूल में ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षण की भावना भी विद्यमान थी; यह तथ्य सर्वथा अवहेलनीय नही है। इसमें सम्पूर्ण सत्य न हो, परतु आंशिक सत्य अवश्य है। परतु इस सिद्धात में एक दुर्बलता है, जिसे अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए। यह राष्ट्रीय सगठन को मिथ्या ढग से प्रकट करता है। इससे यह धारणा उत्पन्न हो सकती है कि भारतीय राष्ट्रीयता की शक्तियों का शमन करने के लिये ही प्रतिक्रियावादियों द्वारा कांग्रेस की

सिद्धान्त की दुर्बलता

* सर विलियम वेडरबर्न : 'आलन आक्टेवियन ह्यूम, पृ. ७१।

स्थापना की गई थी । यह सत्य से कोसो दूर है । इसमें कोई सदेह नहीं कि काग्रेस के संस्थापको के हृदय में ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा का भाव भी था, वे किसी हिसात्मक आदोलन द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के उच्छेदन को रोकना चाहते थे । परंतु किसी भी रूप में काग्रेस का यह उद्देश्य कदापि नही था कि भारत की नव जागृत राष्ट्रीयता को धक्का पहुँचे । इसका वास्तविक ध्येय यह था कि राष्ट्रीय आंदोलन का विकास वैधानिक तरीके से, शातिपूर्ण ढङ्ग से हो । आतकवाद और हिंसात्मक उपायों के अवलम्बन को निंदनीय समझा गया था । ह्यू म ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पोषक और विश्वस्त अनुचर नही थे । ऐसा समझना न्याय से मुख मोडना होगा । वस्तुतः वे अत्यत उच्चमन व्यक्ति थे । उदारवादी विचारधारा मे उनकी दृढ आस्था थी । वे भारत में ब्रिटिश शासन को जनतात्रिक रूप से काम करते हुए देखना चाहते थे । लाला लाजपतराय ने स्वय लिखा है । 'वे स्वतत्रता के पुजारी थे······और इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि कोई भी शासन चाहे वह देशी हो अथवा विदेशी, बिना किसी दबाव के, जनता की मागो को पूरा नही करता' ।* कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएटों के नाम लिखे गये अपने पत्र में उन्होने 'देश हित के लिये कन्धे पर रक्खे हुए जुए को' उतारने का स्पष्ट आवाहन किया था ।

कांग्रेस का जन्म केवल ब्रिटिश साम्राज्य के रक्षणार्थ ही नहीं हुआ था

यह साधारण सर्वथा भ्रातिपूर्ण है कि कॉग्रेस का जन्म ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए हुआ था और उसके मूल मे ब्रिटिश साम्राज्यवादियो के स्वार्थ निहित थे। इसमें कोई सदेह नही कि ब्रिटिश अधिकारियों ने उसके जन्म के अवसर पर प्रसन्नता प्रकट की थी, कहना चाहिए कि काग्रेस की स्थापना में उनका भी यत्किंचित हाथ था; परतु उसके सबंध में अपना मत-परिवर्त्तन करने में भी उन्हें देर न लगी। शीघ्र ही उसके खतरे का उन्हें भान हो गया। वे तुरत ही उसके विरोधी हो गए। उन्ही लार्ड डफरिन ने, जिन्होंने कॉग्रेस की स्थापना का स्वागत किया था, अब उसे 'सूक्ष्म अल्पसख्यक वर्ग' कह कर पुकारा। सर वैलेन्टाइन शिरोल ने काग्रेस के प्रति शासन की नूतन प्रतिक्रिया को इन शब्दों में संक्षिप्त रूप से व्यक्त किया 'काग्रेस भारत की केवल शतांश जनसख्या का ही प्रतिनिधित्व करती है' । उन्होंने कांग्रेस को साम्प्रदायिक हिंदू नेताओं की प्रवक्ता बताया। वस्तुस्थिति यह है कि 'काग्रेस शुद्ध राष्ट्रीय और स्वदेशी आंदोलन के रूप में अवतरित हुई। इस प्रकार की देशव्यापी संस्था के लिए भारत की प्रादेशिक राजनीतिक संस्थाओ ने पहले से ही भूमि तय्यार करली थी; किंतु इसे एक सार्वजनिक राष्ट्रीय

* लाला लाजपतराय : 'यंग इंडिया, पृ. १४१-१४२ ।

संस्था का रूप देने का श्रेय श्री सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी को है जिन्होने १८८३ मे इसके सम्बध मे अपना मत प्रकट किया था। जब काग्रेस का प्रथम अधिवेशन वम्बई मे हो रहा था; राष्ट्रीय सम्मेलन का अधिवेशन कलकत्ते मे हो रहा था'।* भारतवर्ष के महान् देशभक्त दादाभाई नौरोजी, उमेशचद्र वेनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, दिन्शा वाचा, एव बदरुद्दीन तैय्यब जी प्रभृति जन प्रारम्भ मे ही काँग्रेस मे प्रविष्ट हो गए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि काँग्रेस साम्राज्यवाद की पृष्ठपोषक मात्र नही थी।

सारांश

मूलरूप से तो राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप राजनीतिक था, परतु उसकी जडें आर्थिक, सास्कृतिक, जातीय और राजनीतिक आदि विभिन्न कारणो मे निहित हैं। आवागमन के साधनो की उन्नति, भारत के राजनीतिक एकीकरण और सामान्य आधीनता की भावना ने जनता को राष्ट्रीयता के सूत्र मे पिरो दिया। अँग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य सस्कृति के सपर्क से नवोदित भारतीय राष्ट्रीयता को अपूर्व बल प्राप्त हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के कारण भारतीयो का प्रशस्य मानसिक विकास हुआ। उनके हृदयो में व्यक्तिगत स्वाधीनता और राष्ट्रीय स्वातँत्र्य के प्रति प्रगाढ प्रेम की उन्नति और प्रान्तीय भाषाओ के साहित्यिक विकास ने राष्ट्रीय आन्दोलनो को नूतन शक्ति प्रदान की। उन्नीसवी शताब्दी के सामाजिक धार्मिक सुधार आन्दोलनो ने भी राष्ट्रीय आदोलनो पर विस्मय कारी प्रभाव डाला। पुरातन शिल्पकलाओ के ह्रास, कृषि की अधोगति और जनता बढती हुई दरिद्रता ने व्यापक असन्तोष को जन्म दिया था। जातीय विद्वेष की भावना और अविश्वास तथा दमन की नीति के कारण भारतीय ब्रिटिश शासन से बहुत रुष्ट हो गए। शिक्षित भारतीयो मे अँग्रजो की इस नीति से कि उन्होने वायदे तो बहुत किये, पर उन पर आचरण नही किया, असन्तोष की प्रचड लहर दौड गई। राष्ट्रीय आदोलन का नेतृत्व उन्होने ही किया। भारत वर्ष के उदीयमान बोरजुआजी वर्ग ने (Bourgeoisie) राष्ट्रीय आदोलन को हार्दिक सहयोग प्रदान किया क्योकि अग्रेजो ने भारतीय उद्योगधन्धो की प्रगति मे बाधाए पहुचाई।

भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की उत्पत्ति थी। उसे क्रातिकारी और प्रतिगामी, दोनो प्रकार की शक्तियो से बल प्राप्त हुआ।

---

* जी. एन. सिंह : 'लैंडमार्क्स इन इंडियन कांस्टीट्यूशनल एड नेशनल डेवलपमेंट, पृ. १२२।

काग्रेस की स्थापना जो राष्ट्रीय आदोलन का आकर्षण केन्द्र बन गई, १८८५ में हुई थी। इस सस्था की स्थापना का विचार एलेन ऑक्टेवियन ह्यूम के मस्तिष्क में उदित हुआ था। ह्यूम एक अवकाश प्राप्त सिविलियन थे और उन्हें इस खतरे का भान हुआ कि भारतीय जनता का असन्तोष एक क्रान्तिकारी विस्फोट के अतीव समीप पहुँच गया है। वे ब्रिटिश साम्राज्य की इस प्रकार के विद्रोह से रक्षा करना चाहते थे। लेकिन काग्रेस को ब्रिटिश साम्राज्यवाद का आलम्बन यत्र समझना भूल है।

अध्याय ३

उदार राष्ट्रीयता—काँग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप

१०. काँग्रेस, 'देश में एक शक्ति'

वास्तव मे काग्रेस का इतिहास ही भारत के राष्ट्रीय आदोलन का इतिहास है। वह सस्था जिसने बासठ वर्षों के अविराम और कठिन सघर्ष के उपरात स्वतंत्रता प्राप्त की, प्रारम्भ मे अत्यन्त नरम थी। इसके प्रथम अधिवेशन मे जो १८८५ के अन्त मे बम्बई में हुआ था, ७२ प्रतिनिधियो ने भाग लिया, जिन्होने "अपने आपको प्रतिनिधि के रूप में चुन लिया था।" परन्तु काग्रेस की शक्ति प्रतिवर्ष बढती ही गई। दूसरे अधिवेशन मे प्रतिनिधियो की सख्या ४३६, तीसरे मे ६०७ और चौथे मे १२४८ तक जा पहुची। "जिस प्रकार एक बडी नदी का मूल एक छोटे से सोते मे होता है उसी प्रकार महान् सस्थाओ का आरम्भ भी बहुत मामूली होता है। जीवन की शुरुआत मे वे बडी तेज़ी के साथ दौडती हैं, परन्तु ज्यो ज्यो व्यापक होती जाती है, त्यो त्यो उनकी गति मन्द किंतु स्थिर होती जाती है। ज्यो ज्यो वे आगे बढती हैं, त्यो त्यो उनमे सहायक नदिया मिलती जाती हैं और वे उसको अधिकाधिक सम्पन्न बनाती जाती हैं। यही उदाहरण हमारी काग्रेस पर भी लागू होता है'।* अपने जन्म के कुछ ही वर्षो के भीतर काग्रेस ने एक अखिल भारतीय सङ्गठन का रूप धारण कर लिया। प० मदन मोहन मालवीय के शब्दो मे भारत ने 'अत में अपनी आवाज को इस महान् काँग्रेस मे पाया'। सर हैनरी कॉटन ने, जिन्होने काँग्रेस के जन्मकाल से ही उसके विकास का निरीक्षण किया था, उसको लक्ष्य करके कहा कि इसके नेता 'देश में एक शक्ति बन गये हैं जिनकी आवाज देश के एक कोने से दूसरे कोने तक निनादित होती है'।

काग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास को तीन विशिष्ट अवस्थाओ में विभाजित किया जा सकता है। पहली अवस्था १८८५ से १९०५ तक की है। २० वर्षो के

---

* 'पट्टाभि सीतारामय्या : दी हिस्ट्री आफ़ कांग्रेस' पृ २६।

कांग्रेस इतिहास की तीन अवस्थायें

इस काल में उदार अथवा नरम राष्ट्रीयता की प्रधानता रही। यही इस काल की विशेषता है। इस युग में काँग्रेस किसी भी प्रकार एक क्रांतिकारी सस्था नही थी। इस काल मे कांग्रेस ब्रिटिश शासन के प्रति अपनी राजभक्ति की बातो को बार बार दुहराती रही और उसने आशा की थी कि अङ्गरेजो से यह प्रार्थना करने पर कि 'वे अपनी परम्पराओ और भावनाओ के प्रति सच्चे बनें' वह भारत की राजनीतिक प्रगति पाने में सफल होगी। कांग्रेस के इस काल की सबसे बडी सफलता १८९२ का इण्डियन काउसिल्स एक्ट है। दूसरा काल (१९०६-१९१८) उग्र राष्ट्रीयता की प्रधानता का युग है। इस काल में कॉग्रेस की बागडोर उग्र राष्ट्रवादियो के हाथो में रही। उन्होने देखा कि हाथ जोडकर या प्रार्थनायें करके तो भारत के राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति नही की जा सकती; ब्रिटिश सरकार वायदे तो बहुत करती है, लेकिन उनपर आचरण नही करती। उन्होने इस बात पर बल दिया कि भारत के राजनीतिक साध्यो की प्राप्ति के लिये कठोर और क्रांतिकारी उपायो का अवलम्बन ग्रहण करना पडेगा। १९०७ में कांग्रेस दो पक्षो मे विभाजित हो गई और वे दोनो १९१५ तक अलग अलग काम करते रहे। १९१५ मे उनमें पुन ऐक्य स्थापित हो गया। इस काल मे ब्रिटिश शासको की प्रेरणा से मुस्लिम पृथक्त्व की भावना भी बहुत बढ गई। कांग्रेस-इतिहास का तीसरा युग, जिसे गाधी-युग के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है, प्रथम विश्व महायुद्ध के अनन्तर प्रारम्भ होता है। यह युग उस समय से प्रारम्भ होता है जब कि दक्षिणी अफ्रीका से वापिस आने के पश्चात् महात्मा गाँधी ने भारत की राजनीति मे सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया। उनके गतिशील नेतृत्व में काँग्रेस ने स्वतत्रता प्राप्ति के लिये सत्य और अहिंसा के शस्त्रो से सघर्ष किया। १९१८ में नरम दल के लोग कॉग्रेस से बाहर निकल गये और उन्होने 'आल इडिया लिबरल फेडरेशन' का सङ्गठन किया। इस युग मे हिंदू-मुस्लिम भेदभाव की पराकाष्ठा होगई, मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के लिए आदोलन किया और अत में अश्रुतपूर्व एव अदृष्टपूर्व रक्तपात, बलात्कार तथा बर्बरता के बीच भारत का विभाजन हुआ।

११. कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप और कार्यक्षेत्र

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन ही उसके सार्वजनिक स्वरूप को व्यक्त करता है। ए० ओ० ह्यूम, सर विलियम वेडरबर्न और सर हेनरी कॉटन जैसे कतिपय उदार अंग्रेजों के साथ ही साथ भारत की सभी जातियों के देशभक्त उसके सदस्य थे।

एक राष्ट्रीय संगठन

कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष उमेशचद्र बेनर्जी भारतीय क्रिश्चियन थे, दूसरे दादाभाई नौरोजी पारसी थे, तीसरे बदरुद्दीन तय्यब जी मुसलमान थे और चौथे तथा पाँचवे अध्यक्ष जॉर्ज यूल और सर विलियम वेडरबर्न अंग्रेज थे। आरम्भ से ही कांग्रेस का दृष्टिकोण एव आदर्श विशुद्धतः राष्ट्रीय रहा है। दूसरी गोलमेज परिषद् के अवसर पर निम्न शब्दो में गाँधी जी ने कांग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप पर विशेष बल दिया था : 'सच्चे अर्थों में यह (कांग्रेस) राष्ट्रीय है। यह किसी विशेष जाति, वर्ग अथवा हित की प्रतिनिधि नही है। यह समस्त भारतीय हितो और सब वर्गों की प्रतिनिधि होने का दावा करती है। मेरे लिये यह बताना सब से अधिक प्रसन्नता की बात है कि उसकी उपज आरम्भ में एक अंग्रेज के मस्तिष्क में हुई। एलेन ओक्टेवियन ह्यूम को कांग्रेस के पिता के रूप में हम जानते हैं। दो महान् पारसियो ने—फिरोज शाह मेहता और दादा भाई नौरोजी ने—जिन्हे सारा भारत 'वृद्ध पितामह' कहने में हर्ष अनुभव करता है, इसका पोषण किया। आरम्भ मे ही कांग्रेस में मुसलमान, ईसाई, एग्लोइडियन आदि शामिल थे, बल्कि मुझे यो कहना चाहिए कि इसमें सब धर्मों, सम्प्रदायो और हितो का पूर्णता के साथ प्रतिनिधित्व होता था'।

कांग्रेस का सामाजिक आधार

वैसे तो उक्त कथनानुसार कांग्रेस का स्वरूप सदैव ही राष्ट्रीय रहा है, परतु शुरू शुरू में अपनी सबसे पहली अवस्था मे उसको जन सङ्गठन मान लेना भूल होगी। यद्यपि वह देश के सभी वर्गों की कठिनाइयो को मुखरित करती थी और राजनीतिक उत्कर्ष के लिये उनके हृदय की उद्दाम लालसा को भी व्यक्त करती थी; परन्तु मुख्यतः वह बुद्धिजीवियो, शिक्षितो और उच्च मध्य वर्गो तथा व्यापारी बोरज़ुआज़ी का ही प्रतिनिधित्व करती थी। कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशनो मे वकीलो, शिक्षा विशारदो, पत्रकारो, चिकित्सको तथा व्यापारियो की ही सख्या अधिक रहती थी।

प्रारम्भ में कांग्रेस क्रान्तिकारी संस्था नहीं थी

कांग्रेस के कार्यक्षेत्र एव स्वरूप के सम्बध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रारम्भ मे वह क्रातिकारी सङ्गठन नही था। उस समय उसकी बागडोर पूरी तरह से नरम राष्ट्रवादियो के हाथो मे थी। अंग्रेजो की न्याय भावना मे उनकी दृढ आस्था थी। उनका प्रमुख ध्येय यही था कि भारतीय शासन का प्रजातत्रीकरण हो तथा विधान सभाओ मे भारतीय प्रतिनिधियो की सख्या बढ जाय। इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये उन्होने किसी प्रकार के उग्र साधनो का अवलम्बन नहीं लिया, अपितु सार्वजनिक भाषणों, प्रचार, प्रदर्शनो, आवेदनो तथा प्रतिनिधिमडलो द्वारा अपने उद्देश्यो की पूर्ति का प्रयास किया।

१२. प्रारम्भिक कांग्रेस के कार्य का संक्षिप्त सिंहावलोकन

प्रारम्भिक वर्षों में कांग्रेस के प्रोग्राम और क्रियाकलापों का संक्षिप्त विवरण हमें यह समझाने मे सहायता देगा कि उदार राष्ट्रवादियों के क्या ध्येय थे; उनकी क्या कार्य पद्धति थी और उनके नेतृत्व में इस संस्था का क्या दृष्टिकोण रहा। कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन बम्बई में हुआ था। उसके अध्यक्ष उमेशचन्द्र बेनर्जी थे और मंत्री ए० ओ० ह्यूम। इस अधिवेशन ने भारत की कई सुप्रसिद्ध विभूतियो, दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, दीनशा एदलजी वाचा, काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग, नारायण गणेश चन्दावरकर, पी० आनन्दाचार्लू, वी० राघवाचार्य और एस० सुब्रह्मण्य आदि का संगम उपस्थित कर दिया। इस अधिवेशन मे कई सरकारी अफसर भी उपस्थित थे जिनमे सर विलियम वेडरबर्न और श्री रानाडे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। रानाडे ने तो खुले अधिवेशन के विचार-विमर्षों में भी भाग लिया था। सभापति श्री उमेशचन्द्र बेनर्जी ने कांग्रेस की गुरुता की ओर प्रतिनिधियो का ध्यान दिलाते हुए उसके उद्देश्यो को इस तरह बतलाया :—

कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन १८८५

"(क) साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागो में देश हित के लिए लगन से काम करने वालो की आपस मे घनिष्ठता और मित्रता बढ़ाना।

(ख) समस्त देश-प्रेमियो के अन्दर प्रत्यक्ष मैत्री व्यवहार के द्वारा वंश, धर्म और प्रांत सम्बन्धी तमाम पूर्व दूषित सस्कारो को मिटाना और राष्ट्रीय ऐक्य की उन तमाम भावनाओ का, जो लार्ड रिपन के चिर-स्मरणीय शासन काल में उद्भूत हुईं, पोषण और परिवर्धन करना।

(ग) महत्वपूर्ण और आवश्यक सामाजिक प्रश्नों पर भारत के शिक्षित लोगो में अच्छी तरह चर्चा होने के अनन्तर, प्राप्त परिपक्व सम्मतियों का प्रामाणिक संग्रह करना।

(घ) उन तरीको और दिशाओ का निर्णय करना जिनके द्वारा भारत के राजनीतिज्ञ देशहित के कार्य करें।"

कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन मे नौ प्रस्ताव पास किए गए थे। प्रथम प्रस्ताव में भारत के शासन कार्य के निरीक्षणार्थ एक रॉयल कमीशन बैठाने की मांग की गई। दूसरे में इंडिया कौन्सिल को तोड देने की राय दी गई। तीसरे प्रस्ताव के द्वारा धारासभा की कमियो की ओर सकेत किया गया; जिनमें अब तक नामज़द सदस्य ही थे। प्रस्ताव में नामज़द सदस्यो के स्थान पर निर्वाचित सदस्यों के रखने, युक्तप्रांत और पंजाब मे कौंसिलें कायम की जाने और कामनसभा में स्थायी समिति की

स्थापना करने की मांग की गई-इस आशय से कि कौंसिलो मे बहुमत से जो विरोध हों उन पर उसमें विचार किया जाय। चौथे के द्वारा यह निवेदन किया गया कि आई० सी० एस० की परीक्षा इगलैण्ड और भारत में एक साथ हो और परीक्षार्थियों की अवस्था में वृद्धि कर दी जाय। पाचवे एव छठे का सम्बन्ध सैनिक व्यय से था। सातवें में अपर बर्मा को मिला लेने तथा उसे भारत में सम्मिलित कर लेने की नीति का विरोध किया गया था। आठवें के द्वारा यह आदेश किया गया कि ये प्रस्ताव राजनीतिक सभाओ में भेज दिए जायें। अतिम प्रस्ताव में अगले अधिवेशन का स्थान कलकत्ता और ता० २८ दिसम्बर नियत हुई। विभिन्न वक्ताओ ने अपने भाषणो में ब्रिटिश राज के वरदानो का गुणगान किया, अँग्रजो की न्याय भावना में अपना पूर्ण विश्वास व्यक्त किया और ब्रिटिश सिंहासन के प्रति अपनी राजभक्ति की उत्साह-पूर्ण घोषणा की।

काग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ते में हुआ। इसके अध्यक्ष दादाभाई नौरोजी थे। इस बार प्रतिनिधि "सार्वजनिक सभाओ द्वारा निर्वाचित हुए थे।" सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी और पडित मदनमोहन मालवीय ने इसी वर्ष काग्रेस में प्रवेश किया। दूसरे अधिवेशन मे विधान-सभाओ के सुधार की माग को दुहराया गया और कहा गया कि

१८८६

उनमे ५० प्रतिशत सदस्य निर्वाचित होने चाहिए; तथापि काग्रेस में "अप्रत्यक्ष चुनाव का सिद्धात मान लिया गया। कहा गया कि प्रातीय कौसिलो के सदस्यो का चुनाव तो म्युनिसिपल और लोकलबोर्डों, व्यापारसंघो तथा विश्वविद्यालयो के द्वारा हो और सर्वोच्च केंद्रीय कौसिल का चुनाव (Supreme Central Council) प्रान्तीय कौसिलो के द्वारा हो।" देश के विधान मडलो मे जनता के प्रतिनिधियो को भी स्थान मिलना चाहिए, इस माँग का समर्थन करते हुए एक डेलीगेट ने स्वीकार किया "हम राष्ट्रीय शासन की छत्रछाया मे नही, अपितु विदेशी नौकरशाही की आधीनता में रहते हैं।" *आगामी काग्रेस अधिवेशनो मे यह प्रस्ताव बार बार दुहराया गया,* फलतः १८९२ का "इडियन कौसिल्स एक्ट" पास हो गया। काग्रेस के दूसरे अधि-वेशन में यह प्रस्ताव भी पास किया गया कि कार्यपालिका और न्यायपालिका को अलग अलग कर देना चाहिए।

काग्रेस का तीसरा अधिवेशन १८८७ मे बदरुद्दीन तय्यबजी की अध्यक्षता में हुआ। यह काग्रेस के प्रथम मुस्लिम अध्यक्ष थे। इस अधिवेशन मे अन्य कई प्रस्तावों के साथ साथ एक प्रस्ताव यह भी पास किया गया कि भारतीयो को शिक्षा देने के लिए सैनिक विद्यालयो की भी स्थापना होनी चाहिए। एक नए सदस्य अर्डले नोर्टन

१८८७

(Eardley Norton) ने काग्रेस के ऊपर लगाए गए इस दोषारोप का कि वह एक राजद्रोही संस्था है, इस अधिवेशन में मु ह तोड उत्तर दिया ।*

१८८८ का वर्ष इसलिये विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योकि ब्रिटिश नौकरशाही को काग्रेस के प्रति मुस्लिम विरोध का संगठन करने में सफलता मिल गई । इसी वर्ष सर सय्यद अहमद खा ने एग्लो मुस्लिम डिफेन्स एसोसियेशन की नीव डाली और इस दिशा में भारतीय मुसलमानो को निश्चित नेतृत्व प्रदान किया कि वे कॉग्रेस को अपना सहयोग न दें । इस विरोध का उस समय कोई विशेष प्रभाव नही पडा, जो हुआ वह भी नाममात्र को और इस वर्ष के काग्रेस अधिवेशन को जो कलकत्ते के एक व्यापारी जॉर्ज यूल की अध्यक्षता मे हुआ था, पूर्ववर्ती अधिवेशनो की अपेक्षा कही अधिक सफलता प्राप्त हुई । गोपालकृष्ण गोखले ने इसी वर्ष काग्रेस मे प्रवेश किया । इस अधिवेशन मे पास किये गये प्रस्तावो में एक यह प्रस्ताव भी था जिसमे सरकार की भूमिकर सम्बन्धी नीति मे सुधार करने की माँग की गई थी ।

१८८८ और १८८९

१८९२ के इडियन कौंसिल्स एक्ट पास हो जाने के बाद काग्रेस की मांगो में सर्वाधिक महत्व इस माग को दिया गया कि आई० सी० एस० की परीक्षा भारत और इगलैण्ड मे साथ साथ हुआ करे । काग्रेस हलचल के फलस्वरूप भारतीयो की इस माग के समर्थन मे इगलैण्ड की कॉमन-सभा ने एक प्रस्ताव पास किया, परन्तु इगलैण्ड और भारत, दोनो ही जगह अधिकारियो ने इस प्रस्ताव को क्रियात्मक स्वरूप नही दिया । १८९३ मे काग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता, दूसरी बार, दादाभाई नौरोजी ने की जो कि इस बीच में इगलैण्ड की कॉमन-सभा के भी सदस्य चुन लिए गये थे । काग्रेस-अधिवेशन का अध्यक्ष पद ग्रहण करने के लिए दादाभाई नौरोजी जब भारत आए, उनका अभूतपूर्व स्वागत किया गया जो कि सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी के शब्दो मे "नरेशो और नृपतियो की भी ईर्ष्या का विषय है परन्तु उनकी पहुच के बाहर है ।" काग्रेस

१८९३

* उसने कहा 'सज्जनों ' यदि अत्याचार का विरोध करना राजद्रोह हो, यदि यह कहना कि जनता का अपने देश के शासन मे अधिकाधिक हाथ रहना चाहिए, राजद्रोह हो, यदि वर्ग अत्याचार का विरोध करना, दमन के खिलाफ अपनी आवाज उठाना, अन्यायों का मुकाबला करना, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं का समर्थन करना और उत्तरोत्तर किन्तु सदैव विकासशील सुधार के सामान्य अधिकार को प्रमाणित करना राजद्रोह हो, तो मैं निस्संदेह राजद्रोही हूं और मुझे राजद्रोही कहलाते समय अपूर्व प्रसन्नता होती है जब मैं आज अपने चारों ओर विराजमान राजद्रोहियों की गौरवपूर्ण पंक्ति में स्वयं को भी सम्मिलित पाता हूं । सी. वाई चिन्तामणि द्वारा उद्धत : 'इण्डियन पालिटिक्स सिन्स म्युटिनी, पृष्ठ ४३ ।

ने बेगार और रसदप्रथा के उन्मूलन की माँग की। इसके अलावा उसने ब्रिटिश भारत में तय्यार होने वाले सूती माल पर कर लगाए जाने का विरोध किया जो लंकाशायर के व्यवसाइयो के हित-सरक्षणार्थ भारत के बढ़ते हुये कपास उद्योग को नष्ट कर देने के लिए जानबूझ कर लगा दिया गया था। इस प्रकार कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही भारत के व्यावसायिक और औद्योगिक- दोनो प्रकार के बोरजुआजी के हितो की रक्षा की है लेकिन इसके साथ ही साथ भारतीय जनता का दारिद्रय-पक से समुद्धार किया जाय, इस आवश्यकता की ओर से भी उसने अपनी आँखे नही मूँदी। आगामी कुछ वर्षों में काँग्रेस ने इस बात के लिए कोशिश की कि प्रवासी भारतीयो की दशा मे सुधार हो, प्रेस पर से प्रनिबन्ध हट जाएँ और भारतीय कृषक जिस ऋण के भार से सदैव दबा रहता है, उससे उसे मुक्ति प्राप्त हो। इसके अलावा उसने सरकार से १८९८ के राजद्रोह विधेयक (Sedition Act of 1898) तथा १९०४ के सरकारी रहस्य विधेयक (Official Secrets Act of 1904) जैसे दमनकारी कानूनो के हटा लेने की बारम्बार बिनती की। १९०५ तक काँग्रेस समतल पथ पर दौडती रही। सार्वजनिक महत्ता का ऐसा कोई भी विषय नही जिसने उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट न किया हो और विभिन्न विषयो पर पास किये गए प्रस्तावो मे व्यक्त-विचार आन्दोलन के नेताओ की राजनीतिक बुद्धिमत्ता के साक्षी थे।"*

१३. उदार राष्ट्रवादियों की मनोवृत्ति और कार्य पद्धति।

ब्रिटिश शासन की प्रशंसा और राजभक्ति

इसमें कोई सदेह नही कि उदार राष्ट्रवादी जिन्होने राजनीतिक उत्कर्ष के लिए लडे गए सघर्ष के प्रारम्भिक वर्षों में काँग्रेस का सूत्र सचालन किया, उच्च कोटि के देशभक्त थे। परन्तु उनके समय और सामाजिक पृष्ठभूमि को देखते हुए यह कहना पडता है कि कुछ ऐसी सीमाए थी जिनका उल्लघन उनके लिए शक्य नही था। यह स्थिति सर्वथा स्वाभाविक भी थी। उनमे से अधिकाँश उच्चवशीय थे और पाश्चात्य शिक्षा का उन पर बहुत प्रभाव पडा था। यदि उस समय ब्रिटिश शासन का प्रचड विरोध किया भी जाता तो प्रारम्भ से ही उसका दमन किया गया होता। अतएव हमें यह देखकर कोई आश्चर्य नही होता कि राष्ट्रीय सघर्ष के प्रभात काल मे भारतीय राष्ट्रीय ब्रिटिश शासन के उत्कट प्रशसक थे; परन्तु यह भी समझ लेना भ्रम होगा कि उन्हे ब्रिटिश शासन की त्रुटियो और दुर्बलताओ का कोई ज्ञान नही था। ब्रिटिश राज के उपकारो के प्रति उनके हृदय में कृतज्ञता का भाव था। क्या ब्रिटिश शासन ने भारत का राजनीतिक एकीकरण नही किया था, उसे केवल मात्र भौगोलिक नाम से बढ कर कुछ

*. सी. वाई. चिन्तामणिः—'वही' पृष्ठ ४६

वस्तु नही बनाया था और उसमें राष्ट्रीय चेतना का संचार नही किया था? वे ब्रिटिश-सम्बन्ध को भारत के लिए लाभकर समझते थे। वे अंग्रेजो की इस बात के लिए जी खोल कर सराहना करते थे कि उन्होने पाश्चात्य सभ्यता और सस्कृति के सस्पर्श से भारत के सामाजिक जीवन को समृद्ध किया था, नूतन राष्ट्रीयता की वाहक अग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात किया था और पाश्चात्य विचारधारा और साहित्य के ससर्ग से स्वाधीनता तथा प्रजातत्र के प्रति भारतीय नवयुवको मे प्रगाढ प्रेम उत्पन्न किया था। सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी कहा करते थे कि 'इगलैण्ड हमारा पथप्रदर्शक है।' ब्रिटिश शासन के सूत्रपात को एक ऐसा दैवी वरदान समझा गया जो भारत को मध्य युगीन अधोगति की दशा से ऊपर उठाकर राजनीतिक और आर्थिक उन्नति के शिखर पर पहुचाने के लिए ही अवतीर्ण हुआ था।

इसमे कोई आश्चर्य नही है कि उदार राष्ट्रवादी ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की भावना से प्रणत रहते थे। इस प्रकार के दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय काँग्रेस के प्रथम अधिवेशन मे ही मिलता था जो महारानी विक्टोरिया की जय जय कार के साथ समाप्त हुआ था। ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति की घोषणाए करने मे नरम राष्ट्रवादियो को किसी प्रकार के सकोच अथवा हीनता के भाव का अनुभव नही होता था। उस समय दादाभाई नौरोजी अपने सहयोगियो की सामान्य भावना को ही व्यक्त कर रहे थे जब कि उन्होने यह घोषणा की कि "आओ, हम पुरुषो की तरह बोलें और घोषणा कर दे कि हम आचूड राजभक्त हैं।"

सरकार भी प्रारम्भिक भारतीय राष्ट्रवादियो की मैत्री एव भक्तिभावना से अपरिचित नही थी। क्योकि 'वह उनके साथ रियायते करके जब जब भारतीयो को ऊँचे पद अथवा स्थान देने का अवसर आया, तब तब उन्ही (राष्ट्रवादियो) को उसके लिये चुनकर यही सिद्ध करती रही है'।* सरकार ने, उनमें से कइयो को नाइटहुड और प्रतिष्ठा की अन्य उपाधिया प्रदान की। गोपालकृष्ण गोखले को सी. आई. ई. की उपाधि प्रदान की गई। कुछ को विधान सभा का सदस्य नामज़द किया गया, कुछ कार्यकारिणी के सदस्य चुन लिये गए और कुछ हाई कोर्ट के जज बना दिये गए। वस्तुत: जिन कांग्रेस नेताओ को इन उपाधियो अथवा पदो के लिए चुना गया था, वे अपनी योग्यता के आधार पर इनके उचित अधिकारी भी थे, उन लोगो को पदलोलुप मानना किसी भी प्रकार तर्कसगत नही है। यह तो उनकी प्रतिभाओ के प्रति श्रद्धाजलि ही है कि 'सरकार को भी यदि योग्य भारतीयो की आवश्यकता हुई तो इसकी पूर्ति के लिये उसे भी कांँग्रेसियो का ही आसरा तकना पडता था'। दूसरे शब्दों

---

* पट्टाभि सीतारामय्या: 'दी हिस्ट्री आफ़ काँग्रेस', पृ. १०२।

में सरकार की इन रियायतो से यह सिद्ध होता था कि काँग्रेस ने सप्रतिभ भारतीयों को बहुत बडी संख्या में अपनी ओर आकृष्ट कर रक्खा था।

ब्रिटिश सरकार की न्याय प्रियता मे उदार काँग्रेसियो की अटल श्रद्धा थी; इसी कारण उसके प्रति उनके हृदय मे प्रशसा और राजभक्ति की भावना उद्भूत हुई थी। काग्रेस के बारहवें अधिवेशन (१८९६) के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए मुहम्मद रहीमतुल्ला सयानी ने कहा 'अँग्रेजो से बढकर ईमानदार और शक्ति सम्पन्न जाति इस सूर्य के तने कही नही है।' हमारे काँग्रेसी बुजुर्ग समझते थे कि अँग्रेज तो बडे प्रजातन्त्र वादी हैं, उनकी तो परम्परा ही ऐसी रही है, वे भारत मे प्रजातान्त्रिक सस्थाओ के विकास का स्वागत करेंगे। क्या यह सत्य नही था कि अँग्रेजो ने उन परिस्थितियो का निर्माण किया जो राष्ट्रीय जागरण के लिए, जिसकी कि काँग्रेस प्रतीक थी, आवश्यकता थी ? १८९३ में अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष सरदार दयालसिंह मजीठिया ने काँग्रेस के विषय में कहा था कि 'यह भारत मे ब्रिटिश शासन की कीर्ति का कलश है।' इसी प्रकार के विचार काँग्रेस के तृतीय अधिवेशन मे स्वागत समिति के अध्यक्ष पद से स्वागत-भाषण देते हुए सर टी० माधवराव ने व्यक्त किये थे; 'काँग्रेस ब्रिटिश शासन का सर्वोच्च यश शिखर और ब्रिटिश जाति का कीर्ति मुकुट है।' यह बात नही थी कि काँग्रेस के उदार नेताओ को ब्रिटिश नौकरशाही की गलतियो का भान नही था। वे उसकी त्रुटियो और गलतियो को अच्छी तरह से जानते थे, फिर भी उनका यह विश्वास था कि यदि भारत की समस्या को स्पष्टत और प्रबलतापूर्वक ब्रिटेन की ससद् तथा जनता के सम्मुख रख दिया जाय तो वह माँग करेगी कि भारत की परिस्थिति मे परिवर्त्तन होना चाहिए। यह आशा की जाती थी जैसा कि सर फिरोज शाह मेहता ने १८९० में कहा था 'मुझे इस बात मे कोई सदेह नही है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अत मे जाकर हमारी पुकार पर अवश्य ध्यान देगे।' विश्वास की इस स्थिति में शुरू के भारतीय राष्ट्रवादी पथप्रदर्शन और प्रेरणा के लिए अग्रेज़ो की ही ओर ताकते थे। सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी के निम्न शब्द उदार राष्ट्रवादियो की मनोवृत्ति को भली भाँति स्पष्ट कर देते हैं। 'अँग्रेजो के न्याय, बुद्धि और दयाभावना मे हमारी दृढ आस्था है। ससार की महानतम प्रतिनिधि सभा, ससदो की जननी ब्रिटिश कॉमन सभा के प्रति हमारे हृदय में असीम श्रद्धा है। अग्रेजो ने सर्वत्र प्रतिनिधि आदर्श पर ही शासन की रचना की है।'

अँग्रेजों की न्यायप्रियता में विश्वास

इस बात को उदार राष्ट्रवादियो ने गुप्त नही रक्खा कि काँग्रेस आदोलन का ध्येय स्वशासन को प्राप्त करना है। यद्यपि उन्होने अपनी अधिकाश शक्ति और

उदार राष्ट्रवादियों की विचारधारा और माँगें

ध्यान को शासन के कभी इस ओर कभी उस पहलू में सुधार करवाने के आंदोलन में ही लगाया था; फिर भी वे उस भविष्य की कल्पना कर सकते थे जबकि भारतीयों के हाथो में अपने भाग्य निर्माण का अधिकार आ जायगा। १८८६ के कलकत्ता अधिवेशन में सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने कहा था, 'स्वशासन प्रकृति की व्यवस्था है, विधि का विधान है। प्रकृति ने अपनी पुस्तक मे स्वय अपने हाथो से यह सर्वोपरि व्यवस्था लिख रक्खी है। प्रत्येक राष्ट्र अपने भाग्य का आप ही निर्माता होना चाहिए।' * दादा भाई नौरोजी ने 'यूनाइटेड किंगडम अथवा उपनिवेशो के जैसे स्वशासन या स्वराज्य' का जिक्र किया था। स्वशासन अथवा स्वराज्य से प्रारम्भिक काँग्रेसियों का आशय पूर्ण स्वाधीनता नही था जिसको १९२९ में काँग्रेस ने अपने ध्येय की भाति ग्रहण किया। वास्तव मे ब्रिटिश साम्राज्य से सब सम्बध विच्छेद कर लेने का विचार तो उदारवादियो के मस्तिष्क में कभी आया ही नही था। सम्भवत उन्होने यह कभी सोचा भी नही था कि औपनिवेशिक स्वराज्य किसे कहते हैं। प्रारम्भिक काग्रेस का उद्देश्य भारत में प्रतिनिधिक सस्थाओ की स्थापना करना था।

वास्तव मे उदारवादी राजनीतिज्ञ इस बात को भली भाति जानते थे कि प्रतिनिधिक शासन के समीप वे केवल एक ही छलाँग में नही पहुच सकते, इसलिये उन्होंने सरकार से भी ऐसी कोई प्रार्थना नही की थी कि वह उन्हे तुरत ही प्रतिनिधि-शासन प्रदान कर दे। व्यवस्थित विकास मे ही उनका विश्वास था। क्रमबद्धता ही उनके दर्शन की विधायक थी। हथेली पर सरसो जमाने की नीति के वे कायल नही थे। उस समय के काँग्रेसी नेताओ की माँगे यही होती थी कि सरकारी नौकरियो का दरवाजा भारतीयो के लिए बद नही होना चाहिये जिससे कि वे ऊँचे पदो के योग्य बन सकें, धारा सभाओ मे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि होने चाहियें और उन्हें प्रश्न करने तथा बजट पर चर्चा करने का भी अधिकार मिलना चाहिये, सैनिक व्यय में कमी की जाय, कर कम हो, न्याय और शासन विभाग अलग अलग हो और नौकरियो के लिये भारत तथा इङ्गलैंड मे एक साथ परीक्षायें ली जायें, प्रांत और केंद्र की कार्य कारिणियो और भारत मत्री की कौंसिल में भारतीयो को भी स्थान मिलना चाहिये तथा भारतवर्ष को ब्रिटिश ससद् मे प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व मिले। सामाजिक–आर्थिक क्षेत्र मे काँग्रेस ने नमक कर मे कमी करने की प्रार्थना की, सूती माल पर लगाये उत्पत्ति कर को अन्यायपूर्ण बताया। सरकारी नौकरियो और विश्व विद्यालयो

---

* एनी बीसेंट: 'हाऊ इंडिया रॉट फार फ्रीडम,' पृ. २६।

के पुनर्गठन, ग्रामोद्योगों के पुनरुद्धार और खेती सम्बधी ऋणबद्धता से किसानो को छुटकारा मिले, इस बात के लिये भी कांग्रेस प्रयत्नशील रही।

उदार राष्ट्रवादियो के साधन भी उनकी विचारधारा के सर्वथा अनुरूप थे। वे इस बात में यकीन नही करते थे कि भारत और ब्रिटेन के हित एक दूसरे के विरोधी हैं और दोनो में 'बेर केर का सग' है। पहले से स्थापित की हुई व्यवस्था मे आकस्मिक आमूल परिवर्तन करना भी उनके विश्वास की सीमाओ से बाहर की बात थी। इसलिए स्वभावत आदोलन के सभी क्रातिकारी साधनो को उन्होने वर्जित कर रक्खा था। हिंसा के प्रति उनके हृदय मे घोर घृणा की भावना थी। तीन चीजो का उन्होने कडा निषेध कर रक्खा था, 'विद्रोह, विदेशी आक्रमण की सहायता करना और अपराध को आश्रय देना', ब्रिटिश सरकार के प्रति राजभक्ति और सहयोगात्मक दृष्टिकोण के अनुकूल ही उन्होने वैधानिक आदोलन की टेकनीक को अपनाया। उन्होने ऐसी प्रत्येक योजना अथवा साधन का अत्यत सतर्कता पूर्वक बहिष्कार किया जिसके लिये उन्हे शका थी कि ब्रिटिश सरकार उसका विरोध करेगी। वे सरकार का कोपभाजन नही बनना चाहते थे। यहाँ तक कि दमन और अन्याय के कानूनो का सामना करना, उन्हे ललकारना भी उनके प्रोग्राम में नही था। चूँकि अँग्रेजो की न्यायप्रियता में उनकी आस्था थी इसलिए उन्होने सरकारी अधिकारियो के ध्यान को, सार्वजनिक भाषणो, स्मृति-पत्रो, प्रस्तावो, आवेदन पत्रो तथा शिष्टमंडलों द्वारा जनता की उचित माँगो और कठिनाइयो की ओर आकृष्ट करना ही यथेष्ट समझा। कांग्रेस ने ब्रिटिश जनता और ससद् के सामने भारत की समस्या को ठीक ठीक उपस्थित करने के इरादे से कई शिष्टमडल भेजे। इन साधनो के द्वारा नरम राज-नीतिज्ञों ने भारतीय जनता को ऊपर उठाने और शिक्षित करने की कोशिश की और कोशिश की कि अँग्रेज भारतवासियो की न्याययुक्त माँगो को पूरा करना अपना कर्त्तव्य समझें। ब्रिटिश जनता को यह सम्यक् परिज्ञान कराने के लिये कि भारत में राजनीतिक सुधारो की महती आवश्यकता है, कॉंग्रेस ने १८८९ मे एक ब्रिटिश समिति की स्थापना की और उसके सचालन के लिए पैंतालीस हजार रुपयो की स्वीकृति भी दी। चार वर्षों के उपरात कॉमन-सभा मे जनमत को भारत के राज-नीतिक विकास के पक्ष मे सगठित करने के लिये सर विलियम वेडरबर्न ने भारतीय ससदीय समिति (Indian Parliamentery Committee) की रचना की। उस जमाने के राष्ट्रवादियो के इन तरीकों को कभी कभी 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' कहकर वर्णित किया जाता है। यह वर्णन कुछ अप्रिय अवश्य है, पर गलत नहीं है। वे

उनके साधन

वैधानिक आंदोलन

सरकार के पास, रियायतों और सुधारो के लिये, अत्यंत विनीत भाव से हाथ जोडकर जाने में, यकीन रखते थे। उनका आवेदनो और प्रार्थनाओ में कितना भरोसा था; वे इन पर कितना बल देते थे, यह पं० मदनमोहन मालवीय के निम्न शब्दो से स्पष्ट है जो उन्होने कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में कहे थे 'यद्यपि अपने प्रयत्नो में अभी तक हमे सफलता नही मिली हैं, फिर भी हमें सरकार के समीप पुन जाना चाहिए और निवेदन करना चाहिए कि वह हमारी माँगो, 'अथवा हमारी प्रार्थनाओ' पर शीघ्रातिशीघ्र विचार करे।' *

आवेदन और प्रार्थनाएँ

१४. उदार राष्ट्रीयता का मूल्यांकन

कांग्रेस के शुरू के दिनो में उदार राष्ट्रवादियो ने जो काम किया; आजकल उसके महत्व को कम समझा जाता है। कभी कभी तो लोग उसे अत्यत हेय दृष्टि से देखते हैं। इसमें कोई सदेह नही कि उनमें कुछ त्रुटियाँ स्पष्ट रूप से विद्यमान थी। भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य का क्या वास्तविक आधार था अथवा उसकी क्या प्रकृति थी इस बात को उदारवादी नेता नही समझ सके। यह उनका मिथ्या अनुमान था कि दोनो देशो के हित परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के साथ जुडे हुए हैं। ब्रिटिश शासन के 'वरदानों' के प्रति प्रशसा और कृतज्ञता की धारणा भ्रांतिजन्य थी। वे इस कटु शब्द को हृदयङ्गम करने में असफल हुए थे कि भारत, ब्रिटिश पूञ्जीवाद के लाभार्थ अँग्रेजो का एक शोषित आर्थिक उपनिवेश था और इसलिए इगलैंड के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक ही था कि वह भारत के आर्थिक और औद्योगिक अभ्युत्थान मे बाधायें उपस्थित करे और उसे अपने यहाँ के उद्योगो के लिये कच्चे माल का स्रोत तथा तय्यार माल के लिये एक मडी बनाए रक्खे।

उदार राष्ट्रवादियों की त्रुटियाँ

यदि भारत में बडे बडे सुधार कर दिये जाते, यदि जनता को अपने भाग्य निर्माण का अधिकार दे दिया जाता, यदि भारत निवासियो को अपने देश का प्रबध अपने आप करने की स्वतत्रता दे दी जाती, तो ब्रिटेन अनिश्चित काल तक भारत को आर्थिक दासता के पाशो में निबद्ध नही रख सकता था। यह एक स्पष्ट सी बात थी, जिसे उदार राष्ट्रवादी नही समझ सके। अँग्रेजो की न्याय भावना पर उनका विश्वास बना रहा। वे अपने इस विश्वास से कभी नही डिगे कि अँग्रेज एक जनतत्रप्रिय जाति है, भारत में धीरे धीरे जनतत्र की

ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति मिथ्या धारणा

* एनी बीसेंट: 'वही', पृ. ४५।

हम किसी पूर्व अध्याय में उद्धृत कर चुके हैं। कांग्रेस की स्थापना के अवसर पर वायसराय लार्ड डफरिन ने उसके शीश पर अपना वरदहस्त रक्खा था और द्वितीय अधिवेशन में प्रतिनिधियो का स्वागत भी किया था। मद्रास के गवर्नर लार्ड कोनेमारा ने भी कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में (१८८७) उसी प्रकार के सौजन्यमय व्यवहार का परिचय दिया था और स्वागत-समिति की, सरकारी कोषागार से रसदादि दिलवा कर सहायता की थी।*

किन्तु कुछ ही समय के पश्चात् काग्रेस के प्रति सरकार के रुख में आमूल परिवर्तन हो गया। यद्यपि काग्रेसी नेताओ ने अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध शासन के साथ अच्छे ही बनाए रक्खे परन्तु सरकारी अधिकारी काग्रेस को सन्देह और शका की दृष्टि से देखने लगे। लार्ड डफरिन ने ह्यूम साहब को परामर्श दिया था कि वे काग्रेस का क्षेत्र सामाजिक न रख कर राजनीतिक भी बनावें। किन्तु वही लार्ड डफरिन काग्रेस के शत्रु हो गए और उसे राजद्रोही सस्था कहने लगे। कुछ प्रातीय गवर्नर तो काग्रेस के उग्र विरोधी थे। उत्तर पश्चिमी प्रात के (यू० पी०) गवर्नर सर ओकलैण्ड काल्विन की सम्मति मे यह आदोलन केवल समय से पूर्व ही नही था अपितु खतरनाक भी था। १८८७ मे एक सज्जन अपने जिलाधीश की इच्छा के विरुद्ध काग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे जिसके अपराध स्वरूप उनसे २०,००० रु० की जमानत मागी गई। कांग्रेस के प्रति सरकार का कडा रुख उस गश्ती पत्र से अच्छी तरह प्रकट होता है जिसको बगाल सरकार ने सब मत्रियो एव सब विभागो के प्रमुख अफसरो के पास भेजा था। इसमें उन्हे हिदायत दी गई थी कि "भारत सरकार की आज्ञा के अनुसार ऐसी सभाओ मे दर्शक रूप में भी सरकारी अफसरो का जाना ठीक नही है और ऐसी सभाओ की कार्रवाई मे भाग लेने की सख्त मनाई की जाती है" १८९७ मे 'राजद्रोहात्मक' भाषणो और कार्रवाइयो पर अकुश रखने के विचार से 'इडियन पीनल कोड' में दफा १२४ (अ) तथा दफा १५३ (अ)और जोड दी गई। प्रेस पर बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिए गए और १८९८ में गुप्त प्रेस समितियो की स्थापना हुई। देश वासियो को आपस मे लडाने की पूर्व-परिचित नीति का अब राजनीतिक क्षेत्र में खुल कर प्रयोग किया गया; और काग्रेस के विरुद्ध मुसलमानो को सगठित करने के प्रयास किए गए। विद्रोह के पूर्व और बाद में भारतीय मुसलमान अग्रेजो के विशेष कोप-भाजन रहे थे; परन्तु अब जैसे जैसे काग्रेस की लोकप्रियता और शक्ति में वृद्धि होती गई; सरकार मुसलमानो के प्रति अपने रुख में परिवर्तन करती गई। मुसलमानो को विशेष सुविधाएं देकर, उन्हे अपनी विशेष

---

* सी. वाई. चिन्तामणि: इण्डियन पालिटिक्स सिन्स म्युटिनी, पृ. २६।

मागे रखने का प्रोत्साहन देकर- नौकर शाही ने भारतवर्ष की दो प्रमुख जातियो के मध्य भेद की खाई को खोदने की कोशिश की। अविराम गति से बढती हुई राष्ट्रीय एकता की भावना पर कुठाराघात करके ब्रिटिश सरकार ने शुरू शुरू मे ही राष्ट्रीय आंदोलन को कुचल डालने का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में कि मुसलमान "कुछ शठ पदाधिकारियो द्वारा जिनका कि फूट डालो और राज्य करो की नीति में विश्वास था प्रयुक्त किए जा रहे थे" हमारे पास ए० ओ० ह्यूम की साक्षी विद्यमान है।* कांग्रेस के चौथे अधिवेशन (१८८८) मे शेख रज़ा हुसैन ने धडल्ले के साथ कहा, कि "मुसलमान नही बल्कि उनके मालिक-सरकारी हुक्काम-हैं जो कि कांग्रेस के विरुद्ध हैं।" †

प्रारंभिक भारतीय देशभक्त

१६. सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी

आधुनिक बगाल के निर्माता और भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के प्रणेताओ में अग्रगण्य सुरेंद्रनाथ बेनर्जी भारत के प्रतिष्ठा भाजन व्यक्तियो मे एक उच्च स्थान के अधिकारी हैं। वे उन व्यक्तियो मे से थे, जिन्होने इडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में अत्यन्त शीघ्र सफलता प्राप्त कर ली थी। सन् १८७१ में वे सिलहट के असिस्टेंट मैजिस्ट्रेट नियुक्त हुए। दो ही वर्ष के अन्दर सरकारी आचरण में कुछ दोष पाये जाने के कारण उन्हे नौकरी से हाथ धोना पडा। बाद मैं दो लैफ्टिनेंट गवर्नरो ने इस बात को स्वीकार किया था कि सुरेंद्रनाथ बेनर्जी का नौकरी से हटाया जाना सर्वथा अन्यायपूर्ण था। परन्तु यह, छद्मवेश में वरदान ही सिद्ध हुआ। सी० वाई० चितामणि ने ठीक ही लिखा है "शासन की हानि देश का लाभ बन गई।"‡ आई० सी० एस० से हटने के पश्चात् सुरेंद्रनाथ बेनर्जी ने स्वयं को राष्ट्रीय अभ्युदय के कार्य में ही प्राणपण से निरत कर दिया। कुछ समय तक उन्होने विद्यासागर कालिज मे, जो उस समय मैट्रोपोलिटन इस्टीट्यूट के नाम से विख्यात था लैक्चरर के रूप में कार्य किया। बाद में उन्होंने रिपन कॉलिज की नीव डाली और उसमें अंग्रेजी के प्रोफेसर के रूप में कई वर्षों तक काम किया। तत्पश्चात् वे पत्रकार बने। इन्होंने 'बंगाली' पत्र का सम्पादकत्व ग्रहण किया। इस पत्र के जन्म दाता उमेशचद्र बेनर्जी थे। सरकार की तीक्ष्ण आलोचना करने के फलस्वरूप उन्हें १८८३ में दो मास के कारावास का दंड मिला।

---

*डा. पट्टाभि सीतारामय्या : 'दि हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस,' पृ. १०८'।

† 'वही', पृष्ठ ११०।

‡ 'सी. वाई. चिन्तामणि : इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी', पृ. ७१-७२।

१८७६ में सुरेंद्रनाथ बेनर्जी ने इंडियन एसोसियेशन की स्थापना की जिसका मुख्य ध्येय आई० सी० एस० की परीक्षा मे बैठने की अवस्था को २१ वर्ष से घटा कर १९ वर्ष कर देने के विरुद्ध आंदोलन करना था। उन्होने सम्पूर्ण देश का भ्रमण किया और शिक्षित भारतीयो मे एक हलचल सी उत्पन्न कर दी। इस आंदोलन के पक्ष में जनमत का सगठन करने में वे सफल हुए। इस प्रकार उन्होंने राष्ट्रीय चेतना की नीव डालने में सहायता दी जिसने कि शीघ्र ही राष्ट्रीय सगठन का रूप धारण कर लिया। कांग्रेस की स्थापना के दो वर्ष पूर्व राष्ट्रीय सम्मेलन की स्थापना करने में सुरेंद्रनाथ का बहुत बडा हाथ था। राष्ट्रीय सम्मेलन प्रथम अखिल भारतीय राजनीतिक सगठन और कांग्रेस का अग्रवर्ती था। १८८६ में सुरेंद्रनाथ बनर्जी तथा राष्ट्रीय सम्मेलन के अधिकांश नेताओ ने कांग्रेस में प्रवेश किया। राष्ट्रीय सम्मेलन ने भी स्वय को काग्रेस में विलीन कर दिया। १९१७ तक सुरेंद्रनाथ बेनर्जी काग्रेस के अत्यन्त प्रभावशाली नेता रहे। इसके पश्चात् उग्र राष्ट्रीयता के अभ्युदय के कारण उन्होने काग्रेस से हाथ खींच लिया। वे काग्रेस के दो बार, (१८९५ और १९०३ में) सभापति बनाये गये। उन्होने ब्रिटिश जनता और संसद के सम्मुख भारतीय समस्या को स्पष्ट करने के लिये इगलैंड जाने वाले कई शिष्टमडलों का नेतृत्व किया था। १९०५ में जब बगाल का विभाजन किया गया सुरेंद्रनाथ बेनर्जी ने उसके विरुद्ध आंदोलन करने में प्रमुख भाग लिया था। वे भारत के उन सबसे पहले देश-भक्तों में से थे, जिन्हें पुलिस के डडे खाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

सुरेंद्रनाथ बेनर्जी अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता थे। एक अंग्रेज ने तो यहाँ तक कहा था कि सार्वजनिक वक्ताओ में ग्लैडस्टन के अलावा उनसे बढकर और कोई नही था। डा० पट्टाभि सीतारामैया के शब्दों में "भाषा-प्रभुत्व, रचना-नैपुण्य, कल्पना प्रवणता, उच्च भावुकता, वीरोचित हुकार-इन गुणों में आपकी वक्तृत्व कला को पराजित करना कठिन है। आज भी कोई आपकी समता तो क्या आपकी निकटता को भी नही प्राप्त कर सकता।"* मैकॉले की तरह सुरेंद्रनाथ की भी विलक्षण स्मरण-शक्ति थी। दोनों ही अवसरों पर जब कि उन्होंने काग्रेस के अध्यक्ष पद से भाषण दिए थे, बिना किसी मुद्रित प्रति की सहायता के, और जिनमें एक शब्द की भी गलती नही थी, तो वह उनकी अद्भुत स्मरण शक्ति का परिचायक था।†

सुरेंद्रनाथ बेनर्जी दृष्टिकोण और कार्य पद्धति, दोनों में ही नरम राष्ट्रवादी थे। मैज़िनी के ग्रंथों द्वारा प्रभावित होने पर भी उन्होंने उसके क्रांतिकारी कार्यक्रम को नहीं अपनाया। अग्रेजी सभ्यता और सस्थाओं के प्रति उनके हृदय में बहुत अनुराग

---

* पट्टाभि सीतारामय्या : दि हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस, पृ. १६७।

† सी. वाई. चिन्तामणिः इंडियन पालिटिक्स सिन्स दि म्युटिनी, पृ. ७२।

था। एक अवसर पर उन्होने कहा था "अंग्रेजी सभ्यता संसार में सर्वोच्च है। यह इगलैण्ड और भारत की अखड एकता का चिन्ह है। यह सभ्यता भारतवासियो के प्रति अपूर्व आशीर्वादो तथा प्रसादो से परिपूर्ण है और अंग्रेजो के सुनाम को अपूर्व ख्याति दिलाने वाली है।" उनको आशा थी कि अग्रेजो और भारतीयों का यह सम्पर्क अविभक्त रहेगा तथा "भारत, समय आने पर, चरित्र में अग्रेजी, और संस्थाओं में अग्रेजी, स्वतत्र राज्यो के महान् सघ में, अपना स्थान पा लेगा।" इसमें कोई आश्चर्य की बात नही कि अग्रेजो के प्रति राजभक्ति सुरेंद्रनाथ की विचारधारा का केन्द्र-विन्दु था। उन्होंने कहा 'राजनीतिक कर्तव्यों के उच्च क्षेत्र में इंगलैण्ड हमारा राजनीतिक पथ-दर्शक और नैतिक गुरु है।" काग्रेस के १८ वें अधिवेशन में उन्होंने भारत में ब्रिटिश राज के स्थायित्व के लिए प्रार्थना की। लेकिन वे भारत में ब्रिटिश नौकरशाही की गम्भीर त्रुटियों से भी अच्छी तरह से परिचित थे और उन्होंने उनके निवारण का भी यथाशक्ति प्रयत्न किया। तो भी उनका आदर्श "ब्रिटिश सम्पर्क के प्रति अटल राजभक्ति के साथ काम करना था क्योकि उद्देश्य भारत में ब्रिटिश शासन का अवरोध करना नहीं, अपितु उसके आधार का विस्तार करना, उसकी चेतना को उदार बनाना, उसके चरित्र की प्रतिष्ठा-वृद्धि तथा उसे राष्ट्र के प्रेम की अपरिवर्तनीय आधार-शिला पर स्थित करना था।

१७. दादा भाई नौरोजी

भारत के पितामह, दादाभाई नौरोजी जिनकी स्मृति भारतवासियों के प्रेम मन्दिर में विराजित है, हमारे प्रारम्भिक राष्ट्र-निर्माताओं में मूर्धन्य थे। तीस वर्ष की आयु में उन्होने स्वयं को सार्वजनिक सेवा के लिए समर्पित कर दिया। -'भारत का सार्वजनिक जीवन बौद्धिक दिग्गजो और निःस्वार्थ देश भक्तो की आकाश-गगा से अलकृत रहा है, परन्तु हमारे समय में दादाभाई नौरोजी के समकक्ष कोई दूसरा नहीं हुआ।"*
उन्होने भारतवर्ष में तीस सार्वजनिक सस्थाओ की स्थापना की। उन्होंने इगलैण्ड में " इंडिया सोसाइटी" और ब्रिटिश इडिया सोसाइटी" नामक संस्थाए स्थापित की। उन्होंने अपनी जीवनवृत्ति को प्रोफेसर के रूप में प्रारम्भ किया था परन्तु वे शीघ्र ही राजनीति की ओर मुड़ गये। वे एक सुविख्यात पत्रकार थे और उन्होंने बम्बई में प्रथम समाचार पत्र की स्थापना की थी।

कांग्रेस के साथ दादा भाई नौरोजी का सम्पर्क उसके जन्मकाल से ही रहा था। और बीस वर्ष से अधिक काल तक यह सम्पर्क बना रहा। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दो में दादा भाई नौरोजी, 'कांग्रेस की शुरूआत से लेकर अपने जीवन पर्यन्त उसकी

* सी. वाई. चिन्तामणि: 'इंडियन पालिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी' पृष्ठ २०।

सेवा करते रहे और उन्होने कांग्रेस को सर्वसाधारण की शासन सम्बन्धी शिकायतें दूर कराने का प्रयत्न करने वाली जन सभा से बढाते-बढाते स्वराज्य प्राप्ति (कलकत्ता १९०६) के निश्चित उद्देश्य से काम करने वाली राष्ट्रपरिषद् पर पहुचा दिया।* १८८६, १८९३ और १९०६ में क्रमश. तीन बार वे काग्रेस के सभापति निर्वाचित किये गये। दादाभाई नौरोजी का चरित्र अत्यत दृढ था। अपने परिचितो को वे 'प्रशसा, ईर्ष्या और निराशा' से परिपूर्ण कर देते थे। यदि किसी से कोई भूल हो जाती, तो वे क्रुद्ध नही होते थे, उनका व्यवहार बडा सदय बना रहता था। उनका, कभी, कोई व्यक्तिगत शत्रु नही रहा। चिंतामणि ने लिखा है, 'उनसे अधिक सज्जन पुरुष का मैंने कभी दर्शन नही किया। उनकी तो उपस्थितिमात्र ही श्रद्धा का सचार

---

* टिप्पणिः—यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि दादा भाई नौरोजी और उनके समकालीन दूसरे नरम राष्ट्रवादियो की स्वराज्य अथवा स्वशासन सम्बधी मान्यता उस स्वतन्त्रता से भिन्न थी जिसे कि भारत ने १५ अगस्त, १९४७ को प्राप्त किया। उन्हें इस बात की कल्पना नही थी कि भारत निकट भविष्य मे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। उनकी अकाक्षा यह थी कि भारत धीरे धीरे औपनिवेशिक स्वराज्य (Dominion Status) की दिशा में प्रगति करे। १९०६ के काँग्रेस अधिवेशन में जो स्व-शासन-सम्बधी प्रस्ताव पास हुआ, वह इस प्रकार है —

"इस कांग्रेस की राय है कि स्वराज्य प्राप्त ब्रिटिश उपनिवेशो में जो शासन प्रणाली है, वही भारतवर्ष में भी चलाई जाय और उसके लिए नीचे लिखे सुधार तुरत किये जाँय।

(क) जो परीक्षाए केवल इगलैड में होती हैं, वे भारतवर्ष और इगलैड में साथ साथ हो तथा भारतवर्ष में ऊची नौकरियो पर जितनी नियुक्तियाँ होती हैं वे सब केवल प्रतिस्पर्द्धी-परीक्षा द्वारा हो।

(ख) भारतमत्री की कौंसिल, वायसराय और मद्रास तथा बम्बई के गवर्नरों की कार्यकारिणियों में भारतीय प्रतिनिधि पर्याप्त सख्या में हो।

(ग) भारतीय और प्रातीय कौंसिलें बढाई जाँय, उनमे जनता के अधिक और वास्तविक प्रतिनिधि रहे और उन्हे देश के आर्थिक एव शासन-सम्बधी कार्यों में अधिक अधिकार रहे।

(घ) स्थानीय और म्युनिसिपल बोर्डों के अधिकार बढाये जाँय और उनपर सरकारी नियत्रण उससे अधिक न हो जितना ऐसी सस्थाओं पर इगलैड में लोकल गवर्नमेंट बोर्ड का रहता है।"

करती हैं' । गोखले ने लिखा था 'यदि कभी मनुष्य में दिव्यता का वास रहा, तो वह दादा भाई नौरोजी में' । अधिकाश प्रारम्भिक राष्ट्रवादियों की तरह दादाभाई नौरोजी का भी अंग्रेजो की '*स्वाभाविक न्यायप्रियता और युक्तियुक्त व्यवहार*' में दृढ विश्वास था और यह विश्वास मृत्युपर्यंत अविचल बना रहा । उनको इस बात में सन्देह लेश-मात्र भी नही था कि भारत अपने राजनीतिक ध्येय को शातिपूर्ण दवाब के उपायो और ब्रिटिश जनमत के शिक्षण द्वारा प्राप्त कर सकता था । उन्होने घोषणा की थी 'हम भारतीय एक बात में यकीन करते हैं और वह यह कि यद्यपि जॉन बुल तनिक मन्दबुद्धि है लेकिन यदि एक बार उसे कोई बात समझा दी जाय कि वह अच्छी और उचित है तो आप उसके कार्यरूप में परिणत किए जाने के प्रति विश्वस्त हो सकते हैं' । सार्वजनिक वक्ता के रूप में दादा भाई नौरोजी की आवाज और भाषा बडी नरम रहती थी, परन्तु बाद के वर्षों में अंग्रेजो की प्रतिगामी नीति ने उन्हें कठोर भाषा का प्रयोग करने के लिये विवश कर दिया । १९०६ मे जब दादाभाई कलकत्ते के काग्रेस अधिवेशन के सभापति हुए, सारा देश, बंगविच्छेद के कारण 'मानो एक खौलते हुए कढाव में था' । बगाल असतोष से उबल रहा था । सरकार ने लोकप्रिय आदोलन को विशेष कानूनो (आर्डिनेंसो) फौज और ताजीरी पुलिस की तैनाती, व्यापक गिरफ्तारियो और अन्धाधुन्ध लाठी प्रहारो द्वारा कुचल डालने का प्रयास किया । इस जन आदोलन और नौकरशाही दमन के अवसर पर, वह व्यक्ति दादाभाई नौरोजी ही थे जिन्होने 'स्वराज्य' को काग्रेस का ध्येय घोषित किया ।

१८. गोपालकृष्ण गोखले

गोपालकृष्ण गोखले महाराष्ट्र के एक वीर पुत्र और भारत के महानतम राष्ट्र-वादी नेताओ में से थे । उनका जन्म १८६६ में कोल्हापुर में हुआ था । उनका मस्तिक समुन्नत था और हृदय सुविशाल; इन गुणो के कारण उन्होने अपने जीवन में बडी शीघ्रता से उन्नति की । १८ वर्ष की वय में प्रोफेसर, २२ वर्ष की वय में बबई विधान परिषद के सदस्य और ३९ वर्ष की वय में काग्रेस के अध्यक्ष हुए । अपनी तरुणा-वस्था में ही उन्होने अपने जीवन को राष्ट्र देवता के चरणों में समर्पित कर दिया था। "नंगे भूखे, झुर्रियो पडे हुए, ठिठुरते और सिकुड़ते हुए, सुबह से शाम तक दो रोटियों के लिए खेत में कडा श्रम करने वाले, चुपचाप धीरज के साथ न जाने कितना सहने वाले, अपने मालिकों के पास जिनकी आवाज जरा भी नही पहुँचती, और ईश्वर तथा मनुष्यों के द्वारा जो कुछ भी बोझ उनकी पीठ पर लाद दिया जाता है उसे बिना ची-चपड़ किए सदा सहने के लिए लिए तय्यार किसानों के लिए" गोखले के हृदय में प्रेम का स्थान था । गोखले ने निर्धन और शोषित कृषक वर्ग के हितार्थ

एक मन होकर, एकनिष्ठा से काम किया। गोखले ने नमक कर का खंडन किया था जिसके लिए बाद में महात्मा गान्धी ने स्पष्ट रूप से कहा था कि यह कर तो गरीबी पर लगा हुआ कर है क्योंकि इससे तीन पाई वाली नमक की टोकरी की कीमत पाँच आने हो जाती है"पाँच गावो में से चार गाँव बिना किसी पाठशाला के हैं और बच्चों का विकास अज्ञान में ही होता है," यह उन्होने घोषणा की। गोखले इस अशिक्षा के लिऐ सरकार को ही उत्तरदायी ठहराते थे।

१८८९ में गोखले ने कांग्रेस में प्रवेश किया और वे शीघ्र ही अग्रिम पक्ति में आ विराजे। जब वे कांग्रेस के २१ वें अधिवेशन (१९०५) के सभापति चुने गये, इस गौरवपूर्ण पद पर पहुँचने वाले, व्यक्तियों में उनकी अवस्था सबसे कम थी। सूरत विच्छेद (१९०७) के पश्चात् उन्होंने कांग्रेस के कामो में महत्वपूर्ण भाग लिया। वास्तव में ये तिलक के प्रतिकूल नरम दल के नेता और कई वर्षों तक कांग्रेस के कर्णधार का काम करते रहे। मुख्यत· यह उनके ही विरोध का परिणाम था जिससे कि उनके जीवन काल में गरम दल और नरम दल के बीच मेल होने के सारे प्रयास निष्फल हुए। भारतवर्ष के प्रतिनिधि के रूप में गोखले कई बार इङ्गलैंड गए और वहां के कई सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रशसा भाजन बने। सी० वाई० चिंतामणि ने 'दि नेशन' पत्र के सम्पादक श्री मैसिंघम को यह कहते हुए उद्धृत किया है कि इंगलेंड में गोखले के समकक्ष कोई राजनीतिज्ञ नही था। १८८८ में गोखले बम्बई विधान परिषद् के सदस्य हो गए। बाद में उन्होने भारतीय विधान परिषद् (Indian Legislative Council) में प्रवेश किया और कई वर्षों तक उसके प्रभावशाली सदस्य बने रहे।

१९०५ में गोखले ने भारत-सेवक समिति नामक संस्था स्थापित की जो इनकी देश को सबसे बडी देन है। संस्था का उद्देश्य "ऐसे सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं को शिक्षित करना था जो "अत्यल्प पारिश्रमिक पर मातृभूमि की सेवार्थ, कठोर अनुशासन के पालनार्थ, साम्राज्य के प्रति राजभक्ति के लिए वचन बद्ध हों।" समिति के विधान की प्रस्तावना में गोखले ने लिखा था, "अब हमारे देशवासियो को काफी संख्या में आगे आजाना चाहिए और देशहित के कार्य में स्वयं को उसी भावना से समर्पित कर देना चाहिए जिस भावना से कि धार्मिक कृत्य किया जाता है। सार्वजनिक जीवन को आध्यात्मिकतामय होना चाहिए। देश प्रेम हृदय को इस प्रकार आप्यायित कर दे, कि उसके सामने अन्यान्य सभी वस्तुएं अत्यन्त हेय मालूम पड़ने लगें।" वे दक्षिण अफ्रीका भी गये थे और उन्होंने कुछ समय तक महात्मा गाँधी के साथ काम भी किया था। गाँधीजी के सत्याग्रह-धर्म के वे प्रशंसक हो गये थे।

गोखले के चरित्र में कई दुर्लभ गुण थे। अपनी स्पष्ट सत्यवादिता और बौद्धिक साहस के लिए वे विख्यात थे। वे अपनी राय को उस समय तक कभी प्रकट नहीं

गोखले का चरित्र और उनकी विचार धारा

करते थे, जब तक उसकी सच्चाई में उनका पूर्ण विश्वास न हो जाता था, जब वे एक बार कोई राय कायम कर लेते थे अथवा किसी आदर्श को अपना लेते थे, तब न तो आलोचना और न बदनामी ही उन्हें अपने निर्धारित पथ से विमुख कर पाती थी। वे एक नि.स्वार्थ देशभक्त थे, जिनके हृदय में कदापि कोई हीन विचार नही आया। यद्यपि उनका व्यवहार कभी कभी रूखा प्रतीत होता था; फिर भी उनका व्यक्तित्व आकर्षक था जो हृदय में उनके प्रति न केवल आदर अपितु प्रेमभाव का भी संचार करता था। यद्यपि उनके आदर्श बहुत ऊंचे थे, परन्तु यथार्थ को भी वे अपनी आंखो से ओझल नही होने देते थे। वस्तुत. वे व्यावहारिक आदर्शवादी थे। वे एक ऐसे राजनीतिज्ञ थे जो स्पृहणीय आदर्श और ऐसे आदर्श के बीच, जो स्पृहणीय हो परन्तु साथ ही साथ प्राप्तव्य भी हो, भेद समझ सकते थे। लार्ड मॉर्ले के कथनानुसार इनका मस्तिष्क राजनीतिज्ञ का मस्तिष्क था और इनमें शासक के उत्तरदायित्व की भावना थी। मैकियावेली (Machiavelli) की भांति वे उद्देश्य की पूर्ति के लिए किसी भी साधन को ठीक न समझते थे, वरन् जीवन के प्रत्येक कार्य को नैतिकता के आधार पर रखते थे। लार्ड कर्जन ने उनको एक बार लिखा था, "ईश्वर ने आपको असाधारण योग्यताओ से आभूषित किया है और आपने उन योग्यताओं को देश के हितार्थ प्रयुक्त किया है।"

गोखले का उग्र राष्ट्रीयता में विश्वास नही था। वे नरम राष्ट्रीयता के अनुयायी थे। अग्रेजो ने भारतवर्ष को जो सरक्षणता प्रदान की, इसके वे प्रशंसक थे। ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्त पूर्ण सहयोग और भारत की नीति का वे समर्थन किया करते थे। सामान्यत· गोखले जनता और सरकार के बीच मध्यस्थ का कार्य करते थे। "वे जनता की आकाक्षाएं वायसराय तक पहुंचाते थे और सरकार की कठिनाइया कांग्रेस तक।" स्वभावत. इसके कारण इनकी स्थिति कभी कभी विषम हो जाती थी। उनके सहयोगी उनको बहुत नरम समझते थे और सरकार इनके ऊपर उग्र होने का दोषारोप करती थी। तथापि अपनी सारी नरमी के बावजूद भी गोखले दादाभाई नौरोजी अथवा फीरोजशाह मेहता की अपेक्षा कही अधिक निर्भीक वक्ता और नौकरशाही के कठोर आलोचक थे। पट्टाभि सीतारामैया के अनुसार "उनमें कडी से कडी बात को भी मधुर भाषा में कहने का बड़ा गुण था।"* परन्तु यदि वे आलोचना में कोमल शब्दावली का प्रयोग करते थे, उनके अर्थ में संदेह की गुंजायश नही रहती थी। जब लार्ड कर्जन के प्रतिगामी कार्यों ने अग्रेजों की नेकनीयती में उनके सारे विश्वास को नष्ट कर दिया, तब उनकी भाषा भी कुछ

---

* पट्टाभिय सीतारामय्याः दी हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस, पृ. १४८।

कठोर हो गई। उन्होंने अपने स्वभाव के विरुद्ध तनिक बिगड कर यह कहा था "तो अब मैं इतना ही कह सकता हू कि लोक-हित के लिए नौकरशाही से किसी तरह के सहयोग की तमाम आशाओ को नमस्कार।" अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में गोखले का सरकार के ऊपर से विश्वास हटने लगा था और वे शिकायतें करने लगे थे कि नौकरशाही स्पष्टत स्वार्थसाधु और खुल्लम-खुल्ला राष्ट्रीय आकाक्षाओ के विरुद्ध होती जा रही है।" इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है कि १९०५ के कांग्रेस अधिवेशन में, जिसके कि वे अध्यक्ष थे, उन्होने स्व-शासन के ध्येय पर समुचित प्रकाश डाला, उसकी सुविस्तृत व्याख्या की, राजनीतिक शस्त्र के रूप में बहिष्कार का समर्थन किया और कहा कि इसका प्रयोग तभी करना चाहिए जब कि अन्य कोई चारा न रह गया हो।

१९. युग के अन्य राष्ट्रवादी

उन्नीसवी शताब्दी के अतिम चरण और बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में भारत में कई असाधारण सार्वजनिक व्यक्ति हुए। जिनका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, उनके अलाव., उमेशचन्द्र बेनर्जी, दीनशा एदल जी वाचा, फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैयब जी, न्यायाधीश रानाडे, आनन्दमोहन बोस, जी० सुब्रह्मण्य ऐयर और सी० विजय राघवाचार्य आदि नक्षत्रो से देश भक्तो की आकाश गगा अलकृत थी। वैसे तो बाल गगाधर तिलक भी इसी युग मे हुए, परन्तु उनमें और नरम राष्ट्रीयता के उपासको में अन्तर था। उनके कर्तृत्व और चरित्र का हम अगले अध्याय में वर्णन करेंगे।

उमेशचन्द्र बेनर्जी

उमेशचन्द्र बेनर्जी का यहाँ पर उल्लेख करना केवल इसलिए ही आवश्यक नही है कि वे काग्रेस की नीव डालने वालो में से थे और उन्होने काग्रेस के प्रथम-अध्यक्ष-पद को सुशोभित किया था अपितु सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी की भाँति काग्रेस की स्थापना करने मे उन्होने भी कठिन परिश्रम किया था। काग्रेस के प्रथम अध्यक्षपद से दिया-गया उनका भाषण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया के शब्दो में "यदि प्रामाणिक रूप से जानना हो कि काग्रेस का आरम्भिक उद्देश्य क्या था, तो उसके प्रथम अधिवेशन के सभापति उमेशचन्द्र बेनर्जी के भाषण की ओर ही निगाह दौडानी पड़ेगी" दीनशा एदल जी वाचा काग्रेस के

दीनशा एदल जी वाचा

सर्वाधिक आदरणीय बुजुर्गों मे से थे। पच्चीस वर्षों से अधिक काल तक वे काँग्रेस की राजनीति में अग्रिम भाग लेते रहे। वैसे वे बहुत ही नरम थे और सरकार उनपर विश्वास करती थी, लेकिन फिर भी वे 'काग्रेस के फॉयर

ग्राड' के नाम से विख्यात हो गए थे। शासन की ओर से उन्हें 'नाइटहुड' की उपाधि प्रदान की गई थी और वे भारतीय विधान परिषद (Indian Legislative Council) के लिए नामजद किए गए थे। फिरोजशाह मेहता महान पारसी 'त्रिदेव' में से एक थे-दूसरे दादाभाई नौरोजी और तीसरे दीनशा एदलजी वाचा

थे जिन्होंने, प्रारभिक वर्षों में काग्रेस की सेवा की और **फ़िरोजशाह मेहता** उसे शक्तिशाली बनाया। १९१५ में अपनी मृत्युपर्यन्त

वे सार्वजनिक कार्य कर्त्ता रहे और उन्होने अपने देश की प्रभूत सेवा की। अपनी रचनात्मक राजनीतिक मेधा के लिए वे सुविख्यात थे और उन्होने बम्बई कार्पोरेशन बबई विधान परिषद तथा वायसराय की परिषद के सदस्य के रूप मे विशेष यश अर्जित किया। उन्होंने काग्रेस के छठे अधिवेशन (१८९०) का सभापतित्व किया था और अपने भाषण मे लार्ड सेल्सबरी के इस विचार का खडन किया कि प्रतिनिधि-शासन, पूर्वी परंपराओ अथवा पूर्व के.निवासियो की मन स्थिति के अनुरूप नही है और अपनी बात की पुष्टि मे मि० चिसहाम एन्स्टे (Chisohm Anstey) का यह उद्धरण पेश किया कि "स्थानिक-स्वराज्य का जनक तो पूर्व ही है, क्योंकि स्वशासन का अधिक से अधिक विस्तृत जो अर्थ हो सकता है, उस रूप मे वह प्रारम्भ से ही यहा मौजूद रहा है"। अन्यान्य नरम राष्ट्रवादियो की तरह "अँग्रेजी शिक्षा तथा सस्कृति के प्राणवान् और उर्वर सिद्धान्तो मे" फिरोजशाह मेहता की भी असीम आस्था थी। वे "समयानुकूल राजनीतिज्ञता दिखाने की प्रार्थना और वह भी नम्रता और सयम के साथ" करने के विश्वासी थे। इस विषय मे उन्हे तनिक भी सदेह नही था कि "अत मे ब्रिटिश राजनीतिज्ञ हमारी पुकार को अवश्य सुनेंगे"। नरमदल और गरम दल के बीच सूरत विच्छेद के पश्चात् मेहता धीरे धीरे कांग्रेस से ओझल होगए और १९१० में उन्होने दुबारा काग्रेस के सभापति का आसन ग्रहण करने से इन्कार कर दिया।

भारत के राष्ट्रीय आदोलन मे महादेव गोविंद रानाडे का नाम भी महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है। बहुत बारीकी से उतरें तब तो उन्हें काग्रेसी नही कहा जा

महादेव गोविन्द रानाडे

सकता क्योकि वे बम्बई सरकार के न्याय-विभाग के उच्चा-धिकारी थे लेकिन यदि वे कांग्रेस के रगमंच पर दिखाई नही देते थे या बहुत कम देते थे, तो वर्षों तक पीछे से काग्रेस का सूत्र सचालन करने-वाली शक्ति वे बने रहे थे। अपने युग के वे महानतम भारतीय विचारक थे और काग्रेस आदोलन के नेताओं पर उन्होनें अक्षुण्ण प्रभाव डाला था। गोखले उनके बहुत से शिष्यों में से एक थे। वे अविश्रात उत्साही सामाजिक कार्यकर्त्ता और "भारतीय अर्थ शास्त्र पर निबंध" (Essays in Indian Economics) और "मराठो का उत्कर्ष" The Rise of the Maharatta Power) जैसी स्मरणीय पुस्तको के लेखक थे जो कि अब भी अपने

विषयों पर 'क्लासिक्स' मानी जाती हैं। बदरुद्दीन तैयब जी का भी उल्लेख करना आवश्यक है। वे कांग्रेस में प्रवेश करने वाले सर्व प्रथम मुस्लिम थे। कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन (१८८७) का उन्होंने सभापतित्व किया था। बम्बई हाई कोर्ट के जज होने पर वे कई वर्षों तक काग्रेस से अलग रहे लेकिन १९०४ में काग्रेस में पुनः लौट आए और इसके दो वर्ष बाद तक, अपनी मृत्युपर्यंत, अत्यन्त उत्साह पूर्वक काम करते रहे।

बदरुद्दीन तैयब जी

२०. १८९२ का इंडियन कौंसिल्स एक्ट

१८३३ में मैकॉले ने आशा व्यक्त की थी कि एक दिन वह आयेगा जब भारतीय "यूरोपीय सस्थाओं" की माग करेंगे। मैकॉले ने तो "किसी भावी युग" की भाषा में बात की थी, परन्तु वह दिन इतनी शीघ्र आ पहुंचा, जिसका मैकॉले को स्वप्न में भी भान न रहा होगा। कांग्रेस की स्थापना १८८५ में हुई थी और उसने अपने प्रथम अधिवेशन में ही, "यूरोपीय सस्थाओं" की माग की। सरकार के तत्कालीन रवैये के प्रति उसने घोर असतोष प्रगट किया, १८६२ के एक्ट के अंतर्गत विधान परिषदो केसुधार और विस्तार की तथा संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) और पंजाब के लिए परिषदो को स्थापित करने की माग की। एक प्रस्ताव द्वारा प्रातीय और केन्द्रीय परिषदो में "अधिक निर्वाचित सदस्यो के प्रवेश" की मांग की गई। कांग्रेस के दूसरे अधिवेशन में जो प्रस्ताव पास किये गए थे, उनमें कहा गया था:—

कांग्रेस का एक कर्तव्य

(१) परिषदो के कम से कम आधे सदस्य निर्वाचित होने चाहिएँ।

(२) परिषदों को 'बजट समेत सभी आर्थिक प्रश्नो के विवेचन का अधिकार होना चाहिए।'

(३) 'सुरक्षा की सीमाओ में रहते हुए' परिषद् के सदस्यो को 'शासन-सम्बधी सभी मामलो में प्रश्न पूंछने का अधिकार होना चाहिए।'

इन मांगों को लेकर कांग्रेस ने दो शिष्टमंडल इंगलैंड भेजे। इन शिष्ट मडलो को भेजने में काग्रेस का उद्देश्य यह था कि वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञो को इस बात का विश्वास दिलायें कि भारत में प्रतिनिधि शासन के ध्येय की ओर पग बढ़ाने की गम्भीर आवश्यकता है। १८९२ का एक्ट, स्पष्टत. इन प्रयासो का ही परिणाम था।

भारतीय शासन में प्रतिनिधित्व के सूत्रपात की ओर प्रथम पग १८६१ के इंडियन कौंसिल एक्ट के अतर्गत ही उठा लिया गया था। इस एक्ट के अनुसार

प्रतिनिधित्व का श्रीगणेश

कानून बनाने के लिये गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्यों की संख्या बढाई गई और गवर्नर जनरल को कम से कम छः तथा अधिक से अधिक बारह सदस्यों के मनोनीत करने का अधिकार मिला। यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि मनोनीत सदस्यों में कम से कम आधे गैर सरकारी होगे। इसी एक्ट में प्रांतों में भी विधान परिषदों के संस्थापन की बात कही गई थी जिनमें कम से कम चार और अधिक से अधिक आठ मनोनीत सदस्यों को प्रवेश करने का अधिकार दिया गया था। इनमें कम से कम आधे सदस्यों का ग़ैर सरकारी होना आवश्यक था। इस एक्ट के अंतर्गत निर्मित विधान परिषदो को विधान परिषद् कहना उचित नही मालूम पड़ता; वस्तुतः वे तो दरबार थी। इसमें भारतीय जनता को अपने प्रतिनिधियो के चुनने का अधिकार नही दिया गया था। वस्तुतः अधिकाश निर्वाचित ग़ैर सरकारी सदस्य यूरोपीय ही होते थे। इसके अलावा परिषदों के अधिकार बड़े परिमित थे। उन्हें न तो बजट पर ही बहस करने का और न शासन सम्बंधी मामलो में कार्यकारिणी से प्रश्न करने का अधिकार था।

१८९२ के एक्ट के उपबंध

भारतीय शासन विधान सम्बधी एक्टो में १८६१ के एक्ट के पश्चात् १८९२ का ही एक्ट महत्व का है। इस एक्ट के अनुसार (१) भारतीय और प्रातीय विधान परिषदों के सदस्यो की सख्या बढाई गई। भारतीय विधान परिषद में गवर्नर जनरल की कौंसिल के अतिरिक्त, कम से कम दस और अधिक से अधिक बीस सदस्य बढाये जा सकते थे और प्रांतीय विधान परिषदों में कम से कम आठ और अधिक से अधिक बीस (२) गवर्नर जनरल को यह अधिकार मिला कि वे परोक्ष निर्वाचन प्रणाली का सूत्रपात करें—यद्यपि निर्वाचन शब्द का प्रयोग सब अथवा कुछ अतिरिक्त सदस्यों के चुनने के लिए नही हुआ था। वस्तुतः यह निश्चित किया गया कि कुछ गैर सरकारी स्थान तो नाम निर्देशन (Nomination) द्वारा ही पूर्त किये जाते रहे और शेष स्थानो की पूर्ति उन नामजद किए गए व्यक्तियों में से कुछ को चुनकर की जाय जिनकी सिफारिश म्युनिसिपल कमेटियाँ डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, कॉर्पोरेशन, विश्व विद्यालय अथवा व्यापारिक मंडल आदि करें। (३) कौंसिल के सदस्यो को बजट पर बहस करने का अधिकार मिला, यद्यपि वे उस पर वोट देने के अधिकार से वंचित रक्खे गये। जनहित के मामलो में उन्हे प्रश्न पूछने का भी अधिकार नही दिया गया।

एक्ट ने कुछ रियायतें तो की परतु वे बहुत अपूर्ण और अपर्याप्त थी। परिषदों के आकार की वृद्धि 'क्षुद्र और तुच्छ थी'। १८९२ के अपने अधिवेशन में काग्रेस ने

एक्ट की आलोचना

इस बात की शिकायत की कि 'स्वत: इस एक्ट के द्वारा लोगों को परिषदो के लिए अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार नही दिया गया है।' नई परिषदो को सरकार की आर्थिक नीति पर तो सामान्य ढग से बहस करने का अधिकार दिया गया परंतु उन्हे बजट पर मतदान का अथवा सशोधन उपस्थित करने का अधिकार नही दिया गया। सदस्यो को प्रश्न पूछने का अधिकार दिया गया, परतु वे पूरक प्रश्न (Supplementary questions) करने के अधिकार से वचित रक्खे गये।

सारांश

१८८५ में स्थापित कांग्रेस ने प्रभाव और लोकप्रियता में शीघ्र उन्नति की तथा वह 'देश में एक शक्ति' बन गई। प्रारम्भ से ही उसका दृष्टिकोण और स्वरूप विशुद्ध राष्ट्रीय था और उसने देश के सभी हितो, वर्गों, जातियो और धर्मों का प्रतिनिधित्व किया।

अपनी पहली अवस्था मे कांग्रेस एक क्रांतिकारी नही, अपितु सुधारवादी सगठन था। इस पर उदार अथवा नरम राष्ट्रवादियो का एकछत्र प्रभुत्व था जिनका ब्रिटिश जनता की जन्म-जात न्याय प्रियता तथा प्रजातात्रिक भावनाओ मे असीम विश्वास था। ब्रिटिशराज से भारत को जो लाभ हुए, उनकी वे प्रशसा करते थे, और ब्रिटिश राज के प्रति राजभक्ति की घोषणाए करना' शपथें लेना उनका स्वभाव था। इसमें कोई सदेह नही कि भारत में नौकरशाही के वे आलोचक थे परतु उनका विश्वास था कि वैधानिक उपायो से, सहयोग की नीति द्वारा ही भारतवर्ष धीरे धीरे स्वशासन (ब्रिटिश शासन के अतर्गत) के लक्ष्य की ओर बढता चला जायगा और सब अव्यवस्था एवं अशाति ठीक होजायगी। 'प्रार्थनाओ और आवेदनों' के प्रोग्राम में ही उनकी दृढ़ आस्था थी, जिसे कि बाद में 'राजनीतिक भिक्षावृत्ति' के नाम से अभिहित किया गया।

यह नरम राष्ट्रवादियों का भ्रम था कि उन्होने भारत और इगलंड के हितों को परस्पर सम्बद्ध समझा। साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष करने मे विशुद्ध वैधानिकवाद की दुर्बलता का अनुभव करने में वे असफल सिद्ध हए। परतु उनका कार्य भी निष्प्रयोजन नही था। वे भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माता थे और उन्होने उसे अपूर्व बल प्रदान किया। सार्वजनिक भाषणो और सार्वजनिक महत्व के प्रश्नो पर विचार विमर्श के द्वारा उन्होने जनता को राजनीतिक शिक्षा दी। इसके अलावा १८९२ का इंडियन कौंसिल्स एक्ट नरम राष्ट्रवादियो के उद्योगों का ही फल था।

कांग्रेस की स्थापना शासको के सहयोग से हुई थी, परंतु ब्रिटिश अधिकारियों को शीघ्र ही कांग्रेस की मांगें और आलोचनाएं अरुचिकर और असह्य प्रतीत होने लगीं। परिणामत: उन्होंने उसकी उन्नति में रोडे अटकाने शुरु किए। लार्ड डफरिन तक भी, जिन्होने कि कांग्रेस की स्थापना में योग दिया था, अब उसके विरुद्ध हो गये और उन्होने उसे भारतीयो के 'अतिसूक्ष्म अल्प मत' (Microscopic Minority) का प्रतिनिधित्व करने वाली 'राजद्रोहात्मक' सस्था बताया। फिर भी सरकार ने कांग्रेस को असतुष्ट रखना उचित न समझा, उसे राजी करने की कोशिश की और १८९२ का एक्ट उसकी उक्त नीति का फल था।

अध्याय ४

उग्र राष्ट्रीयता का विकास

२१. भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन में नूतन प्रवृत्तियाँ

उग्रवादी (Extremists)

१८९२ के तुरन्त बाद ही, जब कि नया इंडियन कौंसिल्स एक्ट पास किया गया था, भारत ने राष्ट्रीय आंदोलन में एक नूतन प्राणधारा का विकास देखा। इसने ब्रिटिश शासन के प्रति उग्र विरोध का स्वरूप धारण किया। यद्यपि कांग्रेस पर प्रभुत्व तो उदार दल का ही बना रहा, परन्तु सगठन के अंतर्गत लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में एक नूतन शक्ति का आविर्भाव हुआ। इसके कुछ समय पश्चात् बंगाल के राष्ट्रीय नक्षत्रमंडल में भी विपिन चन्द्र पाल और अरविंद घोष जैसे नेता चमके जिन्होने कि भारत के राष्ट्रीय सघर्ष में नवीन जीवन धारा का संचार किया। महाराष्ट्र और बंगाल के इन नेताओ ने कांग्रेस आंदोलन की रागिनी में नया स्वर भरा, उसे नयी गति और नयी दिशा प्रदान की वे उग्रवादी (Extremists) के नाम से विख्यात थे क्योकि उनका दृष्टिकोण क्रांतिकारी था और वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सक्रिय प्रतिकार पर बल देते थे। उदारवादियों से उनका मत भेद न केवल भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति अपने दृष्टिकोण के ही सम्बन्ध में था, अपितु भारत के राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वे जिन साधनों का समर्थन करते थे, उनकी दृष्टि से भी दोनो में

उग्रवादी और उदारवादियों की तुलना

मतभेद था। उदारवादी, जैसा कि हम पूर्व ही देख चुके हैं, ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी राजभक्ति की स्पष्ट घोषणा करते थे। इसमें कोई संदेह नही कि भारत में ब्रिटिश-नौकरशाही के वे आलोचक थे परन्तु अंग्रेज जाति की तथाकथित उदात्त लोकतंत्रात्मक भावनाओं में उनकी अचल-अटल श्रद्धा थी। फलतः वे विश्वास करते थे कि अंग्रेजो की छत्रछाया में भारत राजनीतिक उन्नति और आर्थिक समृद्धि प्राप्त कर सकता है और भारत के राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विशुद्ध वैधानिक उपायो का ही प्रयोग करना चाहिए। उग्रवादी ब्रिटिश शासन

का खुल्लम-खुल्ला विरोध करते थे, उसे प्रतिगामी बताते थे, देश की आर्थिक अवनति व सांस्कृतिक अधोगति का उत्तरदायित्व उसके सिर मढते थे। राजनीतिक भिक्षण-वृत्ति की नीति में उनकी बहुत कम आस्था थी। अँग्रेजो की कृपाकोर पर निर्भर रहने के बजाय, वे चाहते थे कि, भारतीय अपनी शक्ति पर ही भरोसा करें। उन्होंने स्वराज्य को अपना लक्ष्य घोषित किया और कहा कि इस लक्ष्य को राजभक्ति के पारितोषिक के रूप में प्राप्त नही किया जासकता। उन्होंने सहकार्यता के प्रतिकूल अवज्ञा की नीति का प्रचार किया। उन्होने अपने देश के लिए बलिदान करने और कष्ट सहने के लिए भारतीय जनता का आवाहन किया। उग्र और उदार दल के विरोध पर तिलक का कहना था "राजनीतिक अधिकारों के लिए लडना पडेगा। उदार दल सोचता है कि वे समझाने से प्राप्त हो सकते हैं। हम सोचत हैं कि वे तीव्र दबाव से ही प्राप्त हो सकते हैं।"

१८९२ के सुधारों के बाद के वर्षों ने उग्र राष्ट्रीयता की एक अन्य धारा आतकवादियो (Terrorists) का जन्म देखा। उग्रवादी उदारवादियों के विशुद्ध वैधानिकवाद (constitutionalism) का खडन करते थे परतु उन्होंने हिंसा के प्रयोग का कदापि समर्थन नही किया। वे राजनीतिक आदोलन व शातिपूर्ण विरोध में भरोसा रखते थे। परंतु आतंकवादी उग्र प्रकृति के राष्ट्रवादी थे। उन्होने हिंसा का आश्रय ग्रहण किया। वे भारत की सम्पूर्ण साम्राज्यवादी व्यवस्था को कत्लो और डकेतियो आदि के प्रोग्राम द्वारा अस्तव्यस्त करने की आशा रखते थे। राष्ट्रवादी आदोलन के एक भाग के रूप में हम आतकवाद के अनुक्रम का इस अध्याय के अत में अध्ययन करेंगे।

आतंकवादी (Terrorists)

२२. उग्रवाद के प्रादुर्भाव के कारण

भारतीय राष्ट्रवादियो में क्रातिकारी भावना के विकास के प्रमुखतम कारणो में से एक ब्रिटेन नौकरशाही की असाध्य प्रतिगामी नीति के प्रति बढ़ता हुआ असतोष था। १८९२ का 'इंडियन कौंसिल्स एक्ट' (Indian Councils Act) उदारवादियो तक को संतुष्ट करने में असफल हुआ था। सरकार राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचलने की नीति का कठोरता पूर्वक अंधाधुन्ध अनुकरण करती रही। १८९२ में गोखले को यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि वे अधिकारियों को यह चेतावनी दे दें कि सरकार की जो प्रतिगामी नीति है, उसके भयानक परिणाम हो सकते हैं। १८९७ में सरकार

नौकरशाही कुशासन और दमन

ने तिलक को गिरफ्तार किया और राजद्रोह के अपराध में उन्हें १८ मास के लिए कठोर कारावास का दण्ड दिया। दक्षिण के सुप्रसिद्ध और प्रभावशाली जमीदार—नट्टु-बंधुओं को देश निकाला दे दिया गया और उनकी सम्पत्ति जब्त करली गई, उनके ऊपर सदेह यह किया गया था कि वे प्रात के राजनीतिक आदोलन से सम्बद्ध हैं। इन्होंने और इस प्रकार के दूसरे क्रूरता पूर्ण कृत्यो ने सम्पूर्ण देश मे क्रोध तथा प्रतिशोध की लहर फैला दी। रमेशचद्र दत्त के शब्दो में 'ब्रिटिश शासको की न्याय और सम-दृष्टि-भावना में भारतीय जनता का जो विश्वास था वह ऐसा हिल गया, जैसा कि पहले कभी नही'।

अकाल और महामारी

बीसवी शताब्दि के प्रथम दशक में उग्र राष्ट्रीयता के विकास का एक सहायक कारण अकाल और महामारी जैसी प्राकृतिक आपदाओ का प्रभाव भी था। शासको ने उनके निवारण करने के प्रयासो में जिस उदासीनता और सुस्ती का परिचय दिया, उससे सम्पूर्ण भारतीय जनता सरकार के प्रति अतीव रुष्ट हो गई। १८९६-९७ में दक्षिण में अत्यत भीषण दुर्भिक्ष पडा। इससे जनता को अकथनीय कष्टों का सामना करना पडा और जन-जीवन की अपार हानि हुई। अकाल से छुटकारा पाने के लिए सरकार ने जिस मदगति से काम किया और लगान क्षमा कर देने के सम्बंध में जो शिथिलता दिखाई, उसके कारण जनता ने बहुत से ऐसे कष्टो के लिए, जिनका निवारण किया जा सकता था, सरकार को ही दोषी ठहराया। १८९९-१९०० में पुन. वर्षा न हुई व एक और अकाल पड़ा जो पहले अकाल की अपेक्षा कही अधिक भीषणतर था। १८९७-९८ में पूना में प्लेग बड़े जोरो से फैली। एक तो लोग अकाल के मारे ही परेशान थे, प्लेग ने तो उनकी कमर ही तोड़ दी। सरकारी रिपोर्ट में कहा गया था कि १,७,३००० व्यक्ति इस बीमारी के कारण काल कवलित हो गये। परतु यह तो सरकारी रिपोर्ट की बात है, जब कि यथार्थत: इससे कही बड़ी सख्या में लोगो की मृत्यु हुई थी। इसमें कोई सदेह नहीं कि इस संकट का सामना करने में अधिकारियों ने अपनी ओर से कुछ उठा न रक्खा, परतु इस बीमारी को दूर करने के साधनों में सरकार ने जनसाधारण की धार्मिक धारणाओं का कोई ध्यान न रक्खा, इनके प्रयोग में बड़ी कठोरता से काम लिया और इस प्रकार से जनता के धार्मिक विश्वासो को चोट पहुंचाई। जनता बडी असंतुष्ट हुई। पूना की प्लेग कमेटी के सभापति मि. रैन्ड से, जिन्होने कि प्लेग-विरोधी उपादानो के लागू करने में ब्रिटिश सैनिक दस्तो को नियुक्त किया था, जन साधारण विशेष रूप से क्रुद्ध था। इस बात का समाचार-पत्रों और भाषणों के द्वारा तीव्र विरोध किया गया। एक दिन मि. रैन्ड और एक सैनिक अधिकारी

लैफ्टिनेंट आयर्स्ट को गोली से मार दिया गया। इससे सारे भारत मे सनसनी फैल गई। सरकार ने कठोर दमन नीति से काम लिया। फलत. जनता में और भी असतोष बढा।

आर्थिक असंतोष

आम तौर पर भारत में यह अनुभव किया जाता था कि जनता को जिन कष्टो व कठिनाइयो का सामना करना पड रहा है, वे ब्रिटिश शासन की भारत के सबध में अपनाई गयी उस आर्थिक नीति के अनिवार्य परिणाम हैं जिसमे कि भारत के हितो की अपेक्षा इगलैंड के हितो को ही अधिक प्रधानता दीजाती है। इसका स्वाभाविक फल यह हुआ कि जनता के हृदय मे तीव्र से तीव्रतर ब्रिटिश विरोधी भावनाएँ जागृत हुईं। दादाभाई नौरोजी, रमेशचद्रदत्त, दीनशा एदलजी वाचा आदि की रचनाओ ने यह सिद्ध किया कि भारत की बढती हुई गरीबी का एकमात्र कारण विदेशी शासन की वह नीति है जिसके फलस्वरूप देश का धन खिच कर विलायत मे पहुचता जा रहा है। उन्होने "हमारी राष्ट्रीयता को आर्थिक व राजनीतिक नीव" प्रदान करने मे सहायता दी। भारतवर्ष के विकासोन्मुख व्यापारीवर्ग को देश की औद्योगिक उन्नति की वेदी पर बलि किया जा रहा था, इससे भारत की निर्धनता मे वृद्धि न होती तो और क्या होता ? कपास की बनी चीजो पर पहले ५% आयात कर था, वह घटाकर ३·५ ही कर दिया गया। भारतवर्ष मे तय्यार किए गये कपास के कपडो आदि पर तथाकथित 'तुल्यभूत अतःशुल्क' (Counter-Vailing Excise duty) लागू कर दिया गया। सब कृत्य प्रगट रूप से सरकार के साम्राज्यवादी शोषण की नीति का परिचय देते थे।

सुशिक्षित मध्यवर्गीय का शासन के उच्च पदो से निष्कासन कर दिया गया, अत उनके हृदयो में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति विरोध भाव की चिंगारी सुलग रही थी। लार्ड कर्जन के शासनकाल मे इस चिंगारी ने और भी तीव्र रूप धारण किया। १९०४ में लार्ड कर्जन ने घोषणा की 'उच्च सरकारी पदो पर केवल अग्रेजो की ही प्रतिष्ठा होनी चाहिए।" उन्हे इतने से ही सतोष नही हुआ, उन्होने यह कह कर कि आनुवँशिकता, शिक्षा, योग्यता और कार्यक्षमता आदि की दृष्टि से शासन के उत्तरदायित्व का भार वहन करने के लिए भारतीयो की अपेक्षा अंग्रेज अधिक उपयुक्त हैं, कटे पर नमक छिडका। लार्ड कर्जन की यह दर्पोक्ति भारत के जातीय अभिमान के ऊपर पाद-प्रहार के तुल्य थी, देशभक्त भारतीयो के लिए यह सर्वथा असहनीय थी और १८५८ मे महारानी विक्टोरिया ने जो घोषणा की थी, उसके बिल्कुल प्रतिकूल थी। कोई आश्चर्य नही कि नवयुवको ने बहुत बड़ी सख्या में इस चुनौती

को स्वीकार करने और स्वय को भारतीय भूमि से ब्रिटिश शासन को जड से उखाड फेंक देने के महत्कार्य में सलग्न कर देने का दृढ निश्चय किया। उग्र राष्ट्रीयता की नूतन चेतना को उन धार्मिक पुनरुत्थान के आदोलनो से भी प्रभूत प्रेरणा मिली जिन्होने कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चरण में भारतीय जन-जीवन को व्यापक रूप से प्रभावित किया था। विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानद और एनीबेसेंट की शिक्षाओ ने उग्र राष्ट्रीयता के नेताओ के ऊपर गम्भीर प्रभाव डाला। उग्रवादियो मे धार्मिक उत्साह विशेष रूप से था, वे भारत और उसकी जनता के पश्चिमीकरण के घोर विरोधी थे। विपिन चन्द्र पाल, बाल-गगाधर तिलक और लाला लाजपतराय आदि की उग्र राष्ट्रीयता हिन्दू धर्म की कट्टरता पर आश्रित थी। धार्मिक पुनरुत्थान को उस समय के सास्कृतिक नवजागरण से अप्रतिहत वेग प्राप्त हुआ। बकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्र नाथ टैगोर, तिलक तथा अन्यान्य सामर्थ्यवान् विचारको की रचनाओ ने भारतीयो को अपने देश पर और उसकी सस्कृति पर अभिमान करना सिखाया। उन्होने भारत की राष्ट्रीय तरगिणी को नूतन प्रवाह से आवेष्टित कर दिया। पाश्चात्य सस्कृति का प्रवेश, प्रचार और प्रसार भारतीय जनता के हृदय मे हीन-भाव का सचरण कर सकता है, अत. उसके प्रति सजग रहने की आवश्यकता है। भारत की आध्यात्मिक श्रेष्ठता में उनकी अपार निष्ठा थी और भारत के उच्च मन.शिखर के सम्मुख वे पश्चिम को एक बच्चे के समान ही समझते थे। वे चाहते थे कि भारतीय अपने देश के अतीत गौरव से प्रेरणा ग्रहण करे। राष्ट्रीयता और धार्मिक पुनरुद्धार का गठबन्धन पूर्णत. प्रगतिशील विकास नही था और हिन्दू सस्कृति पर दिया गया जोर भी खतरे से खाली नही था। परन्तु इतना असदिग्ध भाव से कहा जा सकता है कि इसने जनता को एक नवीन चेतना अथवा पुरुषोचित आत्म-निर्भरता और विदेशी शासन के प्रतिकार करने का, कष्ट सहने का और यदि आवश्यकता हो तो उत्सर्ग करने का दृढ निश्चय प्रदान किया।

धार्मिक पुनरुत्थान और सांस्कृतिक नवजागरण

लार्ड कर्जन के प्रतिगामी शासन ने भारत में सबसे अधिक असंतोष उत्पन्न किया। उन्होंने जिस साम्राज्यवादी नीति का आश्रय लिया, उससे रुष्ट होकर नव-युवक बहुत बडी सख्या में ब्रिटिश शासन के तीव्र विरोधी हो गये। कर्जन तेज़ तरार प्रकृति के व्यक्ति थे और वे अपने कुछ श्रेष्ठ प्रशासनिक सुधारो के लिए याद किये जाते हैं। परन्तु भारत मे उनका शासनकाल सतत भारत विरोधी नीति से परिपूर्ण था। कर्जन सिर से पैर तक कट्टर साम्राज्यवादी थे, भारतीयो के प्रति उनके हृदय में तीव्र अविश्वास की भावना थी और वे भारत में

कर्जन का प्रतिगामी शासन

ब्रिटिश नौकरशाही के पावो को अधिक से अधिक मजबूत करना चाहते थे। वे शासन मे यत्रतुल्य कुशलता का सचरण करना चाहते थे। अपने इस लक्ष्य को सिद्ध करने के अर्थ को उन्होने केन्द्रीकरण की नीति को अति तक पहुँचा दिया और समस्त महत्व-पूर्ण पदो पर अग्रेज पदाधिकारियो की नियुक्ति की। कृषि, शिक्षा, सफाई और सिंचाई आदि विषय प्रान्तीय सरकारो के नियत्रण में थे, कर्जन ने उनका केन्द्रीकरण करके और बहुत से विशेपज्ञो की नियुक्ति के द्वारा शासन में एकरूपता लाने का प्रयान किया। इसके अलावा वे नम्बर एक के नौकरशाह थे, वे कुशलता को सरकारी नियत्रण का पर्याय मानते थे। उनका पहला प्रहार स्थानीय स्व-शासन की सस्थाओ के उपर हुआ। वे सस्थाए लार्ड रिपन के पश्चात् से अत्यन्त तीव्र गति से उन्नति कर रही थी। लार्ड रिपन ने यह आशा व्यक्त की थी कि स्थानीय स्व-शासन की सस्थाए भारतीयो को अपने देश का शासन आप करने की कला में महत्वपूर्ण शिक्षण प्रदान करेगी। इसके प्रतिकूल कर्जन ने यह अनुभव किया कि भारतीयो को इस प्रकार की शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नही है। वे लोक-उपक्रम (Popular Initiative) को अनुत्साहित करने और स्थानीय सस्थाओ के नौकरशाहीकरण में भरोसा रखते थे। कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट (Calcutta Corporation Act of 1899) के द्वारा उनकी सरकार ने स्थानीय स्वराज्य के विकास को अवरुद्ध करने का प्रयास किया। कार्पोरेशन के सदस्यों की सख्या ५० से घटा कर २५ कर दी गई। इस परिवर्त्तन का कारण, सरकारी नीति के अनुसार यह था कि कार्पोरेशन के सदस्य व्यर्थ के वाद विवाद में लगे रहते थे और काम करने मे आवश्यकता से अधिक विलम्ब लगता था। जनताके दृष्टिकोण से यह एक्ट कार्पोरेशन को सरकारी प्रभाव मे रखने के लिए पास किया गया था और उसका उद्देश्य यह था कि भारतीय कर देनेवालो का रुपया अग्रेज मनोनीत सदस्य मनमानी ढग से खर्च कर सकें और कार्पोरेशन की नौकरियो मे यूरोपियन व यूरेशियन कर्मचारी भर दिये जायें।

कलकत्ता कार्पोरेशन एक्ट, १८९९

लार्ड कर्जन ने कुशलता और प्रबध चारुता के नाम मे विश्वविद्यालयो का भी 'सरकारीकरण' किया, अर्थात् उन्हे भी सरकारी नियत्रण में लेने की चेष्टा की। भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट के द्वारा लार्ड कर्जन ने सीनेट के सदस्यो की सख्या को कम कर दिया, सिंडीकेट और दूसरी प्रबध-समितियों के सँगठन में सशोधन किये, किसी कॉलिज की विश्वविद्यालयों द्वारा स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का अतिम निर्णय सरकार के हाथ में रक्खा और कॉलिजों के सरकारी निरीक्षण की व्यवस्था की। इस एक्ट ने विश्वविद्यालयो की अधिकाश स्वतंत्रता का, स्वायत्तता का अपहरण कर लिया और उन्हें कठोर नौकरशाही नियंत्रण में ला पटका।

भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट, १९०४

फ्रेजर के अनुसार इस कृत्य ने देश के अन्दर शक्तिशाली विरोध को जन्म दिया और शिक्षित भारतीयों को अनुभव हुआ कि "वॉयसराय का अभिप्राय विश्वविद्यालय प्रणाली पर एक प्रहार करने का है।"*

सैनिक-व्यय

कर्जन की सैनिक नीति भी सतोषप्रद न थी, उनकी सीमान्तनीति, तिब्बत और फारस की खाडी के सैनिक अभियान और भारतीय सैनिक दस्तो को चीन भेजना आदि कार्य ऐसे थे, जिनका कि भारतीय जनता ने विरोध किया क्योंकि इनका ध्येय भारतीय धनागार के मूल्य पर ब्रिटिश-साम्राज्य का विस्तार करना था। लार्ड कर्जन के शासन-काल के छठे वर्ष अर्थात् सन् १९०४ में सरकारी गुप्त समितियो का कानून पास हुआ। लार्ड कर्जन के शासनकाल का यह कृत्य भी (Official Secrets Act) देशभक्त भारतीयो की भावनाओ पर एक कुठाराघात था।

सरकारी गुप्त समितियों का कानून, १९०४

१८८९ और १८९८ के प्रारम्भिक "सरकारी गुप्त समितियो के कानूनो" ने शासन के हाथो में जो अधिकार प्रदान किये थे इसने उनमे और वृद्धि कर दी। इसके द्वारा सैनिक गुप्त बातोके अतिरिक्त, सरकार की सार्वजनिक गुप्त बातो का भी प्रकाशन दडनीय निर्धारित हुआ और पत्रकारो की वे आलोचनाए भी अपराधी बतलाई गयी जिनके कारण सरकार के प्रति सदेह या घृणा उत्पन्न होती हो। मिस्टर नेविन्सन (Nevinson) के कथनानुसार इस विधेयक के फलस्वरूप भारतीय पत्र और पत्रकार केवल वे ही बाते प्रकाशित कर सकते थे जिनको सरकार पसद करे। १८९८ के कानून में राजद्रोह की जो परिभाषा की गई थी, १९०४ के कानून ने उस परिभाषा में और अधिक विस्तार उत्पन्न किया।

कर्जन का अभिमान और भारत-विरोधी दृष्टिकोण

भारतीय जनता के प्रति अपने अभिमानी और घृणामूलक दृष्टिकोण द्वारा कर्जन ने रोष का तूफान खडा कर दिया और ब्रिटिश विरोधी भावनाओ मे वृद्धि की। उन्होने भारतीयो के प्रति अपने अविश्वास को अत्यन्त उद्धत भाषा मे व्यक्त किया और खुल्लम खुल्ला इस बात की घोषणा की कि शासन के उत्तरदायित्वो के लिए भारतीय सर्वथा अनुपयुक्त हैं। सन् १९०५ मे लार्ड कर्जन ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत भाषण मे हिन्दू और मुसलमानो के चरित्र पर भयकर आक्षेप किये और इस बात पर जोर दिया कि पाश्चात्य देशो के नैतिक आचरण मे सत्य का विशेष स्थान है और पौर्वात्य देशो के नैतिक

* रोनाल्ड रो' लाइफ ऑफ लार्ड कर्जन - खंड २, पृ. ३३२, गुरुमुख निहाल सिंह द्वारा लैंड-

आचरण में सत्य के स्थान पर मक्कारी और कूटनीतिज्ञता का प्रचार है। उनके विचारानुसार भारतीय साहित्य में भी इसी आचरण की प्रतिष्ठा है। प्राच्य देशों पर इस प्रकार का दोषारोपण नीतिमत्ता के विरुद्ध था, विशेषकर उस भाषण में जिसे उन्होने विश्व विद्यालय के कुलपति के पद से दिया था। भाषण के विरोध में समस्त देश में सार्वजनिक सभाएं की गईं। कर्जन ने भारतीयो के गर्व और आत्म सम्मान को पैरो तले रौंदा और यह घोषणा करके कि 'भारतीय राष्ट्र' नामक कोई वस्तु नहीं है असीम रोष को जन्म दिया। कांग्रेस के प्रति अपने विरोध भाव को छिपाने की उन्होंने कोई परवाह नही की और आशा प्रकट की कि उसका शीघ्र ही अन्त हो जायगा।

लार्ड कर्जन के उक्त सभी कृत्यो से भारतीय जनता के हृदय में क्रोध का दावानल सुलग रहा था और असन्तोष के बादल बडी तीव्र गति से घुमड़ रहे थे। परन्तु जिस चीज से तूफान उमडा, वह बगाल का विभाजन था और इसको लार्ड कर्जन की सबसे बडी मूर्खता के नाम से पुकारा गया है। इसमे कोई सन्देह नही कि, सरकारी

बंगाल का विभाजन १९०५

पक्ष में जो यह बताया गया कि बगाल का प्रान्त बहुत बडा हो गया है, सुशासन की दृष्टि से उसका दो भागो मे बाँटा जाना आवश्यक है, इस कथन मे कुछ सत्यता अवश्य थी। उस समय बगाल में, उडीसा व विहार भी शामिल थे और सब मिलाकर कुल प्रान्त की आबादी ८ करोड थी। यदि केवल मात्र सुशासन की ही दृष्टि से प्रान्त का विभाजन किया होता, तो औचित्यपूर्ण ठहराया जा सकता था, परन्तु कर्जन का वास्तविक उद्देश्य यह न होकर कुछ और था। कर्ज़न भाषा के आधार पर भी प्रान्त के विभाजन की आकाक्षा न रखते थे। लार्ड कर्जन की स्कीम के अनुसार बगाल दो हिस्सो मे बटा हुआ था, असली बगाल जिसकी आबादी ५ करोड ४० लाख थी और जिसमे बगाली भाषा भाषी जनो की सख्या केवल १ करोड ८० लाख थी तथा पूर्वी बगाल व आसाम जिसकी आबादी ३ करोड १० लाख थी और जिसमें २ करोड़ ५० लाख बगाली बसते थे। महत्वपूर्ण बात यह है कि पूर्वी बगाल मे मुसलमानो का बहुमत था (उनकी जनसख्या १ करोड ८० लाख थी)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बगाल का विभाजन करने मे कर्जन का प्रमुख उद्देश्य एक मुस्लिम-बहुल प्रान्त का निर्माण करना था। स्वभावत बगाल की जनता ने विभाजन को "बंगाली राष्ट्रवाद की बढती हुई दृढता के ऊपर एक सूक्ष्म आक्रमण" * समझा। वस्तुतः कर्जन देश वासियो को आपस मे लडाने की, उनमे फूट डालने की पुरानी नीति पर ही आचरण कर रहे थे। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि बगाल का विभाजन एक

मार्क्स इन इडियन कॉंस्टीट्यूशनल एंड नेशनल डेवलपमेंट में उद्धृत।

दंड था, जो बंगाल को दिया गया, इस अपराध पर कि उसने राष्ट्रीय आन्दोलन में बढ़ कर भाग लिया था। ए. सी. मजुमदार के अनुसार मुसलमानों की एक बहुत बडी सभा में कर्जन ने इस बातकी स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि बंगाल का "विभाजन करने में उसका लक्ष्य शासन मे ही सहूलियत उत्पन्न करना नही था, अपितु एक मुस्लिम प्रांत का निर्माण करना था जहा कि इस्लाम प्रबल हो।" बंगाल ने इसको अपनी बेइज्जती समझा, उसका मान भग किया गया था, और उसके साथ धूर्तता का व्यवहार किया गया था। न केवल बंगाल में ही अपितु आसेतु हिमाचल सारे देश में सनसनी फैल गई। लार्ड कर्जन के इस दुष्कृत्य का सर्वत्र ही प्रचड रूप से विरोध किया गया। जनता के व्यापक विरोध का ही यह फल था कि १९११ मे बगाल के विभाजन को रद्द कर दिया गया।

उपनिवेशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार

भारतीयो के साथ केवल भारत वर्ष में ही दुर्व्यवहार होता हो, यह बात न थी, अंग्रेजी उपनिवेशो में उनके साथ और भी अधिक अभद्र व्यवहार किया जाता था, उनकी अवस्था और भी अधिक शोचनीय थी। नैटाल, ट्रांसवाल और दक्षिणी अफ्रीका के दूसरे उपनिवेशो में उनके साथ जो दुर्व्यवहार होता था, वह अवर्णनीय है। नाना प्रकार के कठोर और अमानवीय प्रतिबन्धो के वीच उन्हें अपना जीवन यापन करना पडता था।" नैटाल मे वे मताधिकार से वचित थे। उन्हें पोल टैक्स देना पड़ता और निर्धारित स्थानों में रहना पडता था। वे सडक की पटरियो पर न चल सकते थे, रेल के डिब्बो मे अग्रेजो के साथ न बैठ सकते थे और निर्धारित काल के पश्चात् अपने घर के बाहर न निकल सकते थे। विदेशो मे भारतीयों के साथ जो दुर्व्यवहार होता था, उसका कारण क्या था ? देश भक्त भारतीयो को इस प्रश्न का यही उत्तर ज्ञात होता था कि चूकि भारत पराधीनता के पाश मे आबद्ध है, इसलिए विदेशो में उसकी सन्तति को अनादर, अपमान व लाञ्छन सहने के लिए विवश होना पड़ता है। दक्षिणी अफ्रीका में महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जिस वीरतापूर्ण आंदोलन का संचालन किया गया, भारत में उसकी भूरिशः प्रशसा हुई। इसके साथ ही साथ ब्रिटिश विरोधी भावनाएं भी तीव्र से तीव्रतर होती गई।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव

जिन तत्त्वों ने भारतीय राष्ट्रीयता को उग्रता प्रदान की उनमे कतिपय महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव भी था। गोरी जातियो की अजेयता और भारतीयो की असहायता के विचार सन् १८९४ मे इटली के अबीसीनिया से और सन् १९०५ में रूस के जापान द्वारा पराजित होने से सर्वथा दूर हो गए। मिस्र, ईरान

और टर्की आदि सभी एशियाई राष्ट्र अपनी आलस्यमयी और तन्द्रामयी निन्द्रा को त्याग कर अगडाई ले रहे थे, इन सभी देशो में स्वतन्त्रता आदोलनो का जोर था, भारत इनसे कैसे अछूता रह सकता था ? जापान ने रूस को पराजित कर सम्पूर्ण एशिया के ललाट को उन्नत कर दिया। जापान की गौरवपूर्ण विजय का कारण यही ठहराया गया कि वहा के निवासी उग्र रूप से राष्ट्रवादी हैं। भारत वर्ष के राष्ट्रवादियो को इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ ने एक नूतन आशा और नूतन निश्चय प्रदान किया। भारतीयो के हृदय मे जिस आत्महीनता की भावना ने घर कर रक्खा था, वह धीरे धीरे नष्ट होने लगी और उसके स्थान पर विदेशी शासन का विध्वस करने की भावना बलवती होनी गई।

उदारवादियों के उपायो में विश्वास की कमी

हमने ऊपर जिन बातो का उल्लेख किया है, उनसे न केवल ब्रिटिश विरोधी भावनाओ को ही तीव्र वल प्राप्त हुआ अपितु उन्होने उदार प्रतिपादित उपायो मे भी अविश्वास उत्पन्न कर दिया। तिलक, विपिन, चन्द्रपाल और लाजपतराय जैसे नये नेताओ ने अनुभव किया कि अब उदारवादियो द्वारा प्रतिपादित नीति के अवलम्बन करने से कोई लाभ नही, ब्रिटिश जनता की लोकतत्रात्मक भावनाओ पर ही भरोसा किये रहने से भारत अपना राष्ट्रीय लक्ष्य को कदापि प्राप्त नही कर सकता, यदि हम अपने राष्ट्रीय लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें ब्रिटिश नौकरशाही को राजभक्तिपूर्ण सहयोग देने की नीति का परित्याग करके, अपने पैरो पर अपने आप खडा होकर, विदेशी साम्राज्यवाद का प्राणपण से प्रतिकार करने के लिये बद्धपरिकर हो जाना चाहिये। रियायतो के लिये याचना करने की अपेक्षा राजनीतिक अधिकारो के लिये ताल ठोक कर सग्राम करने की तत्परता उग्र राष्ट्रीयता का विधायक तत्व था।

२३—महाराष्ट्र में उग्र राष्ट्रीयता

लोक मान्य बाल गंगाधर तिलक का कार्य

उग्र राष्ट्रीयता सर्वप्रथम महाराष्ट्र में उद्भूत हुई और लोकमान्य बाल गगाधर तिलक के रूप मे उसने एक श्रेष्ठ नेता प्राप्त किया। तिलक असन्दिग्ध रूप से "देशभक्तो के हियहार" थे। उनकी विलक्षण बुद्धि, अप्रतिहत इच्छा शक्ति और देश-सेवा की वेदी पर किए गये उनके अभूतपूर्व बलिदानो ने उन्हे पहले महाराष्ट्र का और वाद मे सम्पूर्ण भारत का क्षत्र-रहित सम्राट बना दिया था। अपनी गहन विद्वत्ता और अटल-अचल धर्म निष्ठा के लिये तिलक सुविख्यात

थे। पाश्चात्य दृष्टिकोण एवं संस्कृति के प्रति उनके हृदय में घोर विरक्ति थी। १८८० में उन्होंने "केसरी" (मराठी में, साप्ताहिक) और "मराठा" (अंग्रेजी साप्ताहिक) का प्रकाशन प्रारम्भ किया। राष्ट्रीयता की नूतन ज्योति को विकीर्ण करने में ये समाचार पत्र बहुत सहायक सिद्ध हुए। सन् १८८१ में कोल्हापुर राज्य के तत्कालीन कुप्रबंध के सम्बन्ध मे, मराठा और केसरी में कुछ लेख निकले थे, जिनके मूल लेखक तिलक या उनके सहयोगी आगरकर में से कोई न था। उनके कारण उक्त पत्रों के सम्पादक होने के नाते तिलक और आगरकर दोनो को १०१ दिन के कारावास का दण्ड मिला। उस कारावास ने जनता की आखो मे तिलक और उनके पत्रों का सम्मान बहुत बढा दिया।

तिलक १८८९ मे काग्रेस मे सम्मिलित हुए। उस समय उदारवादियो ने ही काग्रेस पर प्रभुत्व जमा रक्खा था। तिलक उदारवादियो की नीति से सन्तुष्ट नही थे। उन्होने अपनी शक्तियो को महाराष्ट्र के राष्ट्रीय आन्दोलन को सुसगठित करने मे लगाया। उन्होने महाराष्ट्र के नवयुवको मे, आत्म निर्भरता, आत्म बलिदान और आत्म-विश्वास की भावना को जागृत करने के विचार मे गोवध-विरोधी समितियो, अखाडो, और लाठी-क्लबो की स्थापना की, वे चाहते थे कि भारतीय जो स्वतत्रता प्राप्त करे, वह किसी की कृपाकोर के बल पर नही, अपितु अपनी ही सामर्थ्य के बूते पर। उन्होने स्वय भी अपार कष्ट सहे और अपने अनुयाइयो का प्रेम प्राप्त किया। यह भी स्मर्तव्य है कि तिलक के विरोधी उनकी कठोर और दृढ प्रकृति के कारण उनसे बहुत खार खाते थे। १८९३ में उन्होने गणपति उत्सव को सगठित किया। ऐसा करने मे उनका लक्ष्य राजनीतिक भी उतना ही था, जितना कि धार्मिक। नवयुवको को धार्मिक और देशभक्ति पूर्ण प्राणवाही जीवनधारा मे आप्लावित करने व उन्हे साहस, उत्साह एव अनुशासनपूर्वक मिल जुल कर कार्य करने की शिक्षा देने के साधन के रूप मे इस उत्सव का उपयोग किया गया। उत्सव को अपने उद्देश्य मे पूर्ण सफलता मिली।

गणपति-उत्सव

१८९५ में तिलक ने शिवा जी उत्सव प्रारम्भ किया। इस महान् वीर की स्मृति को पुन प्रतिष्ठापित करने की योजना में जिसने कि महाराष्ट्र को मुगल शासन की आधीनता से मुक्त कर स्वतत्रता के स्वर्णिम प्रभाव मे ला खडा किया था, स्पष्ट रूप से राजनीतिक उद्देश्य था। यह देश के नवयुवकों के लिये एक प्रत्यक्ष आवाहन था कि वे शिवा जी महाराज के उदाहरण को अपने सामने रक्खे,उस पर आचरण करें और ब्रिटिश शासन के बन्धन से भारत को मुक्ति दिलाए। भाषण, लाठी-प्रदर्शन जलूस, कथाए और सगीत-दल इन उत्सवो के अनिवार्य साज-बाज थे और स्वय तिलक

शिवा जी-उत्सव

के ही अनुसार उन्होंने न केवल जनता के अन्तस्तल में धार्मिक उत्साह ही जाग्रत किया, अपितु उसमें राष्ट्रीय चेतना का सचार किया और उन दिनो के जो महत्वपूर्ण प्रश्न थे, उनके प्रति जनता के अन्तस्तल में अभिरुचि उत्पन्न की।

इस प्रकार एक तो महाराष्ट्र पहले से ही क्रान्तिकारी और उग्र राष्ट्रीयता का गढ बना हुआ था, कि तभी दुर्भिक्ष और प्लेग जैसी प्राकृतिक आपत्तियो ने जनता को धर दबाया। सरकार ने जनता के कष्टो के प्रति उदासीनता का परिचय दिया, और यदि उसने इस व्यापक रोग-प्लेग के निवारण मे कुछ साधनो का प्रयोग भी किया, तो उसमे बहुत कठोरता बरती। यह एक प्रकार से जनता के क्रोधानल पर घृत छिडक देने का काम हुआ। चापेकर बन्धुद्वय जैसे क्रान्तिकारियो ने अग्रेजो के प्रति

रैंड और आयर्स्ट की हत्या व तिलक की कारावास-यात्रा १८९७

जनता के रोषानल को अधिकाधिक तीव्र किया, उसे हिंसा के लिए और "पृथ्वी को अपने शत्रुओ के जीवन रक्त से रजित कर देने के लिए" उकसाया। इस प्रकार के विध्वसात्मक भावनाओ से परिपूर्ण वातावरण मे मि० रैंड और लैफ्टिनेंट आयर्स्ट के वध की घटनाए घटित हुई। इस सम्बन्ध मे दामोदर और बालकृष्ण चापेकर को गिरफ्तार किया गया और उन्हे प्राण-दण्ड हुआ। तिलक का इस जघन्य कृत्य से किसी प्रकार का भी कोई सम्बन्ध नही था, उन्होने वस्तुत "केसरी" मे इसका खडन भी किया था। परन्तु अग्रेजी समाचार पत्रो ने तिलक के विरोध मे एक तूफान खडा कर दिया और इस आधार पर कि एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देने के लिए जिसने आतकवाद के कृत्यो को प्रोत्साहन दिया, तिलक ही उत्तरदायी हैं, उनके ऊपर अभियोग चलाने की माग की। २७ जुलाई १८९७ को राजद्रोह के अपराध पर तिलक गिरफ्तार किये गये। एक नवयुवक अग्रेज न्यायाधीश (जस्टिस स्ट्रेची) ने उनके अभियोग की सुनवाई की। जज ने पक्षपात शून्यता का कोई बहाना भी नहीं बनाया और तिलक को १८ मास के कठोर कारावास का दण्ड दिया। तिलक के साथ होने वाले इस अन्याय ने न केवल महाराष्ट्र को ही, अपितु सारे भारत को और भी अधिक उग्र कर दिया।

तिलक ने इस बात की बारम्बार चेष्टा की थी कि कांग्रेस "राजनीतिक भिक्षा-वृत्ति" वाली ढुलमुल नीति को त्याग कर किसी सशक्त और सुदृढ नीति को अपनाए परन्तु चू कि उस समय उदारवादियो का कांग्रेस पर प्रभुत्व था, अत उन्हे अपने प्रयत्नो में सफलता प्राप्त न हो सकी। तिलक और दूसरे उग्र राष्ट्रवादियो एव उदार-वादियो के मध्य जो मतभेद था, वह इतना तीव्र हो गया, कि १९०७ मे कॉंग्रेस के सूरत-अधिवेशन के अवसर पर

तिलक और सूरत की फूट १९०७

दोनो में फूट पड गई। इसके बाद वे १९१५ तक, जब तक कि दोनो दलो मे पुनरैक्य स्थापित न हो गया, काग्रेस के बाहर ही रह कर कार्य करते रहे। जब कि बगाल और दूसरे स्थानो मे बगभग विरोधी आँदोलन उग्रता की चरम सीमा पर पहुँच रहा था, जून १९०८ में तिलक को राजद्रोह के अपराध मे पुन: पकड लिया गया, क्योकि "केसरी" के 'देशका दुर्दैव'और ये उपाय टिकाऊ नही हैं, आदि कुछ लेख आपत्तिजनक समझे गये। इस बार तिलक को ६ वर्ष का कारावास-दण्ड दिया गया और उन्हें मांडले भेजा गया *। मांडले जेल मे तिलक ने अपने दो सुप्रसिद्ध ग्रथरत्नो 'दि आर्किटिक होम ऑफ दि वेदाज' एव "गीता-रहस्य" की रचना की। इन दोनो ही ग्रंथ रत्नो से तिलक के सुविस्तृत ज्ञान, ऐतिहासिक शोध-गाम्भीर्य, विचारोत्कृष्टता का परिचय मिलता है।

तिलक, सरकार की आखो में काटे की तरह खटकते थे, वे बार-बार उसके कोप-भाजन बने, उनके ऊपर असख्य आपदाएँ आई, परन्तु वे अपने निश्चय पर सदैव अडिग रहे। अपने देश की स्वतत्रता के प्रति उनके हृदय मे जो भक्ति-भाव था, कठिनाइया उसे डिगाने में असमर्थ सिद्ध हुई। तिलक ने ही देश के स्वातत्र्य योद्धाओ को यह अविस्मरणीय नारा दिया, "स्वतत्रता मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और मै उसे लेकर रहूगा।" होम-रूल आदोलन के काल मे जब कि उन्होने श्रीमती एनीबेसेंट के साथ कधे से कधा मिला कर कार्य किया, वे भारत के प्रमुखतम नेता थे।

तिलक और होमरूल आंदोलन

तिलक एडी से चोटी तक राष्ट्रवादी थे। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में उनके विराट व्यक्तित्व ने भारत के सम्पूर्ण राजनीतिक नभो-मडल को आच्छादित कर

टिप्पणी—तिलक के प्रति होने वाले इस अन्याय ने जनता को बहुत अधिक मात्रा में विक्षुब्ध कर दिया था। पुलिस के लाख प्रबन्ध होने के बावजद कई स्थानों पर दगे हो गये। सर बेलेन्टाइन शिरोल ने लिखा है—"अभियोग के बाद कई बडे दगे हुये। कभी-कभी तो इन दगो ने बड़ा भयकर रूप धारण कर लिया। कई बार तो यूरोपियनो को अपनी पिस्तौल व सैनिक दस्तो को आत्म-रक्षार्थ भीड पर गोली चलानी पडती थी......। दगो की गुरुता से इस बात का पता चलता था कि न केवल उच्चवर्गीय लोगो के ही ऊपर अपितु समाज के निम्न वर्गों के ऊपर भी तिलक का कितना जोरदार असर था।"

तिलक का चरित्र और दृष्टिकोण

रखा था। वे एक जन्मजात योद्धा एव आदर्शभूत मराठे थे। तिलक का यदि कोई एकमात्र जीवन ध्येय था तो यही कि "इस महादेश की सुषुप्त आत्मा को अपनी गहरी नीद में से जगाकर पुनः उसके जर्जरीभूत कलेवर में उस प्राणवाही जीवन धारा का सचार किया जाय, जिसके प्रताप से किसी समय उसके अतीत का भवन निर्माण हुआ था।'* अपने राजनीतिक विचारो और कार्योके लिये तिलक ने जितने कष्ट सहे,उतने उनके समकालीन अन्य किसी राजनीतिज्ञ ने नही। उनका दृष्ट्रिकोण धार्मिक था, और प्राचीन भारतीय सस्कृति में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, उस सबका वे हार्दिक समर्थन करते थे। भारत के पश्चिमीकरण से उन्हे घृणा थी और प्राचीनकाल में भारत जिस गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित था, उससे उसको पदच्युत करने का उत्तरदायित्व वे अग्रेजों के सिर मढते थे। तिलक को हम आधुनिक भारत का कृष्ण अथवा कौटिल्य कह सकते हैं। उनमे सगठन करने की अपूर्व क्षमता थी। वे साध्य वस्तु के सम्मुख साधनो को गौण समझते थे। उन्होने अपने इस विश्वास को गीता की शिक्षाओ पर आधारित किया था। उनका कथन था कि "यदि हमारे शिक्षक और निकट से निकट सम्बन्धी भी अन्याय का पक्ष ग्रहण करें, तो उनका भी बध कर देने में दोष नही है। बशर्ते कि हम यह कार्य अनासक्त भाव से करें।" तथापि तिलक ने हिंसा का प्रतिपादन कदापि नही किया क्योकि वे इस बात का अनुभव करते थे कि तत्कालीन परिस्थितियो मे हिंसा सफल नही हो सकती थी। तिलक के विचारो और उनके राजनीतिक साधनो ने उन्हें क्रान्तिकारी कॉंग्रेसियों का हियहार बना दिया। सी वाई. चिन्तामणि के अनुसार माटेग्यू (Montagu) ने एक बार कहा था"भारत मे केवल एक ही अकृत्रिम उग्र राष्ट्रवादी था, और वे थे तिलक"*। तिलक उदारवादियो के इस विचार से सहमत नही थे कि भारत अपने लक्ष्य को "स्मरण-पत्रों व प्रार्थनाओं द्वारा प्राप्त कर सकता है। उनकी यह मान्यता थी कि यदि भारत अपनी स्वतत्रता को प्राप्त करना चाहता है, तो उसके लिए सतत सघर्ष करते रहने की आवश्यकता है। उदारवादी वाणी के चाहे कितने भी धनी हों परन्तु उनमें से अधिकाश जन वैयक्तिक त्याग करने से पीछे भागते थे। तिलक में यह बात न थी। वे बड़े से बडा वैयक्तिक त्याग करने को प्रस्तुत थे। उन्होने तीन बार कारावास की यात्रा की और अपने लिए शहादत का ताज हासिल किया *।

* कृष्ण वल्लभ द्विवेदी, 'भारत-निर्माता' भाग दो, पृ० ९२।
* सी. वाई. चिन्तामणि. इ डियन पोलिटिक्स सिन्स दि म्युटिनी, पृ, ११७
* जी. एन. सिंह —लैंडमार्क्स इन इंडियन कास्टीटयूशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, पृ० १५७।

तिलक और गोखले का तुलनात्मक अध्ययन

तिलक और गोखले का तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त मनोरंजक है। दोनों ही महाराष्ट्र के यशस्वी सुपुत्र थे। परन्तु दोनो की विचार धारा और दृष्टिकोण में आकाश पाताल का अन्तर था। गाधी जी पर इन दोनों नेताओ की जो छाप पडी-वह स्मरण रखने योग्य है। "तिलक उन्हें हिमालय की तरह उच्च परन्तु अगम्य दिखाई पडे, परन्तु गोखले गगा की पवित्र धारा के सदृश प्रतीत हुए जिसमें कि वे आसानी से गोता लगा सकते थे।" पट्टाभि सीता रामय्या ने दोनो के अंतर को निम्न शब्दो में अत्यन्त हृदयग्राही ढग से स्पष्ट किया है। 'यदि हम स्थूल भाषा का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि गोखले 'नरम' थे और तिलक 'गरम'। गोखले चाहते थे कि वर्तमान विधान में सुधार कर दिया जाय, परन्तु तिलक उसके पुनर्निर्माण के पक्षपाती थे। गोखले को नौकरशाही के साथ काम करना पडता था, तो तिलक की नौकरशाही से भिडन्त रहती थी। गोखले कहते थे—जहा सम्भव हो, सहयोग करो, जहा आवश्यक हो विरोध करो। तिलक का झुकाव अडगा-नीति की तरफ था। गोखले शासन और उसके सुधार की ओर मुख्य ध्यान देते थे, तिलक राष्ट्र और उसके निर्माण को सबसे मुख्य समझते थे। गोखले का आदर्श था प्रेम और सेवा, तिलक का आदर्श था सेवा और कष्ट-सहन। गोखले विदेशियो को जीतने का उपाय करते थे, तिलक उनको हटाना चाहते थे। गोखले दूसरे की सहायता पर आधार रखते थे, तिलक स्वावलम्बन पर। गोखले उच्चवर्ग और बुद्धि जीवियो की तरफ देखते थे, तिलक सर्वसाधारण और करोडो की ओर। गोखले का अखाडा था कौंसिल-भवन-तो तिलक की अदालत थी गाव की चौपाल। गोखले अग्रेजी में लिखते थे, परन्तु तिलक मराठी में। गोखले का उद्देश्य था स्व-शासन, जिसके योग्य लोग अपने को अग्रेजो की कसौटियो पर कस कर बनावें, किन्तु तिलक का उद्देश्य था 'स्वराज्य' जो कि प्रत्येक भारतवासी का जन्म सिद्ध अधिकार है और जिसे वह विदेशियो की सहायता या बाधा की परवाह न करते हुए प्राप्त करना चाहते थे।'*

तिलक और गांधी-एक तुलना

राजनीतिक नेतृत्व एव राष्ट्र-मुक्ति-आदोलन के देन की दृष्टि से लोकमान्य तिलक की महात्मा गाधी के साथ तुलना भी अत्यन्त समीचीन एव रोचक है। लोकमान्य तिलक और महात्मा गाधी दोनो ही अपने अपने युग की सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रवादी विभतिया थी। दोनो ही नेताओ के व्यक्तित्व अपने अपने काल मे स्वतन्त्रता-सग्राम के जीवित प्रतीक थे। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भारत के

* पट्टाभि सीता रामय्याः दि हिस्ट्री ऑफ दि काग्रेस, पृ० १६६।

राजनीतिक रंगमंच पर महात्मा गाधी का जिस प्रकार एकच्छत्र आधिपत्य रहा, प्रायः उसी प्रकार प्रथम महायुद्ध के पूर्व लोकमान्य तिलक भारतीय लोक-मत के मुकुट-रहित सम्राट थे। लोकमान्य तिलक जन्मजात योद्धा थे। राजनीति में उनके आदर्श श्रीकृष्ण, कौटिल्य, शिवाजी और पेशवा थे। उनकी 'जैसे को तैसा' नीति में आस्था थी। वे साधुजनों को राजनीति के लिए अनुपयुक्त मानते थे। भारत में ब्रिटिश शासन के कृष्ण-पक्ष को उन्होने खूब अच्छी तरह समझा था। उनका अग्रेजो की न्यायपरायणता में बिल्कुल विश्वास नही था। वे कहा करत थे कि हमें स्वराज्य अग्रेजो से दान के रूप में नही मिल सकता, प्रत्युत स्वराज्य को प्राप्त करने के लिए हमें विदेशी शासको से डट कर सघर्ष करना है। वे राजनीति में साध्य और साधन के अभेद को स्वीकार नही करते थे। उनका मत था कि यदि हमारे आदर्श श्रेष्ठ हैं तो हम उनको हस्तगत करने के लिए चाहे जैसे साधनो का प्रयोग कर सकत हैं। यद्यपि तिलक का व्यक्तिगत जीवन गाधी जी के जीवन की भाति ही निर्मल और निष्कलक था, फिर भी उनके लिए राष्ट्र-हित की वेदी पर सत्य का बलिदान करना कोई बडी बात नही थी।

गाधी जी की राजनीनिक विचारधारा और कार्यपद्धति इससे भिन्न थी। वे स्वभाव मे राजनीतिज्ञ नही, प्रत्युत धार्मिक पुरुष थे। राजनीति में तो उन्हे आवश्यकतावश आना पडा था।* राजनीतिक जीवन के प्रारम्भिक काल में गाधी जी का भी उदारवादी नेताओ की भांति अग्रेजो की न्याय-परायणता में अटल विश्वास था। यद्यपि बाद मे उन्होंने भी ब्रिटिश शासन के कृष्ण स्वरूप को तिलक के समान ही हृदयगम कर लिया था। बाद में, तिलक की भाति गाधी जी भी यह कहने लगे थे कि हमें स्वराज्य दान के रूप मे नही मिल सकता, उसे प्राप्त करने के लिए हमें सघर्ष करना होगा यद्यपि वह सघर्ष अहिंसात्मक होना चाहिए। तिलक के विपरीत गांधी जी साध्य और साधन के बीच कोई विभाजक-रेखा नही मानते थे। उनका मत था कि हमें श्रेष्ठ साधनो का प्रयोग करना चाहिए। गाधी जी का साध्य और साधन के प्रश्न पर इतना प्रबल आग्रह रहता था कि यद्यपि उनकी देश-निष्ठा में किसी को रचमात्र भी संदेह नही हो सकता, वे यह कहते नही थकते थे कि मेरी दृष्टि में सत्य का स्थान देश भक्ति से ऊपर है।

गाधी जी और तिलक-दोनो के ही हृदय मे भारतीय सस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा थी। परन्तु उनकी सस्कृति विषयक मान्यताओ मे थोडी भिन्नता है। तिलक कट्टर हिंदू थे। उनकी कट्टरता इतनी बढी हुई थी कि वे हिंदू धर्म के नाम पर

---

* रोम्यो रोलाः महात्मा गाधी, पृ० २३।

बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों को भी सह लेते थे। उनका हिंदू धर्म आक्रामक हिंदू धर्म था। गाधी जी के साथ यह बात नही थी। उनके धार्मिक विश्वासों में पुराण-प्रियता अथवा अध-विश्वासो के लिए कोई स्थान नही था। उनका जीवन सर्व-धर्म-समन्वय का जीता-जागता उदाहरण था। तिलक महान् गणितज्ञ थे। उनका 'सख्या' में अधिक विश्वास था। गाँधी जी सख्या के उतने कायल नही थे। यदि वे किसी बात को ठीक समझते थे तो फिर इस बात की परवाह नही करते थे कि कोई उनके साथ है या नही। वे अकेले ही अपनी अतरात्मा की आवाज के अनुसार काम करने के लिए तयार हो जाते थे क्योंकि अतरात्मा सम्बन्धी मामलो में बहुमत के लिए स्थान नही है *।' बहुमत के निर्णय पर सीमित रूप से व्यवहार हो सकता है, अर्थात् तफसीली मामलो मेंव्यक्ति को बहुमत की बात माननी चाहिए। किंतु बहुमतका निर्णय चाहे जिस प्रकार हो, उसे मान लेना दासता है। 'बहुमत का यह अर्थ नही कि वह एक व्यक्ति की भी राय को,यदि वह ठीक है, दबा दे। एकव्यक्ति की राय को यदि वह ठीक है, बहुतो की राय की अपेक्षा अधिक महत्व देना चाहिए।*'

कतिपय आधारभूत मतभेदो के होते हुए भी तिलक और गाधी दोनो ही भारतीय स्वतत्रता-सग्राम के अप्रतिहत सेनानी थे। दोनो ने ही अपने प्रचड व्यक्तित्व से राष्ट्रीय आदोलन को नूतन गति और नूतन दिशा दी। तिलक के पूर्व राष्ट्रीय आदोलन केवल कुछ अग्रेजी पढे-लिखे आभिजात्य लोगो तक ही सीमित था। तिलक की राष्ट्रीय आदोलन को सबसे बडी देन यह है कि वे अपने साथ मध्यम वर्ग को राष्ट्रीय आदोलन में खींच लाये और इस प्रकार उन्होने राष्ट्रीय आंदोलन के क्षेत्र को विस्तृत कर दिया। गाधी जी ने तिलक के काम को और आगे बढाया। उन्होने राष्ट्रीय आदोलन को न केवल जन-आदोलन ही प्रत्युत क्रातिकारी आदोलन भी बना दिया। महात्मा गाधी के नेतृत्व मे राष्ट्रीय आदोलन का सदेश देश के एक-एक कोने में एक-एक किसान और एक-एक मजदूर के कानों मे पहुच गया। यह भारत का दुर्भाग्य ही मानना चाहिये कि जैसे ही महात्मा गाधी ने भारत की सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया, तिलक गो-लोकवासी हो गये।

२४. बंगाल में उग्र राष्ट्रीयता

वैसे तो भारत में जब से राष्ट्रीयता की लहर उठी, बंगाल उसका गढ रहा था, परन्तु लार्ड कर्जन के शासनकाल में उग्र राष्ट्रीयता की ओर उसका झुकाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा। कर्जन के भारत विरोधी विचारों और दमनमूलक कृत्यों

* यंग इण्डिया, भा० १, पृ० ८६०।
* डा. जी. एन. धावन द्वारा उद्धृतः सर्वोदय तत्वदर्शन, पृ० ३२३।

ने जनता के असंतोष की अग्नि को अधिकाधिक प्रज्ज्वलित किया। कर्जन के शासन-काल के अन्तिम दिनों में, गोखले के अनुसार जनता "सतत सन्ताप की परिस्थिति में थी।" श्रीमती एनीबेसेंट ने भी उग्र राष्ट्रीयता के जागरण के लिए कर्जन को ही उत्तरदायी ठहराया था। उन्होंने लिखा था, "कर्जन द्वारा बोए गये बीजो का अजगर के दातो की फसल के रूप मे पकना अवश्यम्भावी था।"* बगाल के विभाजन ने जनता के क्रोध को एक दम से भडका दिया। बग-भग को राष्ट्रीय एकता के ऊपर एक भयंकर कुठाराघात समझा गया। सरकार के इस दुस्कृत्य के विरोध में जो तूफान उत्पन्न हुआ, वह तब तक शान्त न हो सका, जब तक कि १९११ में बग-भग को रद्द न कर दिया गया।

लार्ड कर्जन ने बगाल का जो विभाजन किया था, उसके पीछे एक कूटनीति काम कर रही थी। बगाल-विभाजन का उद्देश्य बगाली जनता की राजनीतिक दृढता और राष्ट्रीयता की नूतन प्राणधारा को अवरुद्ध कर देना था। बगाल के विभाजन के मूल मे सरकार की असली मशा क्या है, बगाली राष्ट्रवादियो ने इसको अच्छी तरह से जान लिया था। वे इस बात को भली भाति समझ गये थे कि प्रान्त को दो भागों मे विभाजित करके सरकार हिन्दू और मुसलमानो मे फूट डालना चाहती है। कूटनीतिज्ञ कर्जन ने इस बात को अच्छी तरह से समझ लिया था कि भारतवर्ष में साम्प्रदायिक भेदभाव के बीज बो देना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। नूतन निर्मित पूर्वी बगाल और आसाम प्रान्त के गवर्नर सर बैम्पफाइल्ड फुलर के आचरण और नीति ने बगाल विभाजन के वास्तविक उद्देश्य के सम्बन्ध में बचे खुचे सन्देहो का भी निराकरण कर दिया। उन्होने हिन्दुओ के प्रति विरोध और मुसलमानो के प्रति पक्षपात की खुल्लमखुल्ला नीति अपनाई। उन्होने स्पष्ट शब्दो मे यह कह कर कि हिन्दू और मुसलमान मेरी दो पत्नियां हैं जिनमे मुसलमान मुझे अधिक प्रिय हैं, राष्ट्रीय भावनाओ को अधिकाधिक उत्तेजना प्रदान की विभाजन की योजना को १९ जुलाई, १९०५को घोषित किया गया और जनमत के सभी वर्गों के विरोध किये जाने के बावजूद भी १६ अक्टूबर १९०५ को उसे क्रियान्वित कर दिया गया। वह दिन सम्पूर्ण बंगाल में राष्ट्रीय शोक का दिन माना गया। बहुत से लोगो ने उस दिन उपवास रक्खा। बगाल-विभाजन के विरोध में सारे देश में सार्वजनिक सभाए की गई और जलूस निकाले गये। प्रत्येक कठ से 'बदे मातरम्' का स्वर सुनाई देता था और गली गली इस ध्वनि से गुन्जरित हो उठती थी। रक्षा-बन्धन उस दिन के प्रोग्राम में शामिल था। यह जनता के इस दृढ़ निश्चय का प्रतीक था कि जब

विभाजन-विरोधी आन्दोलन

* एनीबीसेंट: 'हाऊ इंडिया रॉट फार फ्रीडम,' पृ. २६।

तक खंडित प्रान्त को अखंड नही कर दिया जाता, संग्राम निरन्तर चालू रहेगा। जिन उग्र राष्ट्रवादियो ने बगाल-विभाजन-विरोधी अन्दोलन का नेतृत्व किया उनमें विपिन-चन्द्रपाल, अरविन्द घोष, उनके भाई विरेन्द्रघोष व अश्विनी कुमार दत्त आदि व्यक्ति प्रमुख थे। विपिन चन्द्र पाल ने १८८७ में काग्रेस मे प्रवेश किया था और वे राष्ट्रीय लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उदारवादियो द्वारा प्रतिपादित साधनो से सहमत नही थे। वे एक शक्तिशाली वक्ता एवं पत्रकार थे। बगाली नवयुवको के ऊपर उनका व्यापक प्रभाव था। उनकी कलम मे जबर्दस्त शक्ति थी। वे अपने आप द्वारा सपादित 'न्यू इडिया' और अरविन्द घोष द्वारा सम्पादित 'बदेमातरम्' मे अपनी रचनायें प्रकाशित किया करते थे। उनकी रचनाओ से उग्र राष्ट्रवादियो को अपूर्व प्रेरणा प्राप्त होती थी। जनसाधारण के ऊपर उनका जो गुरु-गम्भीर प्रभाव था उसके कारण सरकार उनसे डरती थी और उन्हे नापसद करती थी। १९०७ मे उन्हें मद्रास प्रेसीडेन्सी छोड देने के लिए विवश किया गया। इसका कारण यह था कि अधिकारियों ने उनके भाषणो को बहुत ही उत्तेजक एव आपत्ति-जनक समझा। विपिन चन्द्र पाल अपने उग्र राष्ट्रवादी विचारो के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य के आदर्श को अव्यावहार्य मानते थे। अरविन्द घोष के साथ कधे से कधा मिला कर पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय का वे प्रचार करते थे। बहिष्कार और स्वदेशी आदोलनो के पीछे वे एक महान् शक्ति थे। भारतीय राष्ट्रीयता के अन्दोलन मे उन्होने अपार कष्ट सहे। वे स्वावलम्बन के द्वारा स्वराज्य प्राप्त करनेके पक्ष मे थे। सन् १९०७ मे उन्हे अरविन्द घोष के अभियोग में गवाही न देने के कारण छः मास कारावास भी भुगतना पड़ा। अरविन्द घोष का राजनीतिक जीवन (१८७२-१९५०) अपनी संक्षिप्तता में भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। अरविन्द ने राजनीतिक जीवन में बहुत ही थोडे वर्ष कार्य किया था, परन्तु जो भी कार्य किया, उसके लिए इनका नाम भारत के राष्ट्रीय इतिहास में सदैव अमर रहेगा। अरविन्द उच्च से उच्च कोटि के राष्ट्र-वादी थे परन्तु उनका झुकाव उग्रता की ओर अधिक था। "वे राजनीति के आकाश में एक चमकते उल्का के समान प्रकटे और लुप्त हो गए।* राष्ट्रीयता उनके लिए एक आध्यात्मिक मिशन और धार्मिक कर्त्तव्य था। कतिपय आतकवादी कृत्यो के साथ सम्बद्ध होने के आरोप पर उन्हे गिरफ्तार किया गया और उन पर मुकदमा चलाया गया। परन्तु जिस आरोप पर इन्हे गिरफ्तार किया गया था, वह सच्चा साबित नहीं हुआ, और इसलिए इन्हें छोड दिया गया। इसके पूर्व ही कि अधिकारी पुनः अपने पजे में उन्हें जकड सके, उन्होने ब्रिटिश भारत को त्याग कर पाडीचेरी मे आश्रय

विपिन चन्द्र पाल

अरविन्द घोष

* जी. एन. सिंह: लैंडमार्क्स इन इंडियन कास्टीट्यूशनल एंड नेशनल डेवलपमेंट पृ १५२

ग्रहण किया । वहा पहुच कर श्री अरविन्द ने राजनीति से सन्यास ले लिया, एक योगाश्रम की स्थापना की और स्वय को आध्यात्मिक साधना में लवलीन कर दिया ।

राष्ट्रवाद की नूतन प्राणधारा ने बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनो में अभिव्यक्ति प्राप्त की । इन दोनों आन्दोलनो को बगाल-विभाजन के विरोध में प्रारम्भ किया गया था । इन्होंने विदेशी शासन के विरुद्ध भारत के

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन

राष्ट्रीय सघर्ष में एक नऐ अध्याय की सृष्टि की । विपिन चन्द्रपाल और सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी जैसे नेताओ ने दोनो बगालो का दौरा किया, बडी बडी सभाओ मे भाषण दिए और जनता से यह प्रतिज्ञा करवाई "ईश्वर को साक्षी देकर और भावी पीढितो की उपस्थिति मे खडे होकर हम यह गुरु-गम्भीर शपथ लेते है कि जहा तक व्यावहारिक होगा, हम घर की बनी चीजो का प्रयोग करेंगे और विदेशी वस्तुओ के उपयोग का बहिष्कार करेंगे ।" बहिष्कार और स्वदेशी के जुडवा प्रोग्राम को धार्मिक उत्साह के साथ आगे बढाया गया । ये आदोलन अपने प्रमुख उद्देश्य मे राष्ट्रीयता की भावनाओ को उत्तेजित करने में यथेष्ट रूप से सफल हुए । उन्होंने नवयुवको को अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया । स्कूलो और कालिजो के विद्यार्थी इन आन्दोलनो से सर्वाधिक प्रभावित हुए । उन्होने बडी बडी सभाए की, खूब जोशीले भाषण दिए, बदेमातरम गाया, राष्ट्रीय नारे लगाये, विदेशी वस्त्रो की दुकानो पर धरने दिए और स्थान स्थान पर विदेशी वस्त्रो की होली जलाई ।

इस आदोलन का दमन करने में सरकार ने भी अपनी ओर से कुछ उठा न रक्खा । राष्ट्रीय नेताओ और लेखको की गिरफ्तारी उन दिनो एक आम बात हो गई । १९०८ में लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक और

सरकार की दमन-नीति

विपिन चन्द्रपाल जैसे नेताओ को १८१८ के रेग्पूलेशन के अन्तर्गत, जिसे कि "कानून-रहित कानून" के नाम से सम्बोधित किया गया, निर्वासन दे दिया । नवयुवक और विद्यार्थी नौकरशाही निर्दयता के विशेष भाजन थे । शिक्षा सस्थाओ के प्रधानो को इस बात की धमकी दी गई कि यदि उन्होंने विद्यार्थियो को सरकार विरोधी हलचलो में भाग लेने से नही रोका, तो उनको जो सरकार की ओर से सहायता मिलती है, उसे बन्द कर दिया जायगा, व विश्व-विद्यालयो से उनका जो सम्बन्ध है उसे तोड दिया जायगा । पूर्वी बगाल में नौकरशाही दमन चक्र बहुत तीव्र गति से घूमा । वहां की सार्वजनिक गलियो में बदेमातरम् का गान भी गैर कानूनी घोषित किया गया । अप्रैल १९०६ मे, बंगाल प्रान्तीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन को बल- प्रयोग द्वारा तितर बितर कर दिया गया और प्रतिनिधियो को पुलिस के द्वारा मारा गया । परन्तु ज्यो ज्यो सरकार का दमन तीव्र होता गया, राष्ट्रीय योद्धाओं के उत्साह में वृद्धि हुई । सर-

कार ने अपनी दमन-नीति द्वारा उतने शहीदो को नष्ट नही किया, जितनों को कि उसने उत्पन्न किया। यह आन्दोलन अपनी तीव्र गति से न केवल बगाल में ही, अपितु सारे देश में उस समय तक चलता रहा, जब तक कि १९११ में उसे अपने उद्देश्य में सफलता न मिल गई अर्थात् बगाल का विभाजन रद्द न कर दिया गया। बगाल विभाजन के अन्त की घोषणा १२ दिसम्बर १९११ को दिल्ली में होने वाले राज्याभिषेक महोत्सव के अवसर पर स्वय सम्राट जार्ज पचम ने की। उसी समय भारत की राजधानी भी कलकत्ते से हटा कर दिल्ली को ले जाई गई। नूतन व्यवस्था के अनुसार बिहार, उडीसा और छोटा नागपुर को बगाल से अलग कर दिया गया। यद्यपि ऐसे लोग थे, जिन्हे ये बातें पसद न थी, परन्तु फिर भी बगाल में और सारे देश में, कर्जन की शरारतपूर्ण योजना की विफलता पर आम खुशियाँ मनाई गईं।

बंगाल विभाजन का अन्त, १९११

२५. लाला लाजपतराय

भारत में उग्र राष्ट्रीयता के विकास का विवरण लाला लाजपतराय के बारे में कुछ शब्द कहे बिना तो अधूरा ही रह जाता है। वे न केवल एक निस्वार्थ देशभक्त ही थे, अपितु उच्चकोटि के परोपकारी, शिक्षा-शास्त्री, धार्मिक सुधारक और सामाजिक कार्यकर्त्ता भी थे। वे आर्य समाज के प्रमुखतम स्तम्भो में से एक थे और डी॰ ए॰ वी॰ कॉलिज लाहौर की स्थापना करने में उन्होंने महत्वपूर्ण भाग लिया था। कांग्रेस के अन्दर ही 'राष्ट्रीय दल' की स्थापना करने मे उन्होने विपिन चन्द्रपाल और बाल गगाधर तिलक के साथ कधे से कधा मिला कर काम किया था। 'लाल-बाल-पाल' की त्रिमूर्ति उन दिनो राष्ट्रीय भारत में अत्यन्त लोकप्रिय थी। लाजपतराय ने काग्रेस में १८८८ में प्रवेश किया था और वे शीघ्र ही अपने समय के सुविख्यात सार्वजनिक कार्यकर्त्ता हो गये। वे उच्चकोटि के सार्वजनिक वक्ता थे। सी॰ वाई॰ चिन्तामणि ने उनके बारे मे लिखा है "मै सार्वजनिक वक्ता के रूप ने लॉयड जार्ज और लाजपतराय का एक साथ स्मरण करता हू। जनता के रोष को जाग्रत कर देने की दोनों में समान क्षमता थी।'* अपने देश के राष्ट्रीय आदर्श के प्रति लाला लाजपतराय में जो निर्भीक भक्तिभाव था, उसने उन्हें 'पजाब-केसरी' बना दिया। १९२० में वे कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

१९०५ में एक शिष्टमडल को लेकर, लाला लाजपतराय भी गोखले के साथ

* 'सी॰ वाई॰ चिन्तामणि: इण्डियन पालिटिक्स सिन्स दी म्युटिनी', पृ॰ ११८।

इङ्गलैंड गये, परन्तु वहां पहुंच कर उन्हें बड़ी निराशा हुई। वहां से आने पर बनारस अधिवेशन (दिसम्बर १९०५) के डेलीगेटों को उन्होंने साफ-साफ बता दिया कि यदि भारत स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता है, तो उसे अपने पैरो के ऊपर ही खड़ा होना पडेगा। अपने उग्र क्रान्तिवाद के कारण उन्हें असंख्य कष्ट सहने पडे। १९०८ में तिलक के साथ ही साथ उन्हें भी निर्वासित किया गया। जब वे छूटे तो सी० आई० डी० कुत्तो के समान उनके पीछे लगे रहते थे, फलतः अपने ही देश में उनका जीवन दूभर हो गया। युद्धकाल के बीच वे अमेरिका और इगलैंड मे रहे। मॉटेग्य-चेम्सफोर्ड सुधारो के पास होने के पश्चात् उन्होने 'स्वराज्य-दल' के कौंसिल-प्रवेश-प्रोग्राम का समर्थन किया। उन्होने महात्मा गाधी द्वारा प्रारम्भ किये गये असहयोग आदोलन को कदापि हार्दिक अनुमोदन नही किया। पट्टाभि सीतारामय्या के शब्दों में, लाजपतराय 'एक योद्धा थे, सत्याग्रही नही।'* साइमन-कमीशन विरोधी आंदोलन में भी उन्होने खुलकर हिस्सा लिया था। सन् १९२८ में ही, साइमन कमीशन के प्रति विरोध प्रदर्शन के समय एक गोरे सार्जेंट की लाठी के छाती पर हुये घातक प्रहार से, उसके कुछ ही दिनों उपरान्त मृत्यु हो गई। जिस दिन कि उन पर यह लाठी प्रहार हुआ था, उसी दिन सध्या के समय एक सभा में भाषण देते हुये उन्होंने कहा था "मेरे ऊपर किया गया लाठी का एक-एक प्रहार ब्रिटिश साम्राज्य के ताबूत की कील बनेगा।"

२६. उग्र राष्ट्रवादियों के सिद्धांत और साधन

उदारवादी नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह

जैसा कि हम देख चुके हैं उग्र राष्ट्रीयता उदारवादी अथवा नरम कांग्रेसी नेताओ के विरुद्ध भी उतना ही बडा विद्रोह था, जितना कि स्वय साम्राज्यवाद के विरुद्ध। उदारवादियो के प्रतिकूल उग्रवादियो का यह विश्वास था कि भारत और इगलेंड के हितो में "बेर-केर" का सम्बन्ध है और ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के साथ चाहे कितना भी सहयोग क्यो न कियाजाय, उसके द्वारा भारत अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त नही कर सकता। विपिन-चन्द्रपाल का यह मत था कि ब्रिटेन के आर्थिक हितो की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक था कि भारत पर उसका अंकुश निरन्तर बना रहे। उनके मत से युद्ध के बिना स्वतत्रता प्राप्त होना असम्भव था। सम्भवत. तिलक ही

उग्रवादियों का राजनीतिक लक्ष्य

वे पहले व्यक्ति थे जिन्होने कि स्वराज्य को राष्ट्रीय संघर्ष का लक्ष्य बतलाया, परन्तु उनके स्वराज्य की मान्यता दादाभाई नौरोजी के "स्वराज्य" अथवा गोखले द्वारा घोषित स्वायत्त शासन की धारणा से बहुत भिन्न नही

*डा. पट्टाभि सीतारामय्या : 'दि हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस,' पृ. १७२'।

थी। नेविन्सन ने तिलक को यह कहते हुये उद्धृत किया है—'अपने उद्देश्य के कारण नहीं, वरन् उसे प्राप्त करने के उपायों के कारण हमें उग्रवादियों की उपाधि मिली है। निश्चिततः यहा एक बहुत ही छोटा दल है जो ब्रिटिश शासन के तात्कालिक और समूल उन्मूलन की बात करता हैं। वह हमसे सम्बद्ध नहीं, वह अभी बहुत दूर है।'* इस दिशा में बंगाली उग्रवादी कही अधिक क्रातिकारी थे। वे ब्रिटिश शासन का सुधार करना नही, उसका अन्त करना चाहते थे। सर हेनरी कॉटन के अनुसार वे भारत वर्ष में सब प्रकार से मुक्त और स्वतत्र राष्ट्रीय शासन-प्रणाली की स्थापना करना चाहते थे। विपिन चन्द्रपाल का औपनिवेशिक स्वराज्य मे कतई विश्वास नही था क्योंकि उनके मत से औपनिवेशिक स्वराज्य उनके अपने स्वराज्य के आदर्श से भी कही अधिक अव्यावहारिक था। वे ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध तोड देने की कल्पना करते थे यद्यपि उनका यह विचार अवश्य था कि पूर्ण स्वतत्रता प्राप्त करने के बाद शायद भारत के लिये इगलेड का मित्र बन कर रहना सम्भव हो सकता है।

अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उग्रवादी जिन उपायो और साधनो का समर्थन करते थे, उनकी दृष्टि से उनमे और उदारवादियो में आकाश पाताल का अन्तर था। उदारवादी ब्रिटिश जनता की लोकतत्रात्मक प्रवृत्तियों में विश्वास रखते थे। उनका विचार था कि विशुद्ध वैधानिकवाद का आश्रय लेकर भारत को स्वतत्र किया जा सकता है। उग्रवादी इन सब बातो को आत्म-प्रवचना के अतिरिक्त कुछ न समझते थे। उग्रवादियो का तर्क था कि भारत जैसे पराधीन राष्ट्र में वैधानिक आदोलन के द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करने का स्वप्न देखना अपने आप को धोखा देना है। वैधानिक आदोलन इगलेंड मे सफल हो सकता है क्योकि वहा का शासन लोक-शासन है, वह जनता द्वारा नियन्त्रित है और अन्ततोगत्वा वहा की जनता के प्रति उत्तरदायी भी होता है। भारत मे वैधानिक आदोलन कैसे सफल होगा? यहां का शासन विदेशी है, स्वेच्छाचारी है, वह जनता के प्रति उत्तरदायी नही? जनता चाहे कितना भी गुल गपाड क्यो न मचाये, उसके कानो मे जूं भी नही रेंगेगी। तिलक ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने का निषेध किया। उन्होंने कहा कि विदेशी शासन एक अभिशाप है और नौकरशाही की नीव को हिलाने के लिये आत्म-निर्भर व स्वतन्त्र कार्य करने की आवश्यकता है।

उग्रवादियों के उपाय

विपिन चन्द्रपाल का मत था कि स्वराज्य स्वावलम्बन के द्वारा ही प्राप्तव्य है।* उग्र राष्ट्रवादी उदारवादियो द्वारा प्रतिपादित निवेदनो, प्रार्थनाओ, स्मरण पत्रो और प्रति-

टिप्पणी—विपिन चन्द्रपाल कहा करते थ कि हमें अपनी राष्ट्रीय शक्तियो

* नेविन्सन दि न्यू स्पिरिट इन इण्डिया, पृष्ठ ७२।

निधि मण्डलो की नीति में अणुमात्र भी विश्वास न करते थे, वस्तुतः वे उसे "राजनीतिक भिक्षावृत्ति" के नाम से पुकारते थे। काग्रेस के बनारस-अधिवेशन (१९०५) के अवसर पर लाला लाजपत राय ने कहा था "एक अग्रेज को भिखारी से बडी घृणा और विरक्ति होती है। मेरा बिचार है कि भिखारी है ही इस योग्य कि उससे घृणा की जाय। इसलिये हमारा कर्त्तव्य है हम अग्रेजो को दिखा दें कि अब हम भिखारी नही हैं।" तिलक ने उग्रवादी दृष्टिकोण को निम्न शब्दो में व्यक्त किया "हमारा आदर्श दया याचना नही, आत्म- निर्भरता है।" शासको के साथ राजभक्तिपूर्ण सहयोग करने के बजाय उग्रवादियो ने निष्क्रिय-प्रतिरोध (Passive Resistence) का विधात्मक प्रोग्राम राष्ट्र के सम्मुख रखा। बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन ब्रिटिश शासन के प्रति निर्भीक विरोध की नूतन प्राण धारा के प्रतीक थे। वैसे तो बहिष्कार आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्ति विदेशी वस्तुओ के ही विरुद्ध निर्दिष्ट थी, परन्तु उसमे सरकार के साथ असहयोग, और सरकारी नौकरियो, प्रतिष्ठाओ तथा उपाधियो का बहिष्कार भी शामिल था। उग्रवादी नेता दृढतापूर्वक स्वदेशी में विश्वास करते थे और जन-साधारण में उसका प्रचार करने के उद्देश्य से उन्होने देशव्यापी आन्दोलन का सगठन किया था। लाजपत राय इसको स्वदेश की मुक्ति का मार्ग समझते थे। उनकी मान्यता थी कि बहिष्कार विदेशी शासन की प्रतिष्ठा के ऊपर एक सीधा आघात है। इसके अलावा उनका यह भी विचार था कि "दूकानदारो की जाति को नैतिकता के ऊपर आश्रित तर्कों की अपेक्षा व्यापार में घाटा होने की बात अधिक प्रभावित कर सकती है।"

बहिष्कार, स्वदेशी और राष्ट्रीय-शिक्षा

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनो को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। कलकत्ते के एक एग्लो-इडियन समाचार पत्र -'दि इग्लिसमैन" ने लिखा था "यह बिल्कुल सत्य है कि कलकत्ते के गोदामो में कपडा इतना भरा हुआ है, कि वह बेचा नही जा सकता। बहुत सी मारवाड़ी फर्मे विल्कुल नष्ट हो गई हैं और कई बडी से बडी यूरोपीय-निर्यात-दुकानो को या तो बन्द कर देना पडा है अथवा उनका व्यापार बहुत ही मन्द गति पर आ गया है। बहिष्कार के रूप में राज के शत्रुओ ने देश में ब्रिटिश

का सगठन इस प्रकार से करना चाहिए कि जिससे "कोई भी वह शक्ति जो हमारे विरुद्ध खडी हो, हमारी इच्छा के सम्मुख झुकने को विवश हो जाय।" पुनः उनका कथन था कि "यदि सरकार मेरे पास आ कर कहे कि स्वराज्य ले लो तो मैं उपहार के लिये धन्यवाद देते हुए उससे कहूँगा कि मैं उस वस्तु को स्वीकार नहीं कर सकता जिसको प्राप्त करने की सामर्थ्य मेरे हाथों में नही है।"

हितों पर कुठाराघात करने का एक अत्यन्त प्रभावशाली शस्त्र पा लिया है ।"* इसके साथ ही साथ आन्दोलन ने भारतीय उद्योग को अपूर्व बल प्रदान किया और कपड़ा बुनने के उद्योग को सहायता देने के लिये एक राष्ट्रीय-कोष सगठित किया गया। केवल एक ही सार्वजनिक सभा में सुरेंद्रनाथ बेनर्जी को तुरन्त की तुरन्त ७०,००० रु० एकत्रित करने में सफलता मिली।* बहिष्कार और स्वदेशी का जुड़वा आन्दोलन राष्ट्रीय चेतना के विकास में एक महत्वपूर्ण अध्याय है। यह आन्दोलन असहयोग आदोलन का अग्रदूत था जिसको कि बाद में महात्मा गाधी ने शुरू किया था। इसने सिद्ध किया कि राजनीतिक दृष्टि से भारत चैतन्य हो चुका है। बहिष्कार और स्वदेशी ने राष्ट्रीयता आन्दोलन को सचमुच एक जन-आन्दोलन के रूप मे परिवर्तित कर दिया। बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन जनता की सक्रिय सहायता पर आश्रित थे। लाला लाजपत राय से इस आन्दोलन की महत्ता की निम्न शब्दों में व्याख्या की: "हम सरकारी भवनो से अपने मुखो को हटा कर जनता की झोपड़ियो की ओर फेरना चाहते हैं। जहां तक सरकार से अपील करने का सम्बन्ध है, अपने मुखो को हम बन्द करना चाहते है और उन्हे अपनी जनता से एक नई अपील करने के लिये खोलना चाहते हैं। यही बहिष्कार आन्दोलन का मनोविज्ञान है,यही उसकी नैतिकता और आध्यात्मिक महत्ता है ।* स्वदेशी आन्दोलन ने यह दिखा दिया कि उग्रवादियो के पास एक विध्यात्मक और रचनात्मक प्रोग्राम है। इतने से ही उग्रवादियो ने सन्तोष नही माना। उन्होने देखा कि शासन द्वारा नियत्रित शिक्षा-प्रणाली के विषाक्त वातावरण में पल कर भारतीय नवयुवको का मस्तिष्क अधिकाधिक दास्तामय होता जा रहा हैं। भारतीय नवयुवको को अग्रेजी शिक्षा के इस कुप्रभाव से बचाने के लिये उन्होने शिक्षा की एक ऐसी राष्ट्रीय प्रणाली को योजनान्वित किया जो कि राष्ट्र के द्वारा नियत्रित हो, देश के हितों के अनुकूल हो और नवयुवको में राष्ट्रीय प्रवृतियो का विकास करें।

बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलनों की महत्ता

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो के उग्रराष्ट्रवाद की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि वह धार्मिक भावना के साथ समन्वित था। अरविन्द ने घोषणा की "राष्ट्रीयता एक धर्म है और वह ईश्वर के पास से आता है।" उग्रवादी नेताओ के मस्तिष्को पर हिन्दूधर्म के पुनरुत्थान की गहरी छाप थी। "उग्रवादी नेताओ ने हिन्दुओ के वैदिक अतीत, चन्द्रगुप्त और

उग्र राष्ट्रीयता और हिन्दू-पुनरुत्थान

* ए-आर-देसाई द्वारा उद्धृतः सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म पृ० ३०७।
* जी. एन. सिंह : 'लैंडमार्क्स इन इंडयन कास्टीट्यूशनल एंड नेशनल डेवलपमेंट, पृ. १६२।
* * बुच द्वारा उद्धृतः राइज ऑफ इंडियन मिलिटेंट नेशनल लिज्म पृ.१४६।

अशोक के स्वर्णिम युगों, राणा प्रताप एवं शिवाजी के वीरतापूर्ण कृत्यो तथा सन् १८५७ की नेत्री झासी की रानी लक्ष्मीबाई के देश प्रेम की स्मृति को पुनः ताजा किया।"* यह हम पहले ही देख चुके हैं कि महाराष्ट्र में तिलक ने, जो कि पाश्चात्य सभ्यता के विरोधी थे और भारत की गौरवमयी सस्कृति से प्रेरणा ग्रहण करना चाहते थे, शिवाजी और गणपति महोत्सवो का पुनरुद्धार किया। विपिन चन्द्रपाल राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण को शक्ति-पूजा के प्राचीन आदर्श का ही पुनर्जागरण समझते थे। उन्होने लिखा "दुर्गा, काली, जगद्धात्री-भवानी आदि हिंदू शक्ति-पूजको द्वारा प्रयुक्त सभी प्रतीको ने नूतन आशय ग्रहण किया है। उन सभी पुरातन और परम्परागत देवी देवताओ को जो आधुनिक मस्तिष्क पर अपना प्रभाव खो चुके थे, अब भारतवर्ष की आत्मा और मस्तिष्क पर एक नूतन ऐतिहासिक राष्ट्रीय निर्वाचन सहित, पुनर्प्रतिस्ठापित किया गया है।"* अरविन्द के मत से "हमारे सभी आदोलनो मे स्वतत्रता ही जीवन का ध्येय है और हिन्दूधर्म ही हमारी आकाक्षाओ की पूर्ति कर सकता है।"

हिन्दूधर्म और विचार-दर्शन पर यह जो विशेष बल दिया गया, उसे सर्वथा निर्दोष नही कहा जा सकता। उसमे कई त्रुटिया थी। जहा इसने हिन्दुओ मे देशप्रेम की प्राणधारा का म चार किया, वहाँ इसमे राष्ट्रीय आदोलन के प्रति मुसलमानो मे उदासीनता ला दी। सरकारी कर्मचारियो ने मुसलमानो के खूब कान भरे, उनसे कहा कि यह जो ब्रिटिश-शासन-विरोधी आदोलन खडा किया जा रहा है, इसका उद्देश्य हिन्दू राज्य की स्थापना करना है। मुस्लिम जनता विदेशी नौकरशाही के इस बहकावे मे आ गई, वह राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति बहुत कुछ निरपेक्ष सी रही। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार उग्र राष्ट्रीयता 'सामाजिक रूप से निश्चितत प्रतिक्रियावादी" थी।

२७. उग्र राष्ट्रीयता और कांग्रेस

वैसे तो उग्र राष्ट्रीयता काग्रेस-आन्दोलन के एक अविभाज्य अग के ही रूप में उद्भावित हुई थी, परन्तु उग्रवादियो का इस सगठन में था अल्पमत ही या तथापि वे, राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाने में समर्थ हुये। वे राष्ट्रीय आन्दोलन की वेगवती धारा में मध्यमवर्गों को समाविष्ट करने में कृतकृत्य हुये और उन्होंने जनसाधारण के बीव .राष्ट्रीय चेतना का प्रचार इसने राष्ट्रीय आदोलन का क्षेत्र विस्तृत किया

* ए. आर. देसाई. सोशल बैकग्राउ ड आफ इण्डियन नेशनलिज्म, पृ० ३०० ।

* जी. एन. सिंह द्वारा उद्धृतः वही, पृ. १६५-१६६ ।

करने मे सहायता दी। विपिन चन्द्रपाल-बालगंगाधर तिलक और लाला लाजपतराय एक-एक नूतन अर्थ मे लोकनायक थे - १९०८ में तिलक को गिरफ्तार करने और उनके साथ किये गये अन्याय ने जनता को इतना विक्षुब्ध कर दिया था कि कई जगह दगे हो गये। बम्बई की मिलो के मजदूरो ने सरकार के इस कार्य के विरोध में एक व्यापक हडताल की। लेनिन ने इस हडताल को भारत के श्रमिकवर्ग की पहली राजनीतिक कार्यवाही बताया था। काग्रेस के अन्दर रह कर उग्रवादियो ने इस बात की चेष्टा की कि सगठन ब्रिटिश शासन के प्रति अपने रुख में परिवर्तन करे, कुछ उग्र रूप धारण करे और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति सक्रिय विरोध की व आत्म-निर्भरता की नीति अपनावे। काग्रेस के अन्दर कोई क्राति लाने मे तो वे असफल सिद्ध हुये परन्तु बनारस अधिवेशन (१९०५) के अवसर पर उन्होने अपने अविराम प्रयत्नो के फलस्वरूप काग्रेस को बहिष्कार और स्वदेशी का प्रोग्राम स्वीकार करने के हित तय्यार कर लिया। यहा तक कि गोखले ने भी स्वदेशी के बारे में एक उत्साहपूर्ण वक्तृता दे डाली। उन्होने कहा, "मातृभूमि के प्रति भक्ति-भाव जो कि स्वदेशी मे उच्चतम रूप से सुप्रतिष्ठित है, एक प्रभाव है—इतना गुरुगम्भीर और इतना उत्तेजक कि इसका विचारमात्र ही स्फुरण कर देता है और इसका यथार्थ सस्पर्श व्यक्ति के मन शिखर को उच्च मे उच्च कर देता है।" २२ वी काग्रेस (कलकत्ता १९०६) ने बहिष्कार और स्वदेशी के अपने अनुमोदन को

स्वराज्य

दुहराया और सभापति दादाभाई नौरोजी ने "उप निवेशो के तुल्य स्व-शासन अथवा स्वराज्य" को कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया। इसमे कोई सन्देह नही कि यह उग्रवादियो के ही दबाव का फल था परन्तु उदारवादी नेता स्वतन्त्रतार्थ सक्रिय सघर्ष का नेतृत्व करने को प्रस्तुत नही थे। वे "वर्तमान शासन-व्यवस्था मे सतत सुधार" के द्वारा वैधानिक उपायो से स्व-शासन के आदर्श को प्राप्त करने के अपने पूर्व-विश्वास पर अडिग रहे। इसके प्रतिकूल उग्रवादी ब्रिटिश शासन के समूल उच्छेदन का प्रतिपादन करते थे, वे केवल शासन सम्बन्धी सुधारो मे ही सन्तुष्ट नही थे। कॉंग्रेस के इन दोनों पक्षो के बीच मे राजनीतिक आदर्श को प्राप्त करने के उपायो के सम्बन्ध में जो मतभेद था, वह बराबर बढता ही चला गया। वैसे तो १९०६ मे ही कॉग्रेस के अन्दर फूट पड जाती, परन्तु वह तो दादा भाई नौरोजी की प्रतिष्ठा और चतुरता का फल था कि उस अवसर पर जैसे तैसे करके यह बला टल गई। परन्तु दूसरे वर्ष यह मतभेद पराकाष्ठा पर पहुँच गया।

उग्रवादी १९०७ के कांग्रेस अधिवेशन (सूरत) का सभापति तिलक को बनाना चाहते थे, परन्तु उदारवादी जिनका कि काग्रेस मे बहुमत था; इस प्रस्ताव के विरुद्ध

थे। उन्होंने अपने बहुमत का प्रयोग कर अपने मनोनीत डा० रास बिहारी घोष को कांग्रेस का सभापति बनाने में सफलता प्राप्त की। उग्रवादियो को यह प्रबल आशका थी कि उनके विरोधी बहिष्कार और स्वदेशी पर पास किये गए पहले वर्ष के प्रस्तावो को मुलायम करना चाहते हैं। दोनो ही पक्षों मे उग्रता की वृद्धि होती गई और समझौते के सारे प्रयास निष्फल हुए। अधिवेशन बडे गुलगपाडे के वातावरण मे प्रारम्भ हुआ। अधिवेशन के दूसरे दिन की सारी कार्यवाही पुलिस की उपस्थिति में सम्पन्न हुई। परन्तु सभापति अभी अपने भाषण को ठीक से शुरू भी नही कर पाये थे कि प्रतिनिधियो मे से एक प्रतिनिधि ने अपना जूता उठा कर फेंका, जो सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी को छूता हुआ सर फिरोजशाह मेहता को लगा। फिर क्या था, मानों एक युद्ध प्रारम्भ हो गया-कुर्सिया फेंकी गई और डण्डे चलने लगे, जिससे कॉंग्रेस उस दिन के लिए खतम हो गई। पुलिस को बल प्रयोग के द्वारा पंडाल खाली कराना पडा। इसके बाद नरम दल के नेता जमा हुए, उन्होने एक पृथक् 'कन्वेन्शन' का निर्माण किया, और कांग्रेस का एक ऐसा नूतन विधान बनाया कि उग्रदल के लोग उस सगठन में आ ही न सकें। फलत. उग्र दल के लोग कॉंग्रेस से बाहर निकल गए और वे इस सगठन के अन्दर तब तक शामिल नही हुए जब तक कि १९१६ में दोनो दलो के बीच पुन मेल स्थापित न हो गया।

सूरत-विच्छेद (१९०७)

२८ उग्र राष्ट्रीयता और शासन.

उदारवादी कॉंग्रेसियो के प्रति तो शासन किसी प्रकार की अनिच्छुक सहिष्णुता प्रदर्शित करता रहा परन्तु उग्रवाद की कडवी गोली को निगलना उसके लिए दु:साध्य था। उग्र राष्ट्रवादी सतत सपीडन के भाजन थे। क्रांतिकारियो का दमन करने मे जो नीति रूस की सरकार ने अपनाई थी अर्थात जिन पर क्रांतिकारी होने का अणुमात्र भी सन्देह होता, उन्हे गाडियो में भर भर कर साइबेरिया के बर्फीले मैदानो में भेज दिया जाता था, करीब करीब वही नीति भारत में उग्र राष्ट्रवादियो का दमन करने में ब्रिटिश शासन ने अपनाई।

उग्र राष्ट्रवादियों का संपीडन और दमनमूलक कानूनों का निर्माण

शासन ने कितने ही देशभक्तो को देशनिर्वासन का दड दिया और ऐसा करने में जनता की भावनाओं का कोई ध्यान नही रक्खा। नौकरशाही ने इस बात का पक्का निश्चय कर लिया था कि जैसे भी हो सके उग्र राष्ट्रीयता को फौलादी पंजे से कुचल देना है। इसी आदर्श को अपने सामने रखते हुए सरकार ने अपने दमन-शस्त्रागार को

कोई नूतन कानूनो का निर्माण कर परिपूर्ण किया। जैसे कि हम पहले ही कही चुके हैं तिलक के प्रथम कारावास के पश्चात् इन्डियन पीनल कोड में १२४ ग्र और १५३ ग्र धाराएं जोडी गई। जब कि बगाल विभाजन-विरोधी ग्रान्दोलन तूल पकड रहा था और देश के विभिन्न भागो में ग्रातकवादी हलचलों का जोर बढता जा रहा था, सरकार की ग्रोर से एक से एक बढकर दमनमूलक कानूनो का निर्माण भी जोर शोर से होने लगा। एक विशेष ग्रपराध-ग्रधिनियम (Crimes Act) ने ग्रधिकारियो को यह शक्ति दी कि वे जिन राजनीतिक सगठनो को राजद्रोहात्मक प्रवृत्तियो का सन्देहास्पद समझे उन पर प्रतिबन्ध लगा दें। इन्हे राजनीतिक ग्रपराधियो की सक्षिप्त सुनवाई (Summary Trials) करने का भी ग्रधिकार दिया गया। १६०७ मे लार्ड मिन्टो ने सभाग्रो के नियन के ग्रध्यादेश को सार्वजनिक सभाए करने के ग्रधिकार का व्यतिक्रम करते हुए घोषित किया। १६१० का प्रेस विधेयक भी एक ऐसा दुष्टतापूर्ण कृत्य था जिसने कि स्वतत्र और स्वस्थ प्रेस के विकास-मार्ग को ग्रवरुद्ध कर दिया।

तथापि सरकार इस बात को जानती थी कि राष्ट्रीय ग्रान्दोलन केवलमात्र दमन से ही नही कुचला जा सकता। जब से यह ग्रनुभव किया कि उग्रवादियो से किसी प्रकार भी मेल नही किया जा सकता तो मुस्लिम साम्प्रदायवादियो और उदार राष्ट्रवादियो को ग्रपनी ग्रोर करके ग्रपना इष्ट-साधन करना चाहा। १६०६ के इन्डियन

मार्ले-मिन्टो सुधार

कौंसिल्स एक्ट को जो कि मॉर्ले मिन्टो सुधारो के नाम से ग्रधिक प्रख्यात है पास करके उसने इस ग्रादर्श की पूर्ति की। उदारवादियो ने स्वशासन की ग्रोर एक दूसरे पग के रूप मे इन सुधारो का स्वागत किया। परन्तु इन तथाकथित सुधारो ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सूत्रपात करके राष्ट्रीय संघर्ष को जटिल कर दिया। इस प्रकार नौकरशाही ने एक ही ढेले से दो पक्षी मारने की कोशिश की। उसने उदारवादियो को ग्रपनी ग्रोर करके उग्रवादियो को ग्रपनी और राष्ट्रीय ग्रान्दोलन के क्षेत्र मे मुस्लिम साम्प्रदायिकता को उसके विरोध में खडा करके उसे दुर्बल करने की चेष्टा की।

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद पर एक दृष्टि

२६. क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की प्रकृति और साधन-प्रणाली

प्रस्तुत ग्रध्याय के प्रारम्भ में हम भारत में क्रातिकारी राष्ट्रवाद ग्रथवा ग्रातंकवादी ग्रान्दोलन की वृद्धि पर एक सरसरी निगाह डाल चुके हैं। ग्रातकवादी

उग्र राष्ट्रवाद का ही एक पहलू था, यद्यपि साधन-प्रणाली की दृष्टि से वह तिलक, विपिन चन्द्रपाल और लाजपतराय के राजनीतिक उग्रवाद से सर्वथा भिन्न था। उग्रवादी उदार राष्ट्रवादियो की राजनीतिक भिक्षावृति की नीति से असन्तुष्ट थे। उनका विचार था कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए कुछ तीखे उपायो का अवलम्बन आवश्यक है। फलतः वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सक्रिय सहयोग का प्रतिपादन करते थे। लेकिन यह सघर्ष शान्तिमय रीति से होने को था और इसमे हिंसा को कोई स्थान नही था। इसके विपरीत क्रातिकारियों का विश्वास था कि केवल शान्तिपूर्ण सघर्ष ही पर्याप्त नही है। वे हिंसा में और आतकवाद में विश्वास रखते थे।

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद और राजनीतिक उग्रवाद

क्रातिकारी राष्ट्रवाद उन्ही कारणो का परिणाम था, जिन्होने कि राजनीतिक उग्रवाद को उत्पन्न किया। इसने उन भावुक युवकों को, जो उदार राष्ट्रवादियों के ठकुरसुहाती दृष्टिकोण से सहमत नही थे और साथ ही साथ लाल-बाल-पाल द्वारा प्रतिपादित शान्तिपूर्ण आन्दोलन की साधन-प्रणाली मे भी विश्वास नही रखते थे, अपनी ओर आकृष्ट किया। क्रान्तिकारियो का विचार था कि पाशविक बल पर आधारित साम्राज्यवाद को हिंसा के बिना जड से उखाड फेंकना असभव है। ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रिया-वादी और दमनमूलक नीति ने उनके इस विचार को और पुष्ट कर दिया था। उन्होने यूरप के क्रान्तिकारी आन्दोलनो की कार्य प्रणाली का अध्ययन किया और वे जारकालीन रूस के गुप्त क्रातिकारी सगठनो की क्रियान्विति से विशेष रूप से प्रभावित हुए। उनका प्रमुख कार्यक्रम हिंसक कार्यवाहिया और राजनीतिक हत्याए करना था। ऐसा करने से, वे समझते थे कि ब्रिटिश अधिकारियो और उनके भारतीय पिछलग्गुओ के हृदय मे आतक उत्पन्न हो जायेगा और समस्त शासन यन्त्र अस्त व्यस्त हो जायेगा। अपने आन्दोलन को चलाने के लिए सरकारी खजाने लूट लेना और सशस्त्र डकैतियाँ डालना भी उनके कार्यक्रम मे शामिल था।

क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की साधन-प्रणाली

३० क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का प्रथम चरण

क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद का सबसे प्रारम्भिक केन्द्र महाराष्ट्र था, जहा उसने स्वयं को १८९९ मे रड और आयर्स्ट की दोहरी हत्याओ मे व्यक्त किया। श्याम जी कृष्ण वर्मा, वी डी सावरकर और उनके भाई गणेश सावरकर व चापेकर बन्धुद्वय इस आन्दोलन के नेता थे। उनका कहना था 'प्राण देने से पूर्व प्राण ले लो'। यह प्रतीत होता है कि रैण्ड की हत्या मे श्याम जी कृष्ण वर्मा का हाथ था। वे इस हत्या के तुरन्त बाद ही लन्दन चले गए।

महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद

सावरकर बन्धुओं ने क्रान्तिकारी अभिनव भारत समाज की स्थापना की । १९०६ में विनायक दामोदर सावरकर लन्दन पहुँचे और वहा श्याम जी कृष्ण वर्मा का हाथ बटाने लगे । उन्होने लन्दन से अपने भाई गणेश को, जो महाराष्ट्र मे आन्दोलन कार्य कर रहा था, हथियार भेजने की कोशिश की, हथियारो का पार्सल रवाना कर दिया गया । लेकिन इसके पूर्व कि वह गणेश के पास पहुँचा, गणेश को सम्राट् के विरुद्ध युद्ध छेडने के अपराध में आजीवन देश निकाले का दड दे दिया गया । प्रतिशोध की भावना से अभिनव समाज के एक सदस्य ने डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मि० जैकसन को अपनी गोली का निशाना बना डाला । अभिनव समाज कई वर्षों से अत्यन्त क्रियाशील था और पडोस के कई राज्यो व पश्चिमी भारत के बहुत से भागो में उसकी शाखाओ का एक जाल सा बिछा हुआ था ।

बंगाल में आतंकवाद

बंगाल के विभाजन ने बगाल मे आतकवाद का विस्फोट कर दिया । प्रान्त में बेकारी पहले से ही फैली हुई थी, विभाजन ने आग मे घी का काम किया और भावुक युवक बगालियो को हिंसा-पथ का पथिक बना दिया । इस आन्दोलन के नेता बारीन्द्र घोष और भूपेन्द्र नाथ दत्त थे । उन्होने हथियार उठाने और विदेशी शासन से युद्ध करने के लिए बगाल के युवक वर्ग का आह्वान करते हुए जोरदार क्रान्तिकारी प्रचार किया । उनका कथन था, "इस देश में अंग्रेजो की सख्या १ ५ लाख से अधिक नही है । प्रत्येक जिले मे अंग्रेज पदाधिकारियो की सख्या कितनी है ? यदि आप अपने सकल्प में दृढ है, तो एक ही दिन मे ब्रिटिश शासन का अन्त कर सकते हैं । अपने प्राण दे दीजिए लेकिन पहले प्राण ले लीजिए ।" उन्होने अनुशीलन समिति का सगठन किया जिसका मुख्य कार्यालय ढाका और कलकत्ते मे था व जिसकी शाखाए सम्पूर्ण बगाल मे फैली हुई थी । बगाल में आतकवादी आन्दोलन ने एक समय बहुत जोर पकड लिया था और इसके फलस्वरूप कई राजनीतिक हत्याए हुई थीं । १९०७ में आतकवाद की अग्नि-शिखा पजाब मे भी चमक उठी । यहा सरदार अजितसिंह, भाई परमानन्द, उनके अनुज बाल मुकुन्द और लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियो का सगठन किया । १९१२ मे

पंजाब में

लार्ड हार्डिग्ज के प्राण हरण का प्रयास इन्ही क्रान्तिकारियो का कार्य था पजाब में क्रान्तिकारी हलचलो को अमेरिका से वापिस आये हुए कुछ सिक्खों ने और भी मजबूत किया ।

भारत के बाहर भी भारतीय क्रान्तिकारी सक्रिय थे । इगलैण्ड में श्याम जी

कृष्ण वर्मा ने 'इण्डिया होमरूल सोसाइटी' स्थापित की, और 'इण्डियन सोशियोलोजिस्ट' नामक एक मासिक पत्र निकालना शुरू किया।

विदेशों में भारतीय क्रान्तिकारी

(१) इंगलैण्ड में

उन्होने क्रान्तिकारियो का एक छोटा सा सुसंगठित दल बनाया जिसका केन्द्र 'इण्डिया हाउस' था। बाद में, वी. डी सावरकर भी उनका हाथ बँटाने के लिए इंगलैण्ड पहुँच गए। इन नवयुवको ने भारत में काम करने वाले क्रान्तिकारियो को हथियार व क्रान्तिकारी साहित्य भेजने का प्रयास किया। पहली जुलाई १९०९ को इस दल के एक सदस्य मदनलाल ढीगडा ने 'इण्डिया हाउस' के सर विलियम विली की हत्या कर डाली। अधिकारियो के तुरन्त ही कान खडे ही गये और उन्होंने इन युवक क्रान्तिकारियो का पीछा करना शुरू कर दिया व इस छोटे मे दल को छिन्न भिन्न करने में सफलता प्राप्त की।

(२) यूरोप में

श्याम जी कृष्ण वर्मा के नेतृत्व मे भारतीय क्रान्तिकारी यूरोप के अन्य देशो में भी क्रियाशील थे। उन्हे यूरोप की कतिपय विभूतियो का भी समर्थन प्राप्त था। पेरिस की मैडम कामा का नाम इनमे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मैडम कामा 'बन्दे मातरम्' का सम्पादन करती थी। ये क्रान्तिकारी भारत मे कार्य करने वाले क्रान्तिकारियो को पुस्तके और पत्र-पत्रिकायें आदि भेजा करते थे ताकि शिक्षित युवक-वर्ग मे क्रान्तिकारी विचारधारा का सचार किया जा सके।

(३) अमेरिका में

अमेरिका में लाला हरदयाल ने क्रान्तिकारियो का सगठन किया व १९१३ मे सैन फ्रासिस्को से 'गदर' नामक एक पत्र निकालना शुरू किया। यद्यपि परिस्थितियो से विवश हो लाला हरदयाल को अमेरिका छोड कर स्विट्जरलैंड चला जाना पडा लेकिन गदर आन्दोलन में शिथिलता नही आने पायी और क्रान्तिकारी अमेरिका मे रहने वाले भारतीयो के बीच खूब प्रचार करते रहे। (गदर आन्दोलन पजाब में भी सक्रिय था। यहा उसका नेतृत्व बाबा गुरुदत्त सिंह और अमेरिका से लौट कर आये हुए दूसरे क्रान्तिकारियों ने किया)। सर वैलेन्टाइन शिरोल ने 'इडो-अमेरिकन एसोसियेशन' और 'यग इडिया एसोसियेशन' नामक दो सस्थाओ की भी चर्चा की है। इनमें पहली तो एक प्रचार सस्था थी और 'फ्री हिन्दुस्तान' नामक पत्र निकालती थी व दूसरी एक गुप्त संस्था थी जो आयर्लैण्ड के क्रान्तिकारी दलो की पद्धति पर बनी हुई थी। सर वैलेन्टाइन शिरोल का कथन है कि इन दोनो ही सस्थाओ का भारत की समस्त राजद्रोही संस्थाओ से सम्बन्ध स्थापित था।

३१—क्रान्तिकारी आंदोलन का उत्तरकाल

भारत के राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गाँधी के अवतरण ने क्रान्तिकारी राष्ट्र-

वादकी क्रमशः अधोगति शुरू कर दी। गाधी जी की टेकनीक ने देशभक्त भारतीयो को अतुल प्रभावित किया और आतकवाद को निष्प्रभ कर दिया - इसका यह अभिप्राय नही है कि अहिंसा के जादू ने हिंसक कार्यवाहियो का पूर्ण उत्सादन कर दिया। क्रांतिकारी भावना मूलतः समाप्त नही हुई और समय-समय पर न्यूनधिक रूप से संगठित पद्धति में राजनीतिक आतकवादकी छितरायीहुई हलचलोमें उसका विस्फोट होता रहा। इस दिशामें 'हिन्दुस्तान सोश्यलिस्ट रिपब्लिकन पार्टी' ने कुछ समय तक कार्य किया और शासको के आतंकवाद से सामना करने की कोशिश की। सरदार भगतसिह, चन्द्रशेखर आजाद और जतीन्द्रनाथ दास जैसे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के एकनिष्ठ साधको ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अन्त करने की असफल चेष्टा में अपना सर्वस्व स्वाहा किया।

सत्याग्रह के सम्मुख आतंकवाद की निष्प्रभता

यह ठीक है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध महात्मा गाधी के शान्तिमय आदोलन ने भारत की जनता को बहुत बडे पैमाने पर अपनी ओर आकृष्ट किया लेकिन फिर भी हिंसा या उसकी धमकी राष्ट्रवादी आंदोलन की पृष्ठभूमि में सदैव विद्यमान रही और उसने अग्रेजो को भारत छोडने के लिये विवश करने मे निर्णयात्मक भाग लिया। १९४२ की क्राति, सुभाष बोस की आजाद हिन्द फौज के स्वातन्त्र्य-समर और भारतीय नौ-सेना के विद्रोह ने इस बात की स्पष्ट चेतावनी दे दी थी कि यदि अग्रेज समय रहते स्वेच्छा से भारत छोड कर नही चले जाते, तो उन्हे क्राति-विस्फोट द्वारा भारत से निकाल दिया जाता।

बीसवी सदी के प्रारम्भ में एक नूतन उग्रवाद की उद्भावना हुई। इससे भारत के राष्ट्रीय रंगमच पर नूतन नेताओ का प्रादुर्भाव हुआ। जन-साधारण के अन्दर, जो असन्तोष व्याप्त हो रहा था, उसको उन्होने व्यक्त किया। वे उदारवादियो द्वारा प्रतिपादित राजभक्ति-वाद और वैधानिक आदोलन की नीति मे विश्वास नही करते थे। वे सहयोग, प्रार्थनाओ और आवेदनो के उपायो का विरोध करते थे और उन्हें "राजनीतिक-भिक्षावृत्ति" के नाम से पुकारते थे। वे विदेशी शासन को जड़ से उखाड़ फेंक देने के लिये सक्रिय संघर्ष का समर्थन करते थे। कुछ स्थानो में उग्र राष्ट्रीयता ने आतंकवाद का भी स्वरूप धारण किया।

उग्र राष्ट्रीयता की उद्भावना कई कारणों का परिणाम थी। नौकरशाही कुशासन, दुर्भिक्ष और प्लेग जैसी प्राकृतिक आपदाओ, बुद्धिजीवी वर्ग के आर्थिक असन्तोष, विकालोन्मुख मध्यमवर्ग के प्रभाव और धार्मिक पुनरुत्थान ने जनता के

अन्तराल में विदेशी शासन के प्रति घोर घृणा की भावना उत्पन्न कर दी। लार्डकर्जन के दमन मूलक दुष्कृत्यो ने जनता के प्रचंड रोषानल पर घृत छिड़क देने का कार्य किया। उन्होने १९०५ में जनता की भावनाओं की अणुमात्र भी परवाह न करते हुए बङ्गाल को दो हिस्सों में बाट दिया। इसके विरुद्ध सारे देश में आदोलन का एक तूफान उठ खडा हुआ, और वह तब तक शान्त नही हुआ जब तक कि १९११ में बङ्ग-भग को पुनः रद्द न कर दिया गया। ब्रिटिश उपनिवेशो मे भारतीयो के साथ जो दुर्व्यवहार किया जाता था, उससे भी देशवासियो के राष्ट्रीय अभिमान पर चोट पहुँचती थी। १८९६ मे अबीसिनिया के हाथों इटली और १९०४-५ में जापान के हाथो रूस पराजित हुआ। इससे यूरोपीयो की अजेयता की कल्पना नष्ट हो गई। इन अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ ने भारतीयो को अपूर्व उत्साह प्रदान किया।

सर्व प्रथम उग्रवाद प्रमुखत. तिलक के कार्य के फलस्वरूप महाराष्ट्र में विकसित हुआ। तिलक महान् देशभक्त थे और उन्होने स्वतन्त्रता देवी पर बड़े बडे बलिदान किए। उन्होने 'केसरी' और 'मरहठा' पत्रोंको सम्पादित किया और इनके द्वारा राष्ट्रीयता की नूतन प्राण धारा को प्रसारित किया। उन्होने गणपति उत्सव (१८९३) और शिवाजी-उत्सव (१८९५) प्रारम्भ किए। इन उत्सवो के द्वारा तिलक ने महाराष्ट्र के नवयुवको को शिक्षित, सगठित और अनुशासित किया व उनमें देश हित के लिए बद्ध परिकर रहने की पुरुषार्थमयी भावना का सचरण किया। तिलक को कई बार कारावास का दंड मिला। तिलक एक गम्भीर विद्वान्, चतुर राजनीतिज्ञ और जनता के छत्ररहित सम्राट थे। उन्होने अग्रेजो से कृपाकोर की भिक्षा माँगने के बजाय आत्म निर्भरता और स्वतन्त्र कार्यवाही का पाठ पढाया। उनका उग्रवाद उन्हें गोखले के विरोध में रखता था।

बगाल मे उग्रवाद जनता द्वारा प्राणपण से विरोध किये जाने के बावजूद भी अक्टूबर १९०५ में प्रान्त के दो भागो मे विभाजित कर देने के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ था। बगाल के दोनो भागो में एक तीव्र आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। बहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन बग-भग -विरोधी आन्दोलन के ही जात थे। विपिन चन्द्रपाल, अरविन्द घोष और अश्वनी कुमारदत्त बगाली उग्रवाद के प्रमुख नेताओ में से थे। पजाब केसरी लाला लाजपत राय एक दूसरे महत्वपूर्ण उग्रवादी नेता थे।

उग्रवाद उस उदारवादी नेतृत्व के प्रति जो ब्रिटिश जाति की न्याय-निष्ठा मे विश्वास करता था और अपनी राजभक्ति की घोषणा करते न थकता था, एक सबल क्रांति थी। उदारवादियो का विश्वास था कि वे विशुद्ध वैधानिक उपायो के ही द्वारा भारत के राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। उग्रवादी ब्रिटिश साम्राज्यवाद

के विरुद्ध सक्रिय विरोध का समर्थन करते थे और वे स्वतन्त्रता के मंत्र के वाहक थे। उग्रवादियों द्वारा प्रारम्भ किए गए बहिष्कार और स्वदेशी के आंदोलनों ने भारत के राष्ट्रीय इतिहास में एक नूतन अध्याय की सृष्टि की। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि भारतीय दासता के बंधनों में बंधे रहने के लिए तैयार नहीं हैं और वे अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संग्राम करने को बद्ध-परिकर हैं। उग्र राष्ट्रीयता का हिन्दू पुनरुत्थान से घनिष्ट सम्बन्ध था, इस कारण उसका स्वरूप कुछ कुछ प्रतिक्रियावादी सा हो गया था।

उदारवादियों और उग्रवादियों के बढ़ते हुए मतभेद के ही कारण १९०७ में सूरत विच्छेद हुआ।

उग्र राष्ट्रवाद का एक पहलू क्रांतिकारी राष्ट्रवाद था। क्रांतिकारियों का शांतिपूर्ण आन्दोलन में विश्वास नहीं था। वे हिंसक कार्यक्रम के अनुयायी थे। यह आंदोलन सबसे पहले महाराष्ट्र में प्रकट हुआ। श्याम जी कृष्ण वर्मा और सावरकर बन्धुओं ने इसका संगठन किया। बंगाल में इसका विस्फोट बंग-भंग के दिनों में हुआ। वरीन्द्र घोष और भूपेन्द्रनाथ दत्त इसके शक्तिशाली नेता थे। इसी समय के आस पास पंजाब में भी क्रांतिकारी समितियां स्थापित हुईं। भारतीय क्रांतिकारियों ने भारत के बाहर यूरोप और अमरीका में भी काम किया। भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन के क्षेत्र में महात्मा गांधी के अवतीर्ण होने पर क्रांतिकारी आंदोलन धीरे धीरे समाप्त हो गया।

अध्याय ५

भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का प्रवेश

३२. फूट डालो और राज्य करो, औपनिवेशिक शासन का आधार

यदि भारतीय राष्ट्रीयता ब्रिटिश राज की जात थी, तो भारत के अर्वाचीन राजनीतिक जीवन की विषवृक्ष साम्प्रदायिकता भी ब्रिटिश राज की ही प्रसूति थी। भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रतिनिधियो ने राष्ट्रीय महासभा (इण्डियन नेशनल कांग्रेस) की स्थापना मे इस आशा से प्रोत्साहन दिया था कि भारतीय जनता मे जो असन्तोष घुमड रहा है और जो कालातर मे एक भयँकर विस्फोटक क्रान्ति का स्वरूप धारण कर सकता है, हमे निरन्तर उसका ज्ञान हो सके, और जहा तक सम्भव हो ऐसी किसी घटना को घटित होने से रोका जाय। उनका विश्वास था कि वे काग्रेस का प्रयोग एक ऐसे सुरक्षा-मार्ग (Safety valve) के रूप में कर लेंगे जिससे कि किसी आकस्मिक और हिसक विस्फोट से ब्रिटिश शासन की रक्षा हो सके। परन्तु नौकरशाही की यह धारणा सत्य सिद्ध नही हुई। कांग्रेस ने शीघ्र ही सरकार की कडी आलोचना शुरू कर दी और कुछ ऐसी मागें प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया जो सरकार के लिए बडी असुविधाजनक थी। फलत ब्रिटिश शासन को कांग्रेस कष्टकर प्रतीत होने लगी। फलस्वरूप अब उसे इस बात की आवश्यकता का अनुभव होने लगा कि कोई ऐसी तरकीब की जाय, जिससे कि राष्ट्रीयता के वेगवान् प्रवाह में विघ्न पड़े, और उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाय। इस विषाक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने "फूट डालो और राज्य करो" के उस परम्परागत सिद्धान्त का ही आश्रय लिया, जो कि सर्वत्र ही औपनिवेशिक राज्य का आधार रहा है। भारत वर्ष में अपने शासन की जड़ो को जमाए रखने के लिए अंग्रेजों ने इस कूट-विद्या का प्रारम्भ से ही प्रयोग किया था। हिन्दू और मुसलमानों के धार्मिक मतभेद का ब्रिटिश अधिकारियो ने यथेष्ट लाभ उठाया और राष्ट्रीयता के प्रभाव

को कम करने के लिए उसका उपयोग किया। कतिपय ब्रिटिश लेखको ने एडी-चोटी का जोर लगाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतवर्ष मे साम्प्रदायिकता के विषवृक्ष के सवर्धनार्थ ब्रिटिश शासक अणुमात्र भी दोषी नही हैं। उदाहरणार्थ कूपलैंड का कथन है, "न तो ब्रिटेन ने यह आग सुलगाई और न वह उसे पुँजीभूत रखने का ही दानवीय कृत्य करता रहा है ?" *यह कहना तो ठीक नही है कि साम्प्रदायिकता के उदभव और विस्तार का सारा का सारा दोष ही अँग्रेजो के सर मढा जा सकता है परन्तु इतना अवश्य कहना पडता है कि भारतीय राजनीति के क्षेत्र में साम्प्रदायिकता के उद्भव और विकास का मुख्य उत्तरदायित्व अँग्रेजो के कन्धो पर ही आकर पडता है। द्वितीय गोलमेज परिषद् के अवसर पर महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा कि साम्प्रदायिकता की समस्या "ब्रिटिश आगमन की समकालिक है*"। शताब्दियो से एक दूसरे के साथ मिलजुल कर निवास करते रहने के कारण भारत वर्ष के हिन्दुओ और मुसलमानो ने एक दूसरे के अनुकूल बनने और एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता की स्वस्थ भावना को सुविकसित कर लिया था यद्यपि कभी कभी इन दोनों जातियो मे मन मुटाव भी हो जाता था, फिर भी दोनो ही जातियो ने "एक दूसरे के साथ सहयोग स्थापित करने का एक आकर्षक आदर्श" सुविकसित करने में सफलता प्राप्त कर ली थी। अग्रेजो ने स्वय को इस आदर्श के खंडन-कार्य मे संलग्न कर दिया। "अपने समस्त विख्यात कौशल के साथ, जिसने कि अभी हाल तक उनकी कूटनीति को ससार में सर्वाधिक शक्तिशाली बनाये रक्खा था, अंग्रेज शासको ने अपने आप को हिन्दू और मुसलमानो के मध्य में खडा करके एक ऐसे साम्प्रदायिक त्रिभुवन की रचना का, जिसके आधार वे स्वय रहे, निश्चय किया।"*

३३—ब्रिटिश शासन में भारतीय मुसलमानों की अधोगति

भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना इस देश में मुसलमानों की स्थिति पर एक महान् कुठाराघात था। अग्रेजो की प्रभुता के पूर्व मुसलमान ही इस देश के भाग्य-विधाता थे, अपनी इस गौरवपूर्ण स्थिति से वे स्खलित हो गये और निरन्तर निर्धनता और अधोगति के महार्णव में डूबते गये। अपने शासन के प्रारम्भ से ही ईस्ट इडिया कम्पनी मुसलमानो से भय खाती थी और उसे आशँका थी कि मुसलमान अपनी अपहृत सत्ता को पुनः

एंग्लो-हिन्दू सहयोग का युग

*. कूपलैंड : दी इण्डियन प्राब्लेम (१८३३-१६३५) पृ. ३५
*. " " " पृ. ६५

*. मेहता और पटवर्धनः दि कम्यनल ट्रायंगल पृ. ५२

प्राप्त करने का स्वप्न देखते हैं। फलतः ब्रिटिश शासको ने, जैसे भी हो सका हर सभव उपाय से मुसलमानो का दमन करने की चेष्टा की और वे "अपने प्रशासन के सचालनार्थ हिन्दुओ की सहायता और राजभक्ति पाने की ओर अधिकाधिक उन्मुख हुये। भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन का प्रथम युग एंग्लो-हिन्दू-सहयोग का युग था।"* १९ वी शताब्दी के अन्तिम चरण तक अंग्रेजो ने हिन्दुओ के ऊपर अपनी कृपाकोर का वर्षण किया और जानबूझ कर मुस्लिम-विरोधी नीति अपनाई। नोमन के अनुसार "ब्रिटिश अधिकारियो ने यह निश्चय कर लिया था कि अपनी नूतन शक्ति के विस्तार और अविच्छिन्नता के लिये एकमात्र उपाय यही है कि मुसलमानो का दमन कर दिया जाय और उन्होने जानबूझ कर ऐसी नीतियों का आश्रय ग्रहण किया था जिनका उद्देश्य ही यह था कि मुसलमानों में बौद्धिक जड़ता आ जाय, उनका अध.पतन व आर्थिक बिनाश हो जाय।"* भारतवर्ष में अपने शासनकाल के पहले दौर में ब्रिटिश अधिकारियोने मुसलमानो का विरोध करने और हिन्दुओ के साथ पक्षपात करने की जो नीति अपनाई थी, उसकी सत्यता लार्ड एलेनबर्ग के इस कथन से भी प्रकट होती है, 'मुसलमान जाति मौलिक रूप से हमारे विरुद्ध है और इसलिये हमारी सच्ची नीति हिन्दुओं को प्रसन्न रखने की है।"*

हिन्दुओ को अपने अनुकूल और मुसलमानो का दमन करने की ब्रिटिश-साम्राज्यवादी नीति ने अपना मनोवाछित परिणाम प्राप्त किया। इससे मुसलमानो के आर्थिक और सास्कृतिक अध.पतन का पथ प्रशस्त किया। १८७१ में सर विलियम हटर ने लिखा था, "आर्थिक दृष्टि से वे (भारतीय मुसलमान) ब्रिटिश शासन में एक विनष्ट जाति हैं।"* उनकी दयनीय दशा का उसने निम्न प्रकार से वर्णन किया है "१७५ वर्ष पूर्व अच्छे घराने में उत्पन्न मुसलमान का गरीब होना असम्भव था, अब उसका अमीर बने रहना असम्भव है।"* बगाल मे भूमि के स्थायी बन्दोबस्त ने मुसलमानो के आर्थिक जीवन पर घातक प्रभाव डाला।

भारतीय मुसलमानों का आर्थिक विनाश

भारतीय दस्तकारियो का अधःपतन हो गया। ब्रिटिश-शासन ने मुसलमानो के लिये सरकारी नौकरियो का द्वार बन्द कर दिया। इससे उनकी गरीबी में और भी तीव्र-गति से वृद्धि होने लगी। भारतवर्ष मे ब्रिटिश-शासन की स्थापनाके पूर्व शासन के सभी

* डी. सेन: रेवोल्यूशन वाई कंसेंट, पृष्ठ १६६।
* नोमन' मुस्लिम इंडिया, पृ० २३।
ए. आर. देसाई द्वारा उद्धृतः सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पृ. ३५४।
* सर विलियम हंटरः दि इंडियन मुसलमान्स पृ० १५५
* 'वही,

महत्वपूर्ण पदों पर मुसलमान ही आसीन थे और सेना में भी उनका ही जोर था। परन्तु भारतवर्ष में ब्रिटिश-शासन की स्थापना ने इस स्थिति को उलट डाला। ऊंचे-ऊंचे पदो पर तो यूरोपियनों की प्रतिष्ठा की गई और छोटे पदो पर हिन्दुओ की। सभी चुनावो में मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दुओ के ऊपर अधिक अनुग्रह प्रदर्शित किया जाता था। जब कभी कोई जगह खाली होती थी, बहुधा यह बात स्पष्ट कर दी जाती थी कि इन जगहो पर केवल हिन्दुओ को ही नियुक्त किया जायगा।"* इस संबंधमें नोमनने स्पष्ट आंकड़े दिए हैं। १८७१में बंगालमें २१४१ गजटेड पद थे। इनमें से १२३८ पर यूरोपीय नियुक्त थे ७११ पर हिन्दू नियुक्त थे और मुसलमान केवल ९२ पर।* यह स्मर्त्तव्य है कि अंग्रेज इस साम्राज्यवादी उद्यम में हिन्दुओ को केवल छोटे साझीदारो के रूप में ही प्रयुक्त कर रहे थे उन्होंने विश्वास और महत्व के समस्त पदो से हिन्दुओं को कोसो दूर रक्खा था। बगाल में आई० सी० एस० के समस्त २६२ पदो पर केवल यूरोपीय ही नियुक्त थे - न्याय-विभाग के ४७ उच्च पदो पर भी उनकी ही सुप्रतिष्ठा थी। परन्तु मुसलमान कठोर अन्याय के भाजन थे। उन्हें सेना में जो कि उनकी आदर्श जीवन वृत्ति रही थी, कोई भी अच्छी नौकरी नही मिलती थी। हटर ने लिखा है, "कोई भी मुसलमान फौज में प्रवेश नही कर सकता। कुछ मुसलमान गवर्नर जनरल के कमीशन द्वारा अवश्य चुने जाते हैं, परन्तु जहाँ तक मैं समझता हू, महारानी के कमीशन द्वारा एक भी नही।*

अंग्रेजी शिक्षा और मुस्लिम अधोगति

अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के सूत्रपात ने मुसलमानो के आर्थिक और सास्कृतिक अध.पतन को और भी तीव्र कर दिया। मेहता और पटवर्धन के मत मे "मुसलमानों के साथ सबसे अधिक अन्याय शिक्षा के मामले में किया गया।* १८३३ में अरबी और फारसी के स्थान पर अंग्रेजी अदालती भाषा हो गई। इस परिवर्तन से मुसलमानो को बहुत चोट पहुँची। नए स्कूलो और कालिजो में भी परम्परागत भारतीय शिक्षा-प्रणाली को "सब प्रकार की सहायता से वचित कर दिया गया।" भारत वर्ष में प्राचीन काल से यह रिवाज चला आता था कि यहा के राजा शिक्षा और देश सेवा के लिए कुछ भूमि अनुदान अवश्य

---

* कलकत्ते के तत्कालीन पत्र (दुर्बीन फारसी) ने सुन्दरबन के कमिश्नर के कार्यालय में भेदभाव की इस नीति पर आचरण होने का उद्धरण दिया था।

* नोमन द्वारा उद्धृतः मुस्लिम इंडिया पृष्ठ २१

* नोमनः मुस्लिम इंडिया, पृ, २२-२३

* हंटर. वही, पृ, १५६

* मेहता और पटवर्धनः वही, पृ ८७

दे देते थे। मि० जेम्स ग्रांट, एक लगान-पदाधिकारी, के अनुसार जब अंग्रेजों ने बंगाल का शासन सूत्र सम्हाला, प्रान्त का चतुर्थांश शैक्षणिक उद्देश्यों के लिए मन्दिरों और मस्जिदों के अधिकार में था। * यह भूमि जो मन्दिरो और मस्जिदो के अधिकार में रहती थी, उससे जो आय होती वह शिक्षा के कार्यों में लगती थी, अब मन्दिरो और मस्जिदों को मिली सम्पूर्ण भूमि को अंग्रेजो ने अपने आधीन कर लिया। फलतः ये पुरानी शिक्षण सस्थाए आर्थिक दृष्टि से अपाहिज हो गई। मकतबों और पाठशालाओं को भूखे रख रख कर मार डालने का इससे अधिक प्रभाव जन्य अन्य कोई उपाय नही हो सकता था। दानशील मुसलमान पहले जो दान परम्परागत इस्लामी शिक्षा के प्रचारार्थ दिया करते थे, अंग्रेजो ने उन्हे यह पाठ पढाया कि वे उसको नूतन निर्मित स्कूलों और कालिजों के सधारण के लिए दें। ब्रिटिश अधिकारियों के इस आचरण में भी भारतीय मुसलमानो को कुचल डालने का लक्ष्य क्रिया शील था। इस प्रकार के एकत्रित दान द्वारा ही हुगली कालिज प्रारम्भ हुआ।* स्पष्ट है कि इस कालिज से जिसका कि सस्थापन और सधारण उस कोष से होता था जो कि मुसलमानो के हित की दृष्टि से दान में दिया गया था मुसलमान बहुत ही कम लाभ उठाते थे। यहा तक कि १८७२ में भी उस कालिज मे मुसलमान विद्यार्थी केवल तीन ही थे जबकि उसमें पढने वाले कुल छात्रो की सख्या तीन सौ थी।* नूतन शिक्षा ने जिन सुयोगो की सृष्टि की थी, मुसलमान उनसे लाभ उठाने की बहुत कम उत्सुकता प्रदर्शित करते थे। इसका कारण कुछ तो उनकी पुराण प्रियता थी और कुछ ब्रिटिश शासको के प्रति रोष की भावना इसके विपरीत हिन्दू नूतन शिक्षा के प्रति सुगमता पूर्वक आकृष्ट हो गए। यही कारण है कि जितने भी बौद्धिक-व्यवसाय थे, उनमें मुसलमानो की अपेक्षा हिन्दू बहुत आगे बढ़ गए। बावेन के अनुसार १८५२ और १८६८ के बीच में २४० देशी वकीलो को

---

* मेहता और पटवर्धन' दि कम्युनल ट्रायंगल पृ. ५२

* **टिप्पणी**—हुगली ट्रस्ट की स्थापना हाजी मोहम्मद मोशिन और उनकी बहिन की विशाल धनराशि से हुआ था। यह निर्धारित किया गया था कि ट्रस्ट की आय शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए प्रयुक्त की जाय। १८१७ में ट्रस्ट का नियन्त्रण सरकार ने अपने हाथों में ले लिया और इसकी आय से हुगली कालिज को सधारित किया। १,०५७,०० का सचित कोष भवन-निर्माण में व्यस्य किया गया। ५००० पौंड की वार्षिक आय को सस्था के सधारणार्थ व्यय किया जाने लगा। इतना खर्च हो जाने के पश्चात मुस्लिम शिक्षा के एक छोटे से स्कूल के लिए केवल ३५० पौंड ही अवशिष्ट रहते थे। यह काण्ड मेहता और पटवर्धन के द्वारा उद्धृत किया गया है।

दि कम्युनल ट्रायंगल, पृ. ८७-८८

* एच० सी० आउनः मुहम्मदडनिज्म इन इंडिया, पृ ८८

कलकत्ता हाई कोर्ट में प्रवृष्ट किया गया। इनमें मुसलमान केवल एक ही था।* इन्हीं सब कारणों से हिन्दुओं में राजनीतिक चेतना का विकास मुसलमानो की अपेक्षा कही अधिक शीघ्रता से हो गया। मक्षेपतः ब्रिटिश शासन ने मुसलमानों की अधोगति कर दी। नोमन के शब्दो ने "शिक्षा नीति ही बेकारी की वृद्धि और मुसलमानों के लिए अन्यान्य मार्ग बन्द कर देने को उत्तरदायी थी। सेना में उनकी भरती बहुत ही परिमित थी, कला कौशल के क्षेत्र में उन्हें पंगु और असहाय कर दिया गया था।*

इस प्रकार मुसलमानो का जो क्रमबद्ध दमन किया गया, उससे वे ब्रिटिश शासन के प्रति घोर असन्तोष की भावना से आप्लावित हो गए। १८५७ का विद्रोह तो इस असन्तोष का प्रकटीकरण था ही परन्तु उसके पूर्व वहाबी आन्दोलन के रूप में भी वह व्यक्त हुआ।

मुस्लिम असन्तोष और वहाबी आंदोलन

भारत वर्ष में वहाबी आन्दोलन मुख्यत. एक धार्मिक आन्दोलन था, यह अरब से प्रेरणा ग्रहण करता था और इसका उद्देश्य इस्लाम का शुद्धाकरण व उसके सत्य और मौलिक सिद्धान्तो की पुनर्प्रतिष्ठा करना था। परन्तु वह एक "प्रोलेटेरियन और क्रान्तिकारी"* आन्दोलन भी था। वहाबी नेताओ ने 'मुस्लिम जनसख्या को आमूड हिला डाला और उत्साह की एक तरग सम्पूर्ण देश मे व्याप्त हो गई।"* उन्होने दलित और निर्धन मुस्लिम जनता के प्रतिरोध को संगठित किया और बगाल में वे कई कृषक विद्रोहो के लिए उत्तरदायी थे। यद्यपि सरकार ने अपने फौलादी पजे से इस आन्दोलन का तो दमन कर दिया, परन्तु जिस कटुता और असन्तोष का वहाबी आन्दोलन प्रतीक था उसे सरकार न दबा सकी। वहाबी आन्दोलन को पूरे तरीके से कुचला भी न जा सका था कि वह विद्रोह के विराट विप्लव में निमज्जित हो गया। विद्रोह के सम्बन्ध में यह ठीक ही कहा गया

विद्रोह और भारतीय मुसलमान

हैं कि "वह भारत में ब्रिटिश शासन के लिए सबसे पहली और सबसे भयकर चुनौती थी।"* सन् सत्तावन के स्वातन्त्र्य समर में मुसलमानो ने प्रमुख भाग लिया। परन्तु यह विद्रोह केवल एक मुस्लिम-विद्रोह ही नही था। इसके विपरीत वह "भारत वर्ष की जनता के बीच ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेकने के लिए

* वही, पृ ४५
* नोमनः मुस्लिम इंडिया, पृ. २६-२७
* जी० एन० सिंह- लैंडमार्क्स इन इंडियन कांस्टीटयूशनल एंड नेशनल डेवलपमेंट पृ १६७
* मेहता और पटवर्धन- दि कम्युनल ट्रायगल इन इंडिया, पृ. ६५
* वही, पृ. ६६

एक शानदार सन्धि थी। इसके अन्दर महान मुगल और पेशवा, हिन्दू और मुसलमान समान रूप से अपने आपसी झगडो को भूल गए और अपने सामान्य शत्रु के विरुद्ध कधे से कधा भिडा कर लडे।* परन्तु विद्रोह के लिए ब्रिटिश अधिकारियो ने मुसलमानो को ही प्रमुख रूप से उत्तरदायी ठहराया। उन्होने विद्रोह का निर्वाचन इस प्रकार से किया कि वह मुसलमानो की मुगल शासन के पुनरुत्थान के लिये एक चेष्टा है। विद्रोह विफल हुआ और दमन का फौदाली पजा भारतीय जनता के ऊपर आ पड़ा। मुसलमान ब्रिटिश-शासन के विशेष रूप से कोपभाजन बनाये गए। ब्रिटिश अधिकारी मुसलमानो को तीव्र सन्देह की दृष्टि से देखने लगे। विद्रोह के पश्चात् भी वहाबी लोगो ने सीमान्त प्रदेश मे ब्रिटिश विरोधी युद्ध झडे को लहराए रक्खा। १८५८ के महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र मे स्पष्ट रूप से कहा गया था कि जितना भी सार्वजनिक पद हैं उनका द्वार बिना किसी जाति, वर्ण, और वश के भेदभाव के लिए समान रूप से खुला रहेगा। परन्तु व्यवहार मे घोषणा पत्र के इस बचन पर आचरण नही किया गया। सरकार मुसलमानो के साथ विरोध और हिन्दुओ के साथ पक्षपात करने की नीति पर बराबर चलती रही। फलत "शासन, वाणिज्य और उद्योग में मुसलमानो का भाग या बहुत कम था, या बिल्कुल ही नही था।*

३४. १८७१ के पश्चात् ब्रिटिश-नीति का व्यतिक्रम

ब्रिटिश-नीति में परिवर्तन

१८७१ के पश्चात् ब्रिटिश-दृष्टिकोण में निश्चित रूप से एक परिवर्तन हो गया। इस व्यतिक्रम के कारण की खोज करना कठिन नही। हम यह पहले ही कह चुके हैं कि हिन्दुओ ने अंग्रेजी-शिक्षा-पद्धति से पूरा लाभ उठाया। इसने एक ओर तो उन्हे अंग्रेजो का अनुग्रह प्राप्त करने और "नौकरशाही के पदोन्नति के मामले में"* अपने मुस्लिम भाइयों से बाजी मार ले जाने मे समर्थ किया। दूसरी ओर पाश्चात्य सस्कृति और साहित्य के प्रभाव ने उनके मध्य राष्ट्रीय भावनाओ की उद्भावना की और उनके हृदयो को राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के विचारो से आप्लावित कर दिया। इससे अंग्रेजो को थोडी परेशानी हुई। उन्होने सोचा कि अगर कही मुस्लिम जाति पर भी राष्ट्रीयता का रग चढ गया, तब तो हमारे लिये बडी कठिनाई हो जायगी। नौकरशाही के लिये यह सर्वथा स्वाभाविक था कि

---

* मेहता और पटवर्धन. दि कम्युनल ट्रायंगल इन इंडिया प, ६६
* डी. सेन. रेवोल्यूशन बाई कांसेंट, पृ० १६६।
* मेहता और पटवर्धनः वही, पृ० ५६-५७।

एंग्लो-मुस्लिम सहयोग पर बल

वह राष्ट्रीय विस्तार के लिये एक दूसरे संघर्ष के निमित्त हिन्दू-मुस्लिम गठ-बन्धन को सहन नही कर सकती थी। क्योंकि सन् ५७ मे जब कि और मुसलमान अपने सामान्य शत्रु के विरुद्ध मिल कर लडे थे, वह इसका मजा देख चुकी थी। इसलिये अब एक नवीन उपाय सोचा गया। जिन मुसलमानो को अग्रेज अब तक घृणा की दृष्टि से देखते थे, जिनका दमन करने में उन्होने कुछ उठा न रक्खा था, जिनको वे अपना हिन्दुओ की अपेक्षा कही अधिक कटु शत्रु समझते थे, उन्हीं मुसलमानो के साथ गठबन्धन स्थापित करना अब उन्हे नितान्त आवश्यक प्रतीत होने लगा। राष्ट्रवाद के नये खतरे को दृष्टि मे रखते हुये अचानक ही ब्रिटिश नौकरशाहो को यह सूझ पडा कि उनके हित मुसलमानो के साथ

सर विलियम हंटर

सयुक्त हैं। एग्लो-मुस्लिम हितो की एक रूपकता और एग्लो-मुस्लिम सहयोग की महती आवश्यकता पर यह जो बल दिया गया, वह कई प्रमुख उत्साही ब्रिटिश अधिकारियों का कार्य था। इन अधिकारियो मे सर विलियम हटर का नाम शीर्ष-स्थानीय है। उनकी पुस्तक "भारतीय मुसलमान" का १८७१ मे प्रकाशन भारतवर्ष में अग्रेजो की नीति में एक नये मोड का पता बताती है।

वे नेता जिन्होने मुसलमानो को नैराश्य और अधोगति के अधकूप से निकाल कर बाहर ला खडा किया, सर सय्यद अहमद खा थे। वे एक उच्च मुस्लिम घराने मे

प्रिंसिपल बेक और सर सय्यद अहमद खां का रूपान्तर

उत्पन्न हुये थे और प्राच्य ज्ञान के अगाध समुद्र थे। वे ब्रिटिश-शासन के न्याय-विभाग मे कई ऊचे ऊचे पदो पर नियुक्त हुये थे। ब्रिटिश-शासन के प्रति उनके हृदय में प्रशसा का भाव था। सर सय्यद अहमद खा राजभक्त अवश्य थे, परन्तु अपने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक भाग में वे कट्टर राष्ट्रवादी भी थे। विद्रोह के पश्चात उन्होने ईसाइयो और मुसलमानों के बीच धार्मिक सामीप्य लाने के लिये अनथक परिश्रम किया। उन्होने अपने सह-धर्मियो को ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति का दृष्टिकोण अपनाने और अग्रेज शासको का सरक्षण तथा अनुग्रह प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया। इन उद्देश्यो की सिद्धि के लिये उन्होने अलीगढ आदोलन प्रारम्भ किया और मोहम्मेडन एग्लो ओरियंटल कॉलिज की स्थापना की। परन्तु यह स्मरण रखना महत्वपूर्ण है कि सर सय्यद अहमद खा अपनी दृष्टि में "उस राजभक्ति को रखते थे, जो ब्रिटिश शासन की घोर आधीनता से नही, अपितु श्रेष्ठ शासन के लाभो की निष्कपट प्रशंसा से उत्पन्न

होती है।"* वे नौकरशाही नीतियों की कठोर आलोचना करने से नहीं डरते थे और भारतीयों के प्रति ब्रिटिश अधिकारियो के दुर्व्यवहार की कठोर रूप से भर्त्सना करते थे। एक बार उन्होने घोषणा की "इन अधिकारियों का मत यह है कि कोई भी भारतीय सज्जन नही हो सकता।"* वे विधान मण्डलों में भारतीयों के प्रवेश का प्रतिपादन करते थे और जनता से कहते थे कि वह भय को त्याग दे और पुरुषोचित रूप से, स्पष्टता और सत्यतापूर्वक अंग्रेजो से कह दे कि उसकी क्या कठिनाइयां हैं।" सर सय्यद अहमद खा हिन्दू-मुस्लिम-एकता के भी समर्थक थे और इन दोनों जातियो को "भारत माता की दो आखें बताते थे।"* इसी प्रकार के विचार उन्होने केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा मे व्यक्त किये और अपने एक भाषण मे यहा तक कहा कि हिन्दू शब्द मे हिन्दू और मुसलमान दोनो ही समाविष्ट हैं।"* इसका कारण उन्होने यह बताया कि दोनो ही "हिंदुस्तान के निवासी" हैं। २७ जनवरी, १८८४ को, गुरुदासपुर में दिये गये एक सार्वजनिक भाषण मे उन्होने कहा था, "हमें (हिंदुओं और मुसलमानो को) एक मन-एक प्राण हो जाना चाहिये और मिल जुल कर कार्य करना चाहिये। यदि हम सयुक्त हैं तो एक दूसरे को सम्भाल सकते हैं। यदि नही, तो एक का दूसरे के विरुद्ध प्रभाव दोनो का ही अध पतन और विनाश कर देगा।"*

जब कांग्रेस की स्थापना हुई, और भारत की राष्ट्रीयता ने एक मूर्त रूप धारण किया, तब सर सय्यद अहमद खा के विचारो में अकस्मात ही घोर परिवर्तन हो गया। वे कांग्रेस से पृथक ही नही रहे अपितु उन्होंने खुल्लम-खुल्ला उसका विरोध किया। उन्होने इस बात की भी चेष्टा की कि मुसलमान इस राष्ट्रीय आदोलन को सहायता देने से कतई हाथ खीच ले। निस्सन्देह यह एक महान् परिवर्तन था। यह कैसे हुआ? भारतीय राजनीति के समस्त विद्यार्थियो के सम्मुख यह एक जटिल समसमस्या रही है। परन्तु अब इस समस्या का समाधान हो गया है। सर सय्यद अहमद खा के इस रूपातरके पीछे ब्रिटिश नौकरशाहीका हाथ क्रियाशील था। जिस व्यक्तिने सर

---

* जी एन. सिंह द्वारा उद्धृत. वही, पृ० १६६।

* * मेहता और पटवर्धन वही, पृ० २३।

* "राष्ट्र शब्द में मैं हिंदुओ और मुसलमानो-दोनो को सम्मिलित करता हू, क्योंकि इसका केवल यही वह अभिप्राय है, जिसे मैं ग्रहण कर सकता हू। मैं इस बात को विचारने योग्य नही समझता कि उनका धार्मिक विश्वास क्या है क्योंकि हम इसमें की ऐसी कोई चीज नही देखते। हम देखते हैं वह यह है कि हम एक ही देश के निवासी हैं, हम एक ही शासन के भाजन हैं, लाभ के स्रोत सबके लिये एक से हैं और अकाल की पीडाओ को भी हम सब समान रूप से भोगते हैं। यही वे विभिन्न कारण

* जी. एन. सिंह द्वारा उद्धृत: वही, पृ० २००।

सय्यद अहमदखां को राष्ट्रीय आन्दोलनसे विमुख करके उन्हें एक पृथक्तावादी आन्दोलन का अग्रदूत बना दिया वे, एम. ए. ओ. कॉलिज के सर्वप्रथम प्रिंसिपल मि. बेक थे।

१८८५ में कॉंग्रेस की स्थापना हुई। यद्यपि काग्रेस को वायसराय लार्ड डफ-रिन का अनुमोदन प्राप्त हो गया था और उसकी माँगे भी बहुत नरम थी, फिर भी "ब्रिटिश सरकार और उसके पिट्ठुओ को उनमे विरोध की चेष्टाएं, घोर असन्तोष की कानाफूसियाँ और निश्चित रूप से नई चुनौतिया दिखाई पडती थी। जिस बात से उन्हें सबसे अधिक परेशानी हुई, वह मागो का अधिकार पत्र नही, अपितु वह सग-ठित, सामुदायिक स्थाम था, जिसकी प्रतीक काग्रेस थी।"* ब्रिटिश साम्राज्यवाद को काग्रेस अपने लिए एक सम्भावित खतरा जान पडती थी। प्रति-तोलन (Counter-poise) के सिद्धान्त पर आचरण करते हुए, उत्साही पदाधिकारियो ने राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति भार (Counter-weight) के रूप में मुस्लिम-साम्प्रदायिकता का सगठन करना प्रारम्भ कर दिया। "फूट डालो और राज्य करो" के इस खेल मे सफलता प्राप्त करने के लिए, उन्हे सर सय्यद अहमद खा के से प्रभाव और प्रतिष्ठा वाले मनुष्य के सहयोग को प्राप्त करने में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई। उन्होने सर सय्यद अहमद खा को यह विश्वास दिला

भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति भार (Counter-weight) के रूप में मुस्लिम-साम्प्रदायिकता का संगठन

दिया कि "अग्रेजो और मुसलमानो का गठबन्धन मुसलमानो की दशा को उन्नत करने मे सहायक होगा और उनका राष्ट्रवादियो से मिलना उन्हे पुनः खेद, श्रम और अश्रु में डुबा देगा। फलत. उनके (सर सय्यद अहमद खा के) अतुलनीय प्रभाव का उप-योग मुसलमानो को, विशेष रूप से उत्तरी भारत में, काग्रेस से विमुख रखने में किया गया।" * ब्रिटिश अधिकारियो ने सर सय्यद अहमद खा के, जो यह कह कर कान भरे कि काग्रेस तो एक हिन्दू-सस्था है, वह बात बिल्कुल गलत थी। न तो अपने उद्देश्यों और अपील और न अपनी रचना के ही विचार से, काग्रेस केवल हिन्दू सस्था के रूप में विकसित हुई। काग्रेस के प्रथम अधिवेशन में दो ही मुसलमान प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। पुन दूसरे अधिवेशन मे कुल प्रतिनिधियो की सख्या ४४० थी जिनमें ३३ मुसलमान थे। १८९० मे कुल प्रतिनिधियो की संख्या ७०२

जिनके आधार पर मै इन दोनो ही जातियोको जो हिंदुस्तान में निवास करती हैं, हिन्दू शब्द से अभिहित करता हू यह कहने का अभिप्राय यह है कि वे हिन्दुस्तान के निवासी हैं।" मेहता और पटवर्धन द्वारा उद्धृत वही, पृ० ७३।

* डी. सेन; रेवोल्यूशन बाई कासेंट ? पृ. १६९-७०।

* मेहता और पटवर्धन वही पृ० २३।

थी जिनमें १५६ मुसलमान थे। * काग्रेस के तृतीय अधिवेशन के सभापति एक मुसलमान, बद्रुद्दीन तय्यब जी थे। उसी वर्ष मीर श्री हुमायूं जाह ने काग्रेस को ५००० रु० का दान दिया। * इस पर भी सर सय्यद ने अपने मुसलमान साथियों को चेतावनी दी कि कांग्रेस ने भारत वर्ष में ब्रिटिश पद्धति के प्रतिनिध्यात्मक शासन की माग की हैं, उसमें मुसलमानो को बिल्कुल सहयोग नही देना चाहिए। भारत वर्ष में प्रतिनिध्यात्मक शासन का अभिप्राय है बहुमत का शासन और बहुमत के शासन का अभिप्राय है हिन्दुओ का शासन। सर सय्यद अहमद खा का तर्क था कि चूंकि हिन्दुओं का ही देश के अधिकतर भाग मे बहुमत हे, अत. वे ही सदैव सत्तारूढ रहेगे और मुसलमानों को उनकी आधीनता सहनी पडेगी। मौलाना शिबली के के अनुसार "प्रकृति उन्हें (सर सय्यद को) सम्पूर्ण भारतवर्ष का नेता बनाना चाहती थी परन्तु उनकी परिस्थितियों और वातावरण ने उन्हे मुसलमानो को राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना भाग लेने से पीछे खीच देने का साधन बना दिया।" * यह अब एक खुला रहस्य है कि इस प्रकार की परिस्थितियो और वातावरण के निर्माण में जिन्होने कि एक राष्ट्रवादी को पृथक्तावादी बना दिया, मि० बेक का बहुत बडा हाथ था। यह भी अब सन्देहातीत है कि मि० बेक ने जो कुछ भी यह कार्य किया, उसमें ब्रिटिश अधिकारियों का उनके शीश पर वरद् हस्त रहा। इंगलेंड के लोग भी जिन्हे कि भारत वर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य के निर्माण में रुचि थी, उनके इस कार्य से अनभिज्ञ नही थे। १८९९ में जबकि मि० बेक की मृत्यु हुई, सर जान स्ट्रेची ने लन्दन-टाइम्स में उन्हे निम्नलिखित श्रद्धाजलि भेंट की थी: "एक ऐसे अंग्रेज का जो एक ऐसे सुदूर देश में, साम्राज्य-निर्माण के कार्य मे व्यस्त था, देहावसान हो गया है। उसने कर्तव्य पर डटे रह कर एक सैनिक की मृत्यु पाई हैं। मुसलमान सशयालु लोग होते हैं। उन्होने शुरू मे मि० बेक को ब्रिटिश भेदिया समझकर उनका विरोध किया परन्तु उनकी (मि० बेक की) निष्कपटता और निस्वार्थता ने उन्हे मुसलमानो का विश्वास प्राप्त करने मे सफलता प्रदान की।" * मि० बेक के निष्कपट और निस्वार्थ प्रयत्नो का फल १८८७ मे स्पष्ट हुआ जबकि सर सय्यद अहमद खा ने खुल्लम-खुल्ला काग्रेस को आलोचना की। १८८९ में जब भारतवर्ष मे प्रतिनिध्यात्मक शासन की स्थापना के उद्देश्य से ब्रिटिश पार्लियामेंट चार्ल्स ब्रेडला का बिल उपस्थित हुआ, उसके विरोध में मि० बेक ने मुसलमानों

मुसलमान-रक्षा-परिषद

---

*इन आकडों को कपलैंड कृत दी इण्डियन प्रोब्लेम, (१८३३-३५) पृ. ३३ से उद्धृत किया गया है।
*. मेहता और पटवर्धन - वही पृष्ठ, २४।
*मेहता और पटवर्धन द्वारा उद्धृत - वही; पृ. २४
*. जी.एन. सिंह द्वारा उद्धृत - वही; पृ. २०१-२०२

का संगठन किया। "उन्होंने इस आधार पर कि भारतवर्ष में प्रजातंत्रात्मक सिद्धांत का सूत्रपात अनुपयुक्त है, क्योकि भारतवर्ष एक राष्ट्र नही, मुसलमानों की ओरसे बिल का विरोध करते हुए एक स्मृतिपत्र तय्यार किया।"* १८९३ में मुसलमान एंग्लो- ऑरियेन्टल रक्षा-परिषद की स्थापना में भी मि. बेक का बहुत बडा हाथ था। मि. बेक स्वयं इस सस्था के सेक्रेटरी बने। इस सस्था का उद्देश्य मुसलमानो के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना था। परन्तु यह तो केवल दिखावा मात्र था। वस्तुत इस सस्था का वास्तविक उद्देश्य मुसलमानो को काग्रेस में सम्मिलित होने से रोकना था। इस कथन की पुष्टि मि बेक के एक निबन्ध से भी होती है, जो किसी अग्रेजी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। उन्होने लिखा था. "काग्रेस का उद्देश्य यह है कि देश का राजनीतिक प्रभुत्व अग्रेजो के हाथो से हिन्दुओ के हाथो में आ जाय। मुसलमान इन मागो से कोई सहानुभूति नही रख सकते...। मुसलमानो और अग्रेजो के लिये यह वाछनीय है कि वे इन आन्दोलन-कर्ताओ से लडने और देश की आवश्यकताओ व परम्पराओ के अनुपयुक्त लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना को रोकने के उद्देश्य से परस्पर सयुक्त हो जायें। इसलिये हम शासन के प्रति राजभक्ति और एंग्लो-मुस्लिम-सहयोग का समर्थन करते हैं।"*

बंगाल का विभाजन

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटिश शासकों की नीति में आचूड परिवर्तन ही हो गया। कहा तो उनका वरदहस्त हिन्दुओ के शीश पर था, और मुसलमान उनकी दृष्टि में राजद्रोही थे और कहा अब उन्होने अपना वरदहस्त मुसलमानों के शीश पर रक्खा और हिन्दू उनकी दृष्टि मे राजद्रोही हो गये। बगाल का विभाजन "देशवासियो के विरुद्ध देशवासियो के सम-बल" (Counter-Poise of natives against natives) के कार्यक्रम में एक दूसरा कदम था। इसमें तो कोई सन्देह नही कि कर्ज़न ने शासन-सम्बन्धी सुविधाओ के आधार पर बगाल विभाजन का औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा की, परन्तु सत्य तो यह है कि बगाल-विभाजन के मूल में हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच विभाजन की खाई खोद कर राष्ट्रीयता की प्रवाहमान धारा को अवरुद्ध करने की नीति काम कर रही थी।

१९०६ के अन्त में उग्रवादियो की शक्ति बहुत बढ गई थी। अब वे इस बात का आन्दोलन करने लगे थे कि ब्रिटिश-शासन का शीघ्रातिशीघ्र अन्त हो जाना चाहिये।

---

* मेहता और पटवर्धनः वही, पृ.५८-९।

* मेहता और पटवर्धन वही, पृ. ६०।

उनकी शक्ति को अवरुद्ध करने के लिये सरकार को यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि उदार राष्ट्रवादियों को वैधानिक सुधारो की एक और खुराक पिला दी जाय और इस प्रकार उन्हे सतुष्ट रक्खा जाय। अक्टूबर १९०६ में, आगा खा के नेतृत्व मे, मुसलमानो का एक शिष्टमडल तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड मिटो की सेवा मे उपस्थित हुआ।

मुस्लिम शिष्ट-मंडल और पृथक निर्वाचन (Separate Eectorate) की मांग

शिष्टमण्डल ने, मुसलमानो को भारतीय शासन में, जनसंख्या के अनुपातानुसार नहीं वरन् उनकी वास्तविक महत्ता और साम्राज्य की रक्षा में उनकी सेवाओ के आधार पर स्थान देने का आग्रह किया और इस बात पर जोर दिया कि उन्हें स्वयं अपने प्रतिनिधियो के निर्वाचन का अधिकार होना चाहिये। शिष्टमण्डल ने इस बात का भी आग्रह किया कि देश की नौकरियो मे मुसलमानों का अधिक प्रतिनिधित्व होना चाहिये, वायसराय की कौसिल मे हिन्दुस्तानी सदस्यों की नियुक्ति के समय उनके हितो की रक्षा तथा एक मुस्लिम विश्व-विद्यालय की स्थापना होनी चाहिए। शिप्टमण्डल ने यह विश्वास दिलाया कि सरकार मुसलमानो के हितो की वृद्धि करके, उनकी राजभक्ति को और भी अधिक दृढ बना सकेगी। इस शिष्टमण्डल का वायसराय की सेवा मे उपस्थित होने का अभिप्राय था कि हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच भेद की खाई निरन्तर चौडी होती जा रही है। परन्तु इसके लिये भी भारत ब्रिटिश नौकरशाहो और उन पृथकतावादी तत्वो के निकट ही ऋणी है जो कि उनके हाथो मे खिलौने बन कर खेले। १९२३ मे मौलाना मोहम्मद अली ने ठीक ही कहा था कि यह शिष्ट-मण्डल सरकारी आदेशानुसार निर्मित हुआ था। इस सारी कार्यवाही का प्रबन्ध मि आर्चिबोल्ड ने, जो कि मि बेक के सुयोग्य उत्तराधिकारी थे और जिनके कधों पर मि बेक के अधूरे कार्य को पूरा करने का उत्तरदायित्व आ पडा था, किया था। मि आर्चिबोल्ड और वायसराय के प्राइवेट सेक्रेटरी कर्नल डनलप स्मिथ ने आपस में सारी लिखा पढी कर रखी थी। शिष्ट-मण्डल के सम्बन्ध में प्रारम्भिक प्रबन्ध की जो बातें थी, उन सबको इन व्यक्तियो ने आपस में अच्छी तरह से तय कर रक्खा था - उन दोनो ने यह भी निश्चित कर लिया था कि शिष्ट-मण्डल को वायसराय से क्या कहना है। यह मान लेना स्वाभाविक है कि वायसराय भी इन सारी कार्यवाहियों से अनभिज्ञ नही थे। १० अगस्त १९०६ के अपने पत्र में मि. आर्चिबोल्ड ने नवाब मोहशिनुल्मुल्क को सारी हिदायतें दे दी थी।* इनके अनुसार ही शिष्ट-मण्डल वायसराय की सेवा में उपस्थित हुआ। वायसराय का प्रत्युत्तर "पूर्णतः सहानुभूतिमय था।"* उन्होंने तुरन्त ही उनकी मागो को स्वीकार कर लिया। अपने उत्तर में उन्होने बल-

---

* टिप्पणी— अपने पत्र मे मि. आर्चिबोल्ड ने लिखाः "हिज एक्सेलेंसी दि वाय-

* कूपलैण्ड- दि इंडियन प्रोब्लेम,१८३३-१९३५, पृ. ३४।

पूर्वक इस बात का समाश्वासन दिया कि मुसलमानो के राजनीतिक हितो की अवश्य-मेव रक्षा की जायगी। उन्होने गुरुभार की माग को पूर्णतः स्वीकार किया और कहा "आपका यह दावा न्यायुक्त है कि आपकी स्थिति का मूल्यांकन आपकी संख्या-शक्ति के आधार पर नही, अपितु आपकी जाति की राजनीतिक महत्ता और उस सेवा के आधार पर, जो उसने साम्राज्य के प्रति की है, होना चाहिए। मै आपसे पूर्णत सह-मत हूं।"* लार्ड मिंटो ने यह भी कहा कि "मुझे आपकी भाँति इस बात का पूर्ण विश्वास है कि भारतवर्ष में चलाई गई कोई भी निर्वाचन-प्रणाली उपद्रवात्मक असफ-लता को प्राप्त होगी, यदि वहइस महाद्वीप की जन-संख्या के विभिन्न वर्गों के विश्वासों और परम्पराओं की अवहेलना करके जनता को व्यक्तिगत निर्वाचनाधिकार प्रदान करेगी।"*

सराय के प्राइवेट सेक्रेटरी कर्नल डनलप स्मिथ ने मुझे लिखा है कि हिज़ एक्सेलैसी मुस्लिम शिष्ट-मण्डल से भेंट करने के लिये प्रस्तुत हैं। उनकी राय है कि श्रीमान को एक औपचारिक पत्र लिख देना चाहिये जिसमें कि उनसे उनकी सेवा में उपस्थित होने की आज्ञा मानी जाय। इस विषय में मैं कतिपय सुझाव उपस्थित करना चाहूंगा। औपचारिक पत्र को मुसलमानो के कतिपय प्रतिनिधियों के हस्ताक्षरो-सहित भेजा जाना चाहिए। शिष्ट-मण्डल में सभी प्रान्तों के प्रतिनिधि होने चाहिए। तीसरी विचा-रणीय बात प्रतिवेदन का विषय है। मैं यहा यह सुझाव देना चाहूंगा कि प्रतिवेदन के प्रारम्भ में राजभक्ति का गम्भीर समाश्वासन होना वाछनीय है। स्वशासन की दिशा में एक कदम बढाने के सरकारी निर्णय की प्रशसा होनी चाहिये। परन्तु अपनी इस आशका को व्यक्त कर देना चाहिये कि यदि निर्वाचन के सिद्धात का सूत्रपात्र कर दिया जाता है तो वह मुस्लिम अल्प-मत के हितो में बाधक सिद्ध होगा। अत्यन्त विनय-पूर्वक यह सुझाव होना चाहिए कि मुस्लिम-लोकमत को जानने के लिये धर्म के आधार पर मनोनयन (Nomination) या प्रतिनिधित्व का सूत्रपात्र होना वाछनीय हैं। हमें यह भी कह देना चाहिये कि भारत जैसे देश में जमीदारो के मतो को काफी वज़न देना आवश्यक है। परन्तु इन सब दृष्टिकोणो में मैं पृष्ठभूमि में ही रहू, इस बात का आप सदैव ध्यान रक्खें। ये आपकी ओर से आने आवश्यक हैं। मैं आपके लिये प्रति-वेदन का प्रारूप तय्यार कर सकता हूं या उसका सशोधन कर सकता हूं। यदि यह बम्बई में तय्यार किया जाता है, तो उसे मै पूरा देख सकता हू। यह तो आप जानते ही हैं कि इन चीजो को ठीक-ठीक भाषा में कलमबद्ध कर देने का मुझे ज्ञान है। हमारे पास समय थोड़ा है। यदि इस थोड से समय में हम एक शक्तिशाली आन्दोलन का संगठन करना चाहते हैं, तो हमें अविलम्ब कार्य करना चाहिये।

* मेहता और पटवर्धन द्वारा उद्धृतः वही; पृ० ६२।

*. * बी. एन-सिंहः वही पृ. २०८।

भारतीय मंत्री लार्डमार्ले के साथ किए गए अपने पत्र व्यवहार में वायसराय ने इस इस बात पर बारम्बार जोर दिया था कि मुसलमानो को सन्तुष्ट करने का एकमात्र उपाय पृथक् निर्वाचन ही है। मार्ले उदारवादी दृष्टिकोण के व्यक्ति थे। साम्प्रदायिक निर्वाचनो के सम्बन्ध मे लार्ड मिंटो की नीति से वे सन्तुष्ट नही थे। उनका विचार था कि इस नीति से हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच वैमनस्य की वृद्धि होगी। व्यक्तिगत रूप से वे ऐसे मिले-

मिंटो साम्प्रदायिक निर्वाचन के वास्तविक जन्मदाता थे

जुले निर्वाचनों के पक्ष मे थे जिससे कि मुसलमानो को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाय परन्तु इसके साथ ही साथ साम्प्रदायिक विद्वेष भी नही बढे। परन्तु यह भारत का दुर्भाग्य था कि उन्होने लार्ड मिंटो की योजना को स्वीकार ही कर लिया, वे अपनी बात पर अडे नही। ६ सितम्बर १९०९ के अपने पत्र मे लार्ड मार्ले ने साम्प्र-दायिक निर्वाचन और उसके कुपरिणामो के लिए लार्ड मिंटो को ही उत्तरदायी ठह-राया था। उन्होंने लिखा था 'मुसलमानो के झगडे मे मैं पुन आपका अनुसरण नही करूंगा। मै आपको एक वार फिर सिर्फ इतना याद दिलाए देता हूँ कि उनके (मुसलमानो के) अतिरिक्त दावों के बारे में आपका ही एक प्रारम्भिक भाषण था, जिसने कि उन्हे इसके लिए लालायित कर दिया। मुझे इस बात का दृढ विश्वास है कि मेरा ही निर्णय सर्व श्रेष्ठ था।" अपनी इस आशातीत सफलता पर नौकरशाही ने जी खोलकर खुशियाँ मनाईं। साम्प्रदायिक निर्वाचन का बीजवपन ब्रिटिश अधि-अधिकारियो की दृष्टि मे एक बहुत वडी विजय थी। * मिंटो को अपनी योजना की सार्थकता पर अपूर्व हर्ष हुआ था। जिस दिन मुस्लिम शिष्ट-मडल उनसे मिला था, उसे उन्होंने भारतीय इतिहास का एक युग विधायक दिन कह कर सम्बोधित किया था। यद्यपि बाद मे लार्ड मार्ले ने पृथक् निर्वाचनो की योजना को बहुत कुछ युक्ति-मूलक करने की चेष्टा की थी परन्तु अब यह बात अच्छी तरह से ज्ञात है कि इस योजना के जन्मदाता लार्ड मिंटो ही थे।

---

* **टिप्पणी**—वायसराय के एक उच्च पदाधिकारी ने उनको इस सम्बन्ध मे जो सन्देश भेजा था, उसमे समस्त रहस्य स्पष्ट करते हुए उसने लिखा था: "मेरे लिए श्रीमान् की सेवा मे एक पंक्ति लिखकर भेजना अतीव आवश्यक है कि आज एक बहुत बहुत बड़ी घटना घटित हो गई है। राजनीतिज्ञता का एक ऐसा कार्य हो गया है जो कि भारत और भारतीय इतिहास को कई वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा। ५ करोड़ २० लाख व्यक्तियों को राजद्रोही विरोध में सम्मिलित होने से पीछे खींच लिया गया है। लेडी मिंटो की डायरी पृ-४७-४८

एक सहानुभूति पूर्ण वायसराय से प्रोत्साहन पाने पर मुस्लिम शिष्ट-मण्डल के नेताओं ने ३० दिसम्बर १९०६ को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की (भारतीय मुसलमानों के प्रथम साम्प्रदायिक राजनीतिक संगठन की) स्थापना की। इस संगठन के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार लिखित थे:—

(१) भारतीय मुसलमानो में अंग्रेजी सरकार के प्रति राजभक्ति बढाना।

(२) भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक तथा अन्य अधिकारो की रक्षा करना और उनकी आवश्यकताओ एवं इच्छाओं को नम्र भाषा में सरकार के आगे रखना, और

(३) यथासभव, (१) और (२) के अन्तर्गत उल्लिखित उद्देश्य से बिना संघर्ष के मुसलमानों तथा अन्य भारतीय जातियो में मैत्री स्थापित करना।

साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर मुस्लिम लीग का अपने जन्मकाल से ही बहुत हठधर्मी का दृष्टिकोण रहा है। पृथक निर्वाचनों और नौकरियो में ज्यादा हिस्से के लिए १९०८ में मांग की गई और १९०९ में उसको दुहराया गया। लार्ड मॉर्ले इन मांगो के विरुद्ध थे, उन्हे भी अपने अनुकूल करने के लिए शिष्ट-मंडल इंगलैण्ड भेजे गए। लार्ड मिन्टो की सक्रिय सहायता के द्वारा इस उद्देश्य में भी सफलता प्राप्त हो गई। राष्ट्रवादी नेताओ ने इस नीति का घोर विरोध किया। रैमजे मैकडॉनल्ड के अनुसार कुछ दूरदर्शी मुसलमान भी इस बात का अनुभव कर रहे थे कि यह कदम गलत दिशा की ओर उठाया गया है। उनमें से बहुतो ने इस योजना की कटु आलोचना की और कहा कि उनके कुछ नेता ब्रिटिश-अधिकारियो के हाथो में कठपुतली की तरह नाच रहे हैं। परन्तु यह सारा विरोध निरर्थक साबित हुआ। भारत की राष्ट्रीय एकता को भंग करने पर तुले हुये ब्रिटिश अधिकारी टस से मस नही हुए। उन्होंने १९०९ के इन्डियन कौंसिल्स एक्ट (मॉर्ले-मिन्टो-सुधार) में पृथक् निर्वाचन के सिद्धान्त को स्वीकार कर भारतीय राजनीति के शरीर में साम्प्रदायिक विष का इन्जेक्शन लगा दिया।

१९०९ के मॉर्ले-मिन्टो सुधारों में साम्प्रदायिक निर्वाचन अंगीकृत

३५. साम्प्रदायिकता के उद्भव का सामाजिक-आर्थिक पहलू

प्रारम्भ से ही ब्रिटिश शासकों ने भारतीय समाज के एक वर्ग को दूसरे वर्ग से लड़ाया और इस प्रकार से अपने हित को सुरक्षित रक्खा। पहले-पहल उन्होने मुसलमानों के सामन्ती और व्यावसायिक वर्गों की स्थिति को पतनोमुखी करने के लिए हिन्दू पूंजीपतियों और बुद्धिजीवियों को अपने कार्य-साधन में प्रयोग किया।

इसके बाद जब उन्होने देखा कि औद्योगिक पूंजीपतियो की उन्नति हो रही है, तो उसे रोकने के लिए सामन्ती हितो को बीच में ला खडा किया। जब राष्ट्रवादी शक्तियो ने अधिकाधिक बल पकड़ना प्रारम्भ किया, तब ब्रिटिश शासको ने मुस्लिम पृथक्ता की नीति को जन्म दिया। गदर के बाद सरकार की मुस्लिम-विरोधी और हिन्दू-परस्ती की नीति जिस पर वह १८७० तक चलती रही, 'वर्ग-आधार' पर सेना का पुनर्गठन, बगाल का विभाजन और साम्प्रदायिक निर्वाचनो की स्वीकृति आदि कृत्य "फूट डालो और राज्य करो" की ही नीति के साधक थे। इन सारे कार्यों के करने में शासकों का उद्देश्य यही था कि ब्रिटिश साम्राज्य पर किसी प्रकार की आच न आने पाये, वह निरन्तर सुरक्षित बना रहे। अशोक मेहता और अच्युत पटवर्धन के शब्दों में "पृथक्तावादी प्रवृत्तियो को उद्योगपूर्वक उत्पन्न किया गया और ब्रिटिश राज की सुरक्षा को समाश्वस्त करने के लिए कुशलतापूर्वक प्रयुक्त किया गया।" [१] भारतवर्ष में जहा भेदभाव थे, ब्रिटिश शासकोने वहा उन्हे तीव्र किया, और जहा भेदभाव नही थे, वहा उन्हे उत्पन्न किया। जातीय और सास्कृतिक सश्लेषण की प्रतिक्रिया भारत वर्ष में शताब्दियों से चल रही थी, अग्रेजो ने उसमें बाधा पहुचाई। अंग्रेजों ने भारत वर्ष के एक वर्ग को दूसरे वर्ग के खिलाफ, एक बिरादरी को दूसरी विरादरी के खिलाफ, और एक जाति को दूसरी जाति के खिलाफ किया, उन्हे आपस मे लडाया और उससे लाभ उठा कर ब्रिटिश-शासन की जडो को मजबूत किया। उन्होंने साम्राज्य विरोधी एक सयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे के निर्माण को रोकने के लिये ब्राह्मणो अब्राह्मणो, हिन्दुओ, मुसलमानो तथा स्पृश्यो-अस्पृश्यो के बीच भेद की प्राचीरे खडी कर दी।"*

इस प्रकार भारतीय राजनीति के क्षेत्र मे साम्प्रदायिकता के विष-बीज बोने का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से अग्रेजो के ही सिर पडता है। परन्तु इतना कह देने से

१, मेहता और पटवर्धन - वही पृष्ठ ६१

* टिप्पणी—प्रतिभार की ब्रिटिश नीति के ऊपर ए. आर. देसाई ने लिखा है, "गदर के बाद राजाओ और जमीदारो ने प्रतिभार के रूप मे कार्य किया। लार्ड लिटन ब्रिटिश राज को भारतीय कुलीनवर्ग की सहायता के ऊपर आधारित करना चाहते थे। लार्ड डफरिन ने जन-विप्लव की बढ़ती हुई शक्तियों को रोकने के लिए उदार बुद्धि जीवी वर्ग का, जो भारत वर्ष में विकसित हो रहा था, प्रयोग करना चाहा और उसे कांग्रेस की स्थापना करने में सहायता दी। तथापि, उन्हें शीघ्र ही अनुभव हुआ कि कांग्रेस 'राजद्रोही' होती जा रही हैं। मिंटो ने बढते हुए मुस्लिम व्यावसायिक वर्गों में उग्रराष्ट्रवादियो के विरुद्ध, जिनमें कि मुख्यतः हिन्दू व्यावसायिक वर्ग और कांग्रेस के मध्यवर्ग समाविष्ट थे, प्रति-भार प्राप्त किया।* सोशल बैकग्राउंड आफ इंडियन्न नेशनलिज्म, पृ. ३६०

ही भारतीय राजनीति की इस जटिल समस्या का समाधान नहीं हो जाता। साम्प्रदायिकता केवल एक राजनीतिक सघटना ही नही है, यह एक सामाजिक संघटना भी है। अंग्रेजों को एक संयुक्त राष्ट्रीय चेतना के विकास को अवरुद्ध करने के अपने प्रयत्नो में, भारत के सामाजिक-आर्थिक-जीवन के कतिपय तत्वो से भी सहायता मिली।

हिन्दुओं और मुसलमानों के विकास में भेदभाव

यह एक तथ्य है कि ब्रिटिश शासनान्तर्गत प्रशासन, व्यवसाय, वाणिज्य और उद्योग के क्षेत्र में हिन्दू मुसलमानो से आगे बढ गये थे। यद्यपि यह हुआ दोनों जातियो की अपनी अपनी नीति के ही कारण-कोई किसी के निकट दोषी नही था—परन्तु अंग्रेजो ने इस चीज से लाभ उठा कर, मुसलमानो को राष्ट्रीय आदोलन में सम्मिलित होने से रोकने की चेष्टा की। सर सय्यद अहमद खा ने धूर्त्त नौकरशाहो के मोहक संगीत को सुना और *यह विश्वास कर लिया कि मुस्लिम जाति का हित कॉग्रेस के साथ मिल कर विदेशी* साम्राज्य को उखाड़ फेंकने में नहीं, अपितु ब्रिटिश सरकार की कृपा कोर प्राप्त करने में है। आत्मरक्षा की भावना ने मुसलमानों को ब्रिटिश सरकार द्वारा भीख में डाले गये रोटी के टुकडो को लेने की ओर प्रेरित किया। सर सय्यद अहमद खा ने अपने अनुयाइयों से कहा "सेना मे हमें ऊचे पद मिलें, सरकार हमारी इस माग की ओर अवश्य ध्यान देगी। आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि हम ऐसा कोई कार्य न करें, जिससे कि सरकार को हमारी राजभक्ति में किसी प्रकार का भी सन्देह हो।"

उग्र राष्ट्रीयता और हिन्दू विचारधारा पर बल

१९ वी शताब्दी के अन्त में काग्रेस के अन्तर्गत जिस उग्रवादी पक्ष ने बहुत अधिक जोर पकड़ा, वह भी हिंदू और मुसलमानो के बीच की भेदभाव की खाड़ी को चौडा करने में सहायक सिद्ध हुआ। तिलक, पाल, अरविंद घोष और लाजपतराय आदि उग्रवादी नेता केवल प्रखर देशभक्त ही न थे, वे कट्टर हिंदू भी, थे। दयानन्द और विवेकानन्द की शिक्षाओ का उन पर व्यापक प्रभाव पड़ा था, हिंदू संस्कृति और हिंदू-धर्म के गौरव का बखान करते उनकी वाणी न थकती थी। हिंदू-संस्कृति और हिंदू परम्पराओं के ऊपर इस प्रकार से बल देना मुसलमानों के लिये रुचिकर नही था। यही कारण है कि वे राष्ट्रीय आदोलन को बहुत कुछ शंका की दृष्टि से देखने लगे। उन्होने सोचा कि ब्रिटिश शासन को नष्ट कर देने का अभिप्राय हिंदुओ के शासन की स्थापना करना है। यह सत्य है कि उग्रवादियों का कोई संकुचित साम्प्रदायिक लक्ष्य नही था, परन्तु ब्रिटिश नौकरशाहों को राष्ट्रीय आंदोलन का मिथ्यारीति से वर्णन करने में क्या कठिनाई हो सकती थी, जब कि

ऐसा करने से उनका अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो ? उन्होने मुसलमानों के खूब कान भरे। उन्होने कहा राष्ट्रीय आंदोलन का उद्देश्य हिंदुओ की सर्वोच्चता की प्रतिष्ठापना करना है। कुछ तो मुसलमानों को स्वत. ही शंका थी, अंग्रेजों के कान भरने ने रही सही कमी को भी पूरा कर दिया। इन्ही कारणो से उग्रवादियों के स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलनो ने भी मुसलमानो के बीच बहुत ही कम उत्साह जागृत किया। हिंदू उद्योगपतियो ने ही उनसे अधिकतर आर्थिक लाभ उठाया। फलतः अंग्रेजों ने जिनके कि आर्थिक हितो को स्वदेशी से सीधा खतरा उत्पन्न हो गया था, मुसलमानों को अपनी ओर फोड़ने में कुछ उठा न रक्खा। उन्होने मुसलमानो को बहकाया कि एग्लो-मुस्लिम हित परस्पर एक रूप हैं और इसलिये वे राष्ट्रवादियों के विरुद्ध हैं।

सारांश

महात्मा गाधी के शब्दों में, भारतवर्ष की साम्प्रदायिक समस्या "ब्रिटिश-आगमन की समकालिक है"। अंग्रेजों ने प्रारम्भ से ही "देशवासियो के विरुद्ध देशवासियो के सम-बल" की नीति पर आचरण किया। भारतवर्ष में अपने शासन के प्रथम चरण में उन्होने उच्चवर्गीय हिंदुओ का समर्थन प्राप्त किया और मुसलमानों का दमन किया। उस समय वे मुसलमानों को सदेह की दृष्टि से देखते थे, उन्हें आशका थी कि मुसलमान अपने खोये हुये मुगल साम्राज्य को पुनर्स्थापित करने का स्वप्न देखते हैं। फलतः प्रशासन और सेना से मुसलमानो को बिल्कुल बाहर रक्खा गया, सांस्कृतिक दृष्टि से नष्ट-प्राय कर दिया गया। विद्रोह के तुरत बाद ही अंग्रेजों की मुस्लिम विरोधी नीति और भी स्पष्ट दिखाई देने लगी थी।

१८७० के पश्चात् अंग्रेजो के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन दिखाई देने लगा। भारतीय राष्ट्रीयता के उद्भव ने साम्राज्यवादियो को विवश कर दिया कि वे मुसलमानों का प्रतिभार के रूप में प्रयोग करें। एम. ए. ओ. कॉलिज के प्रथम प्रिंसिपल मि. बेक ने इस कार्य में प्रमुख भाग लिया। सर सय्यद अहमद खा को राष्ट्रीयता के पथ से विमुख कर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का मुखोपजीवी बना देने में मि. बेक का महत्वपूर्ण हाथ था। उनके अनवरत प्रयत्नों के फलस्वरूप सर सय्यद अहमद खां ने कांग्रेस के विरोध करने का और अपने प्रभाव का प्रयोग कर मुस्लिम समाज को उससे दूर रखने का कार्य अपने जिम्मे ले लिया। १८९३ में उन्होने मुस्लिम-रक्षा-परिषद की स्थापना की। मि. बेक भी इसके एक मन्त्री थे।

बंगाल का विभाजन मुस्लिम पृथक्तावाद को दृढ़ करनेकी दिशा में जानबूझ कर

उठाया गया एक कदम था। मुसलमान को पृथक् प्रतिनिधित्व देने की उन्ही के द्वारा मांग कराने के लिये वायसराय के निजी मन्त्री कर्नल डनलप स्मिथ ने स्वय अलीगढ कॉलेज के तत्कालीन प्रिंसिपल आर्चिबोल्ड को मुसलमानो का एक शिष्टमण्डल वायसराय के पास भेजने को लिखा। तदनुसार आगा खा की अध्यक्षता में भारत के विभिन्न प्रान्तों से आये ३५ मुसलमानो का एक शिष्टमण्डल अक्टूबर १९०६ में वायसराय से मिला और उसने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की कडी माग की जिसको कि वायसराय लार्ड मिंटो ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। तत्कालीन भारत मन्त्री लार्ड मॉर्ले इस नीति के विरुद्ध थे, वे संयुक्त निर्वाचनों और कुछ रक्षित स्थानों के पक्ष में थे, परन्तु लार्ड मिंटो ने उन्हें अपनी बात पर राजी कर लिया। अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (स्थापित १९०६) ने पृथकतावादी माँग को चालू रक्खा और कांग्रेस व कई दूरदर्शी मुसलमानों के विरोध के बावजूद भी, १९०९ के मॉर्लै-मिंटो सुधारों के अन्तर्गत, साम्प्रदायिक निर्वाचनों को भारत के ऊपर लागू कर दिया गया।

इस प्रकार साम्प्रदायिकता के उद्भव के लिये मुख्यतः अंग्रेजों की ही "फूट डालो और शासन करो" की नीति उत्तरदायी थी। तथापि यह भी स्मर्तव्य है कि अंग्रेजो को इस नीति में जो सफलता प्राप्त हुई, उसका बहुत कुछ कारण ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत दोनों जातियो, हिन्दुओ और मुसलमानो का विषम विकास भी है। इससे मुसलमानो के हृदय में आत्म-रक्षा की भावना जागृत हुई। ब्रिटिश शासकों ने मुसलमानो की इस भावना का लाभ उठा कर उन्हें राष्ट्रवाद के विरुद्ध खडा कर दिया। इसके अलावा कांग्रेस में जिस उग्र राष्ट्रीयता का विकास हुआ और जिसके नेता तिलक, विपिन चन्द्रपाल और लाजपतराय थे, वह भी राष्ट्रीय आंदोलन से मुसलमानो को विमुख करने में सहायक हुआ। उक्त उग्रवादी नेता कट्टर हिन्दू थे और हिंदू धर्म तथा हिंदू सस्कृति के गौरव का बखान करते न थकते थे। मुसलमानों ने समझा कि राष्ट्रीय आंदोलन का उद्देश्य हिंदू राज्य की स्थापना करना है। अंग्रेजो ने उनके खूब कान भरे और उन्हें बहकाया कि एंग्लो—मुस्लिम हित परस्पर एक रूप हैं और इसलिये वे राष्ट्वादियों के विरुद्ध हैं।

अध्याय ६

मार्ले - मिंटो - सुधार

३६. सुधारों का उद्देश्य

१८९२ के इंडियन कौंसिल्स एक्ट के पास होने के पश्चात् भारत वर्ष की राजनीतिक परिस्थिति में बहुत परिवर्तन हो गए थे। १८६१ के एक्ट के अन्तर्गत जिन व्यवस्थापिका सभाओ का निर्माण हुआ था और १८९२ के एक्ट के अन्तर्गत जिन्हें बढा दिया गया था, उनसे उदार राष्ट्रवादी भी सन्तुष्ट नही थे। १८९२ के पश्चात् भारत-वर्ष की राष्ट्रीय तरंगिणी ने भी प्रचड रूप धारण कर लिया था। जन-साधारण के ऊपर उग्रवादियो का प्रभाव दिन दूना रात चौगुना बढता जाता था। वे अब इस बात को खुल्लम-खुल्ला कहने लगे थे कि ब्रिटिश शासन भारतवर्ष के लिए एक घृणित अभिशाप है, जितनी शीघ्र इसका अन्त हो जाय, उतना ही भारतवर्ष की जनता के लिये हितकर है। आतकवादी आग भी फैल रही थी। ये सब चीजें भारत वर्ष में ब्रिटिश साम्राज्यशाही के लिए भयंकर खतरे की संकेत थी। इनकी अवहेलना न की जा सकती थी। लार्ड मिंटो जो लार्ड कर्जन के पश्चात् भारतवर्ष के वायसराय नियुक्त हुए थे, भारतीय राजनीतिक मनोवृत्ति के इस परिवर्तन से अनभिज्ञ न थे। १९०९ के मार्ले मिंटो-सुधार भारतवर्ष की इस परिवर्तित राजनीतिक परिस्थिति का सामना करने के लिए ब्रिटिश कूटनीतिज्ञो की एक प्रभावशाली चेष्टा थी। इन सुधारो के द्वारा लार्ड मिंटो उग्र राष्ट्रवादियो को दबाना, नरम राष्ट्रवादियों को उनके विरुद्ध प्रतिभार के रूप में प्रयुक्त करना चाहते थे। इसके अलावा भारतवर्ष की राष्ट्रीय शक्तियों को दुर्बल करने के लिये बढ़ती हुई राष्ट्रीय एकता पर भी कुठाराघात करने का निश्चय किया गया। भारत-सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री सर हेराल्ड स्टुअर्ट के हस्ताक्षरों सहित प्रकाशित प्रथम-सुधार-योजना ब्रिटिश इरादो को स्पष्ट रूप से सूचित करती थी। "यह स्पष्ट

भारत वर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का सामना करने की ब्रिटिश-चेष्टा।

बढ़ती हुई राष्ट्रीय एकता पर कुठाराघात

रूप से इस सिद्धान्त पर आधारित थी कि शिक्षित भारतीयो के प्रभाव के विरुद्ध एक प्रति-तोलन(Counter poise) को प्राप्त किया ही जाना चाहिये, और उसे तथाकथित "प्रसिद्ध पुरुषों की परिषद" में व अति तक ले जाये गए वर्ग और साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व में खोजा गया।"* मद्रास सरकार ने जो योजना सामने रक्खी, वह इससे भी आगे बढ़ गई। उसने न केवल जातियों के ही लिये, अपितु बिरादरियों और व्यवसायो के लिए भी पृथक् प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव किया। लार्ड मिंटो स्वयं भी कांग्रेस के विरुद्ध एक उपयुक्त प्रतिभार (Counter weight) की तलाश में थे। अपने २८ मई १९०६ के पत्र में उन्होने लार्ड मार्ले को लिखा था, "कांग्रेस के उद्देश्यो के विरुद्ध एक प्रतिभार के विषय में मैं कुछ समय से काफी सोच में रहा हूं। मेरा विचार है कि एक राज परिषद अथवा एक प्रिवी कौंसिल में जिसमें न केवल देशी नरेश ही, अपितु कुछ और बड़े लोग भी सम्मिलित हो व जिसकी बैठक साल भर में एक बार, एक सप्ताह या १५ दिन के लिए दिल्ली में हुआ करे, हम इस समस्या का समाधान पा सकते हैं।"* तथापि राज-परिषद के विचार ने उस समय मूर्त्तरूप धारण नही किया। परन्तु जैसा कि हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं लार्ड मिंटो कांग्रेस के उद्देश्यों के विरुद्ध इससे (राज-परिषद से) कही अधिक शक्तिशाली प्रतिभार का निर्माण करने में सफल हुए। यह थी मुस्लिम साम्प्रदायिकता। १९०९ के सुधारों ने इस विष-बीज के सवर्धनार्थ पृथक निर्वाचनों और प्रतिनिधित्व मे गुरुभार के रूप में अच्छी-खासी खूराक दी। संक्षेपतः इन सुधारो से ब्रिटिश सरकार के दो उद्देश्य सिद्ध हुए। एक ओर तो इन्होने उदारवादियो से मेल करके उग्रवादियो को दबाने की चेष्टा की। दूसरी ओर इन्होंने मुस्लिम पृथक्तावाद को दृढ करके भारत वर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा कर समुचित प्रबन्ध कर दिया।

३७. १९०९ के एक्ट के मुख्य उपबन्ध

१९०९ का इंडियन कौंसिल्स एक्ट, जो कि कतिपय लेखको की सम्मति में, भारतीय प्रशासन के इतिहास में एक सीमा-चिन्ह था, * १८९२ के एक्ट से अवश्य कुछ आगे बढ़ा हुआ था। इस एक्ट के आधीन कौंसिलों के सदस्यों की संख्या में वृद्धिकी गई, प्रश्नोतर के अधिकार को बढ़ाया गया और सदस्यो को बजटो के ऊपर प्रस्ताव उप-

* सी० वाई० चिन्तामणि - इंडियन पालिटिक्स सिन्स दि म्युटिनी, पृ. ६४
* लेडी मिन्टो- इंडिया, मिन्टो एंड मार्ले. पृ. २८-२९
* एम० आर० पालन्दे- इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, पृ ३३

स्थित करने की अनुमति मिल गई। प्रान्तो में गैर सरकारी सदस्यो का बहुमत स्था-पित किया गया।"* नीचे इन बातो पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला जाता है।

१ विधान-मंडल-विस्तार

(क) अतिरिक्त सदस्यों, की संख्या में वृद्धि

नए एक्ट के अनुसार विधान मण्डलो में और अधिक विस्तार किया गया। गवर्नर जनरल की व्यवस्थापिका सभा में अतिरिक्त सदस्यो की सख्या १६ से बढा कर ६० कर दी गई। बम्बई, (पूर्वी) बगाल और यू० पी० की व्यवस्थापिका सभाओ के सदस्यो की सख्या अधिक से अधिक ५० और बर्मा व पजाब की व्यवस्थापिका सभाओ के सदस्यो की सख्या अधिक से अधिक ३० रक्खी गई। प्रत्येक विधान मण्डल तीन प्रकार के सदस्यो से निर्मित होने को था— सरकारी सदस्य, मनोनीति गैर सरकारी सदस्य और निर्वाचित सदस्य। १९०९ के सुधारो में एक विशेष बात यह थी कि उन्होने प्रान्तीय विधान-मण्डलो में गैर सरकारी सदस्यो के बहुमत का सूत्रपात किया।

(ख) प्रान्तों में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत

गवर्नर जनरल की (केन्द्रीय) व्यवस्थापिका सभा मे सरकारी सदस्यों का थोडा सा बहुमत रक्खा गया। परन्तु प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओ में मनोनीति गैर सरकारी और निर्वाचित सदस्यो की सख्या मिलाकर सरकारी सदस्यो की सख्या से अधिक रखी गयी। सब विधान-मण्डलो के सदस्यो की कुल सख्या १२४ से बढाकर ३३१ और निर्वाचित सदस्यो की ३९ से बढाकर २३५ करदी गई। १९०९ के एक्ट ने १८९२ के एक्ट में निहित अप्रत्यक्ष चुनावो का अन्त कर दिया और प्रत्यक्ष चुनावो की परिपाटी को जन्म दिया। परन्तु प्रतिनिधिक शासन की इस खूराक में पृथक् निर्वाचनो की पद्धति का विष मिला हुआ था।

(ग) साम्प्रदायिक और वर्ग भेदों पर आधारित चनाव

निर्वाचन-नियमो ने तीन कोटि के निर्वाचक समूहो (Electorates) की सृष्टि की . (१) साधारण निर्वाचक-गण—इस कोटि में प्रान्तीय ववस्थापिका सभाओ के वे गैर सरकारी सदस्य जो कि भारतीय व्यवस्थापिका सभा के लिए प्रतिनिधि चुनते थे, सम्मिलित थे या म्युनिसिपल कमेटियो और जिला बोर्डो के वे गैर सरकारी सदस्य सम्मिलित थे जो कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका-सभाओ के लिए प्रतिनिधियो का निर्वाचन करते थे। (२) मुसलमानों के लिए पृथक्-निर्वाचक गण—और (३) विशेष-वर्ग-निर्वाचक-गण—इन दोनों कोटियों में जमीदार, विश्वविद्यालय, व्यापार-मण्डल

* सी० वाई० चिन्तामणि-इ डियन पालिटिक्स सिन्स दि म्युटिनी, पृ ५९

व मिल-मालिकों के समुदाय आदि सम्मिलित थे । इसके बाद, मुस्लिम प्रतिनिधि ऐसे चुनाव क्षेत्रों से चुने जाने को थे जिनमें केवल मुस्लिम मतदाता ही रहते हो । मुस्लिम मतदाता साधारण चुनाव क्षेत्रो में भी अपने एक अतिरिक्त मत का प्रयोग कर सकते थे ।

२. व्यवस्थापिका सभाओं के कार्यों और अधिकारो की वृद्धि

नए एक्ट ने व्यवस्थापिका सभाओ के कार्यों और अधिकारो में भी वृद्धि की । भविष्य में बजट भी वादविवाद का विषय हो सकता था परन्तु उस पर मत नही लिए जा सकते थे । बजट पर वाद-विवाद के अधिकार को कई प्रतिबन्धो के भीतर रक्खा गया । इसका परिणाम यह हुआ कि (केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में) सैनिक, राजनीतिक और प्रान्तीय विषयो को वाद-विवाद की परिधि से बाहर ही रक्खा गया । राजस्व के शीर्षकान्तर्गत टिकट,

(क) बजट

आगम शुल्क, निर्धारित कर और अदालतो, तथा व्यय के शीर्षकान्तर्गत प्रतिभाजना और क्षतिपूर्ति, कर्ज पर ब्याज, धार्मिक व्यय और राज्य की रेलो आदि पर वाद-विवाद न किया जा सकता था । व्यवस्थापिका-सभाओ को सार्वजनिक हित के मामलो पर प्रस्ताव उपस्थित करने का अधिकार दिया गया । परन्तु इस प्रकार के प्रस्ताव को उपस्थित करने के अधिकार का होना न होना बराबर ही था । यदि ये प्रस्ताव व्यवस्थापिका सभा में पास हो जाते तब भी उनका लागू किया जाना अवश्यम्भावी न था ।

(ख) सार्वजनिक हित के मामलों पर प्रस्ताव

उन्हे केवल सिफारिश ही समझा जा सकता था । इसके अलावा, यदि अध्यक्ष समझता कि अमुक प्रस्ताव सार्वजनिक हित के अनुकूल नही पडता, तो वह उसे रोक सकता था । १८९२ के एक्ट में प्रश्न करने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया था । मार्ले-मिंटो-सुधारो ने व्यवस्थापिका सभा के सदस्यो को पूरक प्रश्न करने का और अधिकार देकर उक्त अधिकार में वृद्धि कर दी ।

(ग) प्रश्न और पूरक प्रश्न

यदि किसी सदस्य को अपने मौलिक प्रश्न के उत्तर से सन्तोष न होता तो वह पूरक प्रश्न करके उत्तर के स्पष्टीकरण की माँग कर सकता था । तथापि सम्बद्ध कार्यकारिणी परिषद को इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए बाध्य नही किया जा सकता था । अध्यक्ष को भी यह अधिकार था कि वह प्रश्नों को रोक दे ।

१९०९ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट के अनुसार भारतवासी सबसे पहली बार

इंडिया कौंसिल और गवर्नर जनरल की कौंसिल के सदस्य नियुक्त किये जाने लगे। भारतवर्ष में नौकरशाही ने, इस सुधार का घोर विरोध किया। परन्तु लार्ड मिंटो ने इस सुधार को दो कारणो से स्वीकार कर लिया। एक कारण तो सुधार के अस्वीकृत किए जाने पर भारत वर्ष मे तीव्र आन्दोलन के सूत्रपात हो जाने का भय था। दूसरा कारण यह था कि ब्रिटिश मन्त्रिमडल ने सर्वसम्मति से पास किया था। उसके दबाव के कारण भी लार्ड मिन्टो ने इस सुधार को स्वीकार कर लेना ही उचित समझा। फलतः एस, पी. सिन्हा को (बाद में लार्ड सिन्हा) गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी-परिषद का विधि सदस्य नियुक्त किया गया। दो वर्ष पूर्व अगस्त १९०७ में दो भारतीयों को* भारत मन्त्री की कौंसिल का सदस्य नियुक्त किया जा चुका था।

कार्यकारिणी परिषदों में भारतीयों की नियुक्ति

३८ मार्ले-मिंटो सुधारों के दोष

कुछ लोगो की धारणा थी कि १९०९ के सुधारो के द्वारा भारत वर्ष को महत्वपूर्ण राजनीतिक अधिकार दिए गए हैं। काग्रेस के नरम नेताओ का भी प्रारम्भ में यही विचार था। शुरू शुरू मे तो उन्होने इन सुधारो का स्वागत किया, परन्तु कुछ ही दिनो बाद उन्हे भी इन सुधारो के खोखलेपन का ज्ञान हो गया। मार्ले - मिंटो सुधारो को कार्यान्वित करने के लिए, भारत सरकार ने जिन नियमो-उपनियमो की सृष्टि की, वे सुधारों के आधारभूत सिद्धान्तों के इतने विरुद्ध थे कि उन्होने सुधारो का सफल होना कठिन कर दिया। भारतीय नेताओ ने इन नियमो और उप-नियमो की तीव्र आलोचना की। सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने घोषणा की कि सुधारो को कार्यरूप में परिणत करने के लिये निर्मित नियमो और उपनियमो ने तो व्यावहारिक रूप में सुधार योजना को नष्ट-प्राय ही कर डाला हैं। उनका प्रश्न था "क्या नौकरशाही ने अपनी शक्तिभर उन अधिकारों का प्रतिकार करके अपना बदला लिया हैं जो हमें सुधारो से मिले हैं।"* लेकिन केवल नियम और उपनियम ही दोषी न थे। सुधारो में स्वयं भी कई बडे दोष थे। वैसे तो इस एक्ट ने, कतिपय अशो में भारतवासियो को भी प्रसाशन कार्य में भाग दिया,

---

* इनमें से एक हिन्दू (के. जी. गुप्त) और दूसरे मुसलमान (सय्यद हुसैन विलग्रामी) थे।

* एनी बीसेंटः हाउ इंडिया रॉट फॉर फ्रीडमः पृ. ४९५।

व्यवस्थापिका सभाएं कार्यकारिणी पर नियंत्रण स्थापित करने में असमर्थ थीं

परन्तु उससे देश के राष्ट्र वादी तत्वो को बिल्कुल संतोष नहीं हुआ। इस एक्ट ने व्यवस्थापिका सभाओ में विस्तार तो कर दिया, परन्तु उनकी असली प्रकृति में कोई परिवर्तन नही किया, वह वैसी की वैसी बनी रही।" उन्हें अभी ससद नही, अपितु दरबार ही समझा जाता था।"* वे कार्यकारिणी को केवल सलाह ही सलाह दे सकती थी, यह आवश्यक नही था कि कार्यकारिणी उनकी सलाह को मान ही ले। कार्यकारिणी की नीतियो पर उनका किसी प्रकार का अकुश न था।" वे कार्यकारिणी-सत्ता के हाथो में खिलौना-मात्र थी, उसके कार्यों और शक्ति पर किसी प्रकार की निग्रह नही।"* चूंकि उनके अधिकार बहुत ही सीमित थे, अत वे अनुत्तरदायी कार्यकारिणी के किसी कार्य में रुकावट नही डाल सकती थी। वे प्रश्न पूंछ सकती थी, परन्तु कार्यकारिणी को उत्तर देने के लिये बाध्य नही किया जा सकता था। इसके अलावा, अध्यक्ष इस अधिकार में कमी कर सकता था। यदि वह उचित समझता, तो प्रश्नो को रोक सकता था। व्यवस्थापिका-सभाए पस्ताव पास कर सकती थी, परन्तु उनका लागू किया जाना बिल्कुल आवश्यक नही। सरकार यदि चाहती तो उन्हे ताक पर रख सकती थी।

उनकी शक्तियां अत्यंत संकुचित थीं

व्यवस्थापिका सभाए बजट पर वाद-विवाद कर सकती थी, परन्तु "केन्द्रीय या प्रान्तीय सरकारो की एक रुपये की भी आय या व्यय उनके नियत्रण में नही थी।"* सरकार को कानून पास करने के लिये व्यवस्थापिका सभा के अनुमोदन की आवश्यकता होती थी, परन्तु इस प्रकार का अनुमोदन प्राप्त करने में सरकार को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पडता था सरकारी और मनोनीत गर सरकारी सदस्यो मे किसी प्रकार की फूट नही हो सकती थी। वे हमेशा सरकार का साथ देते थे अतएव कार्यरूप में व्यवस्थापिका सभाओं मे गैर सरकारी सदस्यो का उतना प्रभाव न हो सका, जितनी की नरम नेताओ को आशा थी। इस विषय में सन् १९१० में स्वर्गीय गोखले ने भारतीय व्यवस्थापिका सभा के सम्मुख अपने विचारो को इस प्रकार प्रकट किया था "माइ लार्ड, हम लोग इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि जब सरकार किसी विषय मे अपना रास्ता निश्चित कर लेती है, तो गैर सरकारी सदस्य चाहे कुछ हो क्यों न कहे, वह अपने रास्ते से जरा भी नही हटती।

गैर-सरकारी बहुमत प्रभाव-शून्य था

---

* कूपलैण्डः दि इंडियन प्रॉब्लेम. १८३३-१९३५; पृ. २५।
* पालन्देः इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. ३३-३४।
* पालन्देः इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, पृ. ३४।

मॉर्ले-मिंटो सुधारों का सबसे बडा दोष यह था कि उन्होंने साम्प्रदायिक-निर्वाचन को जन्म दिया। कालान्तर में इस विष-बेल ने भारयीय राजतीति के क्षेत्र में अत्यन्य विनाशकारी कार्य किया। जवाहरलाल नेहरू के

साम्प्रदायिक और विशेष निर्वाचन

शब्दों में "हिन्दुस्तान के भविष्य पर यह एक असर डालने वाली चीज थी। भविष्य में मुसलमान सिर्फ पृथक मुसलमान-निर्वाचिन क्षेत्रों से ही खडे हो सकते थे और चुने जा सकते थे। उनके चारों तरफ एक राजनीतिक दीवार खड़ी कर दी गई और उनको बाकी हिन्दुस्तान से अलहदा कर दिया गया। इस तरह आपस में घुल-मिल कर एक हो जाने की वह प्रतिक्रिया जो सदियों से चल रही थी और जो वैधानिक प्रगति से लाजिमी तौर पर तेज हो रही थी अब उलट दी गई। यह दीवार शुरू में छोटी सी थी क्योंकि निर्वाचन-क्षेत्र सकुचित था लेकिन जैसे-जैसे मताधिकार बढता गया, यह दीवार बढती गई और उससे सार्वजनिक ओर सामाजिक जीवन के सारे ढांचे पर इस तरह असर पडा, मानो सारे ढाचे मे घुन लग गया हो। इससे म्युनिसिपल और स्थानीय स्व-शासन सस्थाओं में जहर फैला और आखिर में बेहद गलत ढंग का विभाजन हुआ। काफी बाद पृथक् मुस्लिम श्रमिक सघों-विद्यार्थी-सँघों और व्यापार-मडलो की स्थापना हुई, पृथक निर्वाचन-क्षेत्र मुसलमानो से शुरू हुए और बाद में ये दूसरे अल्प संख्यको और दूसरे समुदायो में भी फैल गये। यहां तक कि भारतवर्ष इन अलग अलग हिस्सो का एक जमघट बन गया...उनसे हर ढंग की अलहदगी की प्रवृत्तिया पैदा हुई हैं, और आखिर में भारतवर्ष के ही बटवारे की माग की गई है।"* भारतवर्ष मे ऐसे अधिष्ठित स्वार्थों की कमी नही थी, जिनको की ब्रिटिश सरकार ने जान बूझ कर यैदा किया और उनकी रक्षा की। ऐसा करने मे उसका सदैव अपना स्वार्थ था। अब पृथक निर्वाचन-क्षेत्रो का भी शक्तिशाली स्वार्थ पैदा किया गया जिसका उद्देश्य यह था कि अलहदगी की भावना को बढावा मिले और राष्ट्रीय एकता की उन्नति में बाधा पडे। इसी उद्देश्य को सामने रख कर यूरोपीयों, जमीदारो, उद्योगपतियों और व्यापारियो आदि विशेष वर्गों के लिये भी पृथक निर्वाचन स्वीकार किया गया। स्पष्ट है कि इस योजना का वास्तविक लक्ष्य यही था कि ब्रिटिश साम्राज्यशाहीं के पिट्ठुओ की शक्ति को बढाया जाय और इस प्रकार राष्ट्रीय तरगिणी की गति को अवरुद्ध कर दिया जाय।

१९०९ के सुधारो ने भारतवर्ष को ससदीय शासन (वह शासन जिसमें कि कार्यकारिणी पर जनता द्वारा व्यवस्थापिका सभा के चुने हुए प्रतिनिधियो का नियं-

* जवाहरलाल नेहरूः दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ-२९५:९६।

संसद-शासन की अस्वीकृति

मरण होता है, देने से स्पष्ट इनकार कर दिया। वैसे तो कांग्रेस ने भी स्पष्ट भाषा मे ऐसे शासन की मांग नही की थी; परन्तु स्व-शासन के चरम लक्ष्य का तात्पर्य, जिसकी कि १९०५ और १९०६ में परिभाषा की गई थी, स्पष्ट रूप से यही था। किन्तु ब्रिटिश अधिकारियों ने इस दिशा में एक कदम तक उठाने से इनकार कर दिया। जब से १८३३ में मैकाले ने यह कह दिया था कि भारतवर्ष ससदीय शासन के योग्य नही है, ब्रिटिश अधिकारियों को नीति, इस प्रकार की माग का प्रतिरोध करने की ही रही थी। लार्ड मिंटो और लार्ड मॉर्ले जिन्हें कि इन सुधारों का निर्माता कहा जा सकता है, दोनो ही भारतवर्ष में ससदीय प्रजातन्त्र-प्रणाली की स्थापना के विरोधी थे। लार्ड मिंटो ने घोषणा की—"मैंने ऐसी चीज से, जो कि उससे (ससदीय मताधिकार) समानता रखती हो, अपना मुख फेर लिया था। हम संसद कतई नही चाहते थे, हम कौंसिले चाहते थे परन्तु ऐसी कौंसिले नही, जो कि ससदीय प्रणाली पर निर्वाचित हों।"* लार्ड मॉर्ले भी इस दृष्टिकोण से पूर्णतः सहमत थे। उन्होने लॉर्ड-सभा को बताया, "यदि यह सम्भव होता कि ये सुधार प्रत्यक्षतः या आवश्यकत. भारतवर्ष में संसदीय प्रणाली की स्थापना करेंगे, तो मैं उन्हें दूर से ही नमस्कार कर देता।"* लॉर्ड मॉर्ले की दृष्टि में यह तर्क कि चूकि कनाडा मे भी स्वशासन की स्थापना लाभकर हुई है, अतः वह भारतवर्ष में भी लाभकर होगी, कोई अर्थ नही रखता था। वे ऐसे तर्क को बिल्कुल बेहूदा और खतरनाक बताते थे। उनका मत था कि यह तर्क तो करीब-करीब ऐसा ही है जैसे कि यदि जाडे में कनाडा में फरकोट की आवश्यकता हो, तो कोई कह दे कि दक्षिण भारत में भी उसकी आवश्यकता होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि १८६१ में भारतवासियो को शासन-कार्य में सम्मिलित करने की जिस नीति का श्रीगणेश किया गया था, १९०९ का एक्ट उसमें किंचित विस्तार-मात्र ही था। इस एक्ट के द्वारा ब्रिटिश सरकार ने अपनी ऐसी कोई चेष्टा प्रकट नही की, जिससे यह पता चलता हो कि वह भारतवासियो को अपना शासन आप करने का, स्वभाग्य-निर्णय का थोडा सा भी अधिकार प्रदान करना चाहती है। इसके विपरीत इस एक्ट ने तो ब्रिटिश-सरकार के इसी इरादे को सूचित किया कि वह समस्त प्रतिगामी और अधिष्ठित स्वार्थों को अपनी ओर करके, उनकी मदद से, राष्ट्रीयता की शक्तियों का हनन करना चाहती है।

---

* जी० एन० सिंह द्वारा उद्धृत, वही, पृ० २२३।

* कूपलैंड द्वारा उद्धत,दि इण्डियन प्रॉब्लेम; १८३३-१९३५ पृ० २६।

सारांश

१९०९ के इण्डियन कौंसिल्स एक्ट (मॉर्ले-मिंटो-सुधार) का निर्माण लाल-बाल-पाल के उग्रवाद के विकास और आतंकवादी दौर से उत्पन्न भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का सामना करने की दृष्टि से हुआ था। इन सुधारो को पास करने में सरकार का उद्देश्य यह था कि कांग्रेस के नरम नेताओ को खुश कर दिया जाय, और साम्प्रदायिकता की भावना को दृढ करके उग्रवाद और आतंकवाद की राष्ट्रीय शक्तियो को कुचल दिया जाय। उदारवादी नेताओ की धारणा थी कि इन सुधारों के द्वारा कौंसिलो में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों की संख्या बढ जायगी। प्रारम्भ में तो इन सुधारों का नरम नेताओ ने सहर्ष स्वागत किया, परन्तु कुछ ही काल के उपरान्त यह हर्ष विषाद में बदल गया। इस एक्ट ने मुसलमानो, जमीदारों, उद्योगपतियो और व्यापारियो के लिए पृथक निर्वाचनो की सृष्टि की। इस प्रकार सुधारों ने एक हाथ से जो चीज दी, दूसरे हाथ से वही ले ली।

नये एक्ट ने व्यवस्थापिका सभाओ के आकार और कार्यों-दोनो में वृद्धि कर दी। १९०९ के एक्ट ने १८९२ के एक्ट में निहित अप्रत्यक्ष चुनावो का अन्त कर दिया और प्रत्यक्ष चुनावो की परिपाटी को जन्म दिया। प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभाओं में गैर-सरकारी सदस्यो का बहुमत स्थापित किया गया। १९०९ के एक्ट के अनुसार व्यवस्थापिका सभाओ को बजट पर वाद-विवाद करने, सार्वजनिक हित के विषयो पर प्रस्ताव उपस्थित करने और पूरक प्रश्न पूंछने का भी अधिकार मिल गया।

परन्तु ये सुधार प्रगतिशील होने के स्थान पर प्रतिगामी ही अधिक थे। १८६१ में भारतवासियो को शासन कार्य मे सम्मिलित करने की जिस नीति का सूत्रपात्र किया गया था, १९०९ का एक्ट उस नीति का किंचित विस्तार मात्र ही था और वह ऐसा विस्तार जो कि सरकार को अनिच्छापूर्वक परिस्थितियो की वाध्यता के कारण करना पडा था। कांग्रेस के सम्मुख भारतवर्ष में सांसद प्रणाली की स्थापना करने का उद्देश्य था, इस एक्ट में इस उद्देश्य की ओर कतई ध्यान नही रक्खा गया, उसे पैरों तले डाल दिया गया। इस एक्ट के अनुसार जो नई व्यवस्थापिका सभाएं बनीं, वे अभी दरबार ही थीं, ससद नही। अनुत्तरदायी कार्यकारिणी पर उनका कोई नियंत्रण नही था। व्यवस्थापिका सभाओं का सरकारी दल सदैव सरकार का साथ देता था। उसमें फूट और मतभेद को कोई स्थान न था। गैर सरकारी सदस्यों में एका न था। अतः व्यवस्थापिका सभाओ में गैर-सरकारी सदस्यों का कोई विशेष प्रभाव नही था।

व्यवस्थापिका सभाओं को जो नए अधिकार मिले थे, उन पर प्रतिबन्ध इतने अधिक लगा दिये गए थे, कि उन अधिकारो का मिलना न मिलना बराबर ही था, इन सुधारों का सबसे बडा दोष यह था कि उन्होंने पृथक् व साम्प्रदायिक निर्वाचनों की सृष्टि की जिन्होने कि भारतवर्ष के सार्वजनिक जीवन को विषाक्त कर दिया, अलहृ-दगी की प्रवृत्तियो को बढावा दिया और अन्त मे भारतवर्ष के बटवारे की मांग को जन्म दिया।

अध्याय ७

प्रथम महायुद्ध के बीच भारतीय राजनीति

३९. भारतीय राजनीतिक जीवन का शान्त स्वर

भारतीय राजनीति का शान्तिकाल

मॉर्ले-मिन्टो-सुधारो के उद्घाटन और तिलक तथा एनी बेसेंट द्वारा प्रवर्तित होम रूल आंदोलन के बीच के वर्षों में भारतीय राजनीतिक जीवनका ज्वार उतार पर था। इसका कारण यह नही था कि 'सुधारो' ने भारतवर्ष में लोकतन्त्रात्मक शासन का सूत्रपात कर दिया हो और यहाँ के देशभक्तो को सन्तोष हो गया हो। असली बात यह है कि नौकरशाही तो इस समय भी पहले की तरह बलवान थी और इन सुधारों के आधीन जिन परिषदो का निर्माण हुआ था, वे भी वाद-विवाद क्लबो से अधिक महत्व नही रखती थी। जनता के वे निर्वाचित प्रतिनिधि, जो कि इन परिषदो में पहुचते थे, अब भी अपनी असहायता की भावना का निवारण न कर पाते थे, वे सरकार की आलोचना कर सकते थे, परन्तु उसे नियन्त्रित नही कर सकते थे उनका विरोध निष्फल और निर्बलथा। कूपलैण्ड का कथन है कि बहुधा गैर सरकारी दबाब कार्यकारिणी के कार्यों को प्रभावित करता था, परन्तु इस बात को वह भी स्वीकार करता है कि'बहुधा का अभिप्राय सदैव नही है' और 'प्रभाव को शासन नहीं कहा जा सकता"। *

राजनीतिक क्षेत्र से उग्रवादियों का तिरोहण

इस युग की भारतीय राजनीति में जो निष्प्राणता सी आ गई थी, उसका मुख्य कारण यह है कि सूरत-विच्छेद (१९०७) के पश्चात् कांग्रेस की बागडोर पूरे तरीके से नरम दल वालों के हाथ में आगई थी। तिलक माण्डले में निर्वासित कैंदी का जीवन बिता रहे थे। बंगाल के बहुत से उग्रवादियों को देशनिकाले की सजा दे दी गई थी। अरविन्द घोष ने राजनीतिक जीवन से सन्यास ग्रहण कर लिया था और अब वे पांडीचेरी में योग-साधन कर रहे थे। उग्रवादी नेताओं की अनुपस्थिति में कांग्रेस अपने वैधानिकवाद के पुराने ढर्रे पर चल

पड़ी थी। इस काल में कांग्रेस का नेतृत्व गोखले, मेहता, सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी, प० मदन-मोहन मालवीय और तेज बहादुर सप्रू जैसे उदार राष्ट्रवादियो के हाथो में था। यद्यपि वे मॉर्ले-मिन्टो-सुधारो की दुर्बलताओ से अवगत थे, साम्प्रदायिक निर्वाचनों का उन्होने खुलकर विरोध किया था, उन्हें लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता, दोनो का दुश्मन बताया था और उन्हें समाप्त कर देने के लिए भारतीय व्यवस्थापिका में एक प्रस्ताव भी उपस्थित किया था। फिर भी वे इन सुधारो को सहयोग की भावना के साथ कार्यान्वित कर रहे थे। भारतीय राजनीतिक क्षेत्र की इस शान्ति का दूसरा कारण यह था कि लार्ड मिन्टो के उत्तराधिकारी लार्ड हॉर्डिञ्ज ने जिस नीति को अपनाया वह सौमनस्य स्थापित करने की नीति थी। हॉर्डिञ्ज ने कांग्रेस की मांगों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बहुत अच्छे ज्ञाता थे, और इस बात को जानते थे कि यूरोप युद्ध की ओर पग बढा रहा है। लडाई में इंगलैण्ड को कांग्रेस के समर्थन की बहुत आवश्यकता थी। दूरदर्शी हार्डिञ्ज ने कांग्रेस के समर्थन को प्राप्त करने का रास्ता साफ कर दिया। उनके शासन काल में सम्राट जार्ज पचम भारत पधारे और उन्होने देहली दरबार में घोषित किया कि अब भारत की राजधानी कलकत्ते से हटा कर दिल्ली स्थानान्तरित की जाती है और बगाल-विभाजन को रद किया जाता है।* इस राष्ट्रीय अन्याय के निराकरण का आग्ल-ब्रिटिश सम्बन्धों पर बहुत अच्छा प्रभाव पडा। इससे उदार राष्ट्रवादी बहुत प्रभावित हुए, उन्होने सम्राट की भूरि भूरि प्रशसा की और अपनी राजभक्ति की भावना को व्यक्त किया। सम्राट जार्ज पचम का स्वागत बडे जोरो से हुआ और उन्हें भारत का 'मुक्तिदाता' कहा गया।

लार्ड हार्डिञ्ज की सौमनस्य स्थापित करने की नीति

देहली दरबार (१६११) और बंग-भंग का रद होना

इस युग के उदारवादियो का क्या दृष्टिकोण था, अम्बिकाचरन मजूमदार के निम्न शब्दो से उस पर समुचित प्रकाश पडता है "प्रत्येक हृदय ब्रिटिश राजनीतिज्ञता के प्रति पुनर्जागरित कृतज्ञता व विश्वास से परिपूर्ण होकर भक्ति और श्रद्धा के संयुक्त स्वर में ब्रिटिश सिंहासन के गुणगान कर रहा है। हममें से कुछ लोगों ने ब्रिटिश न्याय और सत्यता की अन्तिम विजय में अपनी आशा कदापि विसर्जित नही की। अपनी परीक्षाओं और क्लेशों के तमतोम से भरे हुए दिनों में भी यह निश्चय, यह आशा, यह विश्वास हमारे हृदयो में

इस युग के बीच कांग्रेस का दृष्टिकोण और उसकी मांगें

* विभाजन की समाप्ति के साथ ही साथ, बिहार को बंगाल से पृथक कर दिया गया।

निरन्तर बना रहा कि ब्रिटिश न्याय और सत्यता एक न एक दिन अवश्य ही विजयी होगी।"* मद्रास कांग्रेस में भी यही भावना दृष्टिगत हुई। गवर्नर ने जब पडाल में प्रवेश किया, तब सम्पूर्ण सभा ने खड़े होकर उनका जयकार किया। सभा की कार्रवाही रोक दी गई और सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति कांग्रेस की राजभक्ति के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव उपस्थित किया।

तथापि कांग्रेस ने ब्रिटिश-सरकार की अपर्याप्त सुधार देने की नीति का विरोध बन्द नही किया। भारत की राजनीतिक प्रगति के प्रति ब्रिटिश सरकार जिस उपेक्षा वृत्ति से काम ले रही थी कांग्रेस ने उसकी निरन्तर कठोर आलोचना की। कांग्रेस ने स्वाभाविक रूप से १९११ के भारत सरकार-पत्रक का स्वागत किया। इस पत्रक में प्रान्तीय क्षेत्र मे स्व-शासन के शनैः शनैः विस्तार करने की सिफारिश की गई थी। कांग्रेस ने इस सिफारिश का निर्वचन इस प्रकार किया कि प्रान्तीय सरकारो के ऊपर न केवल केन्द्र का नियन्त्रण कम होना चाहिए, वरन् प्रान्तीय परिषदो का नियंत्रण बढना चाहिए। स्पष्ट है कि कांग्रेस ने अब उत्तरदायी शासन की भाषा में सोचना प्रारम्भ कर दिया था यद्यपि गोखले यह कहने के लिए तय्यार थे कि उत्तरदायी शासन को प्राप्त करने की मजिल बहुत लम्बी और भारवाही होगी।"† परन्तु उन्होने यह भी कहा कि इस दिशा मे पग उठाने के लिए यह उचित समय है। १९१३ में कांग्रेस ने यह माग की कि भारतीय व्यवस्थापिका परिषद में गैर सरकारी सदस्यो का और प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदो में निर्वाचित सदस्यो का बहुमत होना चाहिए। उसने इस बात पर बल दिया कि प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदो का "कार्यकारिणी शासन के ऊपर प्रभावशाली नियन्त्रण होना चाहिए।"‡

४०. होमरूल-आन्दोलन

१९१४ मे भारतीय राजनीतिक जीवन ने पुन करवट बदली। अब तक भारतीय राजनीतिक जीवन सरकार की "दमन और सुधार की जुडवा नीति" * के कारण जो निस्पंद और निष्प्राण पडा हुआ था, अब पुनः अंगड़ाई लेकर उठ बैठा। १९१४ में तिलक अपने कारावास से छुट-कारा पाकर स्वदेश वापिस आ गये। इस समय उनकी

श्रीमती बीसेंट

* पट्टाभि सीतारामय्या, दि हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस, पृ. १०१।

† कूपलैण्ड; दि इंडियन प्राब्लेम पृ. ४५।

‡ श्रीनिवास शास्त्री-सेल्फ गवर्नमेंट फौर इन्डियन अडर दि ब्रिटिश फ्लैग, उपर्युक्त पुस्तक में उद्धृत पृ. ४५।

* जी.एन सिंह : वही, पृ २९३।

लोकप्रियता का कुछ ठिकाना नहीं था, वे भारतीय जन जीवन के हिय-हार बने हुए थे। उन्होंने तुरन्त ही नेशनलिस्ट पार्टी का पुनर्गठन करके उग्रवादियों में नव प्राण फूंकना प्रारम्भ कर दिया।

इसी वर्ष श्रीमती एनीबीसेंट भी भारत के राजनीतिक अखाडे में कूद पडी और उन्होने भारतवर्ष के राष्ट्रवादी आदोलन मे नूतन प्राणधारा का सचार किया। थियोसोफिकल आन्दोलन के नेता के रूप में उनका नाम पहले से ही विश्व विश्रुत हो चुका था। भारतवर्ष के धार्मिक, शैक्षणिक और सामाजिक पुनर्जागरण के लिए जो कार्य उन्होने किया, उसके कारण उनका नाम देश के घर घर में रोशन हो गया। वे भारत वर्ष को अपनी मातृभूमि के रूप में मानती थी। भारतवर्ष के राजनीतिक पुनरुत्थान के लिए सघर्ष करने के उद्देश्य को सम्मुख रख कर वे कांग्रेस में सम्मिलित हो गईं। इस प्रकार श्रीमती बीसेंट ने अपने सम्मुख चतुसूत्रीय कार्यक्रम रक्खा। वे इसके लिए सर्वथा उपयुक्त भी थी। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी विद्वत्ता अथाह थी और बुद्धि अलौकिक। उनकी इच्छा शक्ति हिमालय की तरह अटल और अचल थी। खतरो से जूझना उनका स्वभाव था और साहस उनका सदा का साथी था। उनमें कार्य करने की अनथक शक्ति थी और वे उस समय तक विश्राम करना नही जानती थी, जब तक कि उद्देश्य सिद्ध न हो जाय। इन गुणों के साथ ही साथ उनकी अद्वितीय और अतुलनीय वक्तृत्व कला सोने मे सुगन्धि का कार्य करती थी। उनका व्यक्तित्व बडा आकर्षक, चुम्बकमय था। वस्तुत वे शक्ति की साक्षात् प्रतिमा थी।

आयरलैंण्ड में उस समय जो होमरूल आन्दोलन चल रहा था, एनी बीसेंट उससे बहुत अधिक प्रभावित हुई थीं। उन्होने नौकरशाही के इस तर्क का कि भारतीय स्व-शासन के योग्य नही हैं, खुल कर विरोध किया। उनका कथन था कि भारतवर्ष अब वह शिशु नही रहा जो कि साम्राज्य की शिशु-शाला मे पलता रहे। उनका विश्वास था कि देश को जितनी शीघ्र स्व-शासन प्राप्त हो जाय, उतना ही अच्छा है। 'कांग्रेस का कार्य जिस मन्दगति से चल रहा था, उससे वे सतुष्ट नही थी।"* और उन्होने कांग्रेस से निवेदन किया कि वह होमरूल आन्दोलन को प्रारम्भ करे। परन्तु उन्होने देखा कि नरम दल के नेता तो पराङ्मुख शंकालु स्वभाव के हैं, वे होमरूल आन्दोलन को चलाने में झिझकते हैं। इस लिए उन्होने औपनिवेशिक स्व-शासन अथवा डोमीनियन होमरूल का लक्ष्य प्राप्त करने के लिये एक पृथक् सगठन का निर्माण करने का निश्चय किया। तिलक की तरह उनका भी यह विश्वास था कि युद्ध काल इस उद्देश्य

* पट्टाभि सीतारामय्या- दि हिस्ट्री आफ कांग्रेस, पृ २१२

की प्राप्ति के लिये वैधानिक आन्दोलन प्रारम्भ करने का अत्यन्त समुपयुक्त अवसर है। एनी बीसेंट ने गरम दल और नरम दल में मेल करने के लिये भी अनथक उद्योग किया। परन्तु जब तक गोखले जीवित थे, उनको अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। १९१५ में गोखले का स्वर्गवास हुआ। उस वर्ष के कांग्रेस अधिवेशन में श्रीमती बीसेंट को काग्रेस सविधान में ऐसा संशोधन पास करवाने में, जिससे कि तिलक और उनके अनुयायी पुन संस्था मे आ सकें, सफलता प्राप्त हुई। १९१६ में काग्रेस के दोनो दलो में पुनरैक्य स्थापित हो गया।

एनी बीसेंट ने पहली सितम्बर १९१६ को मद्रास में अखिल भारतीय होमरूल लीग की स्थापना की। इसके छः मास पूर्व तिलक महाराष्ट्र होमरूल लीग की स्थापना कर चुके थे। इसका केन्द्र पूना था। तिलक ने एनी बीसेंट को पूरा सहयोग दिया और दोनो नेताओं ने अपने सामान्य उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए कधे से कधा मिला कर कार्य किया। दिसम्बर, १९१६ में काग्रेस और मुस्लिम लीग ने सुधारो की एक सामान्य योजना को ग्रहण किया। उन्होने अपनी योजना को जनता में लोकप्रिय बनाने के लिये होमरूल लीग के उपयोग करने का निश्चय किया।* तिलक और एनी बीसेंट ने इस आदर्श के लिए अनथक गति से कार्य किया।

तिलक और बीसेंट का सहयोग व कांग्रेस द्वारा आंदोलन का अनुमोदन

होमरूल आन्दोलन के प्रवर्तकों ने अपने आदोलन को, उसके उद्देश्यो और आदर्शों को अधिकाधिक लोकप्रिय बनाने के लिये अपूर्व उत्साह और प्रेरणा से कार्य किया। एनी बीसेंट के दैनिक पत्र 'न्यू इडिया" और साप्ताहिक पत्र 'कामन वील' ने इस दिशा में विशेष सेवा की। होमरूल लीग ने बडे धड़ाके के साथ काम किया। श्रीमती बीसेंट ने सारे देश का 'तूफानी' दौरा किया और अपने जोरदार भाषणो से जनता के अन्दर एक नई स्फूर्ति पैदा कर दी। वे भारतवर्ष को उसकी युग युग व्यापी निद्रा से जगाना चाहती थी। "मै भारत में वैतालिक का कार्य कर रही हू" उन्होने घोषणा की, "और सब सोने वालों को जगा रही हू ताकि वे उठ बैठें और अपनी मातृभूमि के लिये कार्य कर सकें।" तिलक के पत्रो, दैनिक 'केसरी' और साप्ताहिक 'मराठा' ने भी महाराष्ट्र में उठ कर प्रचार कार्य किया।

होमरूल आंदोलन के उद्देश्य

---

* जी० एन० सिंह- वही, पृ. २६५

होमरूल आन्दोलन एक वैधानिक संघर्ष था। जिस समय यह चल रहा था, उस समय महायुद्ध जारी था, और भारत सुरक्षा अध्यादेश भी क्रियाशील थे। आंदोलन का यह उद्देश्य नही था कि सरकार को खामख्वाह परेशान किया जाय अथवा उसके युद्ध प्रयत्नो में बाधा डाली जाय। सच तो यह है कि एनी बीसेंट और तिलक दोनो ने ही भारतीयो को इस बात का परामर्श दिया था कि वे जर्मनी के खिलाफ सरकार की यथासभव सहायता करें, परन्तु उन्होने इस बात पर भी निरन्तर बल दिया कि स्वशासित भारत साम्राज्यवाद के लिए अधिक सहायक हो सकेगा। एनी बीसेंट ब्रिटिश-साम्राज्यकी शत्रु नही थी। उस समय उग्रदल क्रातिपथ की ओर झुक रहा था और वह क्रातिकारियो के साथ गठबन्धन स्थापित करने के लिए प्रवृत्त हो रहा था श्रीमती बीसेंट ने उसे क्राति-पथ से अलग किया। उनकी योजना यह थी कि उग्रवादी भारतवर्ष को साम्राज्य में ही बनाए रखने को राजी हो जायें। * उग्रदल और नरमदल में पुनः ऐक्य हो तथा वे संयुक्त कांग्रेस में मिलकर साथ साथ काम करें, यह भी उनका उद्देश्य था। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होने प्राणपण से कार्य किया और इसमें उन्हें सफलता भी मिली। श्रीमती बीसेंट की यह आकाक्षा थी कि इगलैंड और भारत एक दूसरे के समीप आएं, एक दूसरे को समझें। परन्तु उन्होने इस बात पर बल दिया कि 'साम्राज्य का भाग्य भारत के भाग्य के साथ जुडा हुआ है और भारत को होमरूल देकर उसे सन्तुष्ट कर देना ब्रिटिश शासको के लिए बुद्धिमानी की बात हैं।"

श्रीमती बीसेंट का कथन था "होमरूल भारत वर्ष का अधिकार है और राजभक्ति के पुरस्कार के रूप मे उसे प्राप्त करने की बात कहना मूर्खतापूर्ण है।"† एनी-बीसेंट के होमरूल का लक्ष्य वही था जो कि दादा भाई नौरोजी के 'स्वराज्य' या 'स्वशासन' का था। उन्होने 'कॉमनवील' के प्रथम अक मे ही अपने लक्ष्य की व्याख्या की। उन्होंने लिखा था · "राजनीतिक क्षेत्र मे हमारा उद्देश्य ग्राम परिषदो से, डिस्ट्रिक्ट और म्युनिसिपल बोर्डो तथा प्रान्तीय विधान सभाओ द्वारा, एक राष्ट्रीय

* डा० ज़करिया- रेनेसेंट इडिया, पृ. १६५

†टिप्पणी—"भारत वर्ष ने अपने पुत्रो और पुत्रियों के रक्त को इसलिए नही बहाया है कि उसके बदले में उसे स्वतन्त्रता मिले, अधिकार मिले। यह सौदेबाजी नही है। भारत एक राष्ट्र की हैसियत से साम्राज्य की जनता के बीच, न्याय पाने के अधिकार का दावा करता है। भारत वर्ष ने इसे युद्ध के पूर्व मागा था, भारत इसे युद्ध के बीच मागता है, भारत इसे युद्ध के बाद मागेगा, परन्तु वह इसे एक पारितोषिक के रूप मे नही, अधिकार के रूप में मागता है।" हाउ इण्डिया रॉट फॉर फ्रीडम : पृ ५७५-५७६।

संसद तक, जो कि शक्तियों में उपनिवेशों की स्वशासित विधान सभाओं के तुल्य हो, पूर्ण स्व-शासन का निर्माण करना है। हमारा यह भी लक्ष्य है कि जब इम्पीरियल पार्लियामेंट का अधिवेशन हो और उसमें साम्राज्य के स्व-शासित राज्यो के प्रतिनिधि भाग लें, तब भारत वर्ष को भी सीधा प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए ।"† इस प्रकार होमरूल कोई नया आदर्श नही था, साम्राज्य के अन्तर्गत स्व-शासन के उदार लक्ष्य के लिए केवल एक नया नाम पा लिया गया था । इसमें कोई सन्देह नही कि इस नए नाम की प्रेरणा आयलेण्ड के स्वतन्त्रता-सग्राम से प्राप्त हुई थी ।

नौकरशाही का दमनचक्र और एनीबीसेंट की नजरबन्दी

१९१७ में होमरूल आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया । यद्यपि यह आन्दोलन विशुद्धतः वैधानिक था और उसके नेताओं ने इस आन्दोलन को व्यापक बनाने में शान्तिपूर्ण उपायो का ही अवलम्बन किया, परन्तु फिर भी इसके प्राणवान् प्रचार-सघर्षने जनता के बीच एक नूतन हलचल पैदा करदी । सरकार इससे घबरा उठी और उसने आन्दोलन को कुचल डालने का निश्चय किया । तिलक और एनीबीसेंट के कार्य कलापो के ऊपर कई कठोर प्रतिबन्ध लगा दिए गए । १९१६ में तिलक से कहा गया कि वे साल भर तक बिल्कुल शान्त रहे । उनको कुछ भारी जमानतें जमा करने का भी आदेश दिया गया । परन्तु बाद में जब तिलक की ओर से हाईकोर्ट में अपील की गई, तब इस आदेश को वापिस ले लिया गया । होमरूल-प्रचार को रोकने के लिए दमनमूलक प्रेस एक्ट का खुलकर प्रयोग किया गया । श्रीमती बीसेंट से, जिनका 'न्यू इंडिया' नामक दैनिक और 'कामनवील' नामक साप्ताहिक पत्र, होमरूल आन्दोलन का खूब धड़ल्ले से प्रचार कर रहा था, प्रेस और पत्र के लिए २०,०००) की जमानत मागी गई और वह जब्त भी कर ली गई । परन्तु इन दमन कार्यों से आन्दोलन दबा नहीं, वह और प्रचण्ड हुआ । १९१७ के प्रारम्भ में लार्ड पेण्टलैण्ड की सरकार ने "सरकारी आज्ञा-पत्र नं० ५५९ के अनुसार विद्यार्थियों को राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने से रोक दिया ।" होमरूल की सभाओ मे उपस्थित होना उनके लिए वर्जित कर दिया गया । * सरकार का दमनचक्र उस समय अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया जबकि तिलक को पंजाब और दिल्ली में प्रवेश करने की मनाही कर दी गई और श्रीमती बीसेंट को उनके दो घनिष्ट सहयोगी जी० एस० एरेन्डेल और बी० पी० वाडिया सहित नजरबन्द कर दिया गया । सरकार ने तो समझा कि श्रीमती बीसेंट की गिरफ्तारी से होमरूल आन्दोलन ठडा पड जायगा, परन्तु नतीजा इसका बिल्कुल उल्टा हुआ । इसने "देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक विरोध और रोष का तूफान

† एनी बीसेंट - इण्डिया बाउंड आर फ्री ? पृ. १६२-१६३ ।

* जी. एन. सिंह - वही पृ. २६६

खड़ा कर दिया। सारे देश में श्रीमती बीसेंट की नजरबन्दी के विरोध में सभाएं हुई। वे राष्ट्रीय नेता जो कि अब तक होमरूल आन्दोलन से अलग रहे थे, होमरूल लीग के सदस्य हो गए और उन्होंने उसमे उत्तरदायी पदों को सम्हाला।"‡ एनी बीसेंट के छुटकारे के लिए सारे देश में प्रचड आन्दोलन हुआ। तिलक ने सत्याग्रह तक प्रारम्भ करने का प्रस्ताव किया। परन्तु घटनाचक्र बडी तेजी से घूमता गया और २० अगस्त १९१७ की घोषणा ने जिसमें कि "भारत में उत्तरदायी शासन के शनैः शनैः विकास का" वचन दिया गया था, भारतीय राजनीति की हवा के रुख को एकदम से बदल दिया और धीरे-धीरे होमरूल आन्दोलन बिल्कुल मुरझा गया। एनी बीसेंट का यश इस समय अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया था और उन्हे १९१७ के कांग्रेस अधिवेशन का सभापति निर्वाचित किया गया।

४१. हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धों में एक सुखकर अध्याय

भारतीय मुसलमानों का राष्ट्रवाद की ओर झुकाव

मार्ले-मिंटो सुधार-काल में एक और महत्वपूर्ण बात हुई और वह यह कि भारतीय मुसलमानो की नई पीढ़ी राष्ट्रीयता की ओर झुकी। हम देख चुके हैं कि मुस्लिम लीग की स्थापना १९०६ मे हुई थी और इसकी स्थापना में ब्रिटिश नौकरशाही का बहुत बडा हाथ था। मुस्लिम लीग की स्थापना का उद्देश्य यही था कि मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक् रक्खा जाय। शुरू के कुछ सालों मे मुस्लिम लीग के ऊपर अलीगढ के अर्द्ध सामन्ती और पृथक्तावादी राजनीतिज्ञों के 'स्कूल' का ही पूर्ण नियन्त्रण रहा था। परन्तु १९१२ के पश्चात् से शिक्षित नवयुवक मुसलमानो के दृष्टिकोण मे परिवर्तन होने लगा। उनका हृदय देशभक्ति की भावनाओ से आप्यायित हो उठा। फलतः वे राष्ट्रवाद की ओर आकृष्ट हुए। इसके कारण मुस्लिम लीग के रंग-रूप में भी थोडा परिवर्तन हुआ। यद्यपि मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य तो मुसलमानो के हितो का संरक्षण करना ही रहा, परन्तु उत्तरदायी शासन के प्रश्न पर वह कांग्रेस के समीपतर आ गई। परिणाम स्वरूप दोनो सगठनो के बीच बन्धुत्वपूर्ण सहयोग का एक संक्षिप्त युग प्रारम्भ हुआ। १९१६ का कांग्रेस लीग-समझौता हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धो के एक सुखकर अध्याय का चरम शिखर है। मुसलमानो में इस राष्ट्रवाद की भावना के विकास के कारण भी अनेक थे। इन कारणो में सबसे प्रमुख कारण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति थी। इगलैण्ड और रूस टर्की के प्रति शत्रुतापूर्ण नीति का

‡. जी. एन-सिंहः वही पृ. २६६।

कारण, टर्की की स्थिति

अनुकरण कर रहे थे। इससे भारतवर्ष के मुस्लिम बुद्धि-जीवी वर्ग को बहुत धक्का पहुचा। टर्की के सुल्तान अब्दुल हामिद के द्वारा प्रोत्साहित 'पान-इस्लामिक आन्दोलन' ने भारत के मुसलमानो के ऊपर बहुत गहरा प्रभाव डाला था। सुल्तान हामिद इस्लाम के खलीफा भी थे। इन सब कारणों से टर्की इस्लाम की महानता का प्रतीक बन गया था। १९१२-१३ के बल्कान-युद्धों ने भारतवर्ष मे टर्की के प्रति सहानुभूति की एक शक्तिशाली लहर पैदा कर दी। डाक्टर अंसारी भारतवर्ष से टर्की को एक मेडिकल मिशन ले गये।

कांग्रेस के प्रति सरकारी रुख में परिवर्तन

टर्की के प्रति ब्रिटिश दृष्टिकोण ने भारतीय मुसलमानो के बीच ब्रिटिश विरोधी भावनाए उत्पन्न की। ये भावनाए युद्ध के बीच और भी प्रबल हो गई जबकि टर्की ब्रिटेन और उसके मित्र-राष्ट्रो के विरुद्ध लडा। जवाहरलाल नेहरू लिखते हैं "अन्तिम बची हुई मुस्लिम शक्ति के समाप्त हो जाने का खतरा उत्पन्न हो गया था, उनके विश्वास का मुख्य आधार डावाडोल हो रहा था।"* ब्रिटेन इस्लाम के शत्रु के रूप में प्रकट हुआ और उसने देशभक्त मुस्लिम-मस्तिष्को को उत्तेजित करना प्रारम्भ कर दिया। एक और कारण जिसने कि साम्प्रदायिकता को रोका और भारतीय मुसलमानो को काग्रेस के नजदीक ला दिया, यह था कि काग्रेस के प्रति सरकारी रुख मे परिवर्तन हो गया। यद्यपि मॉर्ले-मिटो-सुधारो मे कतिपय दोष थे, फिर भी काग्रेस उन्हे कार्यान्वित करने की यथा-शक्ति चेष्टा कर रही थी। नए गवर्नर जनरल लार्ड हॉर्डिञ्ज का काग्रेस के प्रति सहानुभूति पूर्ण दृष्टिकोण था। लार्ड हॉर्डिञ्ज की मेल जोल की नीति का फल यह हुआ कि मुस्लिम पृथक्तावाद मे पहले का सा जोर नही रहा और वह धीमा पड़ गया। इसके अलावा १९११ मे बग-भग को रद्द कर दिया गया। इसने मुसलमानो के ऊपर बहुत असर डाला। सरकार ने बग-भग को रद्द करने का निर्णय करने से पूर्व मुसलमानो से परामर्श तक भी नही किया, फलत. वे अत्यन्त रुष्ट हुए, अग्रेजो की नेकनीयती मे उनका जो विश्वास था, उसकी जडें हिल गई। इस असन्तोष का फल यह हुआ कि मुसलमान भी राष्ट्रीय आन्दोलन मे शरीक हो गये। मुस्लिम राष्ट्रवाद के उत्कर्ष का तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कारण अबुल कलाम आजाद, अली-बन्धुओ, मोहम्द अली जिन्ना, डा० अन्सारी और हकीम अजमल खा जैसे नए नेताओ का प्रभाव था। अबुल कलाम आजाद उस समय नवयुवक ही थे। उनकी गम्भीर विद्वत्ता

नए नेताओं का प्रभाव: अबुल कलाम आजाद

* जवाहरलाल नेहरू: दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ. २८६।

और भारत से बाहर की इस्लामी दुनिया के ज्ञान की सर्वत्र धाक जमी हुई थी। "उन लड़ाइयों ने जिनमें कि टर्की घिर गया था, उनकी गहरी रुचि और सहानुभूति को उत्तेजित किया। फिरभी उनका रास्ता पुराने मुस्लिम नेताओं के रास्ते से भिन्न था। उनका व्यापक और बुद्धिसंगत दृष्टिकोण उन्हें पुराने नेताओ के सामती, सकुचित धार्मिक व पृथक्तावादी दृष्टिकोण से अलग रक्खा और उन्हें सिर से पर तक भारतीय राष्ट्रवादी बना दिया था।"‡ १८१२ में अबुल कलाम आजाद ने उर्दू साप्ताहिक 'अल-हिलाल' को प्रकाशित करना प्रारभ किया। इस पत्र का जीवन सक्षिप्त परन्तु 'ऐतिहासिक रहा। जबसे मुस्लिम लीग आरम्भ हुई, अबुल कलाम आजाद उसके सदस्य थे। मुस्लिम लीग पर अलीगढ-कॉलिज-ग्रुप का नियंत्रण था। अबुल कलाम आजाद उसकी नीतियो से सतुष्ट नही थे। उन्होने अपनी सामर्थ्यवान् लेखनी के द्वारा "अनुदारिता और अ-राष्ट्रीयता के इस शक्तिशाली दुर्ग पर आक्रमण किया।"* अल-हिलाल ने "मनुष्यो के दिमागो को भय और निराशा से मुक्त करने में सहायता दी और उन्हे आशा व साहस के उन्नतर धरातल पर ला खडा किया।"† आजाद की रचनाओ ने अधिकारियो के रोष को जागृत कर दिया। अल हिलाल से जमानते मागी गई और १९१४ मे उसके प्रेस को जब्त कर लिया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि अल-हिलाल समाप्त हो गया। दो वर्षों बाद आजाद को चार वर्षों के लिये अन्तर्वासित किया गया।

मौलाना मोहम्मद अली

"अबुल कलाम आजाद की आवाज के साथ ही मौलाना मोहम्मद अली, जिनके कि अंग्रेजी पत्र 'कामरेड' और उर्दू पत्र 'हमदर्द' ने हमारी राष्ट्रीय पत्रकारिता के मन्दिर में अपने लिये एक आला अर्जित कर लिया था की आवाज मिली हुई थी।"‡ मौलाना मोहम्मद अली इस्लामी परम्परा और ऑक्सफोर्ड शिक्षा का एक अजब समन्वय उपस्थित करते थे। बगाल-विभाजन के रद्द हो जाने से उन्हें बडा धक्का पहुचा और अंग्रेजो की नेकनीयती में उनका जो विश्वास था, उसकी नीव हिल गई। वे कट्टर राष्ट्रवादी हो गये। टर्की के लिये उन्होने प्रचड आदोलन किया। १९१५ में युद्ध-पर्यन्त के लिये उन्हें अपने भाई मौलाना शौकतअली के साथ ही साथ अन्तर्वासित कर दिया गया। खिलाफत आदोलन में उन्होने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया। उनके प्रभाव से मुस्लिम राजनीति में भी राष्ट्रवादी भाव-

‡ जवाहर लाल नेहरू- दि डिस्कवरी आफ इंडिया, पृ० २८९।

* उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ९० ।

† मेहता और पटवर्धनः कम्युनल ट्रांयंगल इन इंडिया, पृ ३२।

‡ मेहता और पटवर्धन वही, पृ० ३२ ।

नाएं प्रचंड हो गईं। उस काल में मोहम्मद अली जिन्ना भी मुस्लिम लीग में राष्ट्रवादी तत्वो की विजय के लिये भरसक चेष्टा कर रहे थे।

मोहम्मद अली जिन्ना

यद्यपि बाद के घटना प्रवाह को देखते हुए यह बात अत्यन्त आश्चर्यजनक लगती है,परन्तु इसमें कोई संदेह नही कि उस समय मोहम्मद अली जिन्ना ने जो कार्य किया, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रगतिशील था। उस समय मुस्लिम लीग प्रतिगामी और पृथकतावादी तत्वो की अधीनता में थी। मोहम्मद अली जिन्ना ने उसे कांग्रेस के निकट लाने का प्रयास किया और इसमें उन्हें थोडी बहुत सफलता भी मिली। यह उनके गतिशील नेतृत्व का ही प्रभाव था कि मुस्लिम लीग ने भी अपने १९१३ के लखनऊ-अधिवेशन में औपनिवेशिक स्वराज्य को अपना ध्येय घोषित कर दिया। इस समय आगा खा मुस्लिम लीग के अध्यक्ष थे। वे लीग की राष्ट्रवादी विचारधारा को पसंद नहीं करते थे। १९१५ में उन्होंने लीग की अध्यक्षता से त्यागपत्र दे दिया। मुस्लिम लीग की बागडोर मोहम्मद अली जिन्ना के हाथो में आई।

मौलाना शिबली मोहानी

इस सम्बन्ध में मौलाना शिबली मोहानी का जिक्र करना भी अत्यन्त आवश्यक है। वे उच्चकोटि के राष्ट्रवादी थे और सर सय्यद अहमद खा के सहयोगी रह चुके थे। बाद मे सर सय्यद अहमद खा साम्प्रदायिकता की ओर झुक गये और उन्होंने मुसलमानों को राष्ट्रीय आदोलन से पृथक रखने की चेष्टा की। मौलाना शिबली मोहानी को सर सय्यद अहमद खा की यह नीति बिलकुल पसन्द नही आई। उन्होंने इसकी कठोर आलोचना की। वे कहा करते थे कि मुसलमानो को राष्ट्रीयता की मुख्य धारा से पृथक रखने के लिए नौकरशाही ने सर सय्यद अहमद खा के नाम का अनुचित उपयोग किया है। भारतीय मुसलमानो के बीच राजनीतिक जागृति का विकास करने के लिए उन्होने अपनी लेखनी के द्वारा राष्ट्रीय महायज्ञ मे जो आहुति दी, उसके कारण भारत की राष्ट्रीयता के इतिहास में उनका नाम सदैव अमर रहेगा।

उदार कांग्रेस नेताओ ने मुस्लिम लीग की इस नई प्रवृत्ति का हार्दिक स्वागत किया। १९१३ के अपने अधिवेशन में कांग्रेस ने लीग के स्वराज्य के नूतन ध्येय की मुक्तकठ से सराहना की। इस्लामी विश्व के प्रति अपनी

लीग-कांग्रेस सहयोग की ओर

सदभावना का परिचय देने के लिए कांग्रेस ने टर्की और फारस की स्थिति के सम्बन्ध में गहरी चिन्ता व्यक्त करते हुए एक प्रस्ताव पास किया। अब यह प्रतीत होने लगा था कि भविष्य में कांग्रेस और लीग मिल-जुल कर कार्य करेंगी और सामान्य राजनीतिक लक्ष्य को हस्तगत करने के लिए डट कर संघर्ष

करेगी। १९१४ के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में राष्ट्रवादी मुसलमानो का प्रभाव संलक्ष्य था। इस अधिवेशन में हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच सद्भाव कायम रखने की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के बढते हुए चिन्हों को देखकर आग्ल-भारतीय समाचार-पत्र घबरा उठे।"† परन्तु यह श्रेष्ठ कार्य रुका नही, बराबर चलता रहा और राष्ट्रवादी नेता इस बात के लिए निरन्तर प्राणपण से चेष्टा करते रहे कि हिन्दू-मुस्लिम एकता दिनदूनी रात चौगुनी बढ़े और हिंदू तथा मुसलमान दोनों मिल कर सामान्य राजनीतिक लक्ष्य की ओर शक्तिशाली पग उठाए तथा एक ऐसे महान् भारत का निर्माण कर सकें, जो कि अशोक कालीन भारत से कही अधिक महत्तर और अकबर कालीन भारत से कही अधिक बृहत्तर हो।

१९१५ में राष्ट्रवादी मुसलमानो ने मि. जिन्ना के नेतृत्व में मुस्लिमलीग के ऊपर पूरा नियन्त्रण स्थापित कर लिया। उस वर्ष के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में महात्मा गाधी, पण्डित मदनमोहन मालवीय और सरोजिनी नायडू जैसे काग्रेस के सुप्रतिष्ठित नेता भी सम्मिलित हुये। मि. जिन्ना ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया, जिसमें भारतवर्ष के लिए राजनीतिक सुधारो की एक योजना तय्यार करने के लिये एक ऐसी समिति की नियुक्ति करने को कहा गया था जो कि काग्रेस के साथ मिलकर काम करे। यह प्रस्ताव पास हो गया। फलतः १९१६ में सयुक्त काग्रेस-लीग-योजना तय्यार हुई - यह इतिहास में लखनऊ-समझौते के नाम से प्रख्यात है। पूर्व वर्ष की तरह १९१६ मे भी काग्रेस और लीग के वार्षिक अधिवेशन एक ही स्थान पर (लखनऊ) और एक ही समय में हुये। दोनो ही सस्थाओ ने काग्रेस-लीग-योजना को स्वीकार किया और उसे मागो के अधिकार-पत्र के रूप में अधिकारी-वर्ग के सम्मुख उपस्थित किया। लखनऊ-पैक्ट *

कांग्रेस-लीग समझौता १९१६

†. एनी बीसेंट ने एक आग्ल-भारतीय समाचार-पत्र के निम्न लेख को उद्धृत किया है: "ये लोग दोनो जातियो को क्यो एक करना चाहते हैं, यदि यह उन्हे एक करना शासन के विरुद्ध नही है ?" हाउ इडिया रॉट फार फ्रीडम, पृ० ५३१।

* यह पैक्ट मुख्यत. उन सुधारो पर आश्रित था जिनका कि "मेमोरेण्डम ऑफ नाइण्टीन" (१९ का आवेदनपत्र) में सुझाव दिया गया था। इस आवेदन-पत्र को इँपीरियल (केन्द्रीय) व्यवस्थापिका सभा के १९ भारतीय सदस्यो ने तय्यार किया था। लखनऊ-पैक्ट के मुख्य उपबध ये थे "(१) प्रांतोंको जितना अधिक संभव हो सके, प्रशासन और वित्त केक्षेत्र में, केन्द्रीय नियत्रणसे स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। (२) केन्द्रीय और प्रातीय व्यवस्थापिका सभाओं के ४।५ सदस्य निर्वाचित और १।५ मनोनीत होने चाहिए।(३) केन्द्रीय और प्रातीय सरकारो के कम से कम आधे सदस्य अपनी-अपनी

को या सवैंधानिक सुधारों की कांग्रेस-लीग योजना को भारतीय राष्ट्रवाद की एक बहुत बड़ी विजय कहा गया है।"† परन्तु यह बात सर्वथा सत्य नहीं हैं। यह ठीक है कि लखनऊ-पैक्ट हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रतीक था। वह इस बात का द्योतक था कि मुस्लिम लीग और कांग्रेस साथ-साथ मिल कर स्व-शासन के लक्ष्य की ओर एक ठोस कदम उठायेंगी। एक आवाज़ के साथ कांग्रेस और लीग ने यह मांग की कि "साम्राज्य के पुनर्संगठन मे भारतवर्ष पराधीनता की वेदी से ऊपर उठाया जाकर आत्म-शासित उपनिवेशो की भाति साम्राज्य के कामो में बराबर का हिस्सेदार बनाया जाय।"‡ इसमे कोई सन्देह नही कि यह एक ऊंची सफलता थी, परंतु कांग्रेस ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की माग को स्वीकार करके राष्ट्रीयता की बहुमूल्य आहुति दी। बगाल और पजाब में मुसलमान बहुमत मे थे। वहा उनके लिए ४०% और ५० % स्थान स्वीकार किये गये। इसके विपरीत जिन प्रातो में मुसलमानों का अल्पमत था, वहाँ भी उनके साथ विशेष रियायत की गई, उन्हें बहुत अच्छा प्रतिनिधित्व दिया गया। यू. पी. में मुसलमानो की जनसख्या १४% ही थी, परन्तु उन्हें ३०% स्थान दिये गये। मद्रास मे उनकी जनसंख्या केवल ६.१५% थी परन्तु उन्हे १५% स्थान दिये गये। जहा तक केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा का सम्बन्ध है, निर्वाचित स्थानो का एक तिहाई भाग पृथक मुस्लिम निर्वाचन-क्षेत्रो के लिये नियत रखा गया। स्पष्ट है कि मुस्लिम लीग ने काफी महगे मूल्य पर सौदा किया था। यह ठीक है कि मुसलमानो को साधारण निर्वाचन क्षेत्रो में मतदान देने का अधिकार छोड़ना पडा। मॉर्ले-मिन्टो सुधारो के अधीन उन्हे यह लाभ प्राप्त था। परन्तु इसका और भी बुरा परिणाम हुआ हिन्दुओ और मुसलमानो के बीच भेदकी दीवार बराबर ऊँची उठती गई। इस प्रकार पृथक् निर्वाचनो तथा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार करने व मुसलमानो के लिए

व्यवस्थापिका सभाओ के निर्वाचित सदस्यो के द्वारा निर्वाचित होने चाहिए। (४) जब तक कि कौंसिलो द्वारा पास किये गये प्रस्तावो पर गवर्नर जनरल अथवा सपरिषद गवर्नर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग न करें, प्रातीय और केन्द्रीय सरकारो को उनके अनुकूल ही आचरण करना चाहिये। (५) केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा को भारत सरकार के सैनिक, वैदेशिक और राजनीतिक मामलो मे हस्तक्षेप करने का, जिनमे कि युद्ध की घोषणा अथवा सधि करना भी सम्मिलित है, कोई अधिकार न होना चाहिये। (६) भारत-मन्त्री के भारत सरकार के साथ वे ही सम्बन्ध होने चाहिए जो कि औपनिवेशिक मन्त्री के डोमीनियनों की सरकारो के साथ होते हैं।" कूपलैण्ड: दि इडियन प्रॉब्लेम, १८३३-१९३५, पृ० ४८।

† उपर्युक्त पुस्तक, पृ० ५०।

‡ पैक्ट की प्रस्तावनाः कांग्रेस इन इवोल्यूशन पृ० १७-१८।

दूसरे मत के उत्सर्ग को प्राप्त करने में कांग्रेस ने "परिणामों का किंचिन्मात्र भी विचार न करते हुए कार्य किया।"* कांग्रेस ने मुसलमानों को जो रियायतें दीं, ब्रिटिश सरकार ने उन्हें मोंटफोर्ड सुधारों का आधार बना लिया। परन्तु लखनऊ पैक्ट में भारत के लिए स्वशासित डोमीनियनों की तरह की जिस प्रस्थिति की मांग की गई थी उसकी ओर सरकार ने कोई ध्यान नही दिया। इसके अलावा पैक्ट में जहां यह कहा गया था कि व्यवस्थापिका सभाओं मे निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत होना चाहिए, वहा इस बात की कोई व्यवस्था नही थी कि कार्यकारणी को इन बहुमतों के प्रति उत्तरदायी होना चाहिये।

४२. यूरोपीय महासमर और वैधानिक सुधार

प्रथम यूरोपीय महासमर का विस्फोट भारत के वैधानिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था। जब यूरोप में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ इगलैण्ड ने भारत से निवेदन किया कि वह उसे जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में हार्दिक सहायता दे। भारतवर्ष ने इंगलैण्ड की इस प्रार्थना को सुना और उसकी भरसक सहायता की। भारतवर्ष की जनता इगलैण्ड के साथ अपने मतभेदो को भूल गई। होमरूल

भारत की इंगलैण्ड को हार्दिक सहायता

आन्दोलन और देश के बाहर की क्रान्तिकारी हलचलो के अलावा, भारतवर्ष में युद्ध के बीच अन्य किसी ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन का नामो निशान भी नही दीखता था। भारतवर्ष के वातावरण में इस सीमा तक शांति थी कि सरकार ने भारत में रहने वाले अधिकाश ब्रिटिश फौजी दस्तों को युद्ध क्षेत्र में भेज दिया। यद्यपि कुछ उग्रवादी यह कहते थे कि हमें इस युद्ध से लाभ उठाना चाहिए और अग्रेजों के विरुद्ध आन्दोलन करना चाहिए फिर भी उस समय आम भावना यही थी कि यह अग्रेजों के लिए सकट का समय है, हमें उनकी सहायता करनी चाहिए। सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी जैसे भारतीय नेताओ ने अपने भाषणों में यही कहा कि "युद्ध के जो भार और उत्तरदायित्व हैं, हमे उनको वहन करना चाहिए" और "साम्राज्य की रक्षा के लिए युद्ध करना चाहिए।"† तिलक और गाधी ने भी राष्ट्र से इसी प्रकार की अपीलें की। साम्राज्य के अन्यान्य देशों के साथ ही साथ भारत ने भी न्याय और मनुष्यता की रक्षा के लिए अपने कीमती जान और मान को इस युद्ध में उत्सर्ग किया। भारतवर्ष ने अपने पन्द्रह लाख से अधिक सपूतों को रणागण में भेजा। युद्धक्षेत्र में भारतीय सैनिको ने अद्भुत वीरता का परिचय दिया और महान् गौरव अर्जित किया। भारतीय सैनिकों के शौर्य ने जर्मनी

* गैरेट : एन इंडियन कमेंट्री, पृ० १७६।

† सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी : ए नेशन इन मेकिंग पृ० ३००।

के सारे मन्सूबे चकनाचूर कर दिये। राजाओं और धनी भारतीयो ने युद्ध कोष में बडी बड़ी रकमें जमा की। भारतवर्ष ने कुल मिला कर तीन अरब से अधिक रुपया लडाई के खर्चे के लिए इगलैण्ड को दिया। युद्ध काल में भारतवर्ष ने जिस राजभक्ति और हार्दिक सहयोग का परिचय दिया, वह सर्वथा अकारण न था। जैसे ही महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने ऐसी घोषणाए की जिन्होने कि राष्ट्रवादी भारतीयों के मनो में बहुत ऊची उम्मीदें उत्पन्न कर दी थी। ब्रिटिश प्रधान-मत्री ने भारतीयों के लिए कहा कि वे "एक सामान्य भविष्य और हित के सयुक्त तथा समान संरक्षक हैं।" यह कहा गया कि लड़ाई "राष्ट्रीय स्वतत्रता और लोकतत्र के दोहरे उद्देश्य की रक्षार्थ लडी जा रही है।"‡ आत्म-निर्णय के सिद्धात को प्रख्यापित किया गया और लॉयड जार्ज ने घोषणा की कि उसे "ट्रोपिकल देशो में भी लागू किया जायेगा।" उनके पूर्ववर्ती लॉर्ड एस्क्विथ ने घोषणा की थी कि भविष्य में भारतीय समस्या को "एक नए दृष्टिकोण से देखना पडेगा।" भारतीयो ने इन घोषणाओं को बिल्कुल निष्कपट भाव से ग्रहण किया, उनको यह दृढ विश्वास हो गया था कि युद्ध का अन्त होने पर भारतवर्ष में वैधानिक उन्नति के एक नूतन युग की सृष्टि होगी। १९१६ मे लॉर्ड चेम्स फोर्ड भारतवर्ष के गवर्नर-जनरल बन कर आए। उन्होने पद ग्रहण करने के तुरन्त बाद ही यह घोषणा की कि ब्रिटिश-शासन का उद्देश्य भारतवर्ष में स्व-शासन की स्थापना करना है। दुर्भाग्यवश, वे अपने आई सी एस सलाहकारो के हाथो मे थे और उनकी कार्यकारिणी-परिषद ने जिस सुधार-योजना को तय्यार किया, "उसकी प्रत्येक पक्ति के ऊपर 'भीरुता' शब्द लिखा हुआ था।" इस समय भारतीय राजनीतिज्ञ भी ऐसी योजनाए तय्यार करने मे व्यस्त थे जिनके अनुसार कि भारतवर्ष को एक सारभूत मात्रा मे स्व-शासन प्राप्त हो सके। इन योजनाओ मे एक योजना '१९' का आवेदन-पत्र था।* इस योजना को साम्राज्यीय व्यवस्थापिका सभा के भारतीय सदस्यो ने तय्यार किया था।

भारतवर्ष की उम्मीदें

लार्ड चेम्सफोर्ड

सुधार-योजनाएं

---

‡ कूपलैण्ड: दि इंडियन प्राब्लेम, १८३३-१८३५ पृ० ५२।

* टिप्पणी—१९१५ मे एक सुधार-योजना मद्रास के गवर्नर लार्ड विलिंगडन के आदेशानुसार गोखले ने तय्यार की थी। यह प्रलेख जो कि गोखले के राजनीतिक 'टेस्टामेंट' के नाम से प्रख्यात हुआ, अगस्त १९१७ में प्रकाशित किया गया। इसका मुख्य ध्येय यह था कि प्रान्तीय सरकारो को स्वायत्तता प्राप्त हो और वे केन्द्रीय नियत्रण से स्वतन्त्र हों। इस योजना में कार्यकारिणी के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व के प्रश्न को नही लिया गया था।

माइण्टीन मेमोरेण्डम

'१९' के आवेदन पत्र के ऊपर जिन सुप्रतिष्ठित व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे, उनमें प० मदन मोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना और तेज बहादुर सप्रू भी सम्मिलित थे। दूसरी बातों के साथ ही साथ आवेदन पत्र में इस बात का भी प्रस्ताव किया गया था कि प्रान्तीय और साम्राज्जीय सभी कार्य कारिणीपरिषदो में आधी सख्या भारतीय सदस्यों की होनी चाहिये, भारत वर्ष की सभी व्यवस्थापिका सभाओ में निर्वाचित प्रतिनिधियो का सारभूत बहुमत होना चाहिये, जनता के मत-दान के अधिकार को विस्तृत कर देना चाहिए, अल्पसंख्यक वर्गों को उचित प्रतिनि-धित्व प्राप्त होना चाहिए, भारत मन्त्री की परिषद को समाप्त कर देना चाहिए, प्रान्तीय क्षत्र में स्वायत्तता की स्थापना होनी चाहिए, और भारतवर्ष को स्थानीय स्व-शासन पूरी मात्रा में प्राप्त होना चाहिए। '१९' के आवेदन-पत्र मे इस बात पर भी जोर दिया गया था कि भारतीय नवयुवको को भी सेना में वे ही सुविधाए मिलनी चाहिएं जो कि यूरोपीयो को प्राप्त होती हैं। काग्रेस-लीग योजना, जिसका कि हम पहले ही जिक्र कर चुके हैं '१९' के आवेदन-पत्र पर

कांग्रेस-लीग योजना

आधारित थी। तथापि काग्रेस-लीग योजना '१९' के आवेदन पत्र से अधिक व्यापक थी और इसमें साम्प्रदायिक निर्वाचनों के प्रश्न पर अधिक महत्व दिया गया था। परन्तु इन सुधार-योजनाओ में से किसी ने भी भारतवर्ष में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की स्पष्ट माग नही की थी। उस पहली योजना को जिसने कि भारत-वर्ष में उत्तरदायी शासन की शनै शनै स्थापना को नूतन सुधारो का आधार बनाया, इगलिश राउड टेबिल ग्रुप ने तय्यार किया था। इगलिश राउड टेबिल ग्रुप उन अग्रेज सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का एक समुदाय था जो कि भारतीय समस्याओ मे प्रगाढ रुचि रखते थे। इस ग्रुप के नेता मि. कर्टिस ने समाचार पत्रो में कई लेख लिखे और उनमें उत्तरदायी शासन व प्रतिनिधिक शासन के भेद को स्पष्ट किया। उनका यह मत था कि भारतवर्ष में प्रतिनिधिक शासन की तो तुरन्त स्थापना की जा सकती है, परन्तु उत्तरदायी शासन की स्थापना शनैः शनै ही हो सकती है। उन्होंने कहा कि भारतवर्ष की अशिक्षित जनता धर्म, नसल और बिरादरी आदि की प्राचीरों से आपस में बटी हुई है, वह उत्तरदायी शासन के योग्य नही है, उसे इसके लिये शिक्षित करना पड़ेगा। ब्रिटिश अधिकारियों के

ड्यूक-आवेदन पत्र

ऊपर इस योजना की अच्छी प्रतिक्रिया हुई। कांग्रेस-लीग योजना में तो भारतीयों को तत्काल ही बहुत से अधिकार दे देने की मांग की गई जो कि ब्रिटिश अधिकारियों के लिये अरुचिकर थी, परन्तु इस योजना में ऐसी कोई मांग नही थी। उत्तरदायी शासन का विचार ही ड्यूक आवे-

दन-पत्र को १९१६ में इंडिया कौंसिल के एक सदस्य व मि. कर्टिस के एक सहयोगी सर विलियम ड्यूक ने तय्यार किया था। ड्यूक आवेदन-पत्र में कहा गया था कि अब भारतीयों को उत्तरदायी शासन की कला में सिद्धहस्त करने का समय आ गया है। यह इस प्रकार किया जा सकता है कि कुछ सुरक्षित विभागों को (शिक्षा, स्थानीय स्व-शासन, स्वच्छता आदि) प्रान्तीय सरकारो के अधीन कर दिया जाय तथा इस पर जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियो का नियत्रण स्थापित किया जाय। तथापि इस आवेदन पत्र में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि पुलिस जैसे अन्य महत्वपूर्ण विभागो को सुरक्षा व निपुणता की दृष्टि से जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथो मे न दिया जाय। इस प्रकार ड्यूक-आवेदन-पत्र ने द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना का सुझाव दिया। द्वैध-शासन प्रणाली का अभिप्राय यह था कि प्रान्तीय शासन को दो भागो में बाट दिया जाय, अर्थात् सरक्षित विभाग तो कार्यकारिणी परिषदों के हाथों मे रहें और वे केवल गवर्नर के प्रति ही उत्तरदायी हो। इसके विपरीत हस्तातरित विभाग जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो के हाथों में हो और वे व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो। ड्यूक आवेदन-पत्र और राउंड टेबिल ग्रुप की सिफारिशें ही मण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार योजना की मूलमन्त्र बनी और १९१९ का भारतीय-शासन सम्बन्धी एक्ट भी मुख्यत इन्ही के ऊपर आधारित था।

भारत-मन्त्री के पद पर मांटेग्यू की नियुक्ति

प्रथम महायुद्ध के जमाने में मैसोपोटामिया में युद्ध का प्रबन्ध अच्छा नही रहा था। इस सम्बन्ध में इंगलैंड की लोकसभा में एक बहुत जोरदार बहस हुई। बहस में मि० माटेग्यू नें मि० आस्टिन चैम्बर लैन को, जो कि भारत मन्त्री थे, बुरी तरह आड़े हाथो इसलिए लिया कि मेसोपोटामिया में सामग्री तथा सिपाही न पहुचने के फलस्वरूप ही यह गडबडी हुई थी। इसी के परिणाम स्वरूप मि० चैम्बर लैन ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया और उनके स्थान पर मि० माटेग्यू भारत मन्त्री नियुक्त हुए। मि० माटेग्यू १९१२ में भारत आ चुके थे और यहा उनकी बडी प्रतिष्ठा थी। उन्हें भारत का सच्चा शुभाकांक्षी समझा जाता था। भारतवर्ष के प्रति मि० माटेग्यू के हृदय में अगाध सहानुभूति थी। "मि० माटेग्यू का भारत मन्त्री बना दिया जाना भारतवर्ष ने अपनी एक बहुत बड़ी विजय समझी।" मि० मौटेग्यू का कथन था कि हमें भारतवर्ष पर वहां की जनता की सहमति से शासन करना चाहिये। स्वभावतः ऐसे राजनीतिज्ञ की भारत मन्त्री के पद पर नियुक्ति होनें से भारतीयो के हृदयों में ऊंची ऊंची आशायें जाग्रत हो गईं। भारत मन्त्री के पद का कार्य-भार सम्हालने के कुछ ही समय बाद २०

२० अगस्त, १९१७ की घोषणा

अगस्त १९१७ को मन्त्रि-मण्डल की ओर से, मि० मांटेग्यू ने निम्नलिखित घोषणा की, "सम्राट सरकार की यह नीति है, और उससे भारत सरकार पूर्णत: सहमत है, कि भारतीय शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयो का सम्पर्क उत्तरोत्तर बढ़े और उत्तरदायी शासन-प्रणाली का धीरे-धीरे विकास हो, जिससे कि अधिकाधिक प्रगति करते हुए स्व-शासन प्रणाली भारत मे स्थापित हो और वह ब्रिटिश साम्राज्य के एक अग के रूप में रहे। उन्होने यह तय कर लिया हैं कि इस दिशा मे, जितना शीघ्र हो ठोस रूप से कुछ कदम आगे बढाया जाय।" घोषणा मे यह भी कहा गया था "इस नीति में प्रगति क्रमशः ही अर्थात् सीढी दर सीढी होगी। ब्रिटिश सरकार और भारत सरकार ही जिनके ऊपर कि भारतीयों के हित और उन्नति का भार है, इस बात की निर्णायक होंगी कि कब और कितना कदम आगे बढ़ाना चाहिए।"

२० अगस्त १९१७ की घोषणा का भारत वर्ष में सर्वत्र स्वागत किया गया। उसे भारतीय 'मैगना कार्टा' के नाम से पुकारा गया। सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने लिखा

मि० मांटेग्यू की भारत-यात्रा

"आग्ल भारतीय इतिहास के पृष्ठ टूटी हुई प्रतिज्ञाओ के खडो से भरे पडे हैं परन्तु अब शायद एक नूतन अध्याय प्रारम्भ होने को था।"‡ नवम्बर १९१७ में मि० माटेग्यू देश के प्रमुख राजनीतिज्ञो के साथ विचार-विनिमय करने के लिए भारत पधारे। उन्हे अपने काम की महत्ता का पता था और उनके हृदय मे भारतीयो के प्रति सच्ची सहानुभूति थी। "मेरी भारत यात्रा का तात्पर्य यह है कि हम कुछ करने जा रहे हैं, कुछ महत्वपूर्ण कार्य करने जा रहे हैं। मै इगलैंड को खाली हाथ या कोई साधारण वस्तु लेकर नही लौट सकता। जिस वस्तु को लेकर मैं लौटूगा उससे नये युग का निर्माण होना चाहिये, अन्यथा मेरे प्रयत्न निष्फल होगे। उस वस्तु को भारतवर्ष के भावी इतिहास की कुजी के समान होना चाहिये।"* मि० मॉटेग्यू और उनके सहयोगियो ने ६ महीने तक सारे देश का दौरा किया, परन्तु जब अंतिम रूप से योजना तैयार होकर सामने आई, तब मि० माटेग्यू में वह उत्साह नही रहा था, जिसका प्रदर्शन उन्होने भारतवर्प में आने के समय किया था। तथापि उनकी भारत यात्रा एक और दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रही। उनके भारत आने से पूर्व श्रीमती एनी बीसेंट की नजरबन्दी के ऊपर सारे देश में काफी असन्तोष छाया हुआ था और कांग्रेस सत्याग्रह प्रारम्भ करने के प्रस्ताव पर सोच विचार कर रही थी। माटेग्यू ने भारतवर्ष में पदार्पण करते ही देश की राजनीतिक हवा के रुख को पलट

‡ सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी- ए नेशन इन दि मेकिंग, पृ. ३०३
* जी.एन. सिंह द्वारा उद्धृत - वही; पृ ३०८

दिया। उनकी पारदर्शी सहानुभूति ने भारतवर्ष के बहुत से महत्वपूर्ण नेताओं का समर्थन प्राप्त किया। एनी बीसेंट जो कि पहले बहुत उग्र थीं, अपनी सारी तेजी भूल बैठी और एक दम से नरम हो गईं। सत्याग्रह के विचार को ठुकरा दिया गया। मि. मॉंटेग्यू इस बात का ठीक ही दावा कर सकते थे कि उन्होंने महायुद्ध के एक बहुत ही संकटकालीन अवसर पर भारतवर्षको ६ महीने तक बिल्कुल शांत रखा।

मॉंटेग्यू-चेम्सफोर्ड प्रतिवेदन

"भारतीय वैधानिक सुधारों के ऊपर संयुक्त मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड-प्रतिवेदन के प्रकाशित होते ही भारतीय राजनीतिज्ञों को बहुत गहरा धक्का पहुँचा। यह एक निराशाजनक प्रलेख था। इसमें इस बात पर बल दिया गया था कि भारतीय जनता का विशाल बहुमत अभी बहुत पिछड़ा हुआ है, भारतवर्ष की विभिन्न जातियों में काफी मतभेद है, हिन्दुओं की वर्ण-व्यवस्था लोकतन्त्र के सर्वथा विरुद्ध है और भारत इस योग्य नहीं है कि केन्द्रीय सरकार में कोई महत्वपूर्ण अन्तर किया जाय। साम्प्रदायिक निर्वाचनों का इस प्रतिवेदन मे घोर विरोध किया गया था।* परन्तु फिर भी उसने साम्प्रदायिक निर्वाचनों को न केवल मुसलमानों तक ही सीमित रखा, अपितु सिक्खो के ऊपर भी उन्हें लागू करने की सिफारिश की। उसमें प्रांतों में उत्तरदायी शासन के प्रयोग को करने की सिफारिश की गई, परन्तु जनता के प्रतिनिधियों को पूर्ण उत्तरदायित्व देने से इन्कार कर दिया। उसने द्वैध शासन प्रणाली की पुर स्थापना का प्रस्ताव किया। जहा तक केन्द्र का सम्बन्ध है, प्रतिवेदन ने कार्यकारिणी को पूर्ववत् ही अनुत्तरदायी रखने की आवश्यकता पर बल दिया, परन्तु उसने इस बात की सिफारिश की कि व्यवस्थापक-मण्डल के दो सदन होने चाहिए और दोनो ही सदनो मे निर्वाचित प्रतिनिधियो का बहुमत होना चाहिए। प्रतिगामिता की शक्तियो को और दृढ करने के उद्देश्य से एक नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना का प्रस्ताव किया गया। यद्यपि कांग्रेस-लीग-योजना की साम्प्रदायिक-सिफारिशो को स्वीकार कर लिया गया और उन्हे बढा भी दिया गया था परन्तु सारी योजना को बहुत अधिक क्रांतिकारी बताया गया।

* "पंथो तथा वर्गों द्वारा विभाजन का अभिप्राय ऐसे राजनीतिक गुटो की सृष्टि करना है जो कि एक दूसरे के विरुद्ध हो। यह मनुष्यो को नागरिको के रूप में नही, पक्षभागियो के रूप मे विचार करना सिखाता है। बहुधा ब्रिटिश सरकार पर दोषारोप किया जाता है कि उसने आदमियो पर शासन करने के लिये उनमे फूट डाल दी है। परन्तु यदि वह अनावश्यक रूप से उनमे उस समय फूट डालती है, जब कि उसका इरादा उन्हें स्व-शासन के पथ का पथिक बनाना होता है, उसे दम्भी तथा अदूरदर्शी के दोषारोप का सामना करना कठिन मालूम पड़ेगा। मॉंटफोर्ड रिपोर्ट।

माटेग्यू-चेम्सफोर्ड-प्रतिवेदन के प्रकाशन ने भारतीय जनमत को गहरा धक्का पहुँचाया। युद्धकाल में भारतीय नेताओ ने जिन बड़ी बडी आशाओ को पाल रक्खा था, वे सब ढह गईं। थोड़े से उदारवादियो और आग्ल-भारतीयों को छोड़ कर शेष सभी ने उसकी एक स्वर से निन्दा की। मुस्लिम-लीग तक ने उसका विरोध किया और कांग्रेस-लीग-योजना का पुनः अनुमोदन किया। एनी बीसेंट ने अपने पत्र "न्यू इण्डिया" में लिखा कि यह योजना देना इगलैण्ड के लिये अशोभन और भारतवर्ष के लिये इसका स्वीकार करना अपमानजनक था।"

सारांश

मार्ले-मिंटो सुधारो के तुरन्त बाद ही जो युग प्रारम्भ हुआ, वह भारतीय राजनीति के उतार का समय था। उग्रवादियो को राजनीतिक क्षेत्र मे लगभग बहिष्कृत सा ही कर दिया गया था, फलत· वह शान्ति का समय था। नए गवर्नर जनरल लार्ड हॉर्डिञ्ज ने काग्रेस के प्रति, जो कि मार्ले-मिंटो सुधारो को क्रियान्वित करने की भरसक चेष्टा कर रही थी, मेल-जोल की नीति बरती। १९११ मे सम्राट जार्ज पंचम भारत आए। उनका खूब जोर-शोर से स्वागत किया गया। उन्होंने बग-भग को रद्द किया, इससे भारत मे हर्ष की और ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति प्रशसा की एक लहर दौड़ गई। परन्तु काग्रेस सरकार की निरन्तर आलोचना करती रही और इस बात पर बल देती रही कि भारत को स्व-शासन प्राप्त होना चाहिए। काग्रेस ने इस बात की माग की कि प्रतिनिधिक शासन की दिशा मे कुछ ठोस कदम आगे बढने चाहिए और प्रान्तीय परिषदो को यह अधिकार मिलना चाहिए कि वे कार्यकारिणी शासन के कृत्यो पर नियन्त्रण स्थापित कर सकें।

१९१४ में तिलक जेल से छूट कर आ गए और एनी बीसेट ने भारतीय राजनीति मे पदार्पण किया। इसके बाद भारतीय राजनीतिक जीवन पुन अगडाई लेकर उठ बैठा। इन दोनो नेताओ ने होमरूल आन्दोलन को खडा किया। यह आन्दोलन दावानल की तरह चारो ओर फैल गया। सरकार ने इस आन्दोलन को कुचल डालने के लिए दमन के हथकण्डो का प्रयोग किया और २० अगस्त १९१७ की घोषणा के पश्चात यह आन्दोलन धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

मार्ले मिंटो-सुधारो के युग में हिन्दू और मुसलमानो के बीच भी सहयोग और सौहार्द की आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। अबुल कलाम आजाद, मोहम्मद अली जिन्ना और अली बन्धुओ जैसे नए नेताओ ने मुस्लिम लीग मे राष्ट्रवादी भावनाओं का सन्निवेश किया और १९१६ के कांग्रेस-लीग-समझौते का पथप्रशस्त किया।

प्रथम महायुद्ध के बीच भारत ने जर्मनी के खिलाफ इंगलैंड की जान और माल दोनो से भरसक सहायता की। भारतवर्ष का हार्दिक सहयोग प्राप्त करने की वांछा से ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने इस प्रकार की घोषणाएं करदी कि अब भारत की समस्या को एक नए दृष्टिकोण से देखा जायगा, अब इगलैंड और भारत के सम्बन्धों में एक नूतन अध्याय की सृष्टि होगी। भारतीय राजनीतिक नेताओ ने नए शासन सम्बन्धी सुधारों के लिए कुछ रचनात्मक सुझाव दिए। २० अगस्त, १९१७ को मि. माटेग्यू ने अपनी ऐतिहासिक घोषणा की और इस बात का वचन दिया कि ब्रिटिश नीति का अन्तिम ध्येय भारत मे क्रमश. उत्तरदायी शासन की स्थापना करना हैं। घोषणा के कुछ ही समय पश्चात् मि. माटेग्यू ने भारत की यात्रा की। इस यात्रा के लिए उन्होने कहा कि वे भारत में एक नए युग का निर्माण करने वाली कुछ चीज करेंगे। परन्तु भारत सरकार के अ-सहानुभूतिमय दृष्टिकोण के कारण मि. माटेग्यू को अपनी आशाओ में सफलता नही मिली। जब सुधारो की अन्तिम योजना तय्यार हुई, मि माटेग्यू का सारा उत्साह शिथिल पड गया। माटेग्यू-प्रनिवेदन ने भारत को बहुत हानि पहुँचाई। उसने साम्प्रदायिक निर्वाचनो को न केवल मुसलमानो तक ही सीमित रक्खा, वरन् उन्हे सिक्खो के ऊपर भी लागू कर दिया।

अध्याय ८

भारतीय शासन-सम्बन्धी एक्ट. १६१६

४३. मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना के मूलमंत्र

भारतीय सवैधानिक सुधारो के ऊपर माटेग्य-चेम्सफोर्ड-प्रतिवेदन ८ जुलाई,-१६१६ को प्रकाशित हुआ था। इस प्रतिवेदन की सिफारिशे १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट में ससकत कर ली गई। इस एक्ट को ब्रिटिश-ससद ने १८ दिसम्बर १९१६ को पारित किया और पाच दिन पश्चात् सम्राट् ने उस पर अपनी स्वीकृति दे दी। एक्ट की प्रस्तावना मे १६१७ की घोषणा के साराश को दुहराया गया था। मौंटफोर्ड प्रतिवेदन ने, जो कि नूतन सविधान-एक्ट का आधार बना, घोषणा मे कही हुई नीति को कार्यान्वित करने के लिए चार मूलभूत सिद्धातो को निर्धारित किया।

प्रस्तावना

मूलभूत सिद्धान्त

वे सिद्धात निम्नलिखित थे (१) "जहा तक हो सके स्थानिक सस्थाओ मे जनता का पूर्ण अधिकार हो। उनका नियत्रण उसी के द्वारा हो और बाह्य नियत्रण से उनको अधिकाधिक स्वतत्रता प्राप्त हो" (२) प्रान्तीय सरकारो को सत्ता का विदान और प्रान्तों मे आशिक उत्तरदायित्व का सूत्रपात, (३) भारत सरकार की ब्रिटिश-ससद के प्रति अनवरत उत्तरदायिता परन्तु केन्द्रीय विधान-मण्डलो का, जिन्हे कि शासन पर प्रभाव डालने का अधिक अवसर दिया जाय, विस्तार, (४) गृह सरकार के नियत्रण का शिथिलीकरण। भारतवर्ष के सवैधानिक ढाचे मे, नूतन एक्ट द्वारा जो परिवर्तन किए गए, उनके आधार ये ही मूलभूत सिद्धान्त थे। सबसे पहली बात तो यह है कि सुधार-एक्ट का उद्देश्य भारतीय मामलो मे गृह-सरकार के नियत्रण को शिथिल करना था, परन्तु उसने भारत-मत्री के अधिकारो में किसी प्रकार का औपचारिक परिवर्तन नही किया। इस सम्बन्ध में केवल यह पवित्र आशा व्यक्त की गई थी कि उचित अभिसमयों की वृद्धि के साथ ही साथ यह शिथिलीकरण अपने आप सम्पन्न हो जायगा।

मुख्य विशेषताएं:
(१) गृह-सरकार के नियंत्रण का शिथिलीकरण

दूसरी यह है कि केन्द्रीय-शासन में उत्तरदायिता के तत्व का पुरःस्थापना नहीं किया गया। सपरिषद गवर्नर जनरल को पूर्ववत् केन्द्रीय व्यवस्थापिका को नियन्त्रण से पूर्णतः मुक्त रक्खा गया। नूतन केन्द्रीय व्यवस्थापिका में दो सदन थे, प्रत्येक सदन में निर्वाचित बहुमत दिया गया। इसके अलावा केन्द्रीय व्यवस्थापिका के अधिकारो में वृद्धि कर दी गई जिससे कि वह कार्यपालिका को यदि नियन्त्रित नही तो प्रभावित अवश्य कर सके. इस प्रकार यह एक्ट दो विरोधी वस्तुओं का सयोग था। केन्द्रीय क्षेत्र में इस एक्ट ने स्वेच्छाचारी कार्यपालिका और किंचित् लोकतन्त्रात्मक व्यवस्थापिका के बीच समन्वय से जो कठिनाइया उत्पन्न हो सकती थी, उन्हे दूर करने के उद्देश्य से गवर्नर जनरल को कुछ विशेष अधिकार दिये गए। यदि वह "भारतवर्ष या उसके किसी भाग की सुरक्षा, शान्ति अथवा उसके हितो के लिये" किन्ही कानूनो को आवश्यक समझता, तो वह उन्हे व्यवस्थापिका की सहमति के बिना भी अपने इन विशेषाधिकारो के जोर से, अधिनियमित कर सकता था। तीसरी बात यह है कि इस एक्ट ने केन्द्रीकरण की उस नीनि को, जो लार्ड कर्जन के शासन-काल में अपनी उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गई थी, समाप्त कर दिया। प्रशासन और राजस्व के कतिपय विषयो का विकेन्द्रीकरण कर दिया गया, अर्थात उन्हे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से हटा कर प्रान्तीय सरकारो के नियन्त्रण मे दे दिया गया। विकेन्द्रीकरण और प्रातीय स्वायत्तता की नीति को प्रान्तो मे उत्तरदायी शासन की स्थापना करके भी अभिपूरित किया गया। एक्ट ने प्रान्तो मे एकदम से ही उत्तरदायी शासन की स्थापना नहीं कर दी। उसने प्रान्तीय प्रशासन को दो भागो मे बाटा। एक भाग मे 'सरक्षित विषय सम्मिलित थे। इन विषयो को अटल-अचल कार्यकारिणी परिषदो के आधीन रक्खा गया जो केवल गवर्नर के ही प्रति उत्तरदायी थे और व्यवस्थापिका द्वारा नियन्त्रित नही किये जा सकते थे। दूसरे भाग मे 'हस्तातरित' विषय सम्मिलित थे। इन विषयो को मन्त्रियो की आधीनता मे रक्खा गया। ये मन्त्री व्यवस्थापिका के सदस्यो में से ही चुने जाते थे और अपने कार्यों व नीति के लिये पूर्णतः सदन के प्रति उत्तरदायी थे। इस एक्ट के आधीन विधान-सभाओ को लोकतंत्रात्मक बनाया गया। उनमे पर्याप्त विस्तार किया गया, निर्वाचित सदस्यों का सारभूत बहुमत रक्खा गया और उनके अधिकारों में वृद्धि कर दी गई। पाचवे, इस एक्ट ने प्रत्यक्ष निर्वाचनो का सूत्रपात किया और मताधिकार

२ केन्द्रीय कार्यपालिका को अनुत्तरदायी रक्खा गया परन्तु केन्द्रीय व्यवस्थापिका को उसे प्रभावित करने के लिए अधिक अधिकार दे दिए गए

(३) विकेन्द्रीकरण

(४) प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायित्वः द्वैध-शासन

(५) निर्वाचन और मताधिकार

को बढा दिया। नए निर्वाचन-नियमों के अनुसार भारतवर्ष की वयस्क जन संख्या के १०% भाग को मतदान का अधिकार दिया गया। यह स्मरणीय है कि इस एक्ट ने न केवल मॉर्ले-मिंटो-सुधारो के अन्तर्गत एक मात्र मुसलमानों के लिये पुरःस्थापित पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचन को कायम ही रक्खा, अपितु इस पद्धति को पजाब में सिक्खो के लिए, तीन प्रातो को छोड कर बाकी सब प्रान्तों में यूरोपीयो के लिये, दो प्रान्तो मे आग्ल-भारतीयो के लिये और एक प्रान्त मे भारतीयों के लिए और एक प्रान्त मे भारतीय ईसाइयो के लिए भी लागू कर दिया। इस प्रकार मोटफोर्ड-प्रतिवेदन के रचयिताओ द्वारा निन्दित दोष को उस सविधान में और भी अधिक बढा चढा कर सम्मिलित किया गया, जिसका कि निर्माण उनकी सिफारिशो के अनुसार ही किया गया था। छठी बात यह है कि १९१९ का

(६) प्रयोगकालीन व संक्रान्तिकालीन उपाय

एक्ट स्पष्टत एक प्रयोगकालीन व सक्रान्तिकालीन उपाय था। २० अगस्त १९१७ की घोषणा में जो वायदे किये गये थे, उनको कार्यान्वित करने का यह प्रथम प्रयास था। उस समय भारतवर्ष मे जो नौकरशाही प्रशासन विद्यमान था, इस एक्ट ने उसमे थोडा सा सुधार करने की चेष्टा की यद्यपि वह सुधार आशिक ही था। द्वैध-शासन इसका फल था। लॉर्ड मेस्टन के शब्दो में "स्वेच्छातत्र और लोकतत्र उस समय तक हाथ मे हाथ मिला कर साथ साथ चलने के लिए बाध्य थे, जब तक कि लोकतत्र स्वयं चलना न सीख ले और अकेला चलने के विश्वास-योग्य न हो जाय।" मोटफोर्ड-सुधारो ने १० वर्ष बाद नई योजना के आधीन की गई उन्नति का अध्ययन करने के लिये और यह निश्चित करने के लिए कि पूर्ण उत्तरदायी शासन के लक्ष्य की ओर एक कदम और आगे बढाया जा सकता है या नही, एक रॉयल कमीशन की नियुक्ति का विधान करके स्वत ही अपनी प्रयोगकालीन व सक्रान्तिकालीन प्रकृति का परिचय दिया था।

गृह-सरकार

४४. गृह-सरकार का आशय

१९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट का विस्तृत विश्लेषण करने के पूर्व उस एक्ट के आधीन स्थापित शासन की एक प्रमुख विशेषता की ओर इगित कर देना बहुत आवश्यक है। यह प्रमुख विशेषता भारतीय थी, शासन का

सरकार के दो भाग

दो भागों में विभाजन, जिनमें से कि एक भाग तो इंलगड में कार्य करता था और दूसरा भारत में। यह द्वैधवाद भारतवर्ष में ब्रिटिश-साम्राज्यवाद के अनोखेपन का अनिवार्य परिणाम था। भारत के पूर्ववर्ती विजेता (उदाहरणार्थ मुसलमान) यहा स्थायी रूप से बस गए, उन्होंने इसी देश को अपनी मातृभूमि और पितृभूमि बनाया। वे किसी विदेशी सत्ता के दबाव में नही रहे। फलत. यहा उन्होने जिस शासन प्रबन्ध की नीव डाली, वह किसी भी विदेशी सत्ता के आदेश या नियन्त्रण की आधीनता में नहीं था। अंग्रेज विजेताओ ने भारत वर्ष को अपना स्थायी घर बनाना स्वीकार नही किया। यद्यपि ब्रिटिश-साम्राज्यवाद ने यहां अपनी जडें जमा ली थी, परन्तु फिर भी जो अग्रेज उसकी सेवार्थ आते थे, वे केवल कुछ ही समय यहाँ ठहरते थे, वे भारत-वर्ष को अपना देश कदापि नही मानते थे, उनकी आंखें सदैव इगलैंड की ओर ही लगी रहती थी, और वे यहा जैसे ही अपना कार्य पूरा कर लेते, इगलैंड की राह पकडते थे। फल यह होता था कि साम्राज्य की सम्पूर्ण सत्ता का स्नायु-केन्द्र इगलैंड ही बना रहता था। भारतीय प्रशासन की सम्पूर्ण प्रणाली वही से नियन्त्रित होती थी।

एक-इंगलैंड में क्रियाशील गृह-सरकार

इगलैंड मे स्थापित सस्थाओ का सामूहिक नाम गृह-सरकार था। इसके पाच मुख्य पग थे—सम्राट, मन्त्रिमण्डल, ससद, भारत मन्त्री और उनकी कौसिल। परन्तु चू कि गृह-सरकार प्रशासन के वास्तविक दृश्य मे बहुत दूर थी, अत उसका नियन्त्रण और निरीक्षण अत्यन्त साधारण प्रकृति का था। भारतवर्ष के दिन प्रतिदिन के प्रशासन का कार्य स्वाभाविक रूप से केन्द्रीय और प्रातीय सरकारो के पदाधिकारियो के हाथो मे रक्खा गया था। ब्रिटिश सरकार का यह भाग भारत वर्ष में ही गृह-सरकार के अभिकर्ता के रूप मे कार्य करता था।

दूसरी भारत में क्रियाशील, केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारें

४५. भारत मन्त्री

भारतमन्त्री के पद की सृष्टि १८५८ में हुई थी, जबकि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को समाप्त कर दिया गया था और भारत का शासन प्रबंध सीधा ब्रिटिश 'क्राउन' के हाथों में चला गया था। कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स और बोर्ड ऑफ कंट्रोल पहले शासन सम्बन्धी जिन जिन अधिकारो का उपभोग करते थे, भारतमंत्री

पद की प्रकृति

ने उनको उत्तराधिकार में प्राप्त किया। वह राज्य का एक प्रमुख मंत्री व ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का सदस्य होता था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह लोक-सदन में बहुमत वाले दल का सदस्य होता था। वह अपने पद को उस समय सम्हालता था, जबकि दल अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता था। भारत मन्त्री अपने पद को दो ही परिस्थितियों में त्यागता था—या तो उस समय जबकि मन्त्रिमण्डल लोक-सदन का विश्वास खो दे या उस समय जबकि पाँच वर्ष अथवा उससे पूर्व अपने यथाक्रम जीवन के अन्त पर वह (मन्त्रिमण्डल) भग हो जाता। भारत मन्त्री का पद सयुक्त उत्तर-यित्व के सिद्धान्त के अनुकूल था। भारत मन्त्री पूर्णत ब्रिटिश ससद का एक अभि-कर्त्ता या सेवक था, वह अपनी नीतियों और कार्यों के लिए उसके प्रति उत्तरदायी था। इसलिए यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश-ससद भारत मन्त्री के द्वारा ही भारत प्रशासन का नियन्त्रण व निरीक्षण करती थी।

ब्रिटिश-संसद के एक अभिकर्ता अथवा सेवक के रूप मे भारत मन्त्री के पद का ऊपर जो वर्णन किया गया है, उससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत मन्त्री का वेतन अपने स्वामी अर्थात ब्रिटिश ससद से ही मिलना चाहिए। परन्तु १९१९ के भारतीय शासन-सम्बन्धी एक्ट के पारित होने के पूर्व ऐसा नहीं था। उस समय तक भारत मन्त्री एव उसके विभाग के वेतन का भार ब्रिटिश-ससद वहन नही करती थी, अपितु वह भारत के ही मत्थे पडता था। यह बात नीति विरुद्ध भी थी और न्याय विरुद्ध भी। इस पद्धति के समर्थन में यह लचर दलील उपस्थित की जाती थी कि चूकि यह व्यय भारतीय प्रशासन के निरीक्षण में लगाया जाता है, अत इसका भार भारत के ही कंधो पर पडना चाहिए। यह विशुद्ध उपनिवेशवाद था और उक्त तर्क मे इस तथ्य की पूर्ण उपेक्षा करदी गई थी कि भारत का और भारतीय जनता का उस मन्त्री पर, जिसके लिए उसे प्रतिवर्ष लाखो रुपये की राशि व्यय करनी पडती थी, तनिक भी नियन्त्रण नही था। यह बात नियम विरुद्ध थी क्योकि अधिराज्यो (Dominions) और उपनिवेशो के लिए जो मन्त्री नियुक्त होते थे उन सबको ब्रिटिश राजकोष से वेतन मिलता था। इस कटु भेदभाव का भारतीय लोकमत ने सदैव विरोध किया था। १९१९ के एक्ट ने इस असंगति को दूर कर दिया और निर्धारित किया कि "भारत मन्त्री का वेतन, उसके उपमन्त्रियो का वेतन और उसके विभाग के अन्य व्यय भारत वर्ष की आय मे से चुकाने के बजाय संसद द्वारा प्रदत्त राशि में से चुकाए जा सकते हैं और भारतमंत्री का वेतन इसी पकार चुकाया जायगा।" इस सबध

१९१९ के एक्ट ने एक असंगति को दूर कर दिया

में 'जायगा' और 'सकते हैं' शब्दों का प्रयोग अर्थपूर्ण था। जो व्यवहार में हुआ, वह यह है कि जैसे ही एक्ट क्रियारूप में परिणत हुआ भारत मन्त्री का वेतन तो ब्रिटिश-आय में से चुकाया जाने लगा परन्तु विभाग के खर्चों के लिए ब्रिटिश राजकोष ने १५०,००० पौंड वार्षिक का ही अनुदान निश्चित किया। परन्तु इतनी अल्पराशि से भारत मन्त्री के विभाग का सारा खर्चा नही चल सकता था, फलत बाकी सारा व्यय भारत के मत्थे पडता था। परन्तु फिर भी, वैधानिक दृष्टि से इस परिवर्तन का बहुत अधिक महत्व था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि भारत मन्त्री के ऊपर ब्रिटिश संसद का सीधा नियंत्रण स्थापित हो गया। इसमें कोई सन्देह नही कि कम से कम सैद्धातिक दृष्टि से ब्रिटिश संसद को भारत के मामलो मे हस्तक्षेप करने का और भारत मत्री व उसके विभाग की नीतियों की देखरेख करने तथा उन्हे निर्देश देने का सदैव ही अधिकार प्राप्त था। परतु यह नियत्रण उस समय, जबकि ससद को भारतमत्री के वेतन और उसके विभाग के लिए कुछ व्यय प्रदान करने की नौबत आई, प्रत्यक्ष और नियमित हो गया। वार्षिक बजट मे इस प्रयोजन के लिए जो राशि स्वीकृत की जाती थी, उसके मतदान के अवसर पर, भारतीय मामलो ने स्वभावत ससद के ध्यान को अपनी ओर अधिकाधिक आकृष्ट करना प्रारम्भ कर दिया।

परिवर्तन का वैधानिक महत्व

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है भारत मन्त्री ब्रिटिश ससद का अभिकर्ता था। उसका कर्त्तव्य यह था कि वह भारत के शासन और राजस्व से सम्बन्धित समस्त क्रिया कलापो का निरीक्षण व नियन्त्रण करे। १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने उल्लिखित रूप से इसको उपबन्धित किया। इस एक्ट ने भारतवर्ष के गवर्नर जनरल के लिये और उसके माध्यम से प्रान्तीय गवर्नरो के लिये यह आवश्यक कर दिया कि वे सभी महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध मे भारत मन्त्री को निरन्तर सूचना देते रहे व उसके आदेशो का उचित रूप से पालन करें। भारत वर्ष में सम्राट जितनी भी नियुक्तियां करते थे, वे सब भारत-मन्त्री के परामर्श के अनुसार करते थे। भारत-मन्त्री को यह अधिकार प्राप्त था कि वह जिसको चाहे, अपने पद से च्युत कर दे। उसकी स्वीकृति के बिना विनिश्चित महत्तम से ऊचे वेतन वाले किसी भी पद का न तो निर्माण ही और न उन्मूलन ही किया जा सकता था। अखिल भारतीय सेवाओं की भरती और उनके नियन्त्रण का दायित्व भी उसी के कधो पर था। व्यवस्थापिका क्षेत्र में भी अन्तिम सत्ता का वही उपभोग करता था। भारतीय व्यवस्थापिका अथवा प्रान्तीय विधान सभाओ में कोई

भारत-मन्त्री के अधिकार

भी महत्वपूर्ण कानून उसकी अनुमति के बिना पुरःस्थापित नहीं किया जा सकता था। यही बात वित्तीय विषयों के ऊपर भी लागू होती थी। व्यय या कर के कोई भी नए मद भारतीय बजट या प्रान्तीय बजटों में उसकी सहमति के बिना पुरःस्थापित नही किये जा सकते थे। वस्तुत भारत मन्त्री का वित्तीय नियन्त्रण इतना अधिक व्यापक था कि बहुधा यह कहा जाता था कि उसकी स्वीकृति के बिना भारतवर्ष में एक आना तक भी खर्च नही किया जा सकता था।

कानूनी दृष्टि से १९१९ के एक्ट ने भारत-मन्त्री को भारत के शासन व राजस्व विषयक मामलो में पूरा स्वामी बना दिया था। तथापि, प्रान्तो मे उत्तरदायी शासन के आंशिक सूत्रपात व भारतीय (केन्द्रीय) व्यवस्थापिका के अधिकारो के विस्तार को दृष्टि में रखते हुये यह आवश्यक समझा गया कि भारत मन्त्री की सत्ता को कुछ शिथिल कर दिया जाय। हस्तातरित विषयो के सबन्ध में यह स्पष्ट कर दिया गया कि जहा तक सभव हो भारत मन्त्री किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। सरक्षित और केन्द्रीय विषयो के सम्बन्ध मे भी यह स्पष्ट कर दिया गया कि यदि भारत-सरकार और भारतीय-व्यवस्थापक सभाए किसी विशुद्ध भारतीय विषय मे एक मत हो तो भारत-मन्त्री उनको अपनी इच्छानुसार काम करने दे और कुछ आवश्यक अवसरो को छोड कर उनके कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करे। ससद के दोनो सदनो की सयुक्त-प्रवर-समिति ने 'वित्तीय-स्वायत्तता-अभिसमय को अगीकृत करने की सिफारिश उपस्थित की। यह सुझाव दिया गया कि आयात-निर्यात-करो के बारे में भारत की व्यवस्थापिका व सरकार, समझौते के द्वारा, उन करो को लागू करने के लिए, जिन्हे वे ब्रिटिश सौदागरो के हितो की अपेक्षा न रखते हुए, भारतीय सौदागरो व उपभोक्ताओ के हितो में आवश्यक समझती हो, स्वतन्त्र होनी चाहिएँ। इस अभिसमय की सिफारिश इस सन्देह को कि "भारतवर्ष की वित्तीय नीति, इगलेंड के वाणिज्य के हित मे, व्हाइट हाल से बलात् प्रसारित की जानी हैं," दूर करने के दृष्टिकोण से उपस्थित की गई थी।*

१९१९ के एक्ट के अधीन भारत-मंत्री की सत्ता का शिथिलीकरण

---

* मुकर्जी- दि इंडियन कांस्टीट्यूशन, भाग २, पृ ५२३

यह देखना बहुत सुगम है कि ब्रिटिश ससद के प्रति प्रत्यक्षत: उत्तरदायी भारतीय सरकार (अर्थात् गवर्नर जनरल और कार्यकारिणी परिषद) और भारतीय लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाली भारतीय व्यवस्थापिका सभा, उन विषयों के सम्बन्ध में जो

भारत-मन्त्री के अधिकारों के उक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कानूनी दृष्टि से, वह भारतीय प्रशासन के प्रमुख, गवर्नर जनरल का अधिपति होता था। गवर्नर जनरल के लिए यह आवश्यक था कि वह भारत-मन्त्री के आदेशो का उचित रूप से पालन करे। परन्तु उन दोनो के सम्बन्ध बहुत कम कानून के अक्षरशः अनुरूप होते थे। गवर्नर जनरल भारत में ही उपस्थित रहता था, यहा कानून और व्यवस्था के सधारण का उत्तरदायित्व पूर्णत. उसके ही कधो पर था, अत यह सभव नही था कि वह भारतवर्ष से सात समुद्र की दूरी पर विराजमान भारत-मन्त्री के ही आदेशानुसार निरन्तर चलता। आवश्यकता से बाध्य होने पर बहुत से कार्य उसे स्वयं ही सोच विचार कर करने पडते थे। भारत मन्त्री ने भी उसे ऐसे कार्य करने की पर्याप्त स्वतन्त्रता दे रक्खी थी। भारत मन्त्री ऐसा करने के लिये लाचार था। वह भारत वर्ष से समुद्रपार सहस्रो मीलो के फासले पर अवस्थित रह कर यहा के शासन का पूर्णत नियन्त्रण करने में असमर्थ था। इस सम्बन्ध में बहुत कुछ वैयक्तिक तत्त्व पर भी निर्भर रहता था। यदि भारत मन्त्री, कोई दृढ स्वभाव का पुरुष होता, उसके पास कोई निश्चित नीति होती जिसे कि वह कार्यान्वित करना चाहता, तो वह गवर्नर जनरल को अहते अभिकर्ता के रूप मे प्रयुक्त कर सकता था। इसके विपरीत यदि भारत मन्त्री नरम स्वभाव का व गवर्नर जनरल प्रभविष्णु होता तो भारत मन्त्री गवर्नर जनरल के कार्यों मे विशेष हस्तक्षेप न करता था, उसे मन चाही नीति बर्तने देता था और उसके दस निर्णयो मे से नौ मे हामी भर देता था। इस प्रकार यदि भारत-मन्त्री के प्रति गवर्नर जनरल की आधीनता के तथ्य का विरोध नही किया जा सकता, तो इतना तो अवश्य कहा ही जा सकता है कि, "वे एक ही ऊचे प्लेटफार्म पर खडे होने वाले साथी व सहयोगी थे, परन्तु उनके धरातलों में थोड़ा सा अन्तर था।"†

भारत मन्त्री का गवर्नर जनरल के साथ सम्बन्ध

४६. इंडिया कौंसिल

इडिया कौंसिल की सृष्टि १८५८ मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी के भङ्ग होने के पश्चात की गई थी। जैसा कि हम ऊपर कह चुके है भारत-मन्त्री उन सब शक्तियों

---

† पलन्दे: इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन, पृष्ठ ५६।

भारतीय वाणिज्य के अनुकूल और ब्रिटिश वाणिज्य के प्रतिकूल पड़ते थे, पूर्णत एकमत नही हो पाती थी। अत यह पवित्र सिफारिश, जितनी देखने में मालूम पड़ती थी, उससे न्यूनतर गुण-विधायिनी थी।

इसकी सृष्टि कब और क्यों की गई

का उत्तराधिकारी बन गया जिनका कि पहले बोर्ड ऑफ कंट्रोल व कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स प्रयोग करते थे। ससद के सर्वोच्च व अंतिम नियन्त्रण के अधीन भारतीय प्रशासन के निरीक्षण व संचालन का कार्य उसके सुपुर्द किया गया। यह आवश्यक था क्योकि भारतीय सरकार एक विदेशी नौकरशाही थी जिसके ऊपर भारतीय जनता का अणुमात्र भी नियन्त्रण नही था। इन परिस्थितियो के अन्दर भारत-मन्त्री का निरीक्षण व नियन्त्रण ही इस नौकरशाही को निरंकुश स्वेच्छाचारी बनने से रोक सकता था। परन्तु, यह स्पष्ट था कि भारत-मन्त्री के पद पर किसी ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति भी सर्वथा सम्भाव्य थी जिसे कि भारत के बारे में बहुत कम ज्ञान हो या बिल्कुल ही ज्ञान न हो। यदि उसे अपने महान् अधिकारों का ठीक-ठीक प्रयोग करना था तो यह आवश्यक था कि उसे कुछ ऐसे व्यक्तियो की सहायता मिला करे, जिन्हें कि भारत की दशा के बारे में उच्चकोटि का ज्ञान हो, जो भारतवर्ष मे काफी समय तक रह चुके हो, काम कर चुके हो। ये 'विशेषज्ञ' भारत-मन्त्री का मार्ग-दर्शन कर सकते थे, उसे परामर्श दे सकते थे ताकि वह अपने कर्तव्यों का उचित रूप मे पालन कर सके। इस प्रकार इडिया कौंसिल का उद्भव हुआ।

इंडिया कौंसिल का संक्षिप्त इतिहास

१८५८ के एक्ट के उपबन्धो के अधीन इडिया कौंसिल मे १५ सदस्य होते थे जिनमें से कि कम से कम ९ ने भारतवर्ष में १० वर्ष तक काम या निवास किया हो और अपनी नियुक्ति की तिथि के १० वर्षों से अधिक के पूर्व भारत को न छोड़ा हो। वे श्रेष्ठ/आचरण पर्यन्त अपने पद पर नियुक्त रहते थे और १२०० पौण्ड प्रतिवर्ष वेतन पाते थे। कौंसिल का कार्य यह था कि वह भारतीय सरकार के साथ जो पत्र-व्यवहार हो, व इगलैण्ड मे भारतीय सरकार से सम्बन्धित जो कुछ भी कार्य-व्यापार हो, उस सबका भारत-मन्त्री के आदेशो के अनुसार प्रबन्ध करे। कौंसिल की सप्ताह मे एक बार बैठक होती थी और भारत-मन्त्री उसका अध्यक्ष होता था। कुछ उल्लिखित विषयो को छोड कर भारत-मत्री कौंसिल के बहुमत के निर्णय का उल्लघन कर सकता था। हा, उसे उन कारणो की व्याख्या अवश्य करनी पड़ती थी, जिनके फलस्वरूप कि उसने ऐसा किया। इसके अलावा, भारत मन्त्री गोपनीय व आवश्यक प्रपत्रों को, जो कि भारत सरकार से सबंधित हो, बिना कौंसिल के समक्ष उपस्थित किये हो भेज या प्राप्त कर सकता था।

१८८९ में इण्डिया कौंसिल के सदस्यो की सख्या को १५ से कम कर १० कर

देने का निश्चय किया गया। १९०७ में इसमें पुनः परिवर्तन किया गया। अब की बार यह निर्धारित किया गया कि कौंसिल के सदस्यो की सँख्या १५ से अधिक नहीं और १० से कम नहीं होनी चाहिये। नये एक्ट ने प्रत्येक सदस्य का कार्य-काल ७ वर्ष निश्चित किया व वार्षिक वेतन १२०० पौ से घटाकर १००० पौ कर दिया। उसी वर्ष, सर्वप्रथम बार, दो भारतीयो को इंडिया कौंसिल में नियुक्त किया गया।

मोंटफोर्ड सुधारों के पश्चात् इण्डिया कौंसिल में परिवर्तन

१९१९ के एक्ट के अधीन इण्डिया कौंसिल के सविधान में और भी परिवर्तन किये गये।(१) अबसे उसके सदस्योकी संख्या ८ से कम नही और १२ से अधिक नही रखी गई। इन सदस्यो में कम से कम आधे ऐसे होते थे, जिन्होने कम से कम १० वर्ष तक भारतवर्ष में कार्य या निवास किया हो और इस देश को अपनी नियुक्ति की तिथि के ५ वर्ष पूर्व न छोडा हो। (२) इस पद का कार्य-काल ७ वर्ष से घटा कर ५ वर्ष का कर दिया गया। (३) प्रत्येक सदस्य की वार्षिक आय पुन बढा कर १२०० पो कर दी गई। प्रत्येक भारतीय सदस्य को ६०० पो का अपर भत्ता मिलता था। (४) भारतीय सदस्यो की सख्या बढा कर ३ कर दी गई। सन् १९१९ के एक्ट के अनुसार भारतीय हाई कमिश्नर का एक नया पद बनाया गया। हाई कमिश्नर, इगलैण्ड में भारत सरकार के एजेंट की हैसियत से कार्य करता था। भारतीय हाई कमिश्नर स-परिषद गवर्नर जनरल के अधीन था। (५) कौसिल की बैठकें अब सप्ताह में एक बार नही, अपितु महीने में एक बार होने लगी। (६) बैठकों के लिये जो कानून-सम्मत कोरम था, उसे हटा दिया गया और उसके स्थान पर भारत-मन्त्री को इच्छा-नुसार कोरम विहित करने का अधिकार दे दिया गया। (७) उसे कार्य-व्यापार के संचालन के लिये भी नियम बनाने का अधिकार दे दिया गया। (८) (क) भारतीय आमदनी के अनुदान या व्यय और (ख) अखिल भारतीय सेवाओ के लिये कानून बनाने से सम्बन्धित विषयों का निर्णय करने के लिये इण्डिया कौसिल की बैठकमें मतदाताओ के बहुमत का समागम आवश्यक था। इन विषयों को छोड कर बाकी सब मे कौंसिल के ऊपर भारत-मन्त्री का पूर्ण प्रभुत्व था। कौंसिल किसी भी आशय में एक विधायक निकाय न थी। वह भारत-मन्त्री के ऊपर अधिक नियन्त्रण स्थापित नही कर सकती थी। वस्तुत. वह केवल एक परामर्शदात्री समिति मात्र ही थी। ऊपर उल्लिखित विषयो को छोड़ कर और किसी भी कार्य में कौंसिल की सलाह लेना न लेना भारतमन्त्री की इच्छा पर निर्भर था। अगर वह कौंसिल की सलाह लेता भी, तो उसे मानना न मानना भी उसके ही

कौंसिल केवल एक परामर्शदात्री समिति ही थी

अधिकार की बात थी।

भारतीय लोकमत ने इण्डिया कौंसिल के अस्तित्व का सदैव ही विरोध किया था। कांग्रेस ने अपने प्रथम अधिवेशन में ही उसके उन्मूलन की माग उपस्थित की थी और उसे बारम्बार दुहराया था। भारतीय राष्ट्रवादी इण्डिया कौंसिल को एक बिल्कुल निकम्मी चीज मानते थे। उनकी दृष्टि में वह प्रतिक्रिया की सबसे बडी गढ और भारत की उन्नति में सबसे बडी बाधा थी। भारतीय नौकरशाही को एक ऐसी संस्था के अधीन कर देना, जिसमे कि सेवा-निवृत्त भारतीय नौकरशाहो का प्रभुत्व हो, रोग का वर्द्धन था। यह शिकायत की जाती थी कि यदि सयोगवश भारतमन्त्री प्रगतिशील विचारो का होता, तो यह कौंसिल उसके मार्ग मे कटक का कार्य करती थी। इसके अलावा भारतीय स्व-शासन के लिये आतुर थे, परन्तु इस कौंसिल का अस्तित्व उनकी स्व-शासन सम्बन्धी भावनाओ के प्रतिकूल पडता था। वह इस तथ्य की जीती जागती प्रतीक थी कि भारतवर्ष अभी स्वतत्र नही, एक आश्रित, परतत्र देश है। सर तेजबहादुर सप्रू ने इण्डिया कौंसिल के ऊपर यह जो दोपारोप किया था कि वह भारत के लिये एक कलक के तुल्य है, ठीक ही था। इडिया कौंसिल उनके इस कथन की यथार्थता प्रमाणित करती थी कि सभी महत्वपूर्ण विषयो मे भारतवर्ष के लिये नीति का निर्माण शिमला या दिल्ली मे नही, अपितु व्हाइट हॉल मे होता था।

भारतीय लोकमत इण्डिया कौंसिल के सदैव विरुद्ध था

४७. भारत का हाई कमिश्नर

भारत के हाई कमिश्नर के पद की सृष्टि १९१९ के एक्ट के अधीन एक बहुत बड़ी असंगति को दूर करने के दृष्टिकोण से की गई थी। इसके पूर्व हथियार, सशस्त्र फौजो के कपडे, टेलीफोन, टेलीग्राफ, मोटरकार यहा तक कि टाइपराइटर और मुद्रण-यत्र व देश के सैनिक तथा नागरिक प्रशासन के लिए आवश्यक अन्यान्य हजारो चीजे भारत मत्री भारत-सरकार के अभिकर्त्ता की हैसियत से खरीदता था। यदि सरकार प्रबुद्ध होती, तो वह इस व्यय का प्रयोग भारतवर्ष के उद्योगो को प्रोत्साहन देने में कर सकती थी। परन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवादी भारतवर्ष के हितों की ओर क्यों ध्यान देने लगे ? उन्हे तो अपने काम से काम था, भारत को चाहे लाभ पहुँचे चाहे हानि, इसकी उन्हें कोई चिन्ता न थी। फलतः करोड़ो रुपयो का उक्त सामान वे इंगलैण्ड तथा दूसरे देशों से खरीदते थे। यह कार्य राष्ट्र-विरोधी तो था ही था, इसमें एक बहुत बडी असंगति भी थी। वह भारतमंत्री को भारत सरकार

एक असंगति का निवारण

का राजनीतिक प्रभु और व्यावसायिक अभिकर्त्ता दोनों ही बना देता था। फल यह होता था कि भारत सरकार का भारत-मंत्री के अभिकरण कार्य के ऊपर बिल्कुल नियंत्रण नहीं था।

भारत के हाई कमिश्नर के नूतन पद की सृष्टि के पश्चात् अभिकरण कृत्य भारत-मंत्री के हाथों से लेकर हाई कमिश्नर के हाथो में दे दिये गये। गवर्नर जनरल सपरिषद हाई कमिश्नर की नियुक्ति करता था और उसका वेतन भारतीय कोष में से चुकाया जाता था। इस प्रकार वह भारत सरकार का सेवक था और भारत सरकार पूरे तरीके से उसके कार्य का निरीक्षण व नियंत्रण कर सकती थी। वह और उसका कार्यालय लंदन में रहता था। साधारणत वह पांच वर्ष के लिये नियुक्त किया जाता था। सैद्धान्तिक दृष्टि से तो इस परिवर्तन का बड़ा महत्व था, परन्तु व्यवहारतः स्थिति ज्यो की त्यो बनी रही। हाई कमिश्नर पूर्णरूप से भारत-सरकार के अधीन था। परन्तु सरकार की बेढगी रफ्तार जो पहले थी, वही कायम रही। भारत के हितो की अब भी निरन्तर उपेक्षा की जाती थी।

हाई कमिश्नर की नियुक्ति और स्थिति

ठेके देना, स्टोर-विभाग की देखभाल करना, भारतीय ट्रेड कमिश्नर के कामो का निरीक्षण करना, भारतीय विद्यार्थियो की देखभाल करना आदि भारतीय हाई-कमिश्नर के मुख्य कर्त्तव्य थे। भारत सरकार को जिस जिस सामान की इच्छा होती, उसे वह भारत सरकार के अभिकर्त्ता के रूप मे विदेशो से खरीदता था।

हाई कमिश्नर के कर्त्तव्य

भारत-सरकार

४८. केन्द्र में कोई उत्तरदायित्व नहीं

यद्यपि १९१९ के भारतीय शासन-सम्बन्धी एक्ट ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका का तो नये सिरे से संगठन किया, परन्तु केन्द्रीय शासन की प्रकृति को लगभग पूर्ववत् ही रहने दिया। मोटफोर्ड प्रतिवेदन का तृतीय सूत्र, जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार की रचना की गई, निम्नलिखित था, "भारत-सरकार पूर्णतया ब्रिटिश संसद के सम्मुख उत्तरदायी रहेगी और इस प्रकार के उत्तरदायित्व के अतिरिक्त मुख्य मुख्य बातो में इसका प्रभुत्व तथा अधिकार तब तक अलंघ्य रहेगा जब तक कि प्रान्तों में किये हुये परिवर्तनों का क्या प्रभाव होता है, यह न मालूम हो। इस

केन्द्रीय शासन भारतीय जनता के प्रति नहीं वरन् ब्रिटिश-संसद के ही प्रति उत्तरदायी बना रहा

बीच भारतीय व्यवस्थापिका परिषद को परिवर्द्धित किया जायेगा और इसमें जनता के अधिक से अधिक प्रतिनिधि लाने का यत्न किया जायेगा, तथा शासन प्रबन्ध पर प्रभाव डालने का इसको अधिक अवसर दिया जायेगा।" इस प्रकार नूतन एक्ट ने जिस केन्द्रीय व्यवस्थापिका की सृष्टि की, वह मॉर्ले मिंटो सुधारों के अधीन वर्तमान व्यवस्थापिका से अधिक लोकतन्त्रात्मक थी। परन्तु इस "परिवर्द्धित और अधिक प्रतिनिधिक" व्यवस्थापिका को कार्यकारिणी अर्थात् स-परिषद गवर्नर जनरल पर नियन्त्रण स्थापित करने का अधिकार नहीं दिया गया। केन्द्रीय कार्यकारिणी अब भी ब्रिटिश संसद के ही प्रति उत्तरदायी बनी रही। वह किसी भी प्रकार भारतीय जनता, व्यवस्थापिका मे उसके प्रतिनिधियो के प्रति उत्तरदायी नहीं थी।

४६. गवर्नर जनरल

१९१९ के एक्ट ने भारतवर्ष की कार्यकारिणी शक्ति स-परिषद् गवर्नर जनरल मे न्यस्त करदी। भारतवर्ष के गवर्नर जनरल के पद की सृष्टि १७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट के अधीन की गई थी। इसके पूर्व, बगाल, बम्बई और मद्रास की तीनो प्रेसीडेन्सिया एक दूसरे से पृथक् थी, उनका एक एक गवर्नर होता था। भारत मे अंग्रेजों के अधीन जो प्रदेश था, उनका नियन्त्रण व शासन-प्रबन्ध करने के लिए कोई एक केन्द्रीय सत्ता नही थी। परन्तु इस प्रकार कब तक काम चल सकता था? एक केन्द्रीय सत्ता की स्पष्ट और तुरन्त आवश्यकता थी। १७७३ के एक्ट ने इस आवश्यकता की पूर्ति की। इस एक्ट के अनुसार बगाल का गवर्नर बगाल का गवर्नर जनरल बना दिया गया और उसे तीनो प्रेसीडेन्सियो के शासन प्रबन्ध का निरीक्षण व नियन्त्रण करने का अधिकार प्राप्त हो गया। एकीकरण की इस प्रक्रिया ने बहुत धीरे धीरे सफलता प्राप्त की क्योकि जो प्रेसीडेन्सिया पहले स्वतन्त्र थी, उन्हे केन्द्रीय सत्ता के नियन्त्रण का अभ्यस्त होने में कुछ समय लगा। १७८४ के एक्ट ने युद्ध, शान्ति और प्रशासन के मामलो मे तीनो प्रेसीडेन्सियो के ऊपर बगाल के गवर्नर जनरल की सर्वोच्च सत्ता व नियन्त्रण का और भी अधिक बलपूर्वक प्रतिपादन किया। १८३३ के एक्ट ने बगाल के गवर्नर जनरल का नाम बदल दिया। अब बगाल के गवर्नर जनरल को भारत का गवर्नर जनरल कहा जाने लगा। इस एक्ट के अनुसार स-परिषद् गवर्नर जनरल को कपनी के समस्त भारतीय प्रदेशो के लिए नियम बनाने का, आदेश देने का और उनका नियन्त्रण व संचालन करने का अधिकार मिल गया। परन्तु बगाल के शासन-प्रबन्ध का सीधा उत्तरदायित्व अब भी उसके ही सिर रहा। १८५४ के एक्ट द्वारा उसे इस भार से छुटकारा मिला। इस एक्ट ने बगाल के लिये एक उप गवर्नर-जनरल की नियुक्ति कर दी। गदर के पश्चात् ईस्ट इंडिया कम्पनी समाप्त कर दी

पद का इतिहास

गई और भारत का शासन-प्रबन्ध ब्रिटिश 'क्राउन' के हाथों में चला गया। इसके कारण भारतीय गवर्नर जनरल की स्थिति में भी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। अब वह वायसराय हो गया तथा भारत में ब्रिटिश सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से काम करने लगा।

मोंटफोर्ड सुधारों के अन्तर्गत गवर्नर-जनरल

१८५८ के एक्ट के पश्चात अन्य जितने भी एक्ट अधिनियमित हुये, उनमें से किसी ने भी गवर्नर जनरल की सत्ता व स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नही किया यहां तक कि मोटफोर्ड सुधारो ने भी प्रातो में आंशिक उत्तरदायित्व की पुर स्थापना के अलावा गवर्नर जनरल की स्थिति मे कोई महत्वपूर्ण अन्तर नही किया। भारत के गवर्नर जनरल का पद महान् उत्तरदायित्व और गौरव से परिपूर्ण था। गवर्नर जनरल की नियुक्ति सम्राट ब्रिटिश प्रधान मत्री की सलाह पर किया करते थे, इस सम्बध में प्रधानमत्री भारतमत्री से पारामर्श ले लिया करते थे। साधारणत: उसका कार्यकाल पाच वर्ष का होता था।

नियुक्ति, पदावधि और वेतन

गवर्नर जनरल को २५६,००० रु वार्षिक वेतन व रहने के लिये बिना किराये का शानदार भवन मिलता था। इसके अलावा उसे १७२,७०० रु वार्षिक से अधिक के विभिन्न भत्ते प्राप्त होते थे। कानून-निर्माण, वित्त व प्रशासन के क्षेत्र मे उसके अधिकार बहुत बढे चढे थे। भारत के शासान-प्रबन्ध की पूरी जिम्मेदारी उसके कधो पर थी। देश के सैनिक व नागरिक शासन का सचालन, निरीक्षण व नियत्रण करने का उसे पूरा अधिकार प्राप्त था। बगाल, मद्रास और बम्बई के गवर्नरो को छोड कर बाकी सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियां वही करता था। भारतमंत्री द्वारा नियुक्तिया की जाने की स्थितिमें भी गवर्नर जनरलका परामर्श लिया जाता था और साधारणत. उसकी सिफारिशे स्वीकार की जाती थीं।

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी

गवर्नर जनरल की विधायिनी शक्तियां

गवर्नर जनरल की विधायिनी शक्तिया विपुल थी। व्यवस्थापिका सभाओं के अधिवेशनों को आहूत करना, उनका भग करना और उनका कार्यकाल बढाना या घटाना उसके हाथो में था। व्यवस्थापिका सभाओ के निर्वाचन दिवस और स्थान को भी वही निश्चित कर सकताथा, उसे व्यवस्थापक सभाओं में भाषण देने का अधिकार था। वह चाहता तो दोनो में अलग अलग भाषण दे सकता था और चाहता तो दोनो के सयुक्त अधिवेशन में भाषण दे सकता था।

कोई रोक टोक न थी। अनेक ऐसे विषय (सार्वजनिक ऋण, भारत की आय, सेना वैदेशिक मामले, प्रान्तीय विषयो आदि से सम्बन्धित) थे जिनके बारे में गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना व्यवस्थापिका सभाओ मे कोई प्रस्ताव पेश न किया जा सकता था। यदि वह किसी विधेयक या उसकी किसी धारा को देश की शान्ति व सुरक्षा के लिये बाधक समझता, तो उन पर विचार करना रोक सकता था। व्यवस्थापिका द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक के ऊपर उसकी स्वीकृति आवश्यक होती, उसकी स्वीकृति के बिना कोई भी कानून संविधि-पुस्तक मे दर्ज नही किया जा सकता था। यदि व्यवस्थापिका किसी विधेयक को अस्वीकार कर देती, परन्तु गवर्नर जनरल उसे ब्रिटिश भारत की शान्ति व सुरक्षा की दृष्टि से आवश्यक समझता तो वह अपने हस्ताक्षर द्वारा ही उस विधेयक को कानून का रूप दे सकता था। वायसराय (या गवर्नर जनरल) की इस शक्ति को प्रमाणीकरण की शक्ति कहते थे। इस प्रकार गवर्नर जनरल को व्यवस्थापिका के निर्णयो के ऊपर निरकुश 'वीटो' (निषेधाधिकार) प्राप्त था। गवर्नर जनरल अध्यादेशो को जारी करके कानून-निर्माण के अपने प्रत्यक्ष -अधिकारों का प्रयोग कर सकता था। अध्यादेश एक विशेष प्रकार का कानून होता था जिसे कि आपातो में ६ मास के लिए पारित किया जाता था। जब वह क्रियाशील होता तो उसका वही जोर होता था जो कि व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी कानून का।

गवर्नर जनरल की वित्तीय शक्तियां

गवर्नर जनरल की वित्तीय शक्तिया भी बहुत व्यापक व प्रभावशाली थी। बजट राज्य-परिषद और व्यवस्थापिका सभा मे एक ही समय गवर्नर जनरल की अनुमति से उपस्थित किया जाता था। दोनो सदनोको बजट पर वाद-विवाद करने का अधिकार था परन्तु उसकी मदो पर विधान-सभा (निम्न सदन) में ही मत लिये जाते थे। बजट की मदें दो प्रकार की होती थी। पहली वे जिन पर व्यवस्थापिका सभा का कोई अधिकार न था और दूसरी वे जिनका निर्णय वह मतो द्वारा करती थी। खर्च की निम्नलिखित मदो पर सदन को वोट देने का अधिकार न था-भारतीय ऋण का सूद, ऐसा खर्च जिसकी रकम कानून से निर्धारित की गई हो, उन लोगो की पेंशनें या तनख्वाहे जो सम्राट द्वारा अथवा सम्राट् की अनुमति से भारत मन्त्री द्वारा नियुक्त किए गये हों; चीफ कमिश्नरो अथवा जुडीशियल कमिश्नरो का वेतन; वे खर्च जिसे स-परिषद गवर्नर जनरल ने धार्मिक, राजनीतिक अथवा सेना सम्बन्धी ठहराया हो। गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना व्यवस्थापिका के सदस्य इन मदो पर वाद-विवाद तक भी न कर सकते थे। यह स्मर्त्तव्य है कि ८०% बजट पर मतदान न हो सकता था। इसका अभिप्राय यह हुआ कि गवर्नर जनरल बजट के इतने भाग को व्यवस्थापिका के अनुमोदन के बिना भी मन चाहे ढंग से खर्च कर सकता था। गवर्नर जनरल को अधिकार था कि वह व्यवस्थापिका सभा द्वारा

अस्वीकृत मांगों को अपनी प्रत्यानयन की शक्ति द्वारा स्वयं मंजूर करके, व्यवस्थापिका सभा का निश्चय रद कर दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि गवर्नर जनरल करीब-करीब पूरे तरीके से भारत के राजकोष का स्वामी था।

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद

ऊपर गवर्नर जनरल की जिन व्यापक शक्तियों का उल्लेख किया गया है, उनका प्रयोग करने में, उसकी कार्यकारिणी परिषद उसे सलाह व सहायता देती थी। तथापि परिषद केवल एक परामर्शदात्री समिति मात्र ही थी। अधिकतर परिषद गवर्नर जनरल के इशारे पर नाचा करती थी। यदि वह कभी गवर्नर जनरल के विरुद्ध भी जाती, तो गवर्नर जनरल उसके निर्णय को ठुकरा सकता था।

गवर्नर जनरल एक वैधानिक शासक नहीं, अपितु स्वेच्छाचारी शासक था

भारतीय गवर्नर जनरल एक अनूठा नौकरशाह था। उसके साधारण और अ-साधारण-दोनो तरह के व्यापक अधिकारो ने उसे सामर्थ्यवान सत्ताधारी पुरुष बना दिया था। भारतवर्ष के शासन-प्रबन्धन मे उसे जो अधिकार प्राप्त थे, वे उन अधिकारो से बहुत बढे चढे थे जिनका कि उपभोग अमेरिका के राष्ट्रपति और इगलण्ड केप्रधान मन्त्री अपने अपने देशों मे करते थे। वह भारत में एक वैधानिक शासक की तरह नही, अपितु स्वेच्छाचारी शासक की तरह शासन करता था। यह सही है कि ब्रिटिश ससद भारत मत्री के द्वारा उस पर अपना नियत्रण रखती थी परन्तु जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इस नियन्त्रण के बावजूद भी गवर्नर जनरल को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। चू कि वह सम्राट का प्रतिनिधि था, इसलिये उसका राजकीय गौरव व दबदबा बहुत बढा चढा था ; जैसे दूसरे राज्यो के प्रमुखो को क्षमा और प्रविलम्बन करने का अधिकार प्राप्त होता है, ऐसे ही भारत के गवर्नर जनरल को भी यह अधिकार प्राप्त था। अपने कार्यों के सम्बन्ध में वह पूर्ण कानूनी विमुक्ति का उपभोग करता था। कार्यकारिणी जो कि उसे सलाह व सहायता देने के लिये थी, उसके हाथो में खिलौना मात्र थी। वह उसके निर्णयो को स्वतन्त्रता पूर्वक ठुकरा सकता था। व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत था, लेकिन गवर्नर जनरल उसकी इच्छा को भी रद कर सकता था। सच तो यह हैं कि किसी भी उत्तरदायी यहा तक कि अनुत्तरदायी कार्यकारिणी को भी इतने प्रचुर अधिकार प्राप्त नही थे जितने कि भारत के गवर्नर जनरल को प्राप्त थे। यह कहा जाया करता था : "इगलैण्ड का सम्राट् राज्य करता है, परन्तु शासन नहीं करता, अमेरिका का राष्ट्रपति शासन करता

है, परन्तु राज्य नही करता, फ्रास का राष्ट्रपति न राज्य करता है न शासन करता है परन्तु भारत का गवर्नर जनरल राज्य और शासन दोनो करता है ।"

५०. गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी-परिषद

बगाल, बम्बई और मद्रास की तीन प्रेसीडेंसियो को एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन करने के लिये जब गवर्नर जनरल के पद की सृष्टि की गई, उसी समय गवर्नर जनरल को सहायता व परामर्श देने के दृष्टिकोण से १७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट के अन्तर्गत एक कार्यकारिणी-परिषद का भी निर्माण किया गया । कार्यकारिणी-परिषद के सविधान व स्थिति मे निरन्तर परिवर्तन होता रहा । १७८६ के पश्चात् से गवर्नर जनरल को परिषद के बहुमत का प्रत्यादेश करने का अधिकार प्राप्त हो गया था, यदि वह इस अधिकार का प्रयोग करना भारत वर्ष की शाति, सुव्यवस्था व सुशासन के लिये आवश्यक समझता । १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने कार्यकारिणी-परिषद की रचना मे कतिपय परिवर्तन उपस्थित किए । उसके सदस्यो की सख्या के ऊपर जो अनुविहित मर्यादा थी, उसे हटा दिया गया । परन्तु यह निर्दिष्ट किया गया कि कौसिल के कम से कम तीन सदस्य ऐसे होने चाहिए, जो दस वर्ष तक भारतवर्ष मे सरकारी नौकरी कर चुके हो और कम से कम एक सदस्य ऐसा अवश्य होना चाहिए जो इगलैड या स्काटलैड का बैरिस्टर अथवा भारतवर्ष का वकील रहा हो और जो कम से कम दस वर्ष तक किसी हाई कोर्ट मे वकालत करता रहा हो । यदि परिषद की बैठके प्रान्तीय गवर्नरो के अधीनस्थ प्रदेशो मे होती, तो वे उसमे असाधारण सदस्यों के रूप में नही बैठ सकते थे ।

१९१९ के एक्ट के अधीन किए गए परिवर्तन

कार्यकारिणी-परिषद के सदस्य भारत-मन्त्री की सलाह पर सम्राट के द्वारा नियुक्त किए जाते थे । उनके पद की अवधि पाच वर्ष थी परन्तु उन्हें पुनर्नियुक्त किया जा सकता था । प्रत्येक कार्यकारिणी-परिषद केन्द्रीय व्यवस्थापिका के दोनो सदनो मे से किसी एक के लिए मनोनीत किया जाता था । परन्तु कार्यकारिणी परिषद सदन के प्रति उत्तरदायी नही होते थे, यदि सदन उनके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव भी पारित कर देता, तब भी उन्हें हटाया नही जा सकता था । कार्यकारिणी परिषद के सदस्यो मे से एक की नियुक्ति गवर्नर जनरल करता था । गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त सदस्य परिषद के

कार्यकारिणी-परिषदों की नियुक्ति-पदावधि और वेतन

उप-सभापति के रूप में कार्य करता था। गवर्नर जनरल और प्रधान सेनापति (कमाण्डर-इन-चीफ) को छोड़ कर प्रत्येक कार्यकारिणी-परिषद ८०,००० रु० प्रति वर्ष वेतन प्राप्त करता था।

कार्यकारिणी-परिषद की शक्तियां व कृत्य

स-परिषद गवर्नर जनरल का कार्य भारतवर्ष में शाति, सुव्यवस्था व सुशासन का सधारण करना था। कार्यकारिणी परिषद पोर्टफोलियो- पद्धति के अनुसार कार्य करती थी, अर्थात् प्रत्येक परिषद के अधीन एक या एक से अधिक विभाग रहते थे। मोंट-फोर्ड सुधारो के दर्म्यान कार्यकारिणी परिषद में गवर्नर जनरल व प्रधान-सेनापति को मिला कर कुल ८ सदस्य सम्मिलित थे। वैदेशिक व राजनीतिक विभाग गवर्नर जनरल के अधीन थे और सुरक्षा व सेना विभाग प्रधान मत्री की अधीनता में थे। अवशिष्ट विभागो मे गृह विभाग जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण होते थे, अग्रेज परिषदो के हाथो में रक्खे जाते थे और भारतीय सदस्यो को शिक्षा, स्वास्थ्य तथा श्रम के विभागो से ही सन्तोष ग्रहण करना पडता था। पोर्टफोलियो, परिषद के सदस्यो के बीच गवर्नर जनरल के द्वारा वितरित किये जाते थे। पोर्ट फोलियो पद्धति के अन्दर अपने अपने विभाग में सम्बद्ध सभी मामलो को प्रत्येक सदस्य स्वतन्त्रता पूर्वक निबटाता था। उन विषयो को जो कि अधिक महत्व के थे और जो प्रातीय सरकारो के दृष्टिविन्दुओ का प्रत्यादेश करते थे, गवर्नर जनरल की सलाह से निश्चित किया जाता था। परन्तु वे सब विषय जो कि बहुत ही अधिक महत्व के होते थे और जिनका प्रभाव दो या दो से अधिक विभागो पर पडता था, पूरी कार्यकारिणी परिषद के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किए जाते थे।

पोर्टफोलियो पद्धति

कार्यकारिणी-परिषद की बैठकें

साधारणत कार्यकारिणी परिषद की बैठक एक सप्ताह मे एक बार हुआ करती थी। बैठकें गवर्नर जनरल के द्वारा अहूत होती थी। बैठको की अध्यक्षता गवर्नर जनरल करता था, और उसकी अनुपस्थिति मे उसके द्वारा मनोनीत उप-सभापति। गवर्नर जनरल बैठको के लिए कार्यक्रम भी निश्चित करता था। परिषद के निर्णय बहुमत के आधार पर होते थे, परन्तु गवर्नर जनरल को अधिकार था कि यदि वह देश की शाति व सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता तो परिषद के निर्णयो के प्रतिकूल भी जो चाहता सो कर सकता था। सच तो यह है कि गवर्नर जनरल परिषद का पूरे तरीके से स्वामी था। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी व ब्रिटिश मंत्रिमण्डल में

गवर्नर जनरल का प्रभुत्व

आकाश पाताल का अन्तर था। परिषद के सदस्य गवर्नर जनरल के सहयोगी नहीं, सेवक मात्र थे। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य प्रधान मन्त्री के सेवक नही, सहयोगी होते है। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल और कार्यकारिणी परिषद में एक और बडा अन्तर था। ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से कामन-सभा के प्रति उत्तरदायी होता है और उसके द्वारा पदच्युत किया जा सकता है। इसके विपरीत भारतीय कार्यकारिणी परिषद के सदस्य व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्यो में से नही चुने जाते थे। चूकि कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों की नियुक्ति गवर्नर जनरल की सलाह पर भारत-मन्त्री करता था, अत उनमें किसी प्रकार की एकान्विति नही होनी थी। इसके सिवा परिषद के सदस्य सामुदायिक या व्यक्तिगत रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नही थे। कोई भी सदस्य, चाहे उसके कार्य और नीतिया, कितने ही बदनाम क्यो न हों, व्यवस्थापिका के द्वारा अपने स्थान से न हटाया जा सकता था। दूसरे शब्दों में, कार्यकारिणी परिषद, सिर से पैर तक, एक नौकरशाही निकाय थी। उसके सदस्य गवर्नर जनरल के मार्ग-दर्शन में, जो कि वस्तुत. एक अधिनायक होता था, कार्य करते थे।

कार्यकारिणी परिषद व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी

५१. केन्द्रीय व्यवस्थापिका

१९१९ के एक्ट के अनुसार भारतीय व्यवस्थापक मण्डल में अनेक परिवर्तन किये गये। यद्यपि केन्द्रीय कार्यकारिणी केन्द्रीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं थी परन्तु केन्द्रीय व्यवस्थापिका मे जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियो की सख्या में वृद्धि करके उसके स्वरूप को और अधिक लोकतत्रात्मक बनाने की चेष्टा की गई। अभी तक भारतीय व्यवस्थापिका का केवल एक ही सदन था, अब उसके दो सदन कर दिये गये। एक का नाम कौंसिल ऑफ स्टेट अथवा राज्य परिषद था और दूसरे का नाम लेजिस्लेटिव असेम्बली या विधानसभा था। यह पद्धति विश्व के अधिकाश लोकतंत्रात्मक देशो में प्रचलित पद्धति के अनुरूप थी। परन्तु भारतवर्ष में ब्रिटिश सरकार एक और विचार से प्रभावित हुई थी। चूंकि अब लोक-सदन में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत था, अत. सरकार एक ऐसे कुलीनतत्रीय सदन की स्थापना के लिये उत्सुक हो गई थी जिसको कि निम्न सदन अथवा लोक सदन के प्रतिभार के रूप में प्रयुक्त किया जा सके।

द्विसदनात्मक पद्धति का सूत्रपात

राज्य परिषद नूतन व्यवस्थापक-मण्डल का उच्च सदन था। १९१९ के एक्ट

के अनुसार उसके सदस्यों की संख्या ६० थी । इन सदस्यों में से एक की नियुक्ति गवर्नर जनरल सभापति के रूप में करता था । अवशिष्ट

दोनों भवनों की रचना

(क) राज्य-परिषद

सदस्यो में से ३४ प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रथानुसार, साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रो द्वारा चुने जाते थे (२० साधारण निर्वाचन क्षेत्रों से, १० मुस्लिम निर्वाचन क्षेत्रो से, एक सिक्खों द्वारा और ३ यूरोपीयो द्वारा) । परिषद के १९ मनोनीति सरकारी सदस्य होते थे और ६ मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य होत थे ।* विधान-सभा के १४४ सदस्यो में से १०३ सदस्य निर्वाचित सदस्य थे और ४१ गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत । मनोनीत सदस्यो में से अधिक से

(ख) भारतीय विधान-सभा

अधिक २५ ही सदस्य सरकारी पदाधिकारी हो सकत थे । एक्ट ने यह भी निर्धारित कर दिया कि विधान-सभा का प्रथम अध्यक्ष गवर्नर जनरल द्वारा नियुक्त एक ऐसा गैर-सरकारी सदस्य होगा, जिसका कि सासद अनुभव बहुत बढा-चढा हो ।†"

राज्य-परिषद के लिये बहुत संकुचित मताधिकार उपबन्धित किया गया था । मताधिकार मुख्यत. बहुत ऊँची सम्पत्ति अर्हताओ पर आश्रित था । राज्य-परिषद के लिये मतदान का अधिकार केवल उन्ही लोगो को प्राप्त था,

दोनों सदनों के लिए मताधिकार

जो १०,००० रु० से लेकर २०,००० रु० तक की वार्षिक आय पर कर देते थे अथवा ७५० रु० से लेकर ५००० रु०

---

* मोटफोर्ड रिपोर्ट ने एक ऐसे उच्च सदन का सुझाव दिया था, जिसके कि कुल सदस्यो की संख्या ५५ हो, इन सदस्यों मे से २९ तो सरकार द्वारा मनोनीत हों और शेष सदस्य मुख्यत· प्रातीय व्यवस्थापिकाओं के गैर-सरकारी सदस्यों द्वारा निर्वाचित हो । उसका विचार एक ऐसे, सीनेट की प्रकृति के से, उच्च सदन का निर्माण करना था, जो सरकार को उन आवश्यक कानूनो के पारित कर देने में समर्थ कर दे जिनको कि प्रतिनिधिक निम्न सदन ने अस्वीकार कर दिया हो । परन्तु संयुक्त सांसद-समिति ने इस विचार को अस्वीकृत कर दिया और राज्य-परिषद को 'सच्चा-द्वितीय सदन' बनाने के पक्ष में फैसला किया । अशतः राज्य परिषद को पुनरीक्षण करने वाला एक ऐसा सदन बनाने का फैसला किया गया, जिसके पास कि अ-वित्तीय व्यवस्थापन में विधानसभा के तुल्य ही अधिकार हों ।

† सर फ्रेडरिक व्हाइट मनोनीत अध्यक्ष थे । असेम्बली के प्रथम निर्वाचित अध्यक्ष सुविख्यात वी. जी. पटेल थे ।

तक का वार्षिक भूमि-लगान देते थे। मतदान का अधिकार उन व्यक्तियो को भीदिया गया था जो कि:—

(१) नगरपालिकाओ, जिला निकायो या केन्द्रीय सहकारी बैंको के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष रह चुके हों।

(२) भारत के किसी विधायक निकाय के सदस्य रहे हो।

(३) सरकार द्वारा शम्सुन-उलेमा या महामहोपाध्याय जैसी प्राच्य-पाण्डित्य-सम्बन्धी उपाधियो से विभूषित किये गये हो।

१९२५ मे राज्य परिषद के लिये ब्रिटिश भारत से कुल मतदाताओ की सख्या १५००० से कम थी। निर्वाचन क्षेत्र साम्प्रदायिक आधार पर निर्मित हुये थे, प्रत्येक प्रांत को एक इकाई माना जाता था। स्त्रियो को मतदान के अधिकार से वंचित रखा गया था। अति तक पहुची हुई ऊची सम्पत्ति विषयक अर्हताओ ने राज्य परिषद को न्यस्त स्वार्थों का एक अन्तर्दुर्ग बना दिया तथा दूसरी निर्वाचन सम्बन्धी अर्हताओ ने यह निश्चित कर दिया कि उसमे बुद्धिजीवी व सार्वजनिक व्यक्तियो की उपस्थिति बहुत ही कम रह सकेगी।

असेम्बली के लिये मताधिकार तनिक कम प्रतिबन्धित था। मतदाताओ के पास निम्न लिखित अर्हताओ मे से एक का होना आवश्यक था —

(१) कम से कम २००० रु से लेकर ५००० रु तक की वार्षिक आय पर आयकर देना।

(२) ५० रु० से लेकर १५० रु० तक का वार्षिक भूमि-कर देना।

(३) कम से कम १५ रु० से लेकर २० रु० तक के प्रतिवर्ष म्युनिसपल-कर देना।

(४) १५० रु० वार्षिक के किराये के मूल्य वाले मकान का अधिवास या स्वामित्व।

विभिन्न प्रातो मे आर्थिक या राजनीतिक परिस्थितियो के अन्तर के कारण मतदान की अर्हताओं में थोडा-बहुत उलट फेर करना आवश्यक हो जाता था। १९३४ में भारतीय व्यवस्थापिका सभा के कुल मतदाताओं की सख्या १,४१५,८९२ थी जिनमें कि स्त्री मतदाताओं की कुल संख्या ८१,६०२ थी।

केन्द्रीय व्यवस्थापक-मण्डल को, केवल उन विषयों को छोडकर, जिन्हें कि प्रांतीय समझा जाता था, अन्य सब प्रकार के विषयो पर कानून-पारण का अधिकार

भारतीय व्यवस्थापक मण्डल के अधिकार व कृत्य

(क) कानून-निर्माण संबंधी

प्राप्त था। तथापि, उसके अधिकार प्रयोग के ऊपर कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। भारतीय व्यवस्थापक मण्डल को किसी सांसद कानून को, जो भारतवर्ष के ऊपर लागू हो सकता था, संशोधित या रद्द करने का अधिकार नही था। भारतमन्त्री के समोदन के बिना वह ऐसे किसी भी कानून को पारित नही कर सकता था, जो कि किसी उच्च न्यायालय का उन्मूलन करता हो। कुछ विधेयक (धार्मिक विषय या रीतिया, जल-थल-नभ सेनाए, प्रातीय विषयो का नियत्रण, किसी प्रातीय नियम को रद करने वाले प्रस्ताव, गवर्नर जनरल के एक्ट और अध्यादेशों से सबध रखने वाले प्रस्ताव इत्यादि) ऐसे थे जिन्हे गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बगैर व्यवस्थापिका सभामे पुरःस्थापित नही किया जा सकता था। इसके अलावायदि गवर्नर जनरल किसी भी विधेयक को, या उसकी किसी धारा को भारत की शाति, सुरक्षा व व्यवस्था मे बाधक समझता, तो उसके आकलन को तुरन्त रोक सकता था। व्यवस्थापिका द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति आवश्यक होती थी, तदनन्तर ही वह कानून बन सकता था। गवर्नर जनरल जिस किसी विधेयक को चाहता, व्यवस्थापिका के पास पुनर्विचार के लिए वापिस कर सकता था अथवा उसे सम्राट् के सोचने, विचारने के लिए रक्षित रख सकता था। अपने 'प्रमाणीकरण' के अधिकार द्वारा गवर्नर जनरल को भारतीय व्यवस्थापिका के निर्णयो के उल्लघन करने के विध्यात्मक अधिकार भी प्राप्त थे। यदि व्यवस्थापिका किसी विधेयक को अस्वीकार कर देती और गवर्नर जनरल उसे "ब्रिटिश भारत व उसके किसी भी भाग को शाति, सुरक्षा एव कल्याण की दृष्टि से आवश्यक समझता तो उसे अपने हस्ताक्षर के आधीन ही पारित घोषित कर सकता था। इस रीति से पारित विधेयक सम्राट् की स्वीकृति के बिना लागू नही हो सकता था। इसके अलावा, देश की शाति व सुरक्षा के लिए गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। ये अध्यादेश ६ मास से अधिक काल के लिए लागू नही हो सकते थे।

(ख) वित्तीय अधिकार

भारतीय व्यवस्थापिका को कुछ नाममात्र की वित्तीय शक्तिया भी प्रदान की गई थी। सम्पूर्ण वर्ष की आय-व्यय का अनुमानित लेखा जोखा गवर्नर जनरल व्यवस्थापिका के सम्मुख उपस्थित करते थे। साधारण रूप से बजट के ऊपर वाद-विवाद किया जा सकता था। परन्तु मतदान बजट के थोड़े ही भाग पर हो सकता था। बजट का अधिकाश भाग (८०% से अधिक ऐसा था जिस)

के ऊपर कि व्यवस्थापिका सभा को मतदान का अधिकार ही न था। * जिन विषयों पर बजट का ८०% से अधिक धन खर्च होता था, उन पर व्यवस्थापिका गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना वाद-विवाद भी नही कर सकती थी। खर्च की निम्न लिखित मदों पर व्यवस्थापिका को मत देने का अधिकार न था—गवर्नर जनरल व उनके कार्यकारिणी परिषदो के वेतन, भारत मत्री और सम्राट् द्वारा नियुक्त व्यक्तियों की पेंशनें और तनख्वाहे, चीफ कमिश्नरो अथवा जुडीशियल कमिश्नरो का वेतन, वह खर्च जिसे कि स-परिषद गवर्नर जनरल ने धार्मिक, राजनीतिक अथवा सेना सम्बन्धी ठहराया हो। जहा तक उन मदो का प्रश्न है, जिन पर व्यवस्थापिका को मतदान का अधिकार प्राप्त था, वह उनका अनुमोदन करने, उनको अस्वीकार करने अथवा उनमें कमी करने के लिए अधिकृत थी। परतु यहा भी गवर्नर जनरल की सत्ता अबाध थी। उसे अधिकार था कि वह व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत मागो को स्वयं मजूर करके व्यवस्थापिका का निश्चय रद कर दे। विशेष परिस्थितियो में वह ऐसे खर्चे को भी मजूर कर सकता था जो उसकी राय मे देश की रक्षा और शाति के लिए आवश्यक था।

यद्यपि कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति अनुत्तरदायी ही रही, परतु व्यवस्थापिका कार्यकारिणी की नीतियो और कार्यों की कई तरह से आलोचना कर सकती थी। व्यवस्थापिका के सदस्य कार्यकारिणी से प्रश्न कर सकते थे। वे किसी महत्वपूर्ण विषय पर प्रस्ताव पास कर सकते थे और प्रस्ताव पास करके सभाओं के अधिवेशनो को स्थगित करा सकते थे। उनको यह भी अधिकार प्राप्त था कि किसी विभाग की आर्थिक माँग को स्वीकार न करें या अपना विरोध प्रकट करने के लिए उनमे नाममात्र की कमी कर दें। तथापि व्यवस्थापिका की पूर्वोक्त बातो का मानना शासन - विभाग के लिए अनिवार्य न था।

कार्यकारिणी को प्रभावित करने के अधिकार

भारतीय व्यवस्थापक-मण्डल के दोनो सदन समान अधिकारो का उपयोग नहीं करते थे। अ-वित्तीय विधेयको की स्थिति में राज्य परिषद और असेम्बली दोनों के

---

*"१३१ करोड के कुल जोड में से (रेलवेज को बाहर रखते हुए) केवल १६ करोड ही मतापेक्षी हैं। पुनश्च इस अ-मतापेक्षी राशि में से ६७ करोड सैनिक व्यय के लिए है।" पट्टाभि सीतारमय्या कृत दी हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस में प. मोतीलाल नेहरू और सी. आर. दास के वक्तव्य से उद्धृत पृ. ४५९।

अधिकार एक दूसरे के बराबर थे। ऐसे किसी विधेयक को किसी भी एक सदन में उपस्थित किया जा सकता था, परन्तु वह कानून तब तक नही बन सकता था, जब तक कि उसे दोनो सदन पारित न कर दें। हा, यह अवश्य है कि गवर्नर जनरल दोनो सदनो में से किसी के द्वारा अस्वीकृत विधेयक को प्रमाणीकृत कर सकता था। तथापि वित्तीय विधेयकों की स्थिति में राज्य परिषद के अधिकारो का दर्जा असेम्बली से अधिकारो के दर्जे से नीचा था। यह सर्वथा स्वाभाविक भी था। अधिकाश पाश्चात्य देशो में द्वितीय सदनों का दर्जा प्रथम सदनो की तुलना में निम्न ही माना जाता है। राज्य परिषद का जनसाधारण से कोई सम्बन्ध नही था। अतः राज्य परिषद को असेम्वली के समकक्ष ही दर्जा दे देना सर्वथा अन्यायकर होता। बजट के ऊपर दोनो ही सदन वाद-विवाद कर सकते थे परन्तु मतापेक्षी मदो (votable Items) पर मतदान का अधिकार केवल निम्न सदन को ही प्राप्त था। यदि इन मतापेक्षी मदो पर निम्न सदन का मतदान हो चुकता, तो उसे फिर उच्च सदन के समक्ष उपस्थित नहीं किया जाता था, परन्तु चू कि अ-वित्तीय कानूनो के निर्माण के क्षेत्र मे दोनो सदनो को तुल्य अधिकार प्राप्त थे, अत यदि वे किसी विधेयक के ऊपर सहमत न हो पाते, तो उस स्थिति मे गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना रहती थी। इस प्रकार के गतिरोध मिटाने के लिए तीन विभिन्न उपायो की व्यवस्था की गई थी। पहला उपाय यह था कि किसी सभा मे पारित होने के पूर्व विधेयक को, यदि वे सहमत हो जायें तो दोनो सभाओ की एक सयुक्त समिति के विचाराधीन कर देना। इससे असन्तुष्ट सदन के आक्षेपो का पता चल सकता था और भविष्य में होने वाले सघर्ष व मतभेदो को दूर किया जा सकता था।

दोनों सदनों के बीच सम्बन्ध

गतिरोधों को दूर करने के उपाय

(क) संयुक्त समिति

दूसरा उपाय यह था कि यदि सघर्ष आरम्भक सदन (Originating housee) द्वारा विधेयक के पारित किए जाने के पश्चात उत्पन्न होता, तो उस स्थिति में, दोनों सदन अपने मतभेदो को एक सयुक्त सम्मेलन के लिए सहमत होकर दूर कर सकते थे। सयुक्त सम्मेलन में दोनो सदनो के बराबर बराबर प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे। यदि सयुक्त सम्मेलन आपस में वाद-विवाद करके किसी एक समझौत पर पहुच जाता, उस स्थिति में वह दोनो सदनों के पास कुछ सिफारिशें भेजता था, जिन्हे कि साधारणतः स्वीकार कर लिया जाता था। यदि संयुक्त सम्मेलन भी कोई समझौता कराने में असफल रहता, तो गवर्नर जनरल दोनों सदनों का एक संयुक्त अधिवेशन करा

(ख) संयुक्त सम्मेलन

(ग) संयुक्त अधिवेशन

सकता था। संयुक्त अधिवेशन में राज्य परिषद का अध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करता था और प्रत्येक निर्णय उपस्थित सदस्यो के बहुमत के द्वारा होता था। अधिवेशन के बहुमत द्वारा पारित विधेयक को दोनो सदनो के द्वारा पारित मान लिया जाता था। चू कि सयुक्त अधिवेशन मे असेम्बली के सदस्यो की सख्या राज्य परिषद के सदस्यो की सख्या से अधिक होती थी, अत असेम्बली की ही इच्छा के कार्यान्वित होने की अधिक सम्भावना रहती थी।

५२. मोंटफोर्ड के अधीन केन्द्रीय व्यवस्थापिका का मूल्यांकन

प्रतिगामी राज्य-परिषद के बावजूद भी केन्द्रीय व्यवस्थापिका अधिक लोकतंत्रात्मक थी

१९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने निश्चित रूप से ही केन्द्रीय व्यवस्थापक मडल को अधिक लोकतन्त्रात्मक स्वरूप प्रदान किया। १९१९ के सुधारो के पूर्व भारतीय व्यवस्थापक मडल एक दरबार या बनावटी ससद के ही तुल्य था। इन सुधारो ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका में निर्वाचित प्रतिनिधियो का प्रभावशाली बहुमत करके, व उसके वित्तीय व वाद-विवाद सम्बन्धी अधिकारो को बढा कर उसे जनमत की प्रतिनिधिक सस्था बनाने का प्रयास किया। १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत जिस प्रतिगामी राज्य-परिषद की सृष्टि की गई, उसकी कोई आवश्यकता नही थी। स-परिषद गवर्नर जनरल की विशेष शक्तिया काफी बढी चढी थीं। वह लोक सदन की प्रत्येक ऐसी चेष्टा को, जिसे कि वह अनुचित समझता, अपनी इन विशेष शक्तियो के द्वारा निष्फल कर सकता था। यह सही है कि व्यवस्थापिका अटल और स्वेच्छाचारी कार्यकारिणी के समक्ष बिल्कुल निस्सहाय थी। तथापि यह भी सही है कि नई व्यवस्थापिका नौकरशाही कार्यकारिणी के बिल्कुल अधीन भी नही थी।

व्यवस्थापिका कार्यकारिणी को प्रभावित कर सकत थी

वह उन अनुदानों को अस्वीकार कर सकती थी जो कि "शासन यत्र के कुछ पहियो के सचालनार्थ" आवश्यक थे। उसे कार्यकारिणी द्वारा वाछित कानूनो को अस्वीकृत कर देने का भी अधिकार प्राप्त था। यह सही है कि गवर्नर जनरल व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत प्रत्येक अनुदान् को अपनी विशेष शक्तियो के प्रयोग द्वारा मजूर कर सकता था और व्यवस्थापिका द्वारा प्रतिषिद्ध प्रत्येक विधेयक को भी सर्टीफाई कर सकता था। परन्तु इन 'असाधारण' शक्तियो के बारम्बार के प्रयोग से तो यही पता चलता था

कि सरकार और जनता के बीच बहुत भारी अन्तर है। इसके अलावा केन्द्रीय व्यवस्थापिका प्रश्नोंत्तरो व स्थगन-प्रस्तावों आदि के द्वारा भी कार्यकारिणी के ऊपर अप्रत्यक्ष रीति से पर्याप्त प्रभाव डाल सकती थी। सरकार सदैव ही इस प्रभाव की अवहेलना नही कर सकती थी। यह सत्य है कि वह लोकमत के प्रति उत्तरदायी नही बनी, परन्तु वह लोकमत को सर्वदा ठुकराती भी नही रह सकती थी। १९१९ के एक्ट मे एक बड़ी भारी त्रुटि और थी और वह यह कि कार्यकारिणी उसके नियत्रण से सर्वथा स्वतत्र थी। लोकतंत्र के अनुसार यह आवश्यक है कि कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के द्वारा नियत्रित हो। परन्तु १९१९ के सुधारो में इस बात की ओर बिल्कुल ध्यान नही दिया गया। इस एक्ट के अधीन कार्यकारिणी जब चाहती तब व्यवस्थापिका की इच्छा को ठुकरा सकती थी, इसके ऊपर व्यवस्थापिका का कोई अकुश न था। स्पष्ट है कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका प्रभुत्व-शक्ति से पूर्णतः वचित रक्खी गई थी। उसकी शक्तियां बहुत परिमित थी। उनके ऊपर बडे बडे प्रतिबन्ध लगे हुए थे। वह ब्रिटिश ससद की सर्वोच्च सत्ता के अधीन थी और वह ऐसे किसी सासद कानून को, जो कि भारतवर्ष के ऊपर लागू हो सकता हो, सशोधित या रद्द नही कर सकती थी। इसके अलावा देश की आय का ४।५ भाग ऐसा था, जिसके ऊपर व्यवस्थापिका वादविवाद भी न कर सकती थी और अवशिष्ट १।५ भाग भी पूर्णत उसके नियत्रण मे नही था। यह माना जासकता है कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका एक प्रभावशाली निकाय थी, परन्तु 'विटो' और 'प्रमाणीकरण' की विशेष शक्तियो ने उसकी स्थिति विष-दन्त हीन सर्प के तुल्य कर दी थी।

कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के नियंत्रण से स्वतंत्र रही

व्यवस्थापिका के पास प्रभुत्व-शक्ति का अभाव था

प्रान्तीय सरकारे

५३· केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सरकारों के सम्बन्ध

प्रान्तों का विकास

ईस्ट इडिया कम्पनी की व्यावसायिक बस्तिया सबसे पहले बम्बई, मद्रास और कलकत्ते के तीन समुद्र तटीय नगरो में स्थापित हुई थी: १७६५ में बगाल की दीवानी को हस्तगत करने के पश्चात उसकी स्थिति में अन्तर हो गया: अब वह अपने अधीनस्थ प्रदेशों की राजनीतिक प्रभु हो गई। जैसे जैसे कम्पनी ने और प्रदेशों को विजित किया वह उन्हे उन बस्तियों के साथ जोडती गई, जिसके कि वे सान्निध्य में पडते थे। इस प्रकार तीन बडी प्रेसीडेन्सियो का विकास हुआ। इनमें से प्रत्येक प्रेसीडेन्सी एक गवर्नर

की अधीनता में थी। गवर्नर स-परिषद अध्यक्ष के रूप में अपनी अपनी अधीनस्थ प्रेसीडेन्सियों का शासन करते थे। प्रारम्भमें ये प्रेसीडेंसिया एक दूसरे से पूर्णतः स्वतत्र थी, वे सीधे लंदन से शासित होती थी। परन्तु इस प्रबन्ध में कई खतरे निहित थे। इस बात की महती आवश्यकता मालूम पड़ने लगी कि प्रेसीडेन्सियोको भारत में ही केन्द्रीय सत्ताके निरीक्षण व नियत्रण में रक्खा जाय। फलतः १७७३ के रेगुलेटिंग एक्टसे केन्द्रीयकरणकी प्रक्रिया प्रारम्भहुई।

तीन प्रेसीडेन्सियों की स्वतंत्रता

केन्द्रीकरण की वृद्धि

१७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट के अनुसार बंगाल के गवर्नर को गवर्नर जनरल का नाम दे दिया गया और उसे तीनो प्रेसीडेन्सियो का निरीक्षण व नियत्रण करने का अधिकार दे दिया गया। वह बंगाल के ऊपर १८५४ तक सीधे शासन करता रहा। इसके बाद बंगाल के शासन-प्रबन्ध के लिए एक उपगवर्नर की नियुक्ति की गई।

नूतन प्रांतों की सृष्टि

इसी बीच भारतवर्ष मे ब्रिटिश अधीनस्थ प्रदेशो का निरन्तर विस्तार होता रहा था, जो प्रेसीडेन्सिया बहुत बडी हो गई थी, उनको कई प्रान्तों मे बाट दिया गया और फिर बाद मे इन प्रान्तो को भी उप-विभाजित कर दिया था। इस प्रकार उत्तर पश्चिमी प्रान्त (जिसे कि बाद में आगरा और अवध का संयुक्त प्रांत नाम दिया गया) को बगाल से अलग किया गया। १८५६ में पंजाब की सृष्टि हुई। कुछ समय बीतने पर मध्य प्रान्त, बर्मा, आसाम और उत्तर पश्चिम-सीमा प्रान्त का निर्माण किया गया। यह प्रतिक्रिया १६३५ तक चलती रही। १९३५ में उडीसा को बिहार से और सिन्ध को बम्बई से अलग कर दिया गया।

तथापि, नए प्रान्तों की सृष्टि मे किसी योजना के अनुसार कार्य नहीं किया गया। उसमें संस्कृति व भाषा विषयक समस्त प्रश्नो को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया था। इस प्रकार के प्रत्येक विभाजन में केवल एक ही सिद्धान्त के अनुसार कार्य किया गया था और वह सिद्धान्त था शासन की सुविधा का प्रश्न। फलत ब्रिटिश भारत बेमेल इकाइयो का एक जमघट सा बन गया। रेगुलेशन और नानरेगुलेशन प्रान्तो के बीच भेद किया गया। पुनश्च, प्रान्तों को गवर्नर के प्रान्तो, उप गवर्नर के प्रान्तों और चीफ कमिश्नर के प्रान्तो में भी बाटा गया। इन प्रान्तो में केवल एक ही प्रकार की समानता थी और वह यह थी कि वे सब एक ही केन्द्रीय सत्ता की पूर्ण अधीनता में थे। १७७३ के पश्चात् से जिस केन्द्रीय करण की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ था, वह लार्ड कर्जन के शासन-काल में अति तक पहुच गई।

प्रान्तों के भेद

प्रान्तों में एकरूपता

यह बात सर्वथा अवांछनीय थी। प्रान्त केन्द्र के प्रशासनीय अभिकर्ता मात्र ही रह गये। प्रशासनीय, व्यवस्थात्मक और वित्तीय विषयों में केन्द्र का प्रान्तों के ऊपर पूर्ण आधिपत्य था।

इस अतिशय केन्द्रीकरण के फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार का कार्य काफी कठिन हो गया। १८७० के पश्चात्, जब कि भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन की जड़े काफी मजबूत हो गईं, 'आदेश व नियन्त्रण विषयक एकरूपता' की आवश्यकता भी घट गई। फलतः अब विकेन्द्रीकरण के प्रति एक नूतन प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। केन्द्र के नियन्त्रण को धीरे धीरे शिथिल कर दिया गया और कुछ उल्लिखित क्षेत्रो में प्रान्तो को भी थोडी सी स्वतन्त्रता दे दी गई। परन्तु सत्ता का यह विदान शासन प्रबन्ध का विषय था। फिर भी, सवैधानिक दृष्टि से केन्द्रीय सरकार ही सर्वशक्तिशाली रही। १९१९ के सुधारोके अधिनियमन तक प्रातो के पास सच्ची स्वायत्तता नही थी। इस दिशा मे मोट फोर्ड सुधारो ने एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। चूकि प्रान्तो में आशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई, अतः केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो के सम्बन्धों मे कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए।

विकेन्द्रीकरण के प्रति नूतन प्रवृत्ति

मोंटफोर्ड सुधारों के अधीन केन्द्र व प्रान्तो के बीच सम्बन्ध

१९१९ के एक्ट ने भारतवर्ष मे सघीय राज्यतन्त्र की स्थापना नही की। वस्तुतः इस विचार को थोडे से आकलन के पश्चात् अस्वीकार कर दिया गया। तथापि यह बात निस्संदेह है कि प्रान्तों को आँशिक स्वायत्तता प्रदान की गई। विदान-नियमो के अधीन व्यवस्थापन और राजस्व के शीर्षको को दो सूचियो मे बाटा गया। एक सूची केन्द्रीय थी और दूसरी प्रान्तीय। केन्द्रीय सूची में सुरक्षा, विदेशी और राजनीतिक सम्बन्ध, आगमशुल्क, डाक और तार, मुद्रा, नमक कर, आयकर, अफीम, व्यवहार विधान और दण्ड विधान, तथा जनगणना आदि विषय सम्मिलित थे। प्रान्तीय सूची में महत्वपूर्ण विषय निम्नलिखित थे-पुलिस, न्याय, जेल, शिक्षा, स्थानीय स्व-शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, दवादारू का प्रबन्ध, भूमि-कर, सिंचाई और जगल आदि। १९१९ के एक्ट के अधीन कोई समवर्ती सूची नही थी, और समस्त अवशिष्ट सत्ताएं, अर्थात् "वे सब विषय जो कि प्रान्तीय सूची में सम्मिलित नही किये गये थे," केन्द्रीय सरकार के अधीन रक्खे गये थे। यदि केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार के बीच किसी विषय को लेकर

केन्द्रीय और प्रान्तीय सूचियां

विवाद उठ खड़ा होता, उस स्थिति में गवर्नर जनरल ही यह निश्चित करता था कि वह विषय प्रान्त की अधीनता मे है या केन्द्र की। तथापि यह स्मर्तव्य है कि सत्ताओं का उक्त वितरण पूर्ण स्वैरी नही था और केन्द्रीय सरकार कई उपायों से प्रांतीय क्षेत्र को आक्रान्त कर सकती थी। तथापि यह निश्चित कर दिया गया था कि प्रान्तीय सरकारो को 'हस्तातरित" विषयो के सम्बन्ध में पूर्ण स्वाधीनता मिलनी चाहिए। इन हस्तातरित विषयो को उन निर्वाचित मत्रियो की अधीनता मे रक्खा गया था जो कि प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओ के प्रति उत्तरदायी थे।

वित्तीय विधान

केन्द्र और प्रांतो के वित्तीय स्रोतो को भी १९१९ के एक्ट में लोकतत्रात्मक कर दिया गया। भूमिकर, सिंचाई, अत शुल्क, जगल, खान, मुहर, तथा पजीयन और आयकर के एक भाग की रसीदें पाने के अलावा, जिन्हे कि केन्द्रीय सरकार एकत्रित करती थी, प्रान्तीय सरकारे अपनी आय की पूर्ति करने के लिए, कुछ उल्लिखित करो को केन्द्रीय सरकार की विना पूर्व अनुमति के भी लागू करने के लिए अधिकृत थी। प्रान्तीय सरकारे इसी प्रकार के कुछ अन्य करो को केन्द्रीय सरकार की अनुमति लेकर लागू कर सकती थी। पुनश्च वे गवर्नर जनरल व भारत-मत्री का अनुमोदन पाकर क्रमश भारत वर्ष में और विदेशो मे सार्वजनिक ऋण भी एकत्रित कर सकती थी। राजस्व की मदो के विकेन्द्रीयकरण के फलस्वरूप यह भय उत्पन्न हो गया कि केन्द्रीय सरकार आर्थिक दृष्टि से स्वाश्रयी नही रह सकेगी। केन्द्रीय सरकार के १० करोड रु० के वार्षिक घाटे को पूरा करने के लिये यह निर्धारित किया गया था कि प्रातीय सरकारें उसे कुछ वार्षिक अनुदान दिया करेंगी।

प्रत्येक प्रात का ठीक ठीक अनुदान मेस्टन पचाट के अनुसार निश्चित किया गया। परन्तु प्रान्तीय सरकारो ने इस बन्दोबस्त की निरन्तर शिकायते की, फलतः प्रान्तीय अनुदानो की पद्धति को १९२८ में समाप्त कर दिया गया। १९१९ के एक्ट के अन्तर्गत वित्तीय विषयो के वितरण में सबसे बड़ा दोष यह था कि आय के विस्तार शील व दमनशील स्रोतों को केन्द्रीय सरकार के अधीन रक्खा गया। इसके विपरीत प्रान्तीय सरकारो के कधों पर राष्ट्र का निर्माण करने वाले कर्त्तव्य-कर्मों का भार रक्खा गया, परन्तु उसकी आय के स्रोत भूमिकर और अन्त. शुल्क आदि अत्यन्त अप्रिय व अ-नमनशील थे। परन्तु फिर भी यह बात निर्विवाद है कि १९१९ के एक्ट ने संघवाद की ओर एक निश्चित पग बढाया। १९३५ के भारतीव शासन सम्बन्धी एक्ट में इसी को कतिपय सुधारों व सशोधनों के सहित क्रियान्वित किया गया।

५४-प्रान्तीय कार्यकारिणी-द्वैध शासन प्रणाली

कीथ के अनुसार मोंटफोर्ड-सुधारों की 'नवीनता' इस बात में सन्निविष्ट थी कि उन्होंने दोनों ही अर्थों-अर्थात् केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण के शिथिलीकरण व प्रान्तीय कार्यकारिणी के व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायित्व में प्रान्तीय स्वायत्तता की पुरःस्थापना की। २० अगस्त १९१७ की घोषणा में जिस उत्तरदायी शासन की स्थापना का वचन दिया गया था, १९१९ का एक्ट उस दिशा मे प्रथम पग था। इस अध्याय के एक प्रारम्भिक खड में हम देख चुके हैं कि भारतीय सवैधानिक ढाचे की एकात्मक प्रकृति में कोई विशेष अन्तर किये बिना ही १९१९ के एक्ट ने प्रान्तीय क्षेत्र में सीमित-स्वायत्तता की स्थापना की यद्यपि भारतीय सरकार के नियत्रण को भी पूर्णतः हटाया नहीं गया, फिर भी प्रान्त अपने कार्य स्वय कर सकें, इसकी उन्हे थोडी सी स्वतत्रता दे दी गई।

प्रान्तीय स्वायत्तता की दिशा में प्रथम पग

प्रान्तीय कार्यकारिणी को प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाने के दृष्टि-कोण से मोटफोर्ड सुधारो ने द्वैध-शासन-प्रणाली का सूत्रपात किया। यह उपाय पूर्णतः नौकरशाही और उत्तरदायी शासनके मध्य का मार्ग था। स्पष्ट हैं कि ब्रिटिश अधिकारी-वर्ग प्रान्तों तक में पूर्ण प्रजातत्र की स्थापना करने के लिये तय्यार नहीं था। सच्ची उत्तरदायी सरकार के लिए यह आवश्यक है कि कार्यकारिणी यथा-सभव विस्तृत मताधिकार के आधार पर निर्वाचित व्यवस्थापिका के अधीन हो। १९१९ के एक्ट के अधीन इसको उपबन्धित नही किया गया। उसने वस्तुतः जो किया वह यह था कि प्रान्तीय सरकार को दो भागो में विभाजित कर दिया। एक भाग, जिसमें कि गवर्नर और उसकी परिषद शामिल थी, पुलिस, न्याय, जेल, राजस्व, सिंचाई और सार्वजनिक सेवाओ आदि विषयो को नियत्रित करता था। प्रान्तीय सर-कार का यह भाग पूर्ववत् ही नौकरशाह बना रहा। यह भाग गवर्नर के प्रति ही उत्तरदायी था। सरकार के दूसरे भाग में गवर्नर और मत्री सम्मिलित थे। मत्री हस्तांतरित विषयों, अर्थात शिक्षा, कृषि, स्थानीय स्वशासन, सार्वज-निक स्वास्थ्य और स्वच्छता, अन्त:शुल्क और उद्योगों आदि का प्रबन्ध करते थे। मत्रियों को स्वयं गवर्नर प्रान्तीय व्यवस्थापिका के निर्वा-चित सदस्यो में से नियुक्त करता था। मन्त्री लोग अपनी नीतियो और कार्यों के लिये व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। व्यवस्थापिका अपने अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा उन्हें अपने पदों से हटा सकती थी।

द्वैध शासन-एक मध्यम मार्ग

प्रान्तीय कार्यकारिणी के दो भाग (संरक्षित और हस्तांतरित विषय)

कानूनी दृष्टि से प्रान्तीय सरकार के दोनों भाग एक दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग थे, उनमें से प्रत्येक विभाग अपने अपने क्षेत्र में स्वतंत्र था। परन्तु यह विचार किया गया था कि वे एक दूसरे की सलाह लेकर कार्य करेंगे। यथाक्रम उनके नियन्त्रण में जो विभाग थे, उनका एक दूसरे के ऊपर प्रभाव पडता था। इस दृष्टिकोण से उक्त बात बहुत आवश्यक थी। 'सरक्षित' और 'हस्तांतरित' शीर्षको के अधीन विभागो का वितरण बहुत बेढंगा था। उदाहरणार्थ कृषि को तो 'हस्तातरित' खड में रक्खा गया और सिचाई को 'सरक्षित' खंड में। इस प्रकार के दोषयुक्त प्रबन्ध में इस बात की पर्याप्त सभावना रहती थी कि कही क्षेत्राधिकार के प्रश्न को लेकर एक विभाग का दूसरे विभाग के साथ झगडा न हो जाय। इसलिये यह उपबन्धित किया गया कि मतभेद व सघर्ष की स्थिति मे अन्तिम निर्णय गवर्नर का

विभागों का बेढंगा वितरण

का ही मान्य होगा। १९१९ के एक्ट ने सरकार के दोनो भागो के बीच प्रान्तीय राजस्वो के वितरण का भी विधान किया। यह सुझाव दिया गया था कि यह वितरण "सामान्य बुद्धि व तर्क सगत आदान प्रदान की सरल प्रक्रिया" द्वारा सम्पन्न होगा। तथापि यह निश्चित किया गया कि यदि कही मतभेद उठ खडे होगे तो गवर्नर को इस बात का अधिकार होगा कि वह राजस्वो को सरक्षित और हस्तानरित विभागो के बीच बाट दे। सार्वजनिक ऋण एकत्रित करने के प्रस्तावो पर शासन के दोनो भाग सयुक्त रूप से विचार करते थे परन्तु निर्णय उनमे से हरेक अलग-अलग करता था।

राजस्वों का वितरण

५५.गवर्नर

द्वैध शासन-प्रणाली मे गवर्नर का स्थान बडे महत्व का था। वह कार्यकारिणी का प्रधान था और इसकी शक्तिया बहुत विस्तृत थी। प्रेसिडेंसियो के गवर्नरो की नियुक्ति भारत-मन्त्री की सलाह के अनुसार सम्राट करते थे। आमतौर पर जिन व्यक्तियो को प्रेसीडेंसियो का गवर्नर बनाया जाता था, वे उच्चकुलोत्पन्न अग्रेज होते थे, उनको सार्वजनिक जीवन का काफी गहरा अध्ययन होता था। दूसरे प्रातो* के लिये सम्राट गवर्नर जनरल की सलाह के अनुसार गवर्नर नियुक्त

नियुक्ति और पदावधि

* १९२१ में यू पी, पजाब, बिहार और उडीसा, सी. पी. तथा आसाम पूरे तरीके से गवर्नर के प्रात हो गये। १९२३ में बर्मा को और उसके एक वर्ष पश्चात् उत्तर-पश्चिमी-सीमा-प्रांत को यह प्रस्थिति प्राप्त हो गई।

करते थे। दूसरे प्रान्तो के लिये आमतौर पर जो गवर्नर नियुक्त किये जात थे, वे ऊंचे नागरिक सेवकों में से होते थे। साधारत एक गवर्नर का कार्यकाल पाच वर्षों का होता था।

गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी परिषद

गवर्नर 'सरक्षित' विषयो का शासन प्रबन्ध एक कार्यकारिणी परिषद की सहायता से करता था। इस कार्यकारिणी परिषद में अधिक से अधिक ४ और कम से कम २ सदस्य सम्मिलित होते थे।‡ १९१९ के एक्ट के अनुसार कार्यकारिणी मे कम से कम एक ऐसे सदस्य का होना आवश्यक था जो कि भारतवर्ष मे कम से कम १२ वर्षों से सिविल सर्विस करता रहा हो। दूसरे सदस्य साधारणत गैर-सरकारी भारतीयो में से लिये जाते थे। अभिसमय के द्वारा परिषद के अंग्रेज सदस्यो और भारतीय सदस्यो का दर्जा एक दूसरे के बराबर रखा जाता था। सदस्य सम्राट के द्वारा पाच वर्षो के लिये नियुक्त किये जाते थे। व्यवहारत उनके चुनाव मे गवर्नर का बहुत हाथ रहता था। यद्यपि कार्यकारिणी परिषद के सदस्य प्रांतीय व्यवस्थापिका के भूतपूर्व सरकारी सदस्य होते थे, तथापि वे उसके प्रति उत्तरदायी नही होते थे। कार्यकारिणी-परिषद की बैठको में गवर्नर सभापति का आसन ग्रहण करता था। समपत्ति की स्थिति मे उसे एक निर्णायक मत के प्रयोग करने का अधिकार होता था। परन्तु यदि वह अपने प्रांत या उसके किसी भाग की शांति व सुरक्षा के लिये आवश्यक समझता तो कार्यकारिणी परिषद के बहुमत के निर्णय का भी उल्लघन कर सकता था। कार्यकारिणी-परिषद व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नही होते थे। व्यवस्थापिका सभा न तो उन्हे अपने स्थान से ही च्युत कर सकती थी और न उनके वेतन मे ही किसी प्रकार की कमी कर सकती थी। अपने कार्यों के लिये कार्यकारिणी परिषद गवर्नर के प्रति उत्तरदायी थे। इस प्रकार गवर्नर ही स्थिति का स्वामी होता था।

'हस्तातरित' विषयो का शासन-प्रबन्ध गवर्नर के हाथो में था जिसे कि वह मन्त्रियो की सहायता से सम्पन्न करता था। एक्ट ने प्रातों में मन्त्रियो की कोई संख्या तो निश्चित नही की, परन्तु व्यवहारत. बडे प्रातों में वह

---

‡ केवल तीन ही प्रेसीडेंसिया ऐसी थीं जिनमें कि गवर्नर की कार्यकारिणी-परिषद में ४ सदस्य होते थे। शेष सभी प्रातों में परिषद में २ सदस्य होते थे। इन सदस्यो में से एक अंग्रेज सिविलियन होता था और दूसरा गैर-सरकारी भारतीय।

गवर्नर का मंत्रियों के साथ काम करना

तीन होती थी और छोटों में दो। मन्त्रियो की नियुक्ति गवर्नर करता था। मन्त्री या तो वे लोग होते थे जो कि प्रांतीय व्यवस्थापिका के निर्वाचित सदस्य होते थे अथवा वे लोग होते थे जो कि अपनी नियुक्ति के ६ महीने के भीतर ही भीतर प्रांतीय व्यवस्थापिका के सदस्य निर्वाचित हो जाते थे। किसी व्यक्ति को मन्त्री पद पर नियुक्त करने से पहिले गवर्नर को यह देखना पडता था कि वह व्यवस्थापिका के विश्वास को प्राप्त करने और अपने दायित्व का सम्यक निर्वहन करने में समर्थ हो सकेगा या नही। मन्त्रियो को स्थिति वही थी जो कि कार्यकारिणी परिषदों की। मन्त्रियो को भी वेतन वही मिलता था जो कि कार्यकारिणी परिषदो को, परन्तु उनकी स्थिति मे व्यवस्थापिका को उपलब्धियो में कमी कर देने का अधिकार था। बम्बई में वस्तुतः ऐसा ही किया गया। वहा प्रत्येक मन्त्री का वेतन ६४,००० रु० प्रति वर्ष से घटा कर ४८,००० रु० प्रति वर्ष ही कर दिया गया। जब व्यवस्थापिका सभा भङ्ग होती, मन्त्रियो को अपना पद त्याग करना पडता था। परन्तु व्यवस्थापिका मन्त्रियों के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हे इसके पूर्व भी पदच्युत कर सकती थी। दूसरे शब्दो में मन्त्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। इसके साथ ही साथ एक और ध्यान देने योग्य बात है, वह यह कि मन्त्री गवर्नर के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पदो पर नियुक्त रहते थे। यदि गवर्नर चाहता तो बिना किसी कारण का अध्यारोप किये भी उन्हे अपने पद से हटा सकता था।

साधारणत गवर्नर से यह आशा की जाती थी कि वह मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार कार्य करे, परन्तु उसे मन्त्रियो के निर्णयो मे हस्तक्षेप करने के व्यापक अधिकार प्राप्त थे। वह यदि उचित समझता तो किसी भी मन्त्री के परामर्श को ठुकरा सकता था। वह मन्त्री, जिसके कि परामर्श की इस प्रकार अवहेलना की जाती, अपने पद का त्याग कर सकता था। आपात की स्थिति में मन्त्रियो के रिक्त स्थानों की पूर्ति न करने के लिये गवर्नर स्वतंत्र था। उस स्थिति में वह हस्तातरित विभागों का प्रबन्ध सीधे अपने ही हाथों में ले सकता था।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि गवर्नर किसी प्रकार वैधानिक प्रमुख ही न था। उसको जितने व्यापक अधिकार प्राप्त थे, उनके कारण उसकी स्थिति एक स्वेच्छाचारी शासक के तुल्य हो गई थी। इस बात को इस तथ्य से ही समझा जा सकता है कि वह न केवल कार्यकारिणी परिषदो को ही अपनी अधीनता में रख सकता था, अपितु प्रांतीय व्यवस्थापिका की इच्छा को

गवर्नर के व्यवस्थात्मक अधिकार

भी बहुत अंशों में कुचल सकता था। इसके आलावा व्यवस्थापिका द्वारा पारित सभी कानूनों पर वह अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था। कुछ ऐसे विधेयक थे जिन्हें कि उसकी पूर्व अनुमति के बिना व्यवस्थापिका में पुरःस्थापित तक भी नहीं किया जा सकता था। यदि गवर्नर किसी विधेयक को आवश्यक समझता, और व्यवस्थापिका उसे पारित करना अस्वीकार कर देती तो उस स्थिति में गवर्नर अपनी 'प्रमाणीकरण' की शक्ति के प्रयोग द्वारा उस विधेयक को पारित घोषित कर सकता था। उसे गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त करके, अध्यादेशों की निर्मिति का भी अधिकार प्राप्त था। गवर्नर के वित्तीय अधिकार भी इसी प्रकार बहुत विशाल थे। सरक्षित विषयो की स्थिति में व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत या घटाई गई 'ग्रांट' को भी वह जैसी की तैसी रख सकता था। हस्तातरित विषयो के सम्बन्ध में भी, व्यवस्थापिका के विरोध के बावजूद भी, गवर्नर यह कह कर किसी भी व्यय को प्रमाणीकृत कर सकता था कि वह प्रात की शान्ति और सुरक्षा अथवा अमुकविभाग के शासन-प्रबन्ध के लिए आवश्यक है।

गवर्नर के वित्तीय अधिकार

५६. प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डल

१९१९ के एक्ट ने प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलो की रचना व शक्तियो में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। उनके आकार में पर्याप्त वृद्धि की गई और उन्हें अधिक लोकतन्त्रात्मक बनाया गया। प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों में निर्वाचित सदस्यो का सारभूत बहुमत रक्खा गया और उन्हे जनता की अधिक प्रतिनिध्यात्मक सस्थाए बनाने के दृष्टिकोण मे मताधिकार को भी विस्तृत किया गया। १९१९ के एक्ट के अधीन जो व्यवस्थापिकाए निर्मित हुईं, उनकी स्थिति पूर्वकाल की व्यवस्थापिकाओं से बिल्कुल भिन्न थी। अब वे कानून निर्माण के प्रयोजन के लिए कार्यकारिणी के हाथो की खिलौना मात्र ही नही रह गईं थीं। अपितु, इसके विपरीत अब वे स्वतन्त्र सस्थाए थी और कार्यकारिणी के ऊपर किंचित् नियन्त्रण भी स्थापित कर सकती थी। प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों का आकार अलग-अलग प्रान्तों में अलग अलग था परन्तु यह उपबन्धित किया गया कि सरकारी सदस्यों की सख्या अधिक से अधिक २०% और निर्वाचित सदस्यो की संख्या कम से कम ७०% होनी चाहिए। अवशिष्ट सदस्य गवर्नर द्वारा मनोनीत गैर सरकारी सदस्य होते थे। विभिन्न प्रान्तों में व्यवस्थापिका सभाओं

प्रान्तीय व्यवस्थापक मण्डलों की नूतन स्थिति

उनका बढ़ा हुआ आकार

की वास्तविक रचना और निर्वाचित, सरकारी और गैर सरकारी मनोनीत सदस्यों की प्रतिशत संख्या निम्नतालिका में दी गई है।

प्रान्त	निर्वाचित सदस्य	सरकारी सदस्य (भूतपूर्व परिषदो को सम्मिलित करके)	मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य	कुल जोड़
मद्रास	६८	७ जमा ४	२३	१३२
बम्बई	८६	१५ जमा ४	६	११४
बंगाल	११४	१२ जमा ४	१०	१४०
सयुक्त प्रान्त	१००	१५ जमा २	६	१२३
पजाब	७१	१३ जमा २	८	६४
बिहार और उड़ीसा	७६	१३ जमा २	१२	१०३
मध्यप्रान्त	५५	८ जमा २	८	७३
आसाम	३६	५ जमा २	७	५३
बर्मा	८०	१४ जमा २	७	१०३

१९१९ के सुधारो के अधीन मताधिकार के क्षेत्र को मार्ले-मिंटो सुधारो की अपेक्षा और व्यापक कर दिया गया। परन्तु इतने पर भी वह रहा काफी सकुचित।

मताधिकार और निर्वाचन

१६२० मे, ब्रिटिश भारत मे २४१ ८ प्रयुत (Million) की कुल जनसख्या मे केवल ५ ३ प्रयुत लोगो को अथवा वयस्क जनसख्या के केवल ६ प्रतिशत भाग को ही मतदान देने का अधिकार प्राप्त था। मतदाताओ की अर्हताएं अलग अलग प्रान्तो मे अलग अलग थी। साधारणत नगर निर्वाचन क्षेत्रो मे मतदान के अधिकारी वे ही लोग हो सकते थे जो या तो कम से कम २००० रुपये वार्षिक आय पर आयकर देते हो अथवा ऐसे किसी मकान मे रहते हो जिसका किराया कम से कम ३६रुपये प्रतिवर्ष हो अथवा कम से कम ३रुपया प्रतिवर्ष के म्युनिसपल उपशुल्क देते हो। देहाती निर्वाचन क्षेत्रो में मतदान के अधिकारी वे ही लोग हो सकते थे जो कि कम से कम १० रु प्रतिवर्ष से लेकर ५० रु प्रतिवर्ष तक का भूमि कर देते हों। जमीदार निर्वाचन क्षेत्रो से विहित की गई अर्हता यह थी कि जो लोग ५०० रु. प्रतिवर्ष (पजाब में) से लेकर ५००० रु प्रतिवर्ष (यू० पी० मे) तक का भूमिकर देते हों, वे ही मतदान के अधिकारी हो सकते हैं। विश्वविद्यालय निर्वाचन क्षेत्रो में

७ वर्षों की 'स्टैंडिंग' वाले रजिस्टर्ड ग्रेजुएट, ५ वर्षों की स्टैंडिंग वाले एम० ए० और विश्वविद्यालयों के पारिषद [(Fellows) मतदान के अधिकारी थे। सैनिक सेवा भी एक अर्हता मानी जाती थी और पजाब व सी० पी० मे लम्बरदार तथा गाव के मुखिया मतदाता हो सकते थे। मोंटफोर्ड सुधारों ने प्रत्यक्ष निर्वाचनो की प्रणाली विहित की। परन्तु सभी निर्वाचनों का आधार "जातियो और हितों" के लिए पृथक प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त रक्खा गया। मोटफोर्ड प्रतिवेदन ने निम्न आधारों पर पृथक निर्वाचक मण्डलो का खण्डन किया था (१) वे विभिन्न सप्रदायो के बीच द्वेष भाव की सृष्टि करते है। (२) वे अल्पसख्यक वर्गों की अनुन्नत दशा को यथापूर्व रखते हैं। (३)वे नागरिकता की श्रेष्ठ भावना के विकास में बाधा डालते हैं और (४) उत्तरदायी शासन के विकास का मार्ग अवरुद्ध कर देते हैं। इस अ-लोकतन्त्रात्मक पद्धति को समाप्त कर देने के लिए ये तर्क काफी वजनदार थे। परन्तु प्रतिवेदन ने इस पद्धति को न केवल मुसलमानो के लिए कायम ही रखने की, अपितु उसे सिक्खो के ऊपर और लागू कर देने की सिफारिश की। १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट के अधीन जो नियम बने, वे इससे भी आगे बढ गये और उन्होंने भारतीय ईसाइयो, यूरोपियनो तथा आग्ल-भारतीयो को पृथक निर्वाचक मण्डल प्रदान किए। इसके अलावा उन्होंने बहुल-सदस्य निर्वाचन क्षेत्रो से मद्रास मे अ-ब्राह्मणो के लिए और बम्बई मे मरहठो के लिए स्थानो के सरक्षण को भी उपबन्धित किया। जमीदारो, व्यावसायिक और औद्योगिक हितो तथा विश्वविद्यालयो के लिए भी विशेष प्रतिनिधित्व की गारण्टी दी गई। एक दूसरा भेद 'देहाती' और 'नागरिक' निर्वाचन क्षेत्रो मे किया गया। देहाती निर्वाचन क्षेत्रो को नागरिक निर्वाचन क्षेत्रो की अपेक्षा अधिक वजन दिया गया। यद्यपि सरकार ने नागरिक और देहाती क्षेत्रो के बीच वही अन्तर बनाया था जो कि "प्रगति और जडता" के बीच होता है। सक्षेपतः सरकार की नीति यह थी कि नूतन कौंसिलो में अनुदार तत्वो और न्यस्त स्वार्थों का ही आधिपत्य रहे। दूसरे शब्दो मे व्यवस्थापक मडल न तो वस्तुत लोकतन्त्रात्मक ही थे और न वे यथार्थत जनता का प्रतिनिधित्व ही करते थे। सरकारी और मनोनीत गुट का प्रभाव, जिसके साथ कि साम्प्रदायिक व विशेष हितो का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य भी सम्मिलित हो जाते थे, प्रान्तो में लोकतन्त्र की स्थापना के मार्ग मे बहुत बडी बाधा थी।

साम्प्रदायिक और विशेष निर्वाचक मण्डल

गवर्नरो के प्रान्तो की व्यवस्थापिकाए तीन वर्षों के लिए निर्वाचित की जाती थी। परन्तु गवर्नर उनको अपने पूरे कार्यकाल के समाप्त होने के पूर्व ही भग कर सकते थे अथवा विशेष परिस्थितियों में वे उनके जीवन को अधिक से अधिक एक

वर्ष के लिए बढा सकते थे। व्यवस्थापिकाओ को गवर्नर आहूत करता था, उसे उन्हे कुछ काल के लिए स्थगित कर देने का भी अधिकार था। पहले चार सालो के लिए गवर्नर को अपने प्रान्त की व्यवस्थापिका के अध्यक्ष को नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त था, उपाध्यक्ष के निर्वाचन पर भी अपनी स्वीकृति देने का हक था। इसलिए सभा को अपना अध्यक्ष अपने आप ही चुनना था।

व्यवस्थापिका सभाओं का कार्यकाल

व्यवस्थापिका सभा का अध्यक्ष

१९१९ के एक्ट ने प्रान्तीय व्यवस्थापक मडलो की व्यवस्थात्मक, वित्तीय और वाद-विवाद करने की शक्तियों में वृद्धि की। इसके साथ ही साथ एक्ट ने उन्हें प्रातीय कार्यकारिणी के एक भाग को भी नियन्त्रित करने का अधिकार दिया। परन्तु व्यवस्थापक मडलो की शक्तियों के ऊपर कई बडे बडे प्रतिबन्ध लगे हुये थे। उदाहरणार्थ व्यवस्थात्मक क्षेत्र में गवर्नर की 'वीटो' और प्रमाणीकरण की शक्तियो ने प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडल की शक्तियों को बहुत परिमित कर दिया था। वह किसी भी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा के आकलन को अथवा उसके सशोधन को रोक सकता था। यदि वह ऐसा करना प्रान्त की शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता तो उसके इस कार्य में बाधा उपस्थित करने की व्यवस्थापकमडल को शक्ति नहीं थी। इसके अलावा कुछ विधेयक ऐसे थे जिन्हें कि गवर्नर की पूर्व स्वीकृति के बिना व्यवस्थापक मडल में पुरः स्थापित ही नहीं किया जासकता था। इसी प्रकार वित्तीय क्षेत्र में भी, प्रान्तीय बजट का अधिकाश भाग अ-मतापेक्षी था। मतापेक्षी भाग की स्थिति में भी, व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत अथवा घटाई हुई 'ग्राट' यदि किसी संरक्षित विषय से सम्बद्ध होती थी, तो गवर्नर उसे यथापूर्व रख सकता था। आपात काल में यदि किसी व्यय की आवश्यकता होती, तो गवर्नर उसे व्यवस्थापिका के बिना अनुमोदन के अधिकृत कर सकता था।

प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडलों की व्यवस्थात्मक और वित्तीय शक्तियां

जहा तक प्रान्तीय व्यवस्थापिका और कार्यकारिणी के सम्बन्धो का प्रश्न है, मंत्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। मंत्रियो के वेतन और उनके विभागों से सम्बद्ध धन के अधिकांश अनुदानों पर व्यवस्थापिका को मतदान देने का अधिकार था। वह किसी भी मंत्री को उसके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पारित करके त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सकती थी। परन्तु द्वैधात्मक कार्यका-

प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं का कार्यकारिणी से सम्बन्ध

रिणी का दूसरा भाग अर्थात कार्यकारिणी परिषद प्रांतीय व्यवस्थापक मंडल के प्रति उत्तरदायी नही था व्यवस्थापक मंडल न तो उन्हे। (कार्यकारिण-परिषदों को) पदच्युत ही कर सकता था। परन्तु यदि व्यवस्थापिका सभा इस अटल आधी कार्यकारिणी को नियंत्रित नही कर सकती थी, तो कई परोक्ष रीतियों से प्रभावित अवश्य कर सकती थी। प्रश्नों व स्थगन-प्रस्तावो के द्वारा और सरक्षित विभागो से सम्बद्ध उन अनुदानों को जिनके ऊपर कि उसे मतदान देने का हक था, अस्वीकृत करके या घटा कर, व्यवस्थापिका सभा कार्यकारिणी के ऊपर काफी जोर का दबाव डाल सकती थी और कभी कभी उससे अपनी बात मनवा लेती थी।

५७. द्वैधशासन प्रणाली की असफलता

द्वैधशासन प्रणाली के प्रयोग को सोलह वर्षों तक (१९२१-१९३७) चलाया गया परन्तु सक्षम निरीक्षको ने उसे एक बहुत बडी असफलता बताया। यह ठीक है कि उसने कुछ सफलताए प्राप्त की। परन्तु वह अपने मुख्य उद्देश्य प्रातीय प्रशासन के हस्तातरित भाग में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने मे सर्वथा असफल रही। ब्रिटिश लेखको ने द्वैधशासन प्रणाली की असफलता का सारा दोष काग्रेस के सिर मढ़ने का प्रयास किया है। उनका कथन है कि स्वराज्य दल ने अड़ंगा नीति का आश्रय लिया इसलिए द्वैधशासन प्रणाली असफल सिद्ध हुई। परन्तु असफलता के असली कारण तो मोटफोर्ड सुधारो के अधीन योजित उत्तरदायी शासन की अपरिपक्वता में ही समाविष्ट थे।

गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियों ने उत्तरदायी शासन की वृद्धि को अवरुद्ध किया

१९१९ के एक्ट का सबसे बडा दोष यह था कि उसने गवर्नरो को हस्तांतरित विभागो के सम्बन्ध में भी इतने अधिक अधिकार दे दिये कि वे उत्तरदायी शासन की वृद्धि को अत्यन्त सफलतापूर्वक अवरुद्ध कर सकते थे। गवर्नर को मत्रियो द्वारा प्रदत्त परामर्श की अवहेलना करने का अधिकार प्राप्त था। फलत गवर्नर मत्रियो के साथ केवल परामर्श-दाताओ अथवा गौरवान्वित सेक्रेटेरियो का सा ही व्यवहार करता था। शासन-प्रबन्ध की असली शक्ति मंत्रियो के हाथो में नही, अपितु गवर्नर के हाथों में थी। इसने एक असगत स्थिति की सृष्टि की, मत्रियो को दो स्वामियो की सेवा करनी पडती थी। वह अपने पद पर व्यवस्थापिका के विश्वास पर्यन्त ही स्थिर रह सकते थे। इसके साथ ही साथ जब तक कि वे पदत्याग देने के लिए प्रस्तुत नही हो जाय उन्हें स्वेच्छा-चारी गवर्नर के अधीन भी रहना पडता था। बहुत से मत्री ऐसे थे जो कि स्वतंत्रता की

अपेक्षा पद पर आरूढ़ रहना अधिक श्रेयस्कर समझते थे। मद्रास के एक मंत्री ने, खुल्लम खुल्ला यह कह दिया था कि वह व्यवस्थापिका सभा के प्रति नहीं, अपितु गवर्नर के प्रति उत्तरदायी है।

मंत्री व्यवस्थापिका सभा के निर्वाचित सदस्यों की अपेक्षा सरकारी गुट पर अधिक निर्भर रहते थे

मोटफोर्ड सुधारो मे दूसरा दोष यह था कि मत्री, एक ठोस सरकारी गुट और मनोनीत सदस्यो की उपस्थिति में, व्यवस्थापिका के प्रति सच्चे अर्थों मे, उत्तरदायी नही हो सकते थे। कुल मिला कर उनकी सख्या, व्यवस्थापिका सभा के कुल सदस्यो की सख्या की ३०% होती थी। परन्तु उनकी वास्तविक शक्ति इससे भी अधिक होती थी क्योकि उन्हे जमीदारो, व्यवसायियों और उद्योगपतियो, यूरोपीयो व आग्ल-भारतीयो के प्रतिनिधियो का तथा साम्प्रदायिक निर्वाचक मडल के आधार पर निर्वाचित कुछ सदस्योका समर्थन सदैव ही प्राप्त हो जाता था। यदि इतने पर भी व्यवस्थापिका के अवशिष्ट सदस्य बहुमत मे रहते थे, तो वे मिल कर साथ साथ काम नही करते थे। फलत मत्रियो को निर्वाचित सदस्यो के समर्थन की अपेक्षा अपनी प्रयोजन-सिद्ध के लिए, सरकारी गुट का समर्थन प्राप्त करना अधिक आवश्यक प्रतीत होता था। यदि व्यवस्थापिका सभा मे उनके समर्थको की सख्या कम होती, तब भी वह प्रतिगामी तत्त्वो, जो कि सदैव गवर्नर के इशारो पर नाचते थे, की सहायता से ही अपने मत्रिपद पर आसीन रह सकते थे। फलतः मत्री व्यवस्थापिका के प्रति बिल्कुल ही उत्तरदायी न रहे। वस्तु-स्थितिमे वे अनुत्तरदायी और अटल-अचल कार्यकारिणी के प्रति उत्तरदायी रहते थे।

संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव

मोंटफोर्ड सुधारो मे तीसरा दोष यह था कि उन्होने सयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धात की उपेक्षा की। यह अत्यन्त अनुचित था क्योकि सयुक्त उत्तरदायित्व के अभाव मे किसी भी मन्त्रिमन्डल की गाडी आगे नही बढ सकती। व्यवहारत:, गवर्नर मन्त्रियो को बिना किसी राजनीतिक एकान्विति (Political homogeneity) की ओर ध्यान दिये ही चुन लेते थे। यदि सारे प्रातीय मन्त्री एक ही राजनीतिक दल के सदस्य होते, तो सभवत. सँयुक्त उत्तरदायित्व की प्रथा चल पडती। हुआ यह कि कभी कभी गवर्नर दो विरोधी दलो के निर्वाचित सदस्यों को मन्त्री बना देते थे। फलत. मन्त्री एक 'टीम' के रूप में कार्य नही कर सकते थे। वे मन्त्री थे, मन्त्रिमन्डल नही।* वस्तुत मन्त्री अपने-अपने विभाग के

* इस सम्बन्ध में सम्भवतः मद्रास ही एक अपवाद था। वहा अ-ब्राह्मणों की

व्यक्तिगत प्रमुख होते थे। वे उस सुसंगठित टीम की तरह नहीं होते थे जो एक इकाई के रूप में व्यवस्थापिका का सामना करती है। कभी-कभी मन्त्री लोग सभा-भवन में ही एक दूसरे का विरोध करने लगते थे।† यह ठीक है कि इस अवस्था के लिये कुछ हद तक राजनीतिक दल पद्धित का अभाव भी दोषी था। परन्तु इस अवस्था के मुख्य उत्तरदायी गवर्नर लोग ही थे। मुडीमैन कमेटी के सामने गवाही देते हुये कई भूतपूर्व मन्त्रियों ने इस दोष की जिम्मेदारी गवर्नरो के सिर मढी थी। पंजाब के सम्बन्ध में गवाही देते हुये स्वर्गीय लाल हरिकिशन लाल ने अपने विचारो को इस प्रकार प्रकट किया था, "दो मत्री किसी बात पर एक साथ विचार न करते थे, प्रातीय गवर्नर मुझसे कहा करते थे कि नियमानुकूल प्रत्येक मन्त्री को व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के आधार पर ही सारा कार्य करना चाहिये।" जब कि व्यवस्थापिका में इतने अधिक वर्गीय व साम्प्रदायिक समूहो को प्रतिनिधित्व दे दिया गया, तो स्वस्थ दल-पद्धति का विकास कैसे हो सकता था ? फलत: प्रातो मे उस प्रकार का उत्तरदायी शासन स्थापित न हो सका, जिसकी आशा की गई थी। द्वैध शासन-प्रणाली की असफलता का चौथा कारण हस्तातरित और सरक्षित विषयो का भेद था। उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिये यह सर्वथा अनुपयुक्त था।

हस्तांतरित और सरक्षित विषयों का भेद

इन विषयो की अलग अलग सूचिया अवश्य बनाई गई परन्तु व्यवहार मे इस प्रकार का विभाजन पूर्णत दोषयुक्त सिद्ध हुआ। मद्रास के के वी रेड्डी ने एक बार कहा था "मै जगलो के बिना विकास मन्त्री था। मै कृषि मन्त्री था, परन्तु सिंचाई मेरे नियन्त्रण मे न थी। मै उद्योग मन्त्री था, परन्तु कारखानो, बिजली, जल शक्ति, खानो और श्रम आदि किसी पर मेरा नियत्रण न था क्योंकि वे सरक्षित विषय थे।" स्पष्ट है कि हस्तातरित विषयो से सम्बन्धित अपने किसी कार्य मे,मन्त्रियो

---

† बङ्गाल मे यही हुआ। वहा कलकत्ता-म्युनिसिपल विधेयक के ऊपर सुरेन्द्र-नाथ बेनर्जी और उनके एक मुस्लिम साथी ने एक दूसरे का विरोध किया। पजाब में भी दो मन्त्रियो के बीच सघर्ष हो गया था।

जस्टिस पार्टी का बहुमत था। उसने कुछ कुछ सयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धात का पालन किया। संयुक्त प्रात मे, श्री सी वाई चिन्तामणि और प० जगतनारायण ने इस प्रथा का चलाना प्रारम्भ किया। गवर्नर और श्री चिन्तामणि मे शिक्षा-विभाग के एक कर्मचारी के कार्यों के विषय मे मतभेद हुआ। प० जगतनारायण का उससे कोई सम्बन्ध न था, फिर भी दोनो मन्त्रियों ने एक ही साथ अपना त्यागपत्र गवर्नर के पास भेजा।

को तब तक कोई सफलता नही मिल सकती थी, जब तक कि उन्हें कार्यकारिणी-परिषदो का, जिनकी कि अधीनता में सरक्षित विभाग थे, सहयोग न मिल जाता। परन्तु मन्त्रियो को यह सहयोग सदैव ही प्राप्त नही हो पाता था। फलतः यद्यपि असफलता का उत्तरदायित्व तो सामान्य होता था, तथापि व्यवस्थापिका के द्वारा दण्डित केवल मन्त्री ही किये जा सकते थे।

वित्तीय असंगतियां

पांचवें, वित्त के सम्बन्ध में मन्त्रियो की जो स्थिति थी, उस दृष्टि से भी उनका उत्तरदायित्व झूठा था। प्रांतीय सरकारो के हस्तातरित और सरक्षित विभागो का बजट एक ही होता था। विभिन्न विभागो के लिये राजस्व का प्रतिस्थापन मत्रियो और कार्यकारिणी परिषदो के पारस्परिक विचार विमर्श के द्वारा सम्पन्न हो सकता था। परन्तु यदि वे एक दूसरे के साथ सहमत न हो पाते, उस स्थिति में प्रतिस्थापन निश्चित करना गवर्नर के हाथ में था। स्वभावत गवर्नर कार्यकारिणी परिषदो के दृष्टि विन्दुओ को मत्रियो के दृष्टि विन्दुओ की अपेक्षा अधिक सहानुभूति के साथ सुनता था। इस सम्बन्ध में मत्रियो को एक और कठिनाई का सामना करना पडता था। वित्त-विभाग के ऊपर उनका कोई नियत्रण नही था, वह पूर्ण रूप से एक कार्यकारिणी परिषद के हाथो मे था। वित्त विभाग व्यय के सभी नये प्रस्तावो का परीक्षण करता था। इसमें मंत्रियो की ओर से उपस्थित किये जाने वाले प्रस्ताव भी सम्मिलित रहते थे। विभिन्न विभागों को कितना धन दिया जाय, इस बात का निर्णय भी उसी के हाथ में रहता था। इस सम्बन्ध में वह सरक्षित विभागो के प्रति पक्षपात का परिचय देता था। सरक्षित विभागो को परामर्श करने पर ही सब चीजे मिल जाती थी और हस्तांतरित विभागो को आवश्यकता होने पर भी बहुत सी चीजें नही मिलती थी। इस प्रकार मत्रियो को जिनके कि जिम्मे राष्ट्र-निर्माण का उत्तरदायित्व था, वित्तीय विभाग के अनुचित हस्तक्षेप के कारण, अपने कार्यो में बडी कठिनाई उठानी पडती थी। द्वैध शासन प्रणाली के अधीन वित्तीय प्रबन्ध की जो असगतिया थीं, उन्होने इस बात को अच्छी तरह से सिद्ध कर दिया कि "जब मत्रियों को कोष के ऊपर ही नियंत्रण रखने का अधिकार नही हैं, तो उत्तरदायी शासन की बात करना कोई अर्थ नहीं रखता

द्वैध शासन प्रणाली के अन्तर्गत उत्तरदायी शासन की 'अ-वास्तविकता' मत्रियो और उनके अधीन सरकारी कर्मचारियों के सम्बन्धों में भी स्पष्ट होती । मंत्रियो के

* ए. बी. कीथः ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० २७८।

सिविल सर्विस और मंत्रियों का सम्बन्ध

अधीनस्थ विभागो के स्थायी प्रमुख या सेक्रेटरी होते थे। इनमें से अधिकाश व्यक्ति भारतीय सिविल सर्विस के सदस्य होते थे। उत्तरदायी शासन की स्थापन के लिये यह आवश्यक है कि मत्री जो भी आदेश दे, उसके अधीनस्थ पदाधिकारी उन आदेशो का अविलम्ब पालन करें। परन्तु द्वैध शासन प्रणाली के अदर यह स्थिति नही थी। साम्राज्यीय सेवाओ के ऊपर भारत-मत्री का ही नियत्रण बना रहा। १९१९ के एक्ट के अधीन सिविल सर्विसो के अधिकारो व प्राधिकारो की रक्षा करना गवर्नर का कर्तव्य ठहराया गया। व्यवहार में इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्थायी पदाधिकारियो की नियुक्ति, स्थानातरण और तरक्की पर गवर्नर का नियत्रण होता था न कि उस मत्री का, जिसकी अधीनता में वे कार्य करते थे। उत्तरदायी शासन की भावना के प्रतिकूल इससे बढ कर और कौन सी वस्तु हो सकती थी। एक ओर तो अपने विभाग के सम्यक् शासन-प्रबध के लिये मत्री व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी था और दूसरी ओर उसे इस बात की भी पूरी शक्ति नही दी गई थी कि वह अपने उन अधीनस्थ कर्मचारियो को दण्डित कर सकता, जो कि उसकी नीतियो को कार्यान्वित करने मे बाधक होते थे। यदि मत्रियो और सिविल सर्विस के सदस्यो में किसी प्रकार का मतभेद होता, तो सिविल सर्विस के सदस्य मत्रियो की अवहेलना करके, उच्चतर अधिकारियो की सहायतासे अपनी ही बात रखा सकते थे। यद्यपि अधिकाश अवसरो पर सिविल सर्विस के सदस्य मत्रियों के साथ सहयोग करते रहे, फिर भी प्रत्येक प्रात में कुछ ऐसे अवसर अवश्य आये, जब सिविल सर्विस के सदस्यो ने मत्रियो की बात न मानी और यदि मानी भी तो बेमन से। सिविल सर्विस और मत्रियो के पूर्वोक्त सबध के कारण भी द्वैध शासन प्रणाली कार्यरूप में दोषयुक्त और असफल सिद्ध हुई।

सारांश

१९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्ट ने भारत की केन्द्रीय सरकार में कोई सारभूत परिवर्तन नही किया। उसे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण को कुछ शिथिल कर दिया और केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यो की सख्या और उनकी शक्तियो मे थोड़ी सी वृद्धि कर दी। केन्द्रीय कार्यकारिणी व्यवस्थापिका के प्रति पूर्ववत् ही अनुत्तरदायी रही। व्यवस्थापिका को इतनी शक्तियां दे दी गई, जिनसे कि वह कार्यकारिणी को नियत्रित तो नही, परन्तु प्रभावित अवश्य कर सकती थी। प्रान्तों में द्वैधशासन प्रणाली के रूप में आशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गई। यद्यपि ब्रिटिश भारत की एकात्मक प्रवृत्ति तो पूर्ववत् ही रही, तथापि प्रान्तो को थोड़ी स्वायत्तता दे दी गई।

गृह सरकार

भारतवर्ष के सम्पूर्ण शासन सचालन का केन्द्र लदन ही रहा। भारत सरकार लन्दन में अवस्थित गृह-सरकार के अधीन थी। गृह सरकार मे भारत-मन्त्री और उसकी परिषद सम्मिलित थे।

ईस्ट इडिया कम्पनी के भग होने के पश्चात् भारत-मन्त्री के पद की सृष्टि की गई। भारत मत्री ने ईस्ट इडिया कम्पनी के बोर्ड आफ कण्ट्रोल और कोर्ट आफ डायरेक्टर्स की सम्पूर्ण शक्तियो को उत्तराधिकार मे प्राप्त किया था। भारत-मत्री ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता था। भारत के राजस्व और शासन से सम्बद्ध प्रत्येक क्रिया कलाप के सचालन, नियत्रण व निरीक्षण का उसे अधिकार था। भारतीय परिषद जो कि एक परामर्शदात्री समिति थी, उसके कार्य में उसे सहायता देती थी। १९१९ के एक्ट के अनुसार भारत मन्त्री का वेतन ब्रिटिश राजकोष मे दिया जाने लगा। इस प्रकार इस एक्ट ने एक असगति को दूर कर दिया।

१९१९ के एक्ट के अधीन भारतवर्ष के लिए एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति की गई। यह हाई कमिश्नर गवर्नर जनरल के द्वारा नियुक्त और नियत्रित होता था। हाई कमिश्नरका कार्यालय लन्दन मे होता था। वह भारत सरकार के अभिकर्ता के रूप में कार्य करता था। इगलैंड मे पढने वाले भारतीय विद्यार्थियो के हितो की देख भाल करने का कार्य भी उसके ही जिम्मे था।

१९१९ के एक्ट ने केन्द्र मे उत्तरदायी शासन की स्थापना नही की। गवर्नर जनरल भारत-मन्त्री के माध्यम से ब्रिटिश ससद के प्रति उत्तरदायी बना रहा। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद एक नौकरशाही निकाय थी जिसके ऊपर कि केन्द्रीय व्यवस्थापिका का तनिक भी नियत्रण नही था।

भारत सरकार

गवर्नर जनरल का पद अत्यन्त शक्तिपूर्ण और महत्वपूर्ण था। वह पूर्णत स्वेच्छाचारी शासक था। भारतीय शासन प्रबन्ध में उसका स्थान सर्वोपरि था। उसकी व्यवस्थात्मक शक्तिया बहुत बढी चढी थी। वह केन्द्रीय व्यवस्थापिका के द्वारा पारित प्रत्येक विधेयक पर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के द्वारा अस्वीकृत विधेयको को अपने प्रमाणीकरण के अधिकार के द्वारा, गवर्नर जनरल कानून का रूप देने में समर्थ था। गवर्नर जनरल को अध्यादेश प्रख्यापित करने का भी अधिकार था। केन्द्रीय वित्त के ऊपर भी उसका ही पूर्ण आधिपत्य था। व्यवस्थापिका को बजट के केवल ३०% भाग पर ही मतदान का अधिकार था।

व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकृत या घटाई हुई सभी मागो को गवर्नर जनरल कायम रखने का अधिकारी था। कार्यकारिणी-परिषद के ऊपर भी गवर्नर जनरल का पूर्ण प्रभुत्व था। कार्यकारिणी-परिषद किसी भी दशा में मन्त्री परिषद के तुल्य नही थी।

मोंटफोर्ड सुधारो ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका के दो सदन कर दिए। उच्च सदन को राज्य-परिषद कहते थे। उसके सदस्यो की सख्या ६० होती थी जिसमें कि ३४ सदस्य निर्वाचित होते थे। निम्न सदन को भारतीय व्यवस्थापिका सभा कहते थे। उसके कुल सदस्यो की सख्या १४५ होती थी जिसमें कि ४१, सरकारी और गैर-सरकारी सदस्य, मनोनीत होते थे। इस प्रकार दोनो सदनो मे निर्वाचित सदस्यो का बहुमत होता था। परन्तु निर्वाचित सीटो की पूर्ति पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचक गणो, और वर्ग निर्वाचक गणों के माध्यम से होती थी। केन्द्रीय व्यवस्थापिका के पास प्रभुत्व-शक्ति का अभाव था। वह कानून बनाने वाली सस्था थी परन्तु उसकी क्षमता के ऊपर गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियों के कारण बहुत प्रतिबध लगे हुये थे।

१९१९ के एक्ट ने प्रान्तो मे उत्तरदायी शासन के प्रयोग को प्रारम्भ किया। प्रान्तीय शासन प्रबन्ध को दो भागो मे बाटा गया एक भाग मे गवर्नर अपनी कार्यकारिणी परिषद के सहित सम्मिलित था। यह भाग,

प्रान्तीय शासन

राजस्व कानून और व्यवस्था, इत्यादि सरक्षित विभागो का प्रबन्ध करता था। शासन के इस भाग के ऊपर प्रातीय व्यवस्थापिका का बिल्कुल नियत्रण नही था। दूसरे भाग मे गवर्नर और मन्त्री सम्मिलित थे। यह भाग कृषि, शिक्षा, स्थानीय स्वशासन इत्यादि 'हस्तांतरित' विषयो का प्रबन्ध करता था। मन्त्री लोग व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी थे। व्यवस्थापिका उनके वेतन मे कमी कर सकती थी और उनके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उन्हे पदच्युत कर सकती थी।

गवर्नर ही सम्पूर्ण प्रातीय प्रशासन का सूत्रधार था। द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना ने उसे हस्तांतरित विषयो के सबन्ध मे भी वैधानिक शासन नही बनाया। मन्त्री के परामर्श को मानना न मानना उसके हाथ की बात थी, वह उसकी अवहेलना कर सकता था। इसके अलावा, गवर्नर जनरल की ही तरह, उसकी भी कार्यकारिणी, विधायिनी और वित्तीय शक्तिया बहुत बढी चढी थी।

१९१९ के एक्ट के अधीन प्रातीय व्यवस्थापिकाओ—व्यवस्थापिका परिषदो को काफी विस्तृत कर दिया गया। मत्रियो से उनके द्वारा किए गए कार्यो का कारण पूछने का उन्हे नया अधिकार दिया गया। परन्तु गवर्नरो की प्रत्यादेशक सत्ता के कारण उनकी व्यवस्थात्मक व वित्तीय शक्तियो के ऊपर प्रतिबन्ध लगे हुये थे।

१९१९ के एक्ट के अधीन जिस द्वैध शासन प्रणाली की स्थापना की गई, उसे अपने उद्देश्य में सफलता नही मिली अर्थात् वह प्रान्तीय प्रशासन के हस्तातरित विभागों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना न कर सकी। गवर्नर की स्वेच्छाचारी शक्तियां उत्तरदायी शासन की स्थापना में सबसे बडी, अलघ्य बाधाए थी। मन्त्री मनोनीत सदस्यो के गुट की सहायता से अपनी गद्दी पर जमे रह कर सकते थे। दूसरे शब्दो में व्यवस्थापिका के प्रति वे कम उत्तरदायी रहते थे। प्रान्तीय शासन में सयुक्त उत्तर-दायित्व का अभाव था। 'सरक्षित' और 'हस्तातरित' सूचियों के बीच विषयो का बाटना बहुत बेढगा था। वित्तीय विभाग, जो कि एक कार्यकारिणी परिषद के हाथों मे था, मन्त्रियो के कार्यों मे काफी हस्तक्षेप कर सकता था। अतश: मन्त्रियो का अपने अधीनस्थ भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों के ऊपर कोई नियंत्रण नही था। यदि मन्त्रियो और सिविल सर्विस के सदस्यो के बीच किसी प्रकार का मतभेद होता, तो सिविल सर्विस के सदस्य मन्त्रियो की अवहेलना करके, उच्चतर अधिकारियो की सहायता से अपनी बात रख सकते थे।

अध्याय ६

असहयोग आन्दोलन

५८. प्रथम विश्वयुद्ध और भारतीय राष्ट्रीयता

कूपलैण्ड ने लिखा है कि "युद्ध राष्ट्रीयता को प्रकृष्ट कर देता है।"* प्रथम विश्वयुद्ध ने इसका एक दृष्टात प्रदान किया। ब्रिटिश और अमेरिकन राजनीतिज्ञों द्वारा घोषित राष्ट्रीय 'आत्म-निर्णय' के सिद्धात ने यूरोप में एक उत्तेजना उत्पन्न कर दी। इसी सिद्धात के अनुसार कई नूतन राष्ट्रीय राज्यो की स्थापना की गई। पूर्व भी इससे अप्रभावित न रह सका। चीन और मध्यपूर्व में राष्ट्रीय स्वतत्रता के आन्दोलन जोर शोर से प्रादुर्भूत हुए। युद्ध ने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को भी अपूर्व सामर्थ्य प्रदान की। युद्ध के पश्चात् भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की गति और दिशा दोनो में परिवर्तन हो गया।

युद्ध और राष्ट्रीयता

कई ऐसे आन्तरिक कारणो ने भी जो कि सीधे युद्ध सम्बद्ध थे- राष्ट्रीय आदोलन की गति को तीव्र कर दिया। युद्धकाल में भारतवर्ष को भीषण आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पडा था। अनिवार्य सामग्रियों की कमी और महगी के कारण जनता को बहुत कष्ट उठाने पडे थे। मध्यवर्ग और निर्धन वर्ग की जनता की तो मानो कमर ही टूट गई थी। चीजो के दाम बहुत ऊचे चढ गये थे, दूकानदार भरपेट मुनाफा कमाते थे, अनुचित लाभ उठाने पर अकुश रखने अथवा बहुत जरूरी चीजो पर राशन लगाने की कोई कोशिश नही की गई थी। एक ओर तो भारत में भुखमरी फैल रही थी, दूसरी ओर सरकार ने महायुद्ध के लिये धन एकत्र करने में ज्यादती से काम लिया। भारत सरकार

आन्तरिक कारण (क) आर्थिक कठिनाइयां

---

* कूपलैण्ड: इंडिया. ए रि स्टेटमेंट, पृ० ११७।

ने देश की आर्थिक दुर्वावस्था का तनिक भी ध्यान न रखते हुये ब्रिटेन को दस करोड़ पौ. की भेंट दी। जनता की आर्थिक दशा इतनी शोचनीय हो गई थी कि कुछ स्थानो पर मजदूरो ने हड़तालें कीं, कही कहीं बलवे हो गये और बाजार लूट लिये गये।‡ चम्पारन (बिहार) और खेड़ा (गुजरात) में हालत विशेष रूप से खराब हो गई थी। यहाँ की परिस्थितियो ने महात्मा गाधी को अपने सत्याग्रह अस्त्र का सफल प्रयोग करने का सुअवसर प्रदान किया। एक ओर तो आर्थिक कठिनाइया ही जनता के जीवन को भार बनाये दे रही थीं, उस पर रोग और अकाल ने भी हमला बोल दिया। १९१७ में वर्षा ठीक से नही हुई फलत अकाल की सी परिस्थितिया पैदा हो गई। अकाल के पीछे पीछे प्लेग, इन्फ्लुएजा, मलेरिया और हैजा जनता के ऊपर चढ दौड़े। जनता इनका भला क्या सामना करती? भूखे पेट रहने के कारण उसकी शक्तिया तो पहले से ही क्षीण हो चुकी थीं। लगभग ८ लाख व्यक्ति तो प्लेग की भेंट चढ गये और ८० लाख जानों को एनफ्लुएञ्जा खा गया। जनता तड़प कर और खून के आसू पीकर रह गई।

(ख) प्लेग और इन्फ्लुएंजा

उपर्युक्त कारणो ने भारतवर्ष में जो अशान्ति उत्पन्न करदी थी, वह कुछ राजनीतिक कारणो से और भी बढ गई। लार्ड चेम्सफोर्ड के शासनकाल में सरकार की ओर से जो दमनचक्र चला, उसने राष्ट्रीय आन्दोलन को, चाहे वह किसी भी रूप में क्यो न हो, तरह-तरह से कुचलने की चेष्टा की। प्रेस-एक्ट और सेडीशन एक्ट का खुल कर प्रयोग किया गया। बगाल मे हालत विशेष रूप मे खराब थी क्योकि वहा पर नौकरशाही दमनचक्र जनता मे तीव्र असन्तोष की भावना उत्पन्न कर रहा था। श्रीमती बीसेंट की नजरबन्दी और अली बन्धुओ के विरुद्ध सरकार की कार्यवाही का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। पजाब मे सर माइकल ओ' डायर ने सारी राजनीतिक हलचलो को अपने फौलादी पजे से कुचल डाला। उन्होने तिलक और विपिन चन्द्रपाल जैसे नेताओ के पजाब प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया।

(ग) राजनीतिक कारण : सरकार का दमनचक्र

महायुद्ध के लिए धन एकत्र करने और सिपाही भरती करने में ज्यादतियां

सरकार ने महायुद्ध के लिए धन एकत्र करने और सिपाही भरती करने मे जिन तरीको से काम लिया, वह भी सर्वथा दोषपूर्ण और असन्तोषजनक थे। इन तरीको के कारण जिन्हे सरकार ने "दबाव और समझाने" के तरीके कहा था

‡ इंडिया इन १९१७-१८, पृ० ९०।

परन्तु जो दरअसल ज्यादतियां थी, पजाब और अन्य जगहो में आगे चलकर भयकर स्थितिया पैदा हो गई। मोंटफोर्ड प्रतिवेदन में भारतवर्ष के लिए जिन वैधानिक सुधारों का प्रस्ताव किया गया था, उससे भारत के राष्ट्रीय तत्वो में तीव्र निराशा छा गई। जनता के अन्दर आम धारणा यह थी कि ब्रिटिश सरकार ने युद्ध काल में की गई, अपनी प्रतिज्ञाओ को तोड दिया है और भारत को बहुत गया-बीता समझ रक्खा है। युद्ध काल मे भारतवर्ष ने धन और जन दोनों से ही अपूर्व सहायता की थी, मोंटफोर्ड प्रतिवेदन के प्रकाशित होने के पश्चात मालूम पडा कि वह सब सहायता बिल्कुल बेकार गई। खिलाफत प्रश्न के ऊपर भारतीय मुसलमान अत्यन्त रुष्ट हुए। जब लड़ाई चल रही थी, ब्रिटिश सरकार ने उन्हे यह वचन देकर कि न तो टर्की-साम्राज्य का ही विघटन किया जायगा और न खिलाफत का ही अन्त किया जायगा, उनकी सहायता प्राप्त की थी। परन्तु युद्ध समाप्त होने के पश्चात भारतीय मुसलमानो को पता चला कि अग्रेजो के वे सब वचन केवल उन्हे भुलावे में डालने के लिए ही थे। इस बात की काफी अफवाहे थी कि मित्र राष्ट्र टर्की-साम्राज्य का विघटन करने और खिलाफत को समाप्त करने के लिए कमर कसे हुए हैं। सीवर्स की सन्धि ने अग्रेजो की दोहरी चाल का पर्दाफाश कर दिया। इससे भारत के मुसलमानो को गहरा धक्का पहुचा और उन्होने खिलाफत आन्दोलन को प्रारम्भ किया। राष्ट्रीयता की नई भावना के उत्पन्न होने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी था कि १९१५ में गोखले की मृत्यु होने के पश्चात राष्ट्रीय आन्दोलन के नेतृत्व मे परिवर्तन हो गया था। १९१८ मे उदारवादी, काग्रेस से अलग हो गये और उन्होंने अपने एक अलग सगठन—अखिल भारतीय उदारवादी सघ की—स्थापना की। चू कि उनका वैधानिकवाद मे ही विश्वास था अत. वे होमरूल आन्दोलन की प्रकृष्टता द्वारा प्रदर्शित राष्ट्रीय सघर्ष की नूतन प्रवृत्तियो के सर्वथा अनुपयुक्त थे। परन्तु उनके काग्रेस से सम्बन्ध विच्छेद करने का असली कारण १९१८ में प्रकाशित मोटफोर्ड प्रतिवेदन में निहित वैधानिक सुधारो के प्रति उनका अपना दृष्टिकोण था। वे इन सुधारो को ब्रिटिश सद्भावना का प्रतीक मानते थे। इसके विपरीत उस समय कांग्रेस मे उग्रवादियो का जोर था। वे मोंटफोर्ड प्रतिवेदन से सर्वथा अ-सहमत थे। उदारवादियो के निकल जाने के बाद कांग्रेस महात्मा गाधी के गतिशील नेतृत्व में आ गई और उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नूतन दिशा और नवीन गति प्रदान की।

मोंटफोर्ड सुधारों से निराशा

खिलाफत-प्रश्न

उदारवादियों का अलगाव और राष्ट्रीय नेतृत्व में परिवर्तन

५९.रौलट एक्ट

१९१८ में सरकार ने सर सिडनी रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी यह जांच करने के लिये नियुक्त की कि भारतवर्ष में किस प्रकार और किस हद तक क्रान्तिकारी आन्दोलन सम्बन्धी षडयन्त्र फैले हुए हैं और उनका मुकाबला करने के लिये कैसे कानूनों की आवश्यकता है। भारत-रक्षा कानून की अवधि अब शीघ्रही समाप्त होने वाली थी और सरकार 'विध्वंसात्मक' कार्यवाहियों को कुचल डालने के लिये अपने आप को शस्त्र सज्जित कर लेना चाहती थी। यद्यपि महायुद्ध अब समाप्त होता जा रहा था, फिर भी सरकार शंकाकुल थी। उसे भय था कि कहीं रूस का या अफगानिस्तान का भारतवर्ष पर आक्रमण न हो। कुछ महीनों बाद अफगानिस्तान ने भारतवर्ष के ऊपर आक्रमण किया, परन्तु उसे बहुत ही आसानी से पीछे ढकेल दिया गया। इसी बीच में जाँच करके रौलट कमेटी ने अपनी रिपोर्ट सरकार के पास भेज दी। इस रिपोर्ट में राजद्रोहात्मक हलचलो का दमन करने के लिये दो विधेयको के अधिनियमन की सिफारिश की गई थी। रौलट एक्ट के विरुद्ध सारे देश में क्रोध की लहर दौड गई। उदारवादियो ने भी इसका खुल कर विरोध किया। सी. वाई. चिन्तामणि ने लिखा है "इन दोनों विधेयको का विरोध परिषद के गैर सरकारी भारतीय सदस्यों, निर्वाचित सदस्यो और नामजद सदस्यो, सबने समान रूप से किया, परन्तु सरकार अपनी बात पर अडी रही और तनिक भी नही झुकी।" रौलट एक्ट कानून बन गया और इस बात से भारतीयों को कोई सान्त्वना नही मिली कि उसकी अवधि केवल तीन वर्ष ही रक्खी गई थी। यह एक्ट अतीव कठोर था। इससे सरकार को जनता की स्वतंत्रताओं का हनन करने, सन्देहास्पद व्यक्तियों को बिना किसी वारंट के गिरफ्तार करने और बिना मुकदमा चलाए ही उन्हे हवालात में बन्द कर रखने का अधिकार मिल गया। कांग्रेस ने अपने दिल्ली अधिवेशन (दिसम्बर १९१८) में सरकार से यह मांग की थी कि उन सारे कानूनों, अध्यादेशो और रेग्यूलेशनो को जिनके कारण स्वतंत्रतापूर्वक राजनीतिक समस्याओं पर खुल कर वाद-विवाद नही किया जा सकता और जिनके द्वारा अधिकारियो को गिरफ्तार करने, नजरबन्द करने, रोकने, देश निकाला देने, सजा करने का, साधारण अदालतो में बिना मुकदमा चलाए ही अधिकार दे दिया है, तुरन्त ही उठा लिया जाय" और सरकार ने उसका उत्तर दमनमूलक रौलट एक्ट के रूप में दिया। रौलट एक्ट ने सरकार को दमन की जो अमानुषीय और असीमित

रौलट एक्ट की पृष्ठ भूमि

व्यापक विरोध के बावजूद भी रौलट एक्ट को पास कर दिया गया

शक्तियां दी, यद्यपि उनका प्रयोग तीन वर्ष की अवधि में हुआ किसी भी अवसर पर नहीं परन्तु उन्होंने भारत में सर्व प्रथम सविनय अवज्ञा आन्दोलन को जन्म दे दिया।

६०. भारतीय राजनीति में महात्मा गान्धी का प्रवेश

रौलट एक्ट ने भारतीय राजनीति में एक नये युग का श्रीगणेश किया। इसने महात्मा गाधी को भारतीय राजनीति के सबसे अगले मोर्चे पर ला खड़ा किया। महात्मा गांधी जनवरी १९१५ में दक्षिणी अफ्रीका से वापिस लौट आये थे। दक्षिणी अफ्रीका मे उन्होने जो बलिदान किए थे, अन्याय के विरुद्ध जो सघर्ष किया था और जो उसमें सफलता पाई थी, इसके कारण उनका नाम भारतवर्ष के घर घर मे प्रसिद्ध हो गया था। महात्मा गाधी अपने साथ जीवन का एक विशिष्ट दर्शन और एक ऐसी राजनीतिक टेकनीक लाये थे, जिसकी उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी।* उस समय महात्मा गाधी 'स्पष्ट घोषित राजभक्त' थे। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति अपनी राजभक्ति का वे गर्वपूर्वक उल्लेख किया करते थे। उनका कथन था कि "ब्रिटिश साम्राज्य के कुछ ऐसे आदर्श हैं जिनसे मुझे प्रेम हो गया है।" सरकार ने भी उन्हे कैसरे-हिन्द-स्वर्ण-पदक प्रदान कर उनकी प्रतिष्ठा की थी। भारतवर्ष मे आकर उन्होने गोखले को अपना राजनीतिक गुरु बनाया। और उनसे मार्ग दर्शन प्राप्त किया। गोखले ने उन्हें सलाह दी कि भारतीय राजनीति मे कूद पडने के पूर्व कुछ समय तक वे उसका गम्भीर अध्ययन करे। महात्मा गाधी ने तदनुसार दो वर्ष के करीब सारे देश का भ्रमण करने में व्यय किये। जहा कही भी महात्मा गाधी गए, उनका यश उनके आगे आगे गया और जनता ने एक सन्त एव एक वीर के रूप में उनका आदर किया। अपनी इस यात्रा के काल मे महात्मा गाधी ने सक्रिय राजनीति में कोई भाग नही लिया। १९१७ मे चम्पारन ने महात्मा गाधी का आह्वान किया। वहा नील की खेती होती थी और अंग्रेज उसके मालिक थे। वे लोग किसानो पर तरह तरह के अत्याचार करते थे। महात्मा गाधी ने किसानो की कठिनाइयों के बारे में सूक्ष्म जाच पड़ताल की और वे उनके कष्टो को दूर करने में सफल हुए। इससे गाधी जी की प्रतिष्ठा और भी बढ गई। अगले वर्ष उन्होंने खेडा में 'कर नही' आदोलन का सगठन किया। खेड़ा में उस वर्ष वर्षा नही हुई थी, इससे फसल पर बहुत बुरा असर पड़ा

महात्मा गांधी का १९१५ में दक्षिणी अफ्रीका से वापस लौटना

स्पष्ट घोषित राजभक्त

चम्पारन

खेड़ा

* एच. एस. पोलक : महात्मा गांधी, पृ. ६५

था। इस आंदोलन में ही महात्मा गांधी सरदार पटेल के निकट सम्पर्क में आये। खेडा में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का जो प्रयोग किया था वह समझौते के रूप में सफल हुआ, गांधी जी के अनुयाइयों ने इसको अपनी बहुत बडी विजय समझा। उसी वर्ष अहमदाबाद के मिल मजदूरों ने भी महात्मा गांधी से सहायता की याचना की। वे लोग अपनी वेतन वृद्धि के लिए आंदोलन कर रहे थे। महात्मा गांधी ने मजदूरों की सहायता का वचन दिया और मिल-मालिकों से कहा कि वे उनकी मांगों को पूरा करें। जब मिल मालिक नहीं माने, तो गांधी जी ने आमरण अनशन शुरू कर दिया। उपवास के चौथे दिन मिल मालिकों ने गांधी जी की शर्तों को स्वीकार कर लिया और मजदूरों के वेतन में ३५ प्रतिशत वृद्धि हो गई।

अहमदाबाद

इसके बाद रौलट एक्ट आया। इसने महात्मा गांधी को राजभक्ति की भावना को आघात पहुँचाया और उन्हें विदेशी शासन का घोर विरोधी बना दिया। उन्होंने रौलट एक्ट की मुक्त कंठ से निन्दा की और उसे इस बात का सबूत बताया कि "न्याय की ब्रिटिश परम्परा को स्वेच्छाचारी शक्ति के प्रेम ने विजित कर लिया है।" युद्धकाल में उन्होंने भारतीय जनता से यह बारम्बार कहा था कि वह ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता करे। अंग्रेजों ने जो वायदे किये थे, उन पर उन्होंने सरल भाव से विश्वास कर लिया था। परन्तु रौलट एक्ट ने इस बात को स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश शासक भारतवर्ष पर शक्ति प्रयोग द्वारा शासन करने के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हैं। "भारत स्वशासन की आशा करता था, लेकिन पहले बल-प्रवर्तन प्राप्त हुआ।"† महात्मा गांधी जो अब तक राजभक्त थे, राजद्रोही हो गए। २१ मार्च १९१९ को रौलट एक्ट कानून बन गया। इसके तुरन्त बाद ही महात्मा गांधी ने सत्याग्रह आंदोलन प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने इस आंदोलन को अपने उपवास के साथ प्रारम्भ किया। उनके कई मित्रों ने उन्हें इस बात की चेतावनी दी थी कि देशव्यापी पैमाने पर ऐसे आंदोलन को प्रारम्भ करना देश के लिए हितकर नहीं होगा, इससे अव्यवस्था और अराजकता फैल जाने का भय है। परंतु महात्मा गांधी ने किसी की नहीं सुनी और वे अपनी योजना पर डटे रहे। देशव्यापी हड़ताल के लिए, इस काले कानून के विरोध में जलूस निकालने और सार्वजनिक सभाएं करने के लिए, ३० मार्च की तिथि निश्चित की गई। बाद में यह तारीख बदल कर ६ अप्रैल करदी गई। परंतु दिल्ली और अन्य कई स्थानों पर उक्त प्रोग्राम का दोनों ही दिन पालन किया गया।

राज भक्त से राजद्रोही

---

† एच. एस. पोलक: महात्मा गांधी, पृ. १२७

हड़ताल को अभूतपूर्व अफलता प्राप्त हुई। चारों ओर ही उत्साह और उत्तेजना का वातावरण छा गया। "इस उत्साह का एक दर्शनीय लक्षण यह था कि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच अभूतपूर्व बन्धुत्व की भावना देखी गई। हिन्दुओ ने मुसलमानों के हाथों से और मुसलमानों ने हिन्दुओ के हाथो से सार्वजनिक रूप से जल ग्रहण किया। इस दिन जो सभाए हुई, जो जलूस निकले, उन सब में हिन्दू मुस्लिम एकता की ध्वनि सुनाई पडती थी। कुछ हिन्दू नेताओ को मस्जिद की वेदी से भाषण देने के लिए आमन्त्रित किया गया।"

हिन्दू-मुस्लिम एकता : सत्याग्रह-स्थगन

आदोलन प्रारम्भ करते समय महात्मा गांधी ने जनता को इस बात की कड़ी हिदायत दे दी थी कि, प्रत्येक मूल्य पर अहिंसा का पालन किया जाय। उन्होंने सत्याग्रह की टेकनीक और दर्शन में जनता को शिक्षित करने के लिए बहुत सी जगहों का दौरा भी किया था। तथापि, कई स्थानो पर झगड़े हो गए। दिल्ली में जनता और पुलिस के बीच सघर्ष हो गया। पुलिस ने गोली चला दी जिससे आठ आदमियों की मृत्यु हो गई। बम्बई, अहमदाबाद, कलकत्ता, लाहौर और अमृतसर में भी इसी तरह के खतरनाक झगडे हो गए। इन हालतो को देखकर महात्मा गाधी जी की आत्मा को अपार क्लेश हुआ और उन्होने १८ अप्रैल को अपना आदोलन स्थगित कर दिया क्योकि जनता अहिसा का पालन करने में असफल रही थी। महात्मा गाधी ने सारा दोष अपने सिर ले लिया। उन्होने इस बात की घोषणा करदी कि आदोलन शुरू करना उनकी 'भयंकर भूल' थी। अपनी इस भूल के प्रायश्चित-स्वरूप उन्होंने तीन दिन का उपवास रक्खा और जनता से भी एक दिन का उपवास रखने का निवेदन किया।

६१. पंजाब की दुर्घटनाएं

अप्रैल १९१९ भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास मे चिरस्मरणीय महीना है। रौलट एक्ट के विरोध में महात्मा गाधी ने जिस सत्याग्रह आदोलन को खड़ा किया था, उसने देश में अत्यन्त भयावह वातावरण उत्पन्न कर दिया था। परन्तु पंजाब की हालत विशेष रूप से खराब हो गई थी। इस प्रान्त में रौलट एक्ट विरोधी आंदोलन के सिलसिले में लाहौर और अमृतसर आदि स्थानों पर कुछ हिंसात्मक घटनाएं भी हो गई थी। "परन्तु वहां कोई क्रांतिकारी आंदोलन नही था ... और जनता के नेता आंदोलन के शान्तिपूर्ण व वैधानिक उपायों मे विश्वास रखते थे।"* उस समय पंजाब के गवर्नर सर माइकेल

पंजाब का अशान्तिमय वातावरण

* जी. एन. सिंह : लैंडमार्क्स इन इण्डियन कंस्टीटयशनल एण्ड नेशनल डेवलपमेंट, पृ. ३८२।

सर माइकेल ओडायर

ओडायर थे। वे पंजाब के लौह पुरुष के नाम से विख्यात थे। इसमें तो कोई सन्देह नही कि वे शासक बहुत अच्छे थे, परन्तु राजनीतिज्ञता का उनमें सर्वथा अभाव था।† उन्होंने लडाई के लिये सिपाही भरती करने और धन एकत्रित करने में जिन अमानुषीय साधनों का प्रयोग किया था, उनसे वे पहले ही जनता मे काफी बदनाम हो चुके थे। उन्होने अपने प्रान्त में सारी राजनीतिक हलचलो को कुचल डालने का निश्चय कर लिया था। उन्होंने पंजाब के चारो ओर लोहे का एक आवरण डाल दिया और महात्मा गाधी तथा अन्य चोटी के राष्ट्रीय नेताओं को पजाब में प्रवेश करने से रोक दिया। ७ अप्रल १९१९ को पजाब व्यवस्थापिका सभा में भाषण देते हुये उन्होने जन-आदोलन के समस्त सगठन- कर्त्ताओ को यह चेतावनी दी थी कि वे लोग जो कुछ भी काम कर रहे हैं, उसका उन्हे पूरा पूरा फल भुगतना पडेगा। १० अप्रैल १९१९ को प्रात. काल ही अमृतसर के जिला-मजिस्ट्रेट ने डाक्टर किचलू और सत्यपाल को, जो कि काग्रेस का सगठन कर रहे थे, अपने निवास स्थान पर बुला भेजा और वहा से चुपचाप किसी अज्ञात स्थान को भेज दिया। इससे सारे शहर मे सनसनी फैल गई। सब दुकानें बन्द हो गई।

डाक्टर किचलू और डाक्टर सत्यपाल का निर्वासन

लोगो का एक झुंड अपने नेताओ के छुटकारे की माग करने जिला मजिस्ट्रेट के बगले की ओर चला परन्तु उस चौराहे पर जो सिविल लायन और शहर के बीच मे है, फौजी सिपाहियो ने भीड को तितर बितर करने के लिये दो बार गोलिया चलाई। पुलिस की गोलियो से कम से कम १० व्यक्ति तो मारे गये और कई घायल हुये। इस पर भीड भी हिंसक हो गई। शवों को अपने साथ लेकर लोग शहर को वापिस हुये। पाच यूरोपीयो को मार डाला गया। एक बैंक, रेल गोदाम और टाउनहाल समेत कई सार्वजनिक इमारतो को जला दिया गया एक पादरी महिला मिस शेरवुड पर हमला किया गया और उन्हे अर्धमृत अवस्था में छोड दिया गया।

यह देख कर अधिकारी वर्ग कोप और प्रतिशोध की भावना से आगबबूला हो गया। सारा शहर जेनरल डायर की अधीनता में सैनिक अधिकारियो के सिपुर्द कर दिया गया। जेनरल डायर ने भारतीयों को एक सबक सिखाने का और पजाब में आतंक पैदा करने का दृढ निश्चय कर लिया। १२ वी अप्रैल को उन्होने यह आज्ञा जारी की कि सार्वजनिक सभाओ पर पाबंदी लगाई जाती है। परन्तु मजे की बात यह है कि इस आज्ञा

जेनरल डायर

---

† सी. वाई. चिन्तामणि : इन्डियन पोलिटिक्स सिंस दि म्यूटिनी, पृ. १२८।

को प्रकाशित करने की कोई व्यवस्था नहीं की गई। इसी बीच में १३ अप्रैल को जलियावालाबाग में एक सार्वजनिक सभा करने का आयोजन किया जा चुका था। जेनरल डायर ने पहले से इस सभा को रोकने कोई चेष्टा नही की परन्तु जब सभा मे २० हजार व्यक्तियों से अधिक एकत्रित हो गये, १००

जलियांवाला हत्याकांड

भारतीय और ब्रिटिश सैनिको के एक दस्ते को लेकर वह सभा-स्थल पर जा पहुँचा और उसने शातिपूर्ण जन-सकुल को चेतावनी का एक शब्द भी दिये बगैर "भीड पर उससे १०० गज के फासले से गोली चलवा दी।"* जहा पर भीड सबसे अधिक थी, गोलियो को उसी दिशा में चलाया गया। कुल १६५० फैर किए गये और सैनिको ने गोली चलाना उसी समय बन्द किया जब सब कार्तूस निबट गये। सरकारी आँकडो के अनुसार ३७९ व्यक्ति मरे और कम से कम १२०० व्यक्ति घायल हुये। "आतकग्रस्त भीड तुरन्त ही तितर बितर होने लगी थी परन्तु डायर ने लगातार १० मि० तक गोलियो की बौछार को जारी रक्खा मनुष्यो के उस आतकित झुंड पर, जिसे कि चूहो के तुल्य पिजडे में पकड रक्खा गया था।"† डायर ने हन्टर-कमेटी के सामने यह कहा था, मै तो एक फौजी गाडी (आर्मर्ड कार) ले गया था, लेकिन वहाँ जाकर देखा कि वह बाग के भीतर घुस ही नही सकती थी। इसलिये उसे वही बाहर छोड दिया था।"

पजाब मे अधिकारी वर्ग ने जो नृशसताए की, जलियावाला बाग की घटना उन सबमे भयकर थी। इस कत्लेआम के दो दिन बाद पजाब के ५ जिलो में सैनिक विधान (Martial Law) घोषित कर दिया गया और उसे अमानवीय निर्दयता के साथ लागू किया गया। 'जनरल डायर के राज्य मे कुछ ऐसी सजाये देखने को मिली, जिनका स्वप्न मे भी ख्याल नही हो सकता था'। अमृतसर के नलो

मार्शल ला और आतंक का राज्य

में पानी बन्द कर दिया गया था और बिजली काट दी गई थी। जिस गली में मिस शेरवुड पर आक्रमण हुआ था, उस गली में लोगो को पेट के बल रेंगकर जाने की आज्ञा थी। सबके सामने बेंत लगाना आम तौर पर चालू था। रेलवे स्टेशनो पर तीसरे दर्जे का टिकट बेचने की मनाही कर दी गई थी। स्कूल और कॉलेज के छात्रों के लिए यह आज्ञा थी कि वे दिन में चार बार फौजी अफसरों के सामने विभिन्न स्थानो पर हाजिरी दिया करें। कई स्थानो पर किसानो की भीड पर गोलियाँ चलाई गई और हवाई जहाजों से मशीनगन चलाई गई। यह आदेश जारी कर दिया गया था कि जब कोई

---

* हंटर कमेटी के समक्ष दिये गये सर वैलेंटाइन शिरोल के वक्तव्य मे

†. वही

हिन्दुस्तानी किसी अंग्रेज अफसर को मिले तो वह उसको सलाम करे, अगर सवारी में जा रहा हो या घोड़े पर सवार हो तो उतर जाय, अगर छाता लगाये हुये हो, तो नीचे झुका दे। यह आदेश इसलिए दिया गया था ताकि लोगों को मालूम हो जाय कि "उनके नये मालिक आये हैं।" यदि स्कूल और कालिज के लडके साहबों को सलाम नहीं करते, तो उनके कोमल बदन पर नृशसतापूर्वक बेतो की मार पडनी थी।

जब पजाब की इन दुर्घटनाओं का समाचार देश के दूसरे भागों में पहुँचा तो जनता में चारो ओर सनसनी सी फैल गई। कवीन्द्र रवीन्द्र ने इस नौकरशाही बर्बरता के विरोध में अपनी 'सर' की उपाधि को त्याग दिया।

हंटर-कमेटी

चारो ओर से इस बात की मांग आने लगी कि पजाब की इन सारी दुर्घटनाओं की जांच-पडताल की जानी चाहिए। सरकार ने इस सम्बन्ध में बडी शिथिलता का परिचय दिया जलियावाला बाग की दुर्घटना के चार महीने बाद उसकी जांच-पडताल करने के लिये लार्ड हन्टर की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी के तीन भारतीय* और तीन अंग्रेज सदस्य थे। भारतीय सदस्यों ने एक अलग रिपोर्ट प्रकाशित की और उसमें जेनरल डायर के दुष्कृत्य की कठोरतम शब्दो में निन्दा की। लेकिन हन्टर कमेटी की सरकारी रिपोर्ट ने दण्डापादक साक्ष्य के होते हुये भी जेनरल डायर के अपराध पर लीपापोती करने की कोशिश की और उसे केवल "निर्णय की, जो स्थिति की युक्तिमूलक आवश्यकताओं को ठीक से नही समझ सका था, एक भयकर भूल बताया।" डायर का आचरण कर्त्तव्य की सत्यनिष्ठ लेकिन गलत धारणा पर आश्रित था।"

भारत मन्त्री मि माटेग्यू ने कहा 'जेनरल डायर ने जैसा उचित समझा उसके अनुसार बिल्कुल नेकनीयती के साथ काम किया। अलबत्ता, उससे परिस्थिति को ठीक ठीक समझने में गल्ती हो गई।" ब्रिटिश-ससद में एक वाद-विवाद के दौरान में कई सदस्यों ने जेनरल डायर के कार्य की सराहना की। कुछ समय के बाद जेनरल डायर के प्रशसकों ने उन्हें एक तलवार और २०,००० पौ० की एक थैली भेंट की। इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटेनमें उस व्यक्ति के प्रति यह आदरभाव था,जिसे भारतीय जनमत एक खूनी राक्षस के रूप में देखता था और जिसके बारे में कांग्रेस कमेटी ने यह कह दिया था कि "जेनरल डायर का १३ अप्रैल का कार्य निर्दोष, निरीह, नि:शस्त्र मर्दों और बच्चो के जानबूझ कर किये हुये नृशंस हत्याकांड के सिवाय और कुछ नही है। यह ऐसी हृदयहीन और बुजदिल पशुता है जिसकी आधुनिक काल में

---

*. सर चिमनलाल सीतलवाड, साहिबजादे सुल्तान अहमद और पं. जगत नारायण

और कोई मिसाल नहीं मिलती ।"

६२. ख़िलाफत का प्रश्न

यह बडा आश्चर्यजनक मालूम पडता है कि उस समय जब कि जनता पंजाब में होने वाले अन्यायो के ऊपर बौखला रही थी, महात्मा गांधी ने किसी जन-आंदोलन का सगठन नही किया। इसके विपरीत उन्होंने तो काग्रेस से बाहर निकल जाने की धमकी देकर अमृतसर काग्रेस में एक ऐसा प्रस्ताव पास करवाया जिसमें लोगो की तरफ से हिंसा का जो प्रदर्शन हुआ था, उसकी निन्दा की गई थी लेकिन साथ ही साथ इस बात को भी स्वीकार किया गया था कि "बहुत अधिक उत्तेजित किये जाने पर ही लोग क्रोध से बावले हुये थे।" हाल ही मे माटेग्यू चेम्सफोर्ड-सुधार एक्ट प्रकाशित हुआ था। सी आर. दास जैसे नेता उसका पूर्ण बहिष्कार करना चाहते थे,परन्तु महात्मा गाधी उन सुधारों की क्रियान्विति में सरकार के साथ सहयोग करने का समर्थन करते थे। सुधार-कानून के सम्बन्ध में पहले काग्रेस ने यह प्रस्ताव पास किया था कि सुधार-कानून "अपूर्ण, असन्तोषजनक और निराशा पूर्ण है।" लेकिन बाद में महात्मा गाधी के प्रभाव से उक्त प्रस्ताव में यह टुकडा और जोड दिया गया कि "लोग सुधारो को इस प्रकार काम में लावेंगे जिससे भारतवर्ष में शीघ्र पूर्ण उत्तरदायी शासन कायम हो सके।" अल्सफोर्ड ने लिखा है "अब भी, १९१९ के अन्तिम दिनो में भी, वे (महात्मा गाधी) राजभक्त थे, अब भी वे अपने गुरु गोखले के शिष्य थे।"

अमृतसर कांग्रेसः दिसम्बर १९१९

परन्तु १९२० की गरमी के दिनो में हालत बिल्कुल बदल गई। हन्टर कमेटी की रिपोर्ट और सीवर्स की सधि के प्रकाशन ने भारतीय जनता को और भी अधिक हिला कर रख दिया। सीवर्स की सधि के फलस्वरूप टर्की को अपने प्रदेशो से वचित होना पडा। थ्रेस यूनान की नजर कर दिया गया और टर्की-साम्राज्य के एशियाई प्रदेशों को ब्रिटेन और फ्रास ने लीग के आज्ञा-पत्रो के बहाने आपस में बांट लिया। मित्र-राष्ट्रों के द्वारा एक हाई कमीशन नियुक्त किया गया जो हर लिहाज से टर्की का असली शासक बना दिया गया और सुल्तान एक कैदीमात्र रह गया। हम (इस बात को) पहले देख चुके हैं कि टर्की के प्रश्न के ऊपर भारतीय मुसलमान अत्यन्त रोषावेष्टित हो गये थे। लेकिन उन्होंने इंगलैण्ड की सहायता उन वचनों पर विश्वास करके की थी, जो ब्रिटिश प्रधान मन्त्री लॉयडजार्ज ने दिये थे। लॉयड-जार्ज ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि "हम टर्की को उसके एशियामाईनर और

थ्रेस के प्रसिद्ध और समृद्ध द्वीपों से वंचित करने के लिये, जिनकी आबादी मुख्यतः तुर्क है, लड़ाई नही लड रहे हैं।" लेकिन जब युद्ध समाप्त हुआ, तो इगलैण्ड ने अपने वचन को बुरी तरह भङ्ग कर दिया। टर्की के सुल्तान के स्थान पर खलीफा पद के लिये मक्का के हाकिम और कर्नल लॉरेंस के कृपापात्र शेख हुसन के दावो को स्वीकार किया गया और उनका प्रचार किया गया। इगलैण्ड के इस विश्वासघात से भारतीय मुसलमानो को तीव्र आघात पहुचा और देश में एक शक्तिशाली खिलाफत आंदोलन उठ खडा हुआ। उनकी माग थी, "टर्की साम्राज्य का संधारण किया जाय और एक ऐहिक व आध्यात्मिक सस्था के रूप में खिलाफत का अविच्छिन्न अस्तित्व बना रहे।" १६ जनवरी १९२० को डाक्टर अन्सारी की अध्यक्षता में एक शिष्टमण्डल वायसराय से मिला और उसने उन्हें बताया कि टर्की साम्राज्य और खलीफा को बनाये रखना कितना आवश्यक है। इस शिष्टमण्डल का सगठन महात्मा गाधी के मार्ग-दर्शन में किया गया था। १९२० के मार्च में एक मुस्लिम शिष्टमण्डल मौलाना मोहम्मद अली के नेतृत्व में इगलैण्ड गया, लेकिन वहा से निराश होकर वापिस आ गया। अली-बन्धु कांग्रेस में सम्मिलित हो गये और उन्होने खिलाफत आंदोलन का नेतृत्व सम्हाल लिया। मुस्लिम मौलवियो और उलेमाओ ने १९१६ में अपना एक सगठन 'जमीयतउल उलेमा, स्थापित कर लिया था। वे भी खिलाफत आदोलन में सम्मिलित हो गये। मुसलमानो में ब्रिटिश विरोधी भावनाए अत्यन्त उग्र हो गई। महात्मा गाधी टर्की के प्रश्न पर मुसलमानो के साथ पहले ही सवेदना व्यक्त कर चुके थे। कई हिन्दू राष्ट्रवादियो ने भी अपने मुस्लिम सहयोगियो के सुर में सुर मिलाया। महात्मा गाधी की दृष्टि में खिलाफत का प्रश्न 'एक ऐसा सुअवसर प्रदान करता मालूम पडता था जिससे कि हिंदू और मुसलमानों में एकता स्थापित की जा सकती थी और जो १००-वर्षों में भी हाथ नही आ सकता था।' सीवर्स सन्धि की शर्तों में सशोधन कराने, पंजाब के अन्यायो को दूर करने और भारत को स्वराज्य की ओर ले जाने के उद्देश्य से उन्होने असहयोग आदोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। इस प्रकार के आदोलन के लिये इस समय भारतवर्ष मे बिल्कुल उपयुक्त वातावरण तय्यार था।" खिलाफत और पजाब के अत्याचारो तथा अपर्याप्त सुधारों की फल्गु ने उबलती हुई त्रिवेणी का रूप धारण कर लिया। इस त्रिधारा ने राष्ट्रीय असन्तोष के प्रवाह को और भी प्रबल कर दिया।*

भारत में असन्तोष

महात्मा गांधी द्वारा असहयोग प्रारम्भ करने का निश्चय

---

* पट्टाभि सीता रामय्या- दि हिस्ट्री आफ दि कांग्रेस; पृ. २१५

६३. असहयोग आन्दोलन पर कांग्रेस की स्वीकृति

अब महात्मा गांधी को इस बात का दृढ़ विश्वास हो गया था कि वे हिन्दुओं और मुसलमानों-दोनों को ही समान भाव से अपने असहयोग आन्दोलन की पताका के नीचे एकत्रित कर सकते हैं। सितम्बर १९२० में कलकत्ते में कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में महात्मा गाधी ने अहिंसक असहयोग की नीति को अपनाने का प्रस्ताव उपस्थित किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि काग्रेस अहिंसक असहयोग की नीति पर उस समय तक चलेगी "जब तक कि कथित अन्याय दूर नही हो जायेंगे और स्वराज्य की स्थापना न हो जायेगी"† प्रस्ताव के पक्ष में १८८६ और विपक्ष में ८८४ मत पड़े थे। विपिन चन्द्रपाल, देशबन्धु चितरंजन दास, प० मदन मोहन मालवीय, मि० जिन्ना और श्रीमती एनी बीसेंट ने प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया। तिलक की ३ जुलाई, १९२० को मृत्यु हो चुकी थी, उनके अनुयाइयो ने खापरडे के नेतृत्व में महात्मा गांधी की योजना का प्राणपण से विरोध किया। और तो और इस अधिवेशन के अध्यक्ष लाला लाजपतराय तक भी महात्मा गाधी के इस असहयोग के प्रस्ताव के विरुद्ध थे।

कांग्रेस का विशेष अधिवेशनः कलकत्ता सितम्बर १९२०

काग्रेस का नियमित अधिवेशन दिसम्बर १९२० में नागपुर मे हुआ। इस अधिवेशन में महात्मा गाधी के प्रोग्राम को विधिवत् स्वीकार कर लिया गया। इस बार प्रस्ताव के पक्ष में बहुत अधिक मत पडे। सी० आर० दास ने प्रस्ताव का जी जान से विरोध किया लेकिन उनकी एक भी नही चली। लेकिन जब प्रस्ताव पास हो गया, तब उन्होने महात्मा गाधी को पूरा सहयोग देने का वचन दिया। नागपुर अधिवेशन का महत्व इस कारण भी है कि उसके बाद से काग्रेस की नीति में परिवर्तन हो गया। नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस का ध्येय "इस तर्ज से बदल दिया गया कि उसमें ब्रिटिश सम्बध व वैध-आदोलन का, जिसमे काग्रेस अभी तक विश्वास करती थी, कोई उल्लेख ही न रहा।" अब कांग्रेस का ध्येय "शातिमय व उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना"* घोषित किया गया। कलकत्ते और नागपुर के अधिवेशनों ने इस बात को स्पष्ट रूप से बता दिया कि भारत के राष्ट्रीय आदोलन में अब गाधी युग का निश्चित रूप से सूत्रपात

नागपुर अधिवेशन दिसम्बर १९२०

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन

† वही, पृ. ३४१

* पट्टाभि सीता रामय्या- दि हिस्टी आफ दि कांग्रेस, पृ. ३५२

हो चुका था। कांग्रेस के समूचे दृष्टिकोण को, उसकी तर्ज को बदलने में गांधी जी को सफलता मिली। पहले जहां यूरोपीय वस्त्रो की प्रधानता रहती थी वहा अब खादी के वस्त्र सुशोभित होने लगे।

कांग्रेस मे एक नूतन उत्साह का, नूतन प्राणाधार का, नूतन प्रेरणा का संचार हुआ। अब तक काग्रेस की गति मे कुछ विशेष जान नही मालूम पडती थी, अब उसने वेगवान महानदी का रूप धारण कर लिया और वह द्रुतगति से अपने निश्चित लक्ष्य की ओर चल पडी। पट्टाभि सीता रामय्या के शब्दो मे "नागपुर काग्रेस से वास्तव में भारत के इतिहास मे एक नया युग पैदा होता है। निर्बल क्रोध और आग्रह पूर्ण प्रार्थनाओ का स्थान उत्तरदायित्व के एक नए भाव और स्वावलम्बन की एक नई भावना ने ले लिया। जनता ने अनुभव कर लिया, कि यदि उसे स्वतत्र होना है, तो उसे उसके लिये स्वय प्रयास करना पडेगा।*

६४. असहयोग आंदोलन

महात्मा गाधी ने अगस्त १९२० में असहयोग आदोलन को प्रारम्भ किया। असहयोग का कार्यक्रम निम्न लिखित था: (१) सरकारी उपाधिया और अवैतनिक पद छोड दिये जाय और स्थानीय सस्थाओ के मनोनीत सदस्य अपना स्थान रिक्त कर दें। (२) न तो सरकारी उत्सवो या दरबारो में शामिल हुआ जाय और न सरकार द्वारा या सरकार के सम्मान मे किये गये सरकारी या गैर सरकारी उत्सवो में। (३) सरकारी, या सरकारी सहायता-प्राप्त या सरकार के अधीन स्कूलो और कालिजो का बहिष्कार किया जाय और इन स्कूलों और कालिजो के स्थान पर राष्ट्रीय स्कूल और कालिज स्थापित किये जाये। (४) धीरे धीरे सरकारी अदालतो का बहिष्कार किया जाय और झगडो के निबटारे के लिये पंचायती अदालतें स्थापित की जायें। (५) सैनिक, क्लर्की और मजदूरी पेशेवाले लोग मेसोपोटामिया में काम करने के लिए भर्ती न हो। (६) सुधार योजना के अनुसार बनने वाली व्यवस्थापक सभाओ के उम्मीदवार उम्मीदवारी वापिस ले ले और काग्रेस के निर्णय के प्रतिकूल खडे होने वाले उम्मीदवारो को कोई वोटर वोट न दे। (७) विदेशी माल का बहिष्कार किया जाय। प्रत्येक घर मे हाथ की कताई व बुनाई पुनर्जागृत की जाय। काग्रेस के और खिलाफत के नेताओ ने साथ साथ मिल कर काम किया। हिंदू मुस्लिम एकता का नारा हर जिह्वा से सुनाई देता था। जवाहर लाल नेहरू ने लिखा

असहयोग का कार्यक्रम

---

* पट्टाभि सीता रामय्या- दि हिस्ट्री आफ दि काग्रेस, पृ. ३५३

है "सर्वत्र हिंदू-मुसलमान की जय का बोल बाला था।' महात्मा गांधी ने यह खुले तौर पर कह दिया था कि इस आंदोलन में अहिंसा का कडे रूप से पालन होना चाहिए। जब अली-बन्धुओं ने कुछ ऐसे भाषण दिये जिनसे कि इस बात का सन्देह हो सकता था कि वे हिंसा को उत्तेजित करते हैं तो महात्मा गांधी ने सार्वजनिक रूप से इस प्रकार के प्रत्येक इरादे की निन्दा करवाई जो कि हिंसा के प्रचार करने का उद्देश्य अपने सामने रखता हो। महात्मा गान्धी का तो केवल आत्म-बल और अहिंसा में ही विश्वास था। वे इसी शक्ति के द्वारा सरकार के पाशविक बल का सामना करना चाहते थे।

महात्मा गान्धी ने कह तो यह रखा था कि असहयोग आँदोलन के द्वारा एक ही वर्ष मे स्वराज्य प्राप्त हो जायगा। यद्यपि उनका यह वचन तो पूरा नही हुआ, परन्तु फिर भी असहयोग आन्दोलन का प्रभाव अत्यन्त सराहनीय पडा। नई कौंसिल का जो बहिष्कार किया गया, वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक था। कांग्रेस के आदमियो ने अपनी उम्मीदवारी को वापिस ले लिया और २।३ से अधिक मतदाताओ ने अपने मत ही नही डाले। कुछ स्थानो पर तो मतदान पेटिया बिल्कुल खाली की खाली पडी रही। राज्य-नियंत्रित स्कूलो और कॉलिजो मे विद्यार्थी बहुत बडी सख्या में बाहर निकल आये। महात्मा गान्धी ने स्कूलो और कॉलिजो के बारे मे कहा था कि ये तो क्लर्क तय्यार करने के कारखाने हैं। कई स्थानो पर राष्ट्रीय विद्यालयो की स्थापना की गई। काशी विद्यापीठ, बगाल और पजाब के राष्ट्रीय विश्वविद्यालयो और दिल्ली की जामिया-मिलिया आदि की स्थापना उसी समय की गई थी। वकीलो ने भी बहुत बडी तादाद में अदालतो का बहिष्कार किया। असहयोग आन्दोलन मे भाग लेने वाले वकीलों के भरण-पोषण के लिये सेठ जमनालाल बजाज ने एक लाख रुपये का दान दिया। कांग्रेस और खिलाफत के स्वय सेवको ने विदेशी कपडो और शराब की दुकानो पर पिकेटिंग की। खिलाफत-परिषद ने किसी भी मुसलमान के लिये ब्रिटिश सरकार की नौकरी करना 'हराम' घोषित कर दिया और एक फरमान जारी करके सहृदय मुसलमानो से यह माग की कि वे सेना और पुलिस की नौकरी को बिल्कुल त्याग दे। सक्षेप में असहयोग आन्दोलन का उद्देश्य यह था कि ब्रिटिश भारत की जो भी राज-नीतिक, सामाजिक और आर्थिक सस्थाए हैं, उन सब का बहिष्कार कर दिया जाय और इस प्रकार सरकार की मशीनरी बिल्कुल ठप्प हो जाय।*

असहयोग आन्दोलन ने जनता के उत्साह को बहुत ऊंचे शिखर पर पहुँचा दिया था। इस आन्दोलन ने जनता के हृदय मे आशावाद, स्वावलबन, उत्तेजना और

* कूपलैण्ड: इंडिया, ए रिस्टेटमेंट, पृ.११८-१९।

निर्भीकता का अपूर्व संचार किया था। सरकार की समझ में नही आता था कि इस परिस्थिति का कैसे सामना किया जाय। वह हैरान और परेशान थी। असहयोग आन्दोलन के प्रभाव को दूर करने के लिये सरकार ने 'अमन सभायें' स्थापित करने की चेष्टा की, परन्तु यह चेष्टा नितात असफल सिद्ध हुई। १९२१-२२ के जाडे में प्रिंस ऑफ वेल्स भारत आने वाले थे। सरकार इस बात के लिये उत्सुक थी, कि जब तक प्रिंस ऑफ वेल्स भारत मे ठहरे, यहा के वातावरणमे पूर्ण शान्ति बनी रहे। लेकिन कांग्रेस ने निश्चय किया कि प्रिंस ऑफ वेल्स के स्वागत के सम्बन्ध में जो भी उत्सवादि हो, उन सबका बहिष्कार किया जाय। कांग्रेस ने अपने इस निश्चय को कार्यरूप में भी परिणत किया। प्रिंस ऑफ वेल्स २७ नवम्बर को भारत पधारे; देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक जहा कही भी वे गये, हडतालो और शोक-प्रदर्शनो से उनका स्वागत हुआ। यह परिस्थिति बहुत कुछ दुर्भाग्यपूर्ण थी क्योंकि बेचारे युवराज का तो कोई दोष था नही। प० मदन मोहन मालवीय और मि० जिन्ना ने समझौते के लिये कठिन परिश्रम किया। वायसराय भी समझौता करने के इच्छुक थे, वे 'शान्ति के लिये ऊची कीमत देने को तय्यार थे," लेकिन महात्मा गाधी ने समझौते की किसी वार्ता में भाग लेने से इन्कार कर दिया। उस समय अली बन्धु जेल में थे। गान्धी जी ने कहा कि जब तक सरकार अली बन्धुओ को जेल से मुक्त नही कर देती, समझौते की वार्ता से कोई लाभ नही निकलेगा। फलत सरकारी अफसरो और कुछ राजभक्त भारतीयों के सिवा प्रिंस ऑफ वेल्स का किसी ने भी स्वागत नही किया। कुछ स्थानों पर तो थोडी सी हिंसक घटनाए हो गई वैसे आम-तौर पर प्रिंस ऑफ वेल्स का बहिष्कार सब स्थानो पर शान्तिपूर्ण रीति से हुआ। बम्बई में बल्वा हो गया, जिस पर महात्मा गाधी ने घोर व्यथा व्यक्त की।

प्रिंस ऑफ वेल्स की भारत-यात्रा

अब नौकरशाही ने अपना दमन-चक्र पूरे जोशो-खरोश के साथ चलाना शुरू किया। भारत-सरकार ने सभी स्थानीय सरकारो को इस बात का आदेश दिया कि वे असहयोग आन्दोलन को बिना किसी झिझक के पूरी तरह से कुचल कर रख दें। १९२२ के समाप्त होने के पूर्व ही पूर्व, जब कि महात्मा गांधी के वचनानुसार भारत को स्व-राज्य मिलने वाला था, अधिकाश नेताओं, अली बन्धुओं, मोतीलाल नेहरू, चितरजनदास, अबुल कलाम आजाद, लाला लाजपतराय, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस आदि को पकड़ कर जेल मे ठूंस दिया गया। असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वाले व्यक्तियों को बहुत बड़ी सख्या में गिरफ्तार किया गया और कैदियों की संख्या शीघ्र ही ५०,००० तक पहुंच गई। सभी सार्वजनिक सभाओं

सरकार का दमन-चक्र

पर पाबन्दी लगा दी गई और राष्ट्रीय स्वयंसेवकों को गैर-कानूनी निकाय घोषित किया गया।

कांग्रेस का सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय

सरकार की इस दमन नीति की कांग्रेस के ऊपर यह प्रतिक्रिया हुई कि उसने अपने अहमदाबाद अधिवेशन (१९२१) में व्यक्तिगत और समष्टिगत दोनों रूपों में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। कांग्रेस ने अपने प्रस्ताव द्वारा महात्मा गांधी को सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सर्वाधिकारी नियत किया। सच तो यह है कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन एक प्रकार से कुछ स्थानों पर पहले से ही प्रारम्भ हो गया था। १९२१ में मिदनापुर में एक 'कर-नहीं' आन्दोलन का सफलतापूर्वक संचालन किया गया था। महात्मा गांधी ने वायसराय को स्पष्ट रूप से सूचित कर दिया कि वे बारदोली और गन्तूर में सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करना चाहते हैं। गांधी जी ने अपने पत्र में यह भी लिखा कि अगर "सरकार उन सभी कैदियों को मुक्त कर दे जो अहिंसात्मक कार्यों के लिये जेल गये हैं" और "देश की सारी अहिंसात्मक हलचल के सम्बन्ध में तटस्थता की घोषणा कर दे" तो "मैं निःसंकोच भाव से सलाह दूंगा कि दूसरे पर हिंसात्मक दबाव न डालते हुए देश अपनी निश्चित मांगों की पूर्ति के लिए और भी ठोस लोकमत तैयार करे।"* महात्मा गांधी ने अपनी माँगों को स्वीकार करने के लिए सरकार को सात दिनों का समय दिया। लेकिन यह समय अभी पूरा भी नहीं हो पाया था कि गोरखपुर जिले के चौरी चौरा नामक स्थान पर एक ऐसी दुःखद घटना हो गई जिसने भारतीय इतिहास की धारा को बिलकुल पलट दिया।

चौरी चौरा कांड और असहयोग का अन्त

५ फरवरी को चौरी चौरा में एक कांग्रेसी जलूस निकल रहा था। इस अवसर पर क्रोधोत्प्रेरित भीड़ ने २१ सिपाहियों और थानेदार को थाने में खदेड़ दिया और आग लगा दी। वे सब आग में जल मरे। जब यह भयावह समाचार महात्मा गांधी को मिला, तो उन्हें मर्मस्पर्शी आघात पहुंचा। उन्होंने सामूहिक सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारम्भ करने का विचार तुरन्त छोड़ दिया। रचनात्मक कार्यक्रम पर अधिक बल दिया गया "जिसमें कांग्रेस के लिए एक करोड़ सदस्य भरती करना, चरखे का प्रचार, राष्ट्रीय विद्यालयों को खोलना, मादक-द्रव्य-निषेध और पंचायतें संगठित करना आदि शामिल था।"† सविनय अवज्ञा और अस-

*पट्टाभि सीता रामय्या : दि हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस। पृ. ३६६
†वही पृ. ३६८

हयोग आन्दोलन ठंडे पड़ गए।

परन्तु महात्मा गाधी ने आंदोलन को इस आकस्मिक रूप से जो स्थगित किया था, उसका काग्रेस के चोटी के नेताओ ने विरोध किया। "पंडित मोतीलाल नेहरू और लाला लाजपतराय ने जेल के भीतर से लम्बे-लम्बे पत्र लिखे। उन्होंने गाधी जी को किसी एक स्थान के पाप के कारण सारे देश को दड देने के लिए आडे हाथों लिया।*" सुभाष बोस के अनुसार "सी आर दास को इससे अपार क्लेश पहुँचा।" बोस ने लिखा, "उस समय जबकि जनता का उत्साह 'बुद्बुदाक' पर पहुँच रहा था, मैदान छोडने का आदेश दे देना राष्ट्रीय दुर्विपाक से कुछ कम न था।"† जवाहर लाल नेहरू ने लिखा, "हमने बडे आश्चर्य और उद्वेग के साथ जेल में सुना कि गाधी जी ने हमारे सघर्ष के उग्र पहलुओ को रोक दिया है, और सविनय अवज्ञा आदोलन को स्थगित कर दिया है।"‡ मुसलमानो पर इस सारी कार्यवाही का बहुत बुरा असर हुआ, वे काग्रेस से खिचते से गये और "पुन उस विश्वास और बन्धुत्व की प्रतिष्ठा करना असम्भव था जिसने कि एकबार मित्रता के इस सक्षिप्त काल में दोनो जातियों को एकता के सूत्र मे ग्रथित कर दिया था।"*

महात्मा गांधी के कार्य का विरोध

६५. असहयोग आन्दोलन की सफलताएं और असफलताएं

असहयोग आदोलन के समाप्त होने के साथ ही साथ उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया होनी प्रारम्भ हो गई। ४ मार्च, १९२२ को महात्मा गाधी गिरफ्तार कर लिये गये। राजद्रोह के अपराध में उन्हें ६ वर्ष के कारावास का दड मिला। परन्तु जेल में स्वास्थ्य बिगड जाने के कारण उन्हे दो वर्ष बाद ही छोड दिया गया। काग्रेस द्वारा नियत की गई सविनय अवज्ञा जाच समिति के मत मे असहयोग आंदोलन ने बहुत कम सफलता प्राप्त की थी। वस्तुत यह आदोलन अपने ध्येयो पजाब और खिलाफत के अन्यायो के निवारण और स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य-मे नितान्त असफल सिद्ध हुआ। बहुत से राष्ट्रीय नेताओं ने असहयोग आंदोलन की असफलता का उत्तरदायित्व महात्मा गाधी के सिर मढा। सुभाष बोस के अनुसार "एक वर्ष में स्वराज्य प्राप्त करने का वचन न केवल अविवेकपूर्ण ही था अपितु बालक

महात्मा गान्धी का कारावास

---

* पट्टाभि सीतारामय्या : दि हिस्ट्री ऑफ दि काग्रेस, पृ. ३९९-४००
† सुभाष बोस : दि इण्डियन स्ट्रगल, पृ; १०८
‡ जवाहर लाल नेहरू : अउटोबाइग्राफी, पृ. ८१
* एच. एस पोलक : महात्मा गांधी, पृ. १५३

असहयोग आंदोलन की दुर्बलताएं

सदृश भी था।"* भारतीय राजनीति में खिलाफत के प्रश्न को सम्मिलित करना दुर्भाग्यपूर्ण था। "खिलाफत आदोलन की बुनियाद गलत थी।......इधर तो भारतीय मुसलमान इस्लामी थियोक्रेसी की पुरानी दुनिया की रूमानी परम्पराएं पुनर्जीवित कर रहे थे, दूसरी ओर टर्क जिनके हित के सम्बन्ध में उनका विश्वास था कि वे यह काम कर रहे हैं, इसका मजाक बनाते थे और इसे मध्ययुगीन भौंडापन कहते थे।"† कमाल पाशा के नेतृत्व में टर्की धर्म-निरपेक्ष गणराज्य के रूप में अवतरित हुआ और १९२२ में खिलाफत का अत कर दिया गया तथा खलीफा को निर्वासित कर दिया गया। फलत. भारत में खिलाफत आदोलन की जड ही कट गई।

असहयोग आदोलन के आकस्मिक रूप से ठप्प हो जाने से काग्रेस-लीग की मित्रता भी समाप्त हो गई। इसके बाद हिन्दू-मुसलिम एकता की भावना भी कुंठित होने लगी। १९२१ के अत मे मलाबार मे 'खिलाफत राज्य' की स्थापना के उद्देश्य से मोपला विद्रोह हुआ। बर्बर मोपलो ने "न केवल कुछ ब्रिटिश अधिकारियो को ही मारा, अपितु उससे कही अधिक अपने हिन्दू पडौसियो की हत्या कर डाली।"* जब महात्मा गान्धी जेल मे थे, सारे देश मे साम्प्रदायिक उपद्रव होने प्रारम्भ हो गये। भारतीय राजनीति में धार्मिक तत्व की वृद्धि कोई अच्छी बात नही थी। इसकी वजह से देश में धर्मान्धता की ऐसी शक्तिया पैदा हो गई, जिन्हे कि वश मे नही किया जा सकता था।

असहयोग आंदोलन की महत्ता

लेकिन असहयोग आदोलन की उक्त दुर्बलताओ से हमें यह न समझ लेना चाहिए कि उसकी महत्ता किसी प्रकार से कम है। इस आदोलन ने भारत की राष्ट्रीयता में नये जीवन का सचार किया। इसने स्वतत्रता और निर्भीकता की नई भावना को पैदा किया। असहयोग आदोलन से भारतीयो के हृदय मे आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता का भाव उत्पन्न हुआ। लोगो के हृदयो में पहले जो डर का और आतक का भाव समाया रहता था, पुलिस का, सरकार का और कानून का, असहयोग आदोलन ने मानो छू मतर उडा दिया और जनता की नस नस मे साहस की बिजली भर दी। अपने मन की बात कहने में पहले लोग जिस झिझक का अनुभव करते थे, अब वह दूर हो गई। इसके अलावा, असहयोग आदोलन

---

* सुभाष बोस : दि इंडियन स्ट्रगल, पृ. १०४

† पोलक : महात्मा गाधी, पृ. १६० ।

‡ साइमंड्स : दि मेकिन्ग आफ पाकिस्तान, पृ. ४७-४८।

सच्चे अर्थों में, भारत का पहला जन-आदोलन था। इसमें कोई संदेह नही कि स्वदेशी और बहिष्कार आदोलन भी जन-आदोलन था, परन्तु असहयोग आंदोलन का प्रभाव उक्त आन्दोलन से कहीं अधिक व्यापक हुआ। १९१७ तक का राष्ट्रीय आदोलन उच्च मध्यम वर्गीय लोगों तक ही सीमित था, लेकिन अब यह आदोलन देहातों में भी पहुँच गया, किसानों ने इसमें जी खोल कर हिस्सा लिया और अब राष्ट्रीय आदोलन की जड़ें जनसाधारण के अन्तराल में जम गई। असहयोग आदोलन की क्या महत्ता थी, इस पर कूपलैण्ड ने निम्न शब्दो में बडा अच्छा प्रकाश डाला है "उन्होने,(गाधी जी ने) वह काम किया जिसे तिलक नही कर सके थे। उन्होने राष्ट्रीय आदोलन को एक क्रातिकारी आदोलन के रूप मे बदल दिया। उन्होने उसे स्वतत्रता के लक्ष्य की ओर बढना सिखाया. सरकार के ऊपर वैधानिक दबाव डालकर नही, वादविवाद और समझौते के द्वारा नही, अपितु शक्ति के द्वारा और शक्ति भी अहिंसा की। उन्होंने राष्ट्रीय आदोलन को क्रातिकारी ही नही बनाया, अपितु उसे लोकप्रिय भी बना। दिया अभी तक वह नगर के बुद्धिजीवी वर्ग तक ही सीमित था. अब वह देहात की जनता तक भी पहुँच गया......गान्धी जी के व्यक्तित्व ने भारत के देहातो मे जागृति पैदा कर दी थी।"*

६६. स्वराज्य-दल और कौंसिल-प्रवेश

अपरिवर्तनवादियो और परिवर्तनवादियों के बीच रस्साकशी

१९२२ मे काग्रेस राजनीति मे एक नई विचारधारा का विकास हुआ। हम देख चुके हैं कि १९१९ मे महात्मा गाधी ने मोटफोर्ड सुधारो के प्रति सहयोग करने का विचार व्यक्त किया था लेकिन इसके विपरीत बङ्गाल के महान् नेता चितरजन दास ने उनका पूर्ण बहिष्कार करने का समर्थन किया था। १९२० में स्थिति उल्टी हो गई। महात्मा गाधी असहयोग के समर्थक हो गये। काग्रेस ने असहयोग के कार्यक्रम को स्वीकार किया जिसमें कौंसिलों का बहिष्कार भी शामिल था। सी. आर. दास और मोतीलाल नेहरू इस प्रश्न के ऊपर व्यक्तिक रूप से महात्मा गाधी से मतभेद रखते थे लेकिन जब प्रस्ताव पास हो गया, उन्होने गाधी जी को सहयोग देने का आश्वासन दिया। १९२२ में काग्रेस पुनः दो दलो में बंटती हुई मालूम पडती थी। सी. आर. दास ने अपनी कारा-वास-अवधि में स्वराज्य दल संगठित करने की योजना तय्यार की। १९२२ की गया काग्रेस के वे सभापति हुये। कांग्रेस के इस अधिवेशन में परिवर्तनवादियों और अपरि-वर्तनवादियो के बीच में जोर की खीच-तान हुई। अपरिवर्तनवादी महात्मा गांधी द्वारा

---

* कूपलैण्ड : इन्डिया, ए रिस्टेटमेंट, पृ० ११६।

निर्धारित असहयोग और रचनात्मक कार्यक्रम पर ही डटे रहना चाहते थे। इस समय महात्मा गांधी जेल में थे। इसके विपरीत परिवर्तनवादी असहयोग आंदोलन को एक नई दिशा देना चाहते थे। चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू और वी. जी. पटेल इन लोगों के नेता थे। इन लोगो का झुकाव अडंगा नीति की तरफ था। वे चाहते थे कि कौंसिलो में प्रवेश करें और वहा पर असहयोग व अडगे की नीति द्वारा मोंटफोर्ड सुधारो को बिल्कुल नष्टभ्रष्ट कर दें। गया कांग्रेस मे अपरिवर्तनवादियों की ही विजय रही।

स्वराज्य-दल

गया कांग्रेस में अपरिवर्तनवादी जीत तो गये लेकिन वह अपनी जीत का उपभोग अल्पकाल तक ही कर सके। १९२३ की शुरू साल मे ही चितरजन दास ने कांग्रेस की अध्यक्षता से त्याग-पत्र दे दिया और स्वराज्य-दल का संगठन करने का अपना निश्चय घोषित किया। इस बात के चिन्ह दिखाई देते थे कि असहयोग अब क्षत-विक्षत हुआ जा रहा है। सविनय अवज्ञा आदोलनको चालू रखना असम्भव प्रतीत होने लगा था। खिलाफत नेताओं का उत्साह भी ठडा पडता जा रहा था। गया कांग्रेस के पूर्व ही जमीयत-उल उलेमा ने एक फतवा प्रकाशित किया जिसमे कौंसिल-प्रवेश को 'हराम' तो नही पर 'ममनून' घोषित किया। सितम्बर १९२३ में दिल्ली में काँग्रेस का एक विशेष अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के सभापति मौलाना अबुल कलाम आजाद थे।

कांग्रेस कौंसिल-प्रवेश की अनुमति देती है

कौंसिल प्रवेश का समर्थन करने वाले दल ने बिना कठिनता के कांग्रेस से अनुमति-सूचक प्रस्ताव पास करा लिया कि 'जिन कांग्रेसियो को कौसिल-प्रवेश के विरुद्ध धार्मिक या और किसी प्रकार की आपत्ति न हो, उन्हे अगले निर्वाचनो में खडे होने और अपनी राय देने के अधिकार का उपयोग करने की आजादी है।" स्वराजिस्टो ने अपनी विजय को महात्मा गांधी की अध्यक्षता में सम्पन्न बेलगाव कांग्रेस में दृढ कर लिया। महात्मा गाधी को स्वयं स्वराज्य दल की इस योजना से बहुत कम सहानुभूति थी कि कौंसिलो के अन्तर्गत विरोध के द्वारा अपर्याप्त मोटफोर्ड सुधारो की कार्यान्विति में अडंगा लगाया जाय। लेकिन जब उन्होने देखा कि कांग्रेस में स्वराजिस्टो का बहुमत है तो उन्होंने कौसिल प्रवेश पर अपनी 'मौन' अनुमति दे दी। यद्यपि महात्मा गाधी ने स्वय को स्वराज्य-दल की सासद-हलचलों से बिल्कुल पृथक् रखा, तथापि स्वराज्य-दल का सगठन कांग्रेस के राजनीतिक पक्ष के रूप में किया गया था। महात्मा गाधी ने कताई, विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार तथा रचनात्मक कार्यक्रम के अन्यान्य पहलुओं पर सर्वाधिक बल दिया। स्वराजिस्टों ने इस कार्यक्रम के प्रति अपनी निष्ठा घोषित की और इस प्रकार सूरत-विच्छेद की

पुनरवतारणा होनेसे बच गई।

जैसा कि स्वराज्य दल के नाम से ही स्पष्ट होता है, उसका लक्ष्य स्वराज्य को प्राप्त करना था। स्वराज्य से उनका अभिप्राय साम्राज्य के अन्तर्गत 'डोमीनियन स्टेटस' को उपलब्ध करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये गाधीवादी जिन साधनों का समर्थन करते थे, उनसे स्वराजिस्टों का मतभेद था। सविनय अवज्ञा आदोलन में स्वराजिस्टों का बहुत कम विश्वास था। कौसिलो के बहिष्कार के भी वे विरोधी थे। उन्होने असहयोग का एक नया अर्थ लगाया। वे चाहते थे कि निर्वाचनो मे पूरा हिस्सा लिया जाय और व्यवस्थापक मण्डलो की अधिक से अधिक सीटो पर कब्जा कर लिया जाय, सरकार के साथ सहयोग करने के उद्देश्य से नही, अपितु उसकी नीति मे "एकरूप, अविच्छिन्न और सतत रोडा' अटकाने के उद्देश्य से। स्वराजिस्टों का मूलमत्र था सरकार के कार्यों में बाधा उपस्थित करना, रोडे अटकाना। वे कौंसिलो के अन्दर प्रवेश करके मोटफोर्ड सुधारो को बिल्कुल छिन्न-भिन्न कर डालना चाहते थे। प० मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु चितरजन दास ने 'अडंगा' शब्द को स्पष्ट कर दिया था "हमने अपने कार्यक्रम में अडगा शब्द का जो व्यवहार किया है, सो ब्रिटेन की ससद के इतिहास के वैधानिक अर्थ में नही। मातहत और सीमित अधिकारो वाली कौसिलों में उस अर्थ में अडगा डालना असम्भव है क्योकि सुधार-कानून के अन्तर्गत असेम्बली और कौंसिल के अधिकार गिने चुने है। पर हम यह कह सकते है कि हमारा विचार अड़गा डालने की अपेक्षा स्वराज्य के मार्ग मे नौकरशाही द्वारा डाली गई रुकावटों का मुकाबला करना अधिक है।"*

स्वराज्य दल के सिद्धात और कार्यक्रम

स्वराजिस्ट इस बात को दावे के साथ कहते थे कि "कौंसिल-प्रवेश का प्रोग्राम असहयोग के सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल" ‡ था। उनका प्रोग्राम व्यवस्थापक मडलों के अन्दर असहयोग करने का था। वे चाहते थे कि नौकरशाही की नाक के नीचे उसके गढ मे प्रवेश करके असहयोग के झंडे को ऊंचा रक्खा जाय। कौंसिलो के अन्दर स्वराजिस्टो की योजना (१) बजटो को रद्द करने और (२) उन सब कानूनी प्रस्तावों को अस्वीकार करने की थी जिनके द्वारा नौकरशाही अपनी स्थिति को दृढ़ करने की चेष्टा करती थी। 'अडंगा' स्वराज्य-दल के कार्यक्रम का विध्वंसात्मक पक्ष था। रचनात्मक पक्ष में स्वराज्य दल का कार्यक्रम उन प्रस्तावो, योजनाओ, और विधेयकों को

* पट्टाभि सीता रामय्या दि हिस्ट्री आफ दि कांग्रेस पृ०४५९
‡ वही पृ० ४२६।

पेश करना था जो राष्ट्रीय जीवन की वृद्धि करने के लिए और फलत. नौकरशाही की जड़ उखाड़ने के लिये आवश्यक हो। कौंसिलों के बाहर स्वराजिस्टो ने महात्मा गान्धी के रचनात्मक कार्यक्रम को हार्दिक सहयोग देने का और कांग्रेस संगठनों के द्वारा उसे कार्यरूप में परिणत करने का बचन दिया। उन्होने इस बात की भी घोषणा कर दी थी "कि ज्यों ही हमे मालूम पडेगा कि सत्याग्रह के बिना नौकरशाही की स्वार्थपूर्ण हठधर्मी का सामना करना असम्भव है, हम तत्काल कौंसिलो को छोड़ कर देश को, सत्याग्रह के लिये तय्यार करने मे, यदि वह स्वय ही उस समय तक तय्यार न हो सका तो, उनकी (महात्मा गान्धी की) सहायता करेंगे। तब हम बिना हीले हवाले के उनके पीछे हो लेंगे और कांग्रेस की सस्थाओ द्वारा उनके झडे के नीचे काम करेंगे जिससे सब मिलकर सत्याग्रह का ठोस कार्यक्रम पूरा कर सकें।"

स्वराज्य-दल की सफलताएं

(क) केन्द्र में

द्वैध शासन-प्रणाली को नष्ट-भ्रष्ट करने के कार्यक्रम को अपने सामने रख कर और कांग्रेस का पूरा समर्थन पाकर स्वराज्य-दल १९२३ के चुनावो के अखाडे मे कूद पडा। चुनावो मे स्वराज्य दल को आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। बगाल और सी० पी० मे तो स्वराज्य-दल की सफलता को देखर लोग दग रह गए। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में १८५ सीटो मे से ४५ सीटें स्वराज्य-दल के कब्जे में आ गई। पडित मोती लाल नेहरू के समर्थ नेतृत्व मे राष्ट्रवादी और स्वतंत्र उम्मीदवारो का समर्थन व सहानुभूति प्राप्त कर स्वराज्य दल ने अपना काम चलाऊ बहुमत बना लिया। १८ फरवरी १९२४ को प० मोतीलाल नेहरू के उस प्रस्ताव को पास करवाने मे स्वराज्य-दल ने सफलता प्राप्त की जिसमे कि एक ऐसी गोलमेज परिषद की माग की गई थी जो कि पूर्ण उत्तरदायी शासन के सिद्धान्त पर आधारित भारत के लिये एक सविधान की सिफारिश करे। इस प्रस्ताव के फलस्वरूप ही मोटफोर्ड सुधारो की क्रियान्विति की जाच पडताल करने के लिये मुडीमैन कमेटी की नियुक्ति हुई। प० मोतीलाल नेहरू को इस कमेटी में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रण दिया गया लेकिन उन्होने अस्वीकार कर दिया।* स्वराजिस्टो ने कई महत्वपूर्ण प्रस्तावों पर सरकार को पराजित कर दिया। इन प्रस्तावो मे सबसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव वह था जिसमें कि कुछ राजनीतिक कैदियो के छुटकारे और १८१८ के रेगुलेशन (III) को रद करने की माँग की गई थी। १९२४-२५ के बजट के मतापेक्षी भाग को अस्वीकार कर दिया गया और सरकार को उसकी

* इस कमेटी में सर तेजबहादुर सप्रू, मि० जिन्ना और सर सी० पी० शिवस्वामी अय्यर सम्मिलित थे।

पुनर्प्रतिष्ठा करने के लिए गवर्नर जनरल के विशेषाधिकार का प्रयोग करना पड़ा था। स्वराजिस्टो ने गवर्नर जनरल के उत्सवों और भोजो में सम्मिलित न होने का नियम बना लिया था। यह ठीक है कि स्वराज्य-दल सरकार की गति में अड़ंगा लगाने में सफल हुआ, लेकिन वह उसे रोक नही सका। स्वराज्य-दल के सदस्यो का अपना विरोध प्रदर्शित करने का एक प्रिय तरीका व्यवस्थापिका सभा से 'वाक् आउट' कर जाना था। सर तेजबहादुर सप्रू उनके इन नाटकीय प्रदर्शनो को "देश भक्ति का गमनागमन" कहा करते थे।

(ख) प्रान्तों में

जहा तक प्राँतो का सम्बन्ध है स्वराज्य दल ने बगाल और मध्य प्रात में विशेष सफलता प्राप्त की। इन दोनो प्रान्तो में स्वराजिस्टो ने द्वैध शासन प्रणाली की मशीनरी को बिल्कुल ठप्प कर दिया। बगाल मे स्वराजिस्टों का स्पष्ट बहुमत था। उनके नेता चितरंजनदास से कहा गया कि वे अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण करें। उन्होंने न केवल स्वय ही मन्त्रिमण्डल बनाना अस्वीकार किया, अपितु और किसी को भी मन्त्रिमण्डल का निर्माण नही करने दिया। २३ मार्च १९२४ को लेजिस्लेटिव कौंसिल ने दो मन्त्रियो के वेतन का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। प्रस्ताव के पक्ष में ६३ और विपक्ष मे ६९ मत पड़े। फलतः मन्त्रियो को अपना त्यागपत्र देने के लिये बाध्य होना पडा। १९२५ मे सी आर दास ने द्वैध-शासन-प्रणाली के कफन में अतिम कील ठोकने और उसके ऊपर एक मरसिया लिखने के अपने निश्चय में सफलता प्राप्त कर लेने का दावा ठीक ही किया था। जून १९२५ मे दास बाबू की मृत्यु हो गई। इससे बंगाल मे स्वराज्य दल के प्रभाव को गहरा धक्का लगा। लेकिन तीसरी बार भी उसने मंत्रिमण्डल के निर्माण को असभव कर दिया और गवर्नर को सदन भग कर देने के लिए विवश होना पडा। स्वराज्य दल की सफलता के सम्बन्ध मे एच. एन. ब्रेल्सफोर्ड ने कहा "मेरे विचार से अडगा लगाने की नीति बिल्कुल ठीक थी क्योकि उसने ब्रिटिश अनुदार दलवालो को भी इस बात का कायल कर दिया कि द्वैध शासन प्रणाली अव्यवहार्य है।"* बर्केनहेड ने स्वराज्य दल के सम्बन्ध में कहा कि "वह भारतवर्ष में सबसे अधिक सगठित राजनीतिक दल है।"‡

१९२५ में देशबन्धु चितरजन दास की मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य दल की शक्ति का शनैः शनैः ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। सरकार के कामों मे अड़ंगा लगाने की

---

* पोलकः महात्मागांधी, पृ.१६५।
‡ पट्टाभि सीतारामय्याः दि हिस्ट्री ऑफ दि कांग्रेस पृ. ४८४।

जिस मूल नीति को लेकर स्वराज्य दल का जन्म हुआ, अब इस नीति में धीरे धीरे परिवर्तन होने लगा। वैसे तो स्वराज्य दल दास बाबू की मृत्यु के पूर्व ही "सतत और अविच्छिन्न अंडगा लगाने" के रास्ते से अलग हटता मालूम पडने लगा था। अक्टूबर १६२४ में स्वय दास बाबू ने सरकार से सहयोग करने के लिये कुछ शर्ते रक्खी थी। उन्होने कहा था "मै हृदय परिवर्तन के लक्षण हर जगह देख रहा हूँ। मेल जोल के चिन्ह मुझे हर जगह दिखाई पड रहे हैं। ससार संघर्ष से थक गया है और उसमें मुझे सर्जन और सगठन की इच्छा दिखाई पड रही है।" उनकी मृत्यु के पश्चात् स्वराज्य दल सरकार के साथ सहयोग करने की दिशा मे अधिकाधिक झुकता गया। "व्यवस्थापक मंडलों को अन्दर से नष्ट-भ्रष्ट कर देने की नीति का स्थान क्रमश. व्यवस्थापक मडलों में भाग लेने, उनका उपयोग करने और सरकार के साथ सहयोग तक करने की नीति लेने लगी।" १९२४ मे स्वराज्य दल के प्रतिनिधि स्टील प्रोटेक्शन कमेटी में सम्मिलित हुए। दूसरे वर्ष पडित मोतीलाल नेहरू ने स्कीन कमेटी की सदस्यता स्वीकार कर ली। १९२६ के चुनावो से प्रकट हुआ कि स्वराज्य दल का प्रभाव अब घटने लगा है। बगाल और मध्यप्रान्त में स्वराज्य दल का बहुमत बहुत कम हो गया, फलत वहा सरकार को द्वैधशासन प्रणाली की पुनर्प्रतिष्ठा करने मे सफलता प्राप्त हुई। केन्द्रीय असेम्बली मे स्वराज्य दल की स्थिति इस कारण कमजोर पड गई क्योकि पडित मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपत राय के नेतृत्व में नेशनलिस्ट पार्टी ने इस बात का अनुभव किया कि हर बात में सरकार का विरोध करने की नीति हिन्दुओ के लिए अहितकर है। और तो और स्वयं स्वराजिस्टो के बीच ही दो दल हो गये। एक दल प्रतियोगी सहयोग करने की नीति का प्रतिपादक था और दूसरा असहयोग करने की नीति का। स्वराज्य-दल के बीच उक्त मतभेद उस समय पराकाष्ठा पर पहुँच गया जब कि मध्यप्रान्तीय विधान सभा के स्वराजिस्ट अध्यक्ष श्री एस. बी. ताम्बे गवर्नर की कार्यकारिणी के सदस्य बन गये। बम्बई में स्वराजिस्टों ने प्रतियोगी सहयोग का खुल्लम खुल्ला समर्थन किया। पडित मोतीलाल नेहरू की इस धमकी ने कि वे स्वराज्य-दल के रोगी अग को काट कर फेंक देंगे" मतभेदकी खाई को और भी चौड़ा कर दिया। प० मोतीलाल नेहरू के 'उद्धत स्वर' ने जयकर, केलकर और मुंजे को खुली बगावत करने के लिये खडा कर दिया। १९२६ का अन्त होते होते स्वराज्य दल की अधिकाश शक्ति नष्ट हो चुकी थी।

स्वराज्य दल का सहयोग की ओर झुकाव

प्रतियोगी सहयोगी और असहयोगी

६७. साम्प्रदायिक तनाव की वृद्धि

खिलाफत आन्दोलन और असहयोग आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद के

वर्ष भारतवर्ष के अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण थे क्योंकि इन वर्षों में साम्प्रदायिक विद्वेष की आग ने भयावह रूप धारण किया। इस बात का हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि मलाबार में मोपलों ने अपने हिन्दू पडौसियों की कितनी निर्ममता से हत्याएं की। सन् १९२२ से लेकर १९२७ तक हिन्दू-मुस्लिम उपद्रवों की सख्या इतनी अधिक बढी कि उनकी एकता का प्रायः अन्त हो गया। सन् १९२३ में मुल्तान, अमृतसर, मुरादाबाद, मेरठ, पानीपत, जबलपुर, आगरा, बरेली आदि में साम्प्रदायिक झगडे हुए, सन् १९२४ मे कोहाट में, सन् १९२५ मे दिल्ली, कलकत्ता और इलाहाबाद मे, सन् १९२६ मे कलकत्ते मे और सन् १९२७ में मुल्तान, लाहौर, बरेली और नागपुर में। "कलकत्ते के साम्प्रदायिक उपद्रव भयकरतम थे। वे पन्द्रह दिन तक चलते रहे, इनमें ६७ आदमी मारे गये और ४०० से अधिक ज़ख्मी हुए।"

उपद्रवों की कहानी

इन उपद्रवो के तात्कालिक कारण बहुत ही तुच्छ थे। कभी गोवध का सवाल मतभेद उत्पन्न कराके झगडे करवाता था और कभी दशहरा के जलूस के अवसर पर मस्जिद के सामने बाजे का प्रश्न। लेकिन ये तो उपद्रवो के ऊपरी कारण थे, असली कारण कुछ गहरे थे। जवाहर लाल नेहरू के शब्दो में "भारतवर्ष मे साम्प्रदायिकता यथार्थ साम्प्रदायिकता नही थी, यह साम्प्रदायिकता नकाब के पीछे छिपी हुई राजनीतिक और सामाजिक प्रतिक्रिया थी।" असहयोग आन्दोलन की समाप्ति का अभिप्राय कांग्रेस-लीग मैत्री की समाप्ति था। शनैः शनैः मुस्लिम लीग प्रतिगामी नेतृत्व की अधीनता मे चली गई और मुसलमानो के बीच, हिन्दू राज का हौवा दिखा दिखा कर, अपनी जडे मजबूत करनी प्रारम्भ कर दी। "हिन्दुओ के बीच भी साम्प्रदायिक भावनाओ ने उग्ररूप धारण कर लिया।" तथाकथित मुस्लिम आधिपत्य के विरुद्ध हिंदुओ के अधिकारों की रक्षा करने के लिए हिन्दू महासभा का सगठन किया गया। सच तो यह है कि ये दोनो ही सस्थाए न्यस्त स्वार्थों के नियत्रण में थी। ये न्यस्त स्वार्थ अपने पारस्परिक विरोध को प्रचड और विषमय साम्प्रदायिक प्रचार में छिपाये रखते थे। खिलाफत और असहयोग आन्दोलन के बीच इन प्रतिगामी तत्वो को निस्पन्द पडा रहने के लिये बाध्य कर दिया गया था। "अब वे अपने सन्यास से समुदित हुए। बहुत से दूसरे गुप्त एजेंटो और लोगों ने जो कि साम्प्रदायिक भेदभाव की सृष्टि कर अधिकारियों को प्रसन्न करना चाहते थे, इसी परम्परा पर काम किया।"*

कारण

सितम्बर १९२४ में महात्मा गान्धी ने साम्दायिक विद्वेष और हत्याकांड का

---

* जवाहर लाल नेहरू- आउटोग्राफी. पृ. ४५९

प्रायश्चित करने के उद्देश्य से, जिसके लिए कि उन्होंने स्वय को ही उत्तरदायी ठहराया २१ दिनों का उपवास किया। दूसरो के पापो के लिए उन्होंने जिस तपस्या को अपने ऊपर लागू किया, उसका जनता के ऊपर बहुत प्रभाव पडा और कलकत्ते मे एक एकता सम्मेलन किया गया। काफी देर के विचार विमर्श के फलस्वरूप एक राष्ट्रीय पचायत नियुक्त की गई। महात्मा गान्धी इसके अध्यक्ष बने और हकीम अजमल खाँ, लाला लाजपत राय, जी० के० नरीमैन, डा० एस० के० दत्त और मास्टर सुन्दर सिंह इसके सदस्य बने। इस पचायत का उद्देश्य अन्तर्साम्प्रदायिक एकता की वृद्धि करना था। एक वर्ष के लिए उपद्रव रुक गए। परन्तु साम्प्रदायिक रोग का उक्त निदान अस्थायी था। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान-दोनो ही जातियो के प्रतिगामी तत्वो ने 'भेद डालो और राज्य करो' की नीति मे साम्राज्यवादियो को पुन सक्रिय सहायता देनी प्रारभ कर दी थी। नौकरशाही को अपनी इस सफलता के ऊपर सकारण गर्व था। कोई आश्चर्य नही कि सयुक्त प्रान्त मे एक गवर्नर ने अपने विदा-भाषण मे अभिमान पूर्वक इस बात को कहा था कि उसे, "अपने पाच वर्षों के शासनकाल मे कम से कम ८३ साम्प्रदायिक उपद्रवो का सामना करना पडा था।"*

महात्मा गान्धी का उपवास और एकता सम्मेलन

सारांश

प्रथम विश्व-युद्ध ने ससार के अन्यान्य भागों की तरह भारतवर्ष मे भी राष्ट्रीयता की भावना को तीव्र कर दिया। इसके अलावा भी अन्य कई ऐसे कारण थे, जिन्होने कि भारतीय राष्ट्रीयता के प्रवाह को अधिक वेगयुक्त करने मे सहायता दी। जनता की आर्थिक कठिनाइयो, महगी, बीमारियो, नौकरशाही दमन अध्यादेश-शासन और लडाई के लिए धन एकत्रित करने व सिपाही भरती करने मे जिस कठोरता का बर्ताव किया गया था उन सब कारणो की वजह से जनता विदेशी आधिपत्य से अधिकाधिक असतुष्ट होती गई। मुसलमान खिलाफत प्रश्न के ऊपर विशेष रूप से रुष्ट थे। मोंटफोर्ड सुधारो के ऊपर भी जन साधारण के बीच आम निराशा की भावना व्याप्त थी।

१९१८ में भारतीय जनमत के लाख विरोध करने के बावजूद भी सरकार ने रौलट-एक्ट को पास कर दिया। रौलट एक्ट सरकार की निर्मुक्त स्वेच्छाचारिता का एक स्पष्ट प्रमाण था, इससे जनता की स्वतन्त्रताओ के ऊपर कुठाराघात होता था। इस दमनमूलक कानून के अधिनियम ने महात्मा गान्धी को स्वतन्त्रता सग्राम के अग्रिम

* जवाहर लाल नेहरू- आउटो ग्राफी पृ; ८६-८७

मोर्चे पर ला खड़ा किया । पहले महात्मा गान्धी स्पष्ट घोषित राजभक्त थे लेकिन सरकार की दमन-नीति ने उनको राजद्रोही बना दिया ! रौलट एक्ट के विरोध में महात्मा गान्धी ने सत्याग्रह-आदोलन प्रारम्भ किया । कुछ स्थानों पर जनता ने हिंसात्मक घटनाए कर डालीं, इससे दुखी होकर गान्धी जी ने सत्याग्रह आन्दोलन को स्थगित कर दिया ।

इसी बीच में पजाब की हालत बहुत खराब हो गई । वहाँ रौलट-एक्ट विरोधी आन्दोलन ने अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया और कुछ स्थानो पर हिंसात्मक घटनाएं भी हो गईं । जलियावाला बाग हत्याकाण्ड ने सारे देश में सनसनी फैला दी । जनता ने सरकार से इस बात की मजबूत माग की कि वह पजाब की दुर्घटनाओ की जाच के लिये एक समिति नियुक्त करे । फलत· सरकार ने लार्ड हंटर की अध्यक्षता में एक जांच-समिति नियुक्त की लेकिन इस समिति की रिपोर्ट ने जेनरल डायर के दुष्कृत्य पर पर्दा डालने की कोशिश की ।

१६२० के ग्रीष्मकाल मे सीवर्स की सन्धि प्रकाशित हुई । इस सन्धि ने भारतीय मुसलमानो को गहरा धक्का पहुँचाया । युद्धकाल में ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने इस बात का बचन दिया था कि टर्की साम्राज्य का किसी प्रकार से अहित या विघटन नही किया जायगा । लेकिन युद्ध बीत जाने पर ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ अपने वचनों को भूल गये । सीवर्स की सन्धि के अनुसार टर्की साम्राज्य का विघटन कर दिया गया और सुल्तान की-जो कि इस्लाम का खलीफा था, मानहानि की गई । महात्मा गान्धी ने ब्रिटिश सरकार के इस विश्वासघात का जोरदार विरोध किया । उन्होंने मुसलमानो के साथ हार्दिक सहानुभूति व्यक्त की तथा खिलाफत और पजाब के अन्यायो के निवारणार्थ व स्वराज्य प्राप्त करने के उद्देश्य से असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ किया ।

असहयोग आन्दोलन काफी जोर शोर से चला । ५०,००० से अधिक देशभक्त जेल में चले गये । बहिष्कार के कार्यक्रम को आश्चर्यजनक सफलता मिली । असहयोग आन्दोलन के काल में हिन्दू-मुस्लिम एकता को देख कर दाँतो तले उगली दवानी पडती थी । फरवरी १९२१ में जनता की एक भीड ने क्रोध में आकर २१ सिपाहियों और थानेदार को मार डाला । इस दुर्घटना का समाचार पाकर महात्मा गान्धी को अपार क्लेश पहुचा और उन्होने आन्दोलन को तुरन्त ही स्थगित कर दिया । असहयोग आन्दोलन में कुछ कमियां अवश्य थी, लेकिन फिर भी उसने महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की । इस आन्दोलन ने जनता के हृदय में स्वतत्रता व निर्भीकता की एक नूतन प्राणधारा उत्पन्न की । महात्मा गाधी के गतिशील नेतृत्व ने राष्ट्रीय आन्दोलन को एक क्रान्तिकारी आन्दोलन और जन-आन्दोलन के रूप में परिवर्तित

कर दिया ।

असहयोग आन्दोलन के समाप्त हो जाने के पश्चात् देशबन्धु चित्तरंजन दास और मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में स्वराज्य-दल का समुदय हुआ। स्वराज्य-दल कौंसिल-प्रवेश का समर्थन करता था । उसका सिद्धान्त था कि व्यवस्थापक-मण्डलो के अन्दर पहुच कर सरकार के कार्यों मे अडगा लगाया जाय। स्वराजिस्टों का कहना था कि यह कार्यक्रम असहयोग के कार्यक्रम के सर्वथा अनुकूल है । वे विश्वास करते थे कि हम वैधानिक गत्यवरोध उत्पन्न करके मोटफोर्ड सुधारो को नितान्त असफल सिद्ध कर देंगे ।

दिल्ली के विशेष अधिवेशन (सितम्बर १६२०) मे स्वराज्य-दल के प्रोग्राम पर काग्रेस ने अपनी अनुमति दे दी। उसी वर्ष नवम्बर मे चुनाव हुए। स्वराज्य-दल ने उन चुनावो मे भाग लिया और कुछ स्थानो पर विस्मयजनक सफलता प्राप्त की। भारतीय व्यवस्थापक मण्डल में उन्होने ४५ स्थानो पर अधिकार कर लिया और कई महत्वपूर्ण प्रस्तावो पर सरकार को पराजित किया। वगाल और मध्यप्रात मे, जहां स्वराजिस्टो का बहुमत था, उन्होने द्वैध-शासन प्रणाली की क्रियान्विति को बिल्कुल रोक दिया। १९२६ के बाद से स्वराज्य दल में फूट पैदा हो गई और उसके कुछ शिरोरत्न सदस्यो ने सरकार के साथ प्रतियोगी सहयोग करने का रास्ता पकड लिया।

असहयोग आन्दोलन और खिलाफत आन्दोलन के समाप्त हो जाने के बाद के वर्ष हिन्दू-मुस्लिम एकता की दृष्टि से अत्यन्त शोचनीय है। इन वर्षों मे देश के विभिन्न भागो में साम्प्रदायिक उपद्रव हुए। सितम्बर १९२४ मे महात्मा गान्धी ने अन्त साम्प्रदायिक एकता स्थापित करने के उद्देश्य से २१ दिनो का उपवास किया। महात्मा गान्धी के बलिदान से कुछ समय के लिये साम्प्रदायिक विद्वेष की आग पर पानी पड़ गया, लेकिन वह हमेशा के लिए ठडी नही हो सकी।

अध्याय १०

साइमन कमीशन से गोलमेज परिषद तक

६८. महात्मा गांधी पुनः मैदान में

१९२७ का वर्ष भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में एक विशेष महत्व रखता है। इस वर्ष महात्मा गांधी कांग्रेस के निर्विवाद नेता के रूप में भारत के राजनीतिक रंगमंच पर पुनः अवतरित हुये। १९२४ में कारागार से छूटने के पश्चात् उन्होंने सक्रिय राजनीति से हाथ खींच लिया था और अपना समय चर्खे को लोकप्रिय बनाने, सारे देश में भ्रमण कर हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रचार करने और अस्पृश्यता के अभिशाप से युद्ध करनेमें व्यतीत किया था। १९२५ के अन्त में उन्होंने एक वर्ष के लिये 'राजनीतिक मौन और निश्चलता' का व्रत ले लिया। इस अवधि में स्वराजवादी कांग्रेस के राजनीतिक नेता थे और गांधीवादी मुख्यतः रचनात्मक कार्यक्रम में संलग्न रहे। लेकिन १९२६ तक विधान मण्डलों के भीतर असहयोग करके नौकरशाही शासनयंत्र को छिन्न भिन्न करने का स्वराजवादी कार्यक्रम नष्टप्राय हो चुका था। घटनाचक्र ने महात्मा गांधी को शीघ्र ही राष्ट्रीय मोर्चे के अग्रभाग पर पुनः ला खड़ा किया।

राजनीति से दूर

जिस समय महात्मा गांधी ने कांग्रेस के नेतृत्व की बागडोर सम्हाली, राष्ट्रवादी आंदोलन में वामपक्षी प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगी थी। समाजवादी और साम्यवादी विचारों ने देश के युवक राष्ट्रवादियों को प्रभावित करना प्रारम्भ किया था। "रूस में समाजवादी क्रांति की सफलता और समाजवादी राज्य की स्थापना ने भारत के क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों में समाजवादी और साम्यवादी सिद्धांतों के प्रति रुचि उत्पन्न कर दी।"* कमकरों और किसानों के संगठन प्रकट होने

वामपक्षी विचारों की वृद्धि

* ए. आर. देसाईः सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पृ० ३२४।

लगे। बम्बई के गिरनी कामगर संघ के सदस्यों की संख्या १९२८ तक ६५ हजार से अधिक पहुँच गई थी। श्रमिक संघवाद और वर्गचेतना का औद्योगिक मजदूरों के बीच शीघ्रतापूर्वक विकास हुआ और उसने १९२८-१९२९ में कई बडी-बडी हडतालों के रूप में स्वयं को व्यक्त किया। स्वयं कांग्रेस के भीतर जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में वामपक्ष जोर पकडने लगा। इसी काल में युवकसंघो और विद्यार्थी संघों का भी जन्म हुआ। सुभाष बोस और जवाहरलाल नेहरू उनके सामर्थ्यवान् नेता थे।

६९. साइमन कमीशन

साइमन कमीशन की नियुक्ति

५ नवम्बर १९२७ को महात्मा गाधी तथा दूसरे भारतीय नेताओ को वायसराय का यह आमत्रण मिला कि वे उनसे दिल्ली में भेंट करे। महात्मा गाधी उस समय मगलौर में थे, वायसराय का आमन्त्रण पाकर शीघ्र ही वहा से चल पडे और एक हजार मील की यात्रा तय कर लार्ड इर्विन मे भेट करने के लिये दिल्ली पहुचे। लार्ड इर्विन ने उनके हाथो में कागज का एक टुकडा थमा दिया जिसमे अनुविहित साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की गई थी। महात्मा गाधी ने खिन्न होकर कहा कि वायसराय इस सूचना को उन्हे एक आने के लिफाफे मे भेज सकते थे, लेकिन यह घटना भारत के इतिहास में युगान्तकारी सिद्ध होने को थी।

कमीशन को निश्चित काल से दो वर्ष पूर्व क्यों नियुक्त किया गया ?

यह स्मर्त्तव्य है कि १९१९ के भारतीय शासन सम्बन्धी एक्टने मोंटफोर्ड सुधारो की कार्यान्विति की जाच-पडताल करने और इस बात की कि भारत उत्तरदायी स्व-शासन की दिशा में अग्रेतर पदोन्नति के लिये कहा तक तय्यार है, रिपोर्ट करने के लिये १० वर्ष की समाप्ति पर एक अनुविहित कमीशन की नियुक्ति निर्धारित की थी। इस प्रकार भारत मे कमीशन १९२९ में भेजा जाना चाहिये था। लेकिन इंगलैण्ड की राजनीतिक परिस्थिति ने अनुदार दल के भारत-मन्त्री लार्ड बर्केनहेड को इस सबंध में जल्दी करने के लिये विवश कर दिया। १९२९ में साधारण निर्वाचन होने को थे और उनमें श्रमिक दल की विजय की स्पष्ट सम्भावना थी। निसर्गत: अनुदार दल भारत के राजनीतिक भविष्य को अपने विरोधी दल के हाथों मे नही छोड़ना चाहता था। यही कारण है कि कमीशन को निश्चित काल से दो वर्ष पूर्व नियुक्त किया गया।

साइमन कमीशन की नियक्ति भारतवर्ष के लिये अपमानजनक थी। कमीशन

में एक भी भारतीय सदस्य नही था। "उसके सातों के सातों सदस्य अंग्रेज थे।*

भारत के लिए अपमानजनक

कमीशन में भारतीयों को न लेने का कारण यह बताया गया था कि चूकि उसे ब्रिटिश संसद को रिपोर्ट देनी है, इसलिये उसमें केवल ब्रिटिश ससद के ही सदस्य सम्मिलित हो सकते हैं। लेकिन यह तो खाली एक बहाना था क्योकि उस समय ब्रिटिश ससद मे भारत के भी दो प्रतिनिधि—प्रत्येक सदन मे एक एक उपस्थित थे। कमीशन का उद्देश्य "शासन-प्रणाली की क्रिया-

कमीशन का उद्देश्य

न्विति, शिक्षा की वृद्धि तया ब्रिटिश भारत में प्रतिनिधिक सस्थाओ के विकास का अनुशीलन करना और इस बात की कि उत्तरदायी शासन के सिद्धात की स्थापना वाछनीय हे या नही, यदि है तो किस सीमा तक एव ब्रिटिश भारतमे उस समय वर्तमान उत्तरदायी शासन की मात्रा को बढाया जाय, सशोधित किया जाय अथवा कम प्रतिबन्धित किया जाय, रिपोर्ट करना था।"

इस प्रकार, "भागवत अंग्रेज' यह निर्णय करनेको थे कि भारतीय अपना शासन आप करने के योग्य है या नही।"† इसमे कोई आश्चर्य नही कि कमीशन मे एक भी भारतीय सदस्य के न रखे जाने की बात को भारतीय

कमीशन का बहिष्कार

लोकमत के सभी वर्गों ने अपना 'घोर अपमान'‡ समझा और इसका प्रबल विरोध किया। कमीशन को राजनीतिक धूर्तता के नाम से ठीक ही सम्बोधित किया गया। भारतीयो के अपवर्जन के अतिरिक्त काग्रेस ने कमीशन के विचारणीय विषयो के ऊपर भी आक्षेप किया। वह केवल जाच-पडताल और रिपोर्ट करने वाला निकाय ही होने को था, काग्रेस की पूर्ण उत्तरदायी शासन की माग की ओर से उसने अपनी आखे मूद ली थी। पडित मोतीलाल नेहरू ने कहा था कि सरकार के लिए एकमात्र न्यायपूर्ण मार्ग यह था कि वह इस बात की स्पष्ट घोषणा कर दे कि वह क्या करना चाहती है और इस योजना को कार्यरूप में परिणत करन के लक्ष्य से एक योजना तय्यार करने के लिए कमीशन नियुक्त करे। काग्रेस ने साइमन कमीशन के प्रति अपने दृष्टिकोण तथा नीति को दिसम्बर १९२७ के मद्रास-अधिवेशन में स्पष्ट व्यक्त किया।

---

* सी. वाई. चिन्तामणि : इंडियन पालिटिक्स सिन्स दि म्युटिनी पृ १७१

† पोलक : महात्मा गाधी, पृ. १९९

‡ राजेन्द्र प्रसाद : खंडित भारत, पृ. १९८

मद्रास कांग्रेस
दिसम्बर, १९२७

चूंकि सरकार ने भारत के स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार के प्रति घोर उपेक्षा प्रदर्शित की, अतः कांग्रेस ने "प्रत्येक स्तर पर और प्रत्येक रूप में" कमीशन के बहिष्कार करने का निश्चय किया। मद्रास काग्रेस ने पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य घोषित करते हुए एक प्रस्ताव भी पास किया था, यद्यपि महात्मागांधी ने इस प्रस्ताव के बारे में बाद में कहा था कि उसे "जल्दबाजी में सोचा गया था और बिना विचारे पास किया गया था।"

साइमन कमीशन के बहिष्कार का निर्णय केवल कांग्रेस तक ही सीमित नहीं था। मुस्लिम लीग (जिसमें इस प्रश्न के ऊपर फूट पड़ गई थी) के एक वर्ग को छोड़ कर सभी राजनीतिक दलों ने साइमन कमीशन के प्रति एक सा दृष्टिकोण ग्रहण किया। सर मोहम्मद शफी के नेतृत्व में लीग के प्रतिगामी पक्ष ने कमीशन के स्वागत करने का निश्चय किया, लेकिन मि० जिन्ना और उनके वामपक्षी अनुयायी कांग्रेस के साथ हो गये।

साइमन कमीशन ३ फरवरी, १९२९ को बम्बई मे उतरा। देशव्यापी हड़ताल द्वारा उसका अभिनन्दन किया गया। जहा कही कमीशन गया, काले झण्डो और "साइमन वापस जाओ" के नारों से उसका स्वागत किया गया। सरकार ने बहिष्कार को तोडने के लिए, जोर-ज्यादती के उपायो का प्रयोग किया लेकिन सब बेकार। लाहौर में साइमन कमीशन के विरोध मे लाला लाजपत राय ने एक विराट जलूस का नेतृत्व किया। वे हृदय रोग से पहले ही पीड़ित थे, जलूस में उनके ऊपर पुलिस की इतनी लाठिया पडी कि उक्त घटना के एक पक्ष उपरान्त उनकी मृत्यु हो गई। लाला लाजपत राय की मृत्यु से सारे देश में उत्तेजना की एक लहर दौड गई। लखनऊ में जवाहर लाल नेहरू व गोविन्द बल्लभ पन्त के ऊपर पुलिस की लाठियां पडी। जब तक कमीशन लखनऊ में रहा, लखनऊ की स्थिति एक सैनिक शिविर के तुल्य रही और वे सामाजिक उत्सव तक, जिनमें कमीशन के सदस्यों को आमन्त्रित किया जाता था, पुलिस की कठोर निगरानी में सम्पन्न होते थे।

स्पष्टतः, साइमन कमीशन की जाच-पड़ताल ने भारतीयो के बीच बहुत कम रुचि उत्पन्न की। दक्षिण की जस्टिस पार्टी और थोड़े से मुस्लिम सगठनों को छोड़कर, सभी राजनीतिक दलों ने कमीशन का पूर्ण बहिष्कार किया। कमीशन ने दो बार भारत की यात्रा की और अपनी रिपोर्ट को, जो मई १९३० में प्रकाशित हुई, दो वर्ष से

साइमन कमीशन
की रिपोर्ट

अधिक समय बाद पूरा किया। कूपलैण्ड के मत के अनुसार रिपोर्ट ने "ब्रिटिश राज्य-विज्ञान के पुस्तकालय में एक और श्रेष्ठ कृति की वृद्धि की।* लेकिन भारतीय लोकमत ने रिपोर्ट को पूर्ण रूप से अस्वीकार किया।† सर शिव-स्वामी अय्यर ने इन शब्दो में कि "साइमन रिपोर्ट को रद्दी की टोकरी में डाल देना चाहिए"‡ साइमन रिपोर्ट के प्रति भारतीय दृष्टिकोण का अच्छा परिचय दिया था। ब्रिटिश सरकार ने भी रिपोर्ट के ऊपर, जिसकी सिफारिशें शीघ्र ही गोलमेज परिषद के दीर्घ वितर्कों से अभिभूत हो गई थी, कोई कार्यवाही नही की। साइमन रिपोर्ट ने भारतीय आकांक्षाओ के प्रति किसी प्रकार की सहानुभूति प्रकट नही की और डोमिनियन स्टेटस की चर्चा तक नही की। इसके विपरीत उसने जातिगत और सम्प्रदायगत मतभेदो का सविस्तार उल्लेख करते हुए भारतीय स्थिति का हतश्री चित्र खीचा। उसने निष्कर्ष यह निकाला कि सासद अथवा उत्तरदायी शासन का प्रयोग सफल नही रहा था, लेकिन उसने इस बात की सिफारिश नही की कि इस पद्धति को त्याग दिया जाय। इसके विपरीत उसने सुझाव दिया कि प्रान्तो मे द्वैध शासन प्रणाली के स्थान पर पूर्ण उत्तरदायी शासन की प्रतिष्ठा होनी चाहिए और प्रान्तीय प्रशासन के सब विभाग विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी एकल-मन्त्रिमण्डल के हाथो में होने चाहिए। तथापि, उसने रक्षाकवचो (Safeguards) की आवश्यकता पर बल दिया और यह सुझाव उपस्थित किया कि कतिपय महत्वपूर्ण मामलो मे गवर्नरों को अपने मन्त्रियो के निर्णयो के उल्लंघन करने की विशेष शक्तियो मे सज्जित कर देना चाहिए। रिपोर्ट मे एक ऐसे भारतीय सघ की स्थापना का भी प्रस्ताव था जिसमे "प्रत्येक प्रान्त जहा तक हो सके, अपने क्षेत्र मे अपना मालिक हो।" रिपोर्ट ने यह भी सुझाव दिया था कि केन्द्रीय विधानमडल को सघीय आदर्श पर पुनर्गठित करना चाहिए और निम्न सदन को, जिसका नाम सघीय सभा (Feacral Assembly) हो, प्रान्तीय विधान-मडलो द्वारा परोक्षत निर्वाचित किया जाना चाहिये। यह उसकी सर्वाधिक विस्मयकर सिफारिशो में से एक थी। इसमे कहा गया था कि केन्द्र मे किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नही हो, कार्यपालिका बराबर अनुत्तरदायी बनी रहे। जहाँ तक साम्प्रदायिक प्रश्न का सम्बन्ध है, साइमन रिपोर्ट

प्रांतों में रक्षाकवचों (Safeguards) के साथ पूर्ण उत्तरदायी शासन

सघ

केन्द्र मे कोई उत्तरदायित्व नहीं

---

* कूपलैण्ड : इण्डियन प्रॉब्लेम, १८३३-१९३५ पृ. १००

† कीथ : ए कंस्टीट्यूशनल हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ. २०४

‡ चिन्तामणि : इंडियन पोलिटिक्स सिन्स दि म्युटिनी पृ. १७२०

ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की निन्दा की लेकिन फिलहाल उसे अपरिहार्य ठहराया। उसने सुदूर भविष्य में, भारतीय सघ में भारतीय राज्यों के योगदान की भी अस्पष्ट कल्पना की लेकिन एक तात्कालिक पग के रूप में उसने बृहत्तर भारत की केवल एक ऐसी परामर्श परिषद की सिफारिश की जिसमें देशी राज्यों और ब्रिटिश भारत दोनो का प्रतिनिधित्व हो।

भारतीय राज्य

७० नेहरू रिपोर्ट और जिन्ना की चौदह शर्तें

साइमन कमीशन को, जिसके सब सदस्य अंग्रेज थे, नियुक्ति करते हुए अनुदार दल के भारतमन्त्री लार्ड बर्कनहेड ने भारतीय जनता को एक धृष्ट चुनौती दी थी। उन्होंने कहा था कि भारतीय'साम्प्रदायिक कलहों'के फलस्वरूप अपने लिए एक संविधान बनाने में असमर्थ हैं। भारतीय राष्ट्रवादियो ने इस चुनौती को स्वीकार किया और कांग्रेस ने फरवरी १९२८ मे, दिल्ली में सब दलो के सम्मेलनका सयोजन किया। सम्मेलन ने २५ बैठकें कीं तथा पूर्ण उत्तरदायी शासन के ऊपर आधारित भारत के एक संविधान और साम्प्रदायिक सम्बन्धो व अनुपातो की समस्या पर विचार-विनिमय किया। १९ मई को सम्मेलन की बैठक में इस आशय का एक प्रस्ताव पास कया गया कि भारतीय संविधान के सिद्धान्तो का मसविदा तय्यार करने के लिए पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता मे ९ सदस्यो की, जिनमें एक सिख और दो मुसलमान भी हों, एक समिति नियुक्त की जाय। सम्मेलन में भाग लेने वाले २९ सगठनों ने समितिके नियुक्त करनेके प्रस्ताव का समर्थन किया। जवाहर लाल नेहरू इस समिति के सेक्रेटरी बने।

सर्व-दल-सम्मेलन १९२८

नेहरू-समिति

समिति ने तीन महीने के भीतर अपनी रिपोर्ट तय्यार कर ली। अपनी रिपोर्ट में समिति ने इस बात का कि भारतीय संविधान को स्वशासित डोमिनियनों के नमूने पर पूर्ण उत्तरदायी शासन के ऊपर आधारित होना चाहिए, समर्थन किया और यह स्पष्ट कर दिया कि डोमिनियन स्टेटस की उपलब्धि "हमारे विकास की एक दूरस्थ अवस्था नहीं अपितु अगला तात्कालिक कदम है।" रिपोर्ट में यह भी कहा गया था कि केन्द्र और प्रान्तों, दोनों स्थानों पर, कार्यपालिका को पूर्णतः विधान-मंडल के नियन्त्रण में तथा उत्तरदायी

नेहरू रिपोर्ट: (क) डोमिनियन स्टेटस और पूर्ण उत्तरदायी शासन

रहना चाहिये । समिति संघ को भी केवल एक संभावना समझती थी । तथापि, उसने प्रान्तों के लिये स्वायत्तता की आवश्यकता पर बल दिया । उसने केन्द्र और प्रान्तों के बीच शक्तियों के वितरण की एक योजना उपस्थिति की, लेकिन अवशिष्ट शक्तियो को केन्द्र के लिए सुरक्षित रक्खा । जहां तक साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के जटिल प्रश्न का सम्बन्ध है, नेहरू रिपोर्ट "साम्प्रदायिकता की कठिनाइयों का ठीक ठीक सामना करने के लिए भारतीयों द्वारा अब तक की गई सुस्पष्टतम चेष्टा थी ।"

(ख) प्रान्तीय स्वायत्तता और अवशिष्ट शक्तियां

(ग) साम्प्रदायिक निर्वाचन और गुरुभार की अस्वीकृति

रिपोर्ट ने इस तथ्य को कि साम्प्रदायिक मतभेद समस्त राजनीतिक कार्य पर अपना प्रभाव डालते हैं, स्वीकार किया लेकिन यह विश्वास व्यक्त किया कि विदेशी सत्ता और हस्तक्षेप से विमुक्त स्वतंत्र भारत में इस समस्या को सुलझाना सुगम होगा । रिपोर्ट के रचयिताओ ने घोषणा की "*एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के ऊपर निरंकुश शासन करे, इस बात को सहन नही किया जा सकता ।*" उन्होंने "रक्षाकवचों, गारण्टियों और सास्कृतिक स्वायत्तता" द्वारा अल्पसख्यक वर्गों को सुरक्षा का आश्वासन देने की आवश्यकता पर बल दिया । लेकिन साम्प्रदायिक निर्वाचन और गुरुभार के प्रश्न के ऊपर रिपोर्ट ने लखनऊ समझौते की शर्तों को दृढता-पूर्वक अस्वीकार कर दिया । उसने पृथक् निर्वाचनो का इस आधार पर खडन किया कि वे साम्प्रदायिक विरोधभाव की वृद्धि करते हैं और अल्पसख्यक वर्गों को जन्य सुरक्षा देने के अपने स्पष्ट घोषित प्रयोजन मे ही असफल रहते हैं । फलत "राष्ट्रीय हितों के लिए विचारित किसी भी प्रतिनिधित्व प्रणाली में उन्हे कोई स्थान नहीं दिया जा सकता ।" रिपोर्ट ने सयुक्त निर्वाचनों की सिफारिश की लेकिन साथ ही अल्पसंख्यक वर्गों के लिए उनकी जनसख्या के अनुपात में सीटें सुरक्षित कर देने का प्रस्ताव किया । अल्पसंख्यक वर्गों को यह अधिकार दिया गया क वे अपने लिये सुरक्षित सीटों के लिए भी चुनाव लड सकते हैं लेकिन किसी भी प्रकार के गुरुभार को अस्वीकार कर दिया गया । रिपोर्ट में यह सुझाव दिया गया कि उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त को दूसरे प्रान्तों के वैधानिक धरातल पर ले आना चाहिए और सिन्ध को बम्बई से पृथक कर देना चाहिए ताकि चार मुस्लिम बहुल प्रान्तों का निर्माण हो सके ।

(घ) उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और सिन्ध

नेहरू रिपोर्ट ने भारतीय राज्यों की समस्या पर भी विचार किया । रिपोर्ट ने इस बात की सिफारिश की कि शासकों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा की जाय लेकिन इसके साथ ही साथ उसने इस बात को

भी स्पष्ट कर दिया था कि उन्हें भारतीय अल्स्टर के रूप में परिवर्तित करने के किसी प्रयास को सहन नहीं किया जायगा। रिपोर्ट ने राजाओं को इस बात की चेतावनी दी कि यदि भारत के लिए संघीय संविधान अंगीकृत किया गया तो उन्हें उसमें उसी समय सम्मिलित होने दिया जायगा जबकि राज्यों में स्वेच्छाचारी शासन प्रणाली का अन्त हो जायगा। चाहे जो हो नई केन्द्रीय सरकार ब्रिटिश सरकार से "सार्वभौमत्व" में विवक्षित राज्यों के प्रति वर्तमान समस्त अधिकारों व दायित्वों को ले लेगी।

(ङ) भारतीय राज्य

नेहरू रिपोर्ट की प्रतिक्रिया

अगस्त १९२८ में लखनऊ में सर्व दल-सम्मेलन ने नेहरू रिपोर्ट के ऊपर विचार विनिमय किया और उसे थोड़े से संशोधनों सहित स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद कांग्रेस कार्यसमिति ने रिपोर्ट को 'राजनीतिक विकास की दिशा में एक महान पग' मान कर इसका अनुमोदन किया। लेकिन इस विषय पर मुस्लिम लोकमत में भेद पड़ गया। राष्ट्रवादी मुसलमानों ने तो नेहरू रिपोर्ट का समर्थन किया लेकिन पृथक्तावादी तत्वों ने सर्वदल मुस्लिम सम्मेलन में, जिसका अधिवेशन ३१ दिसम्बर १९२८ को दिल्ली में हुआ, एक स्वर से रिपोर्ट का विरोध किया। इस सम्मेलन के सभापति आगा खां थे और मौलाना मोहम्मद अली तक इसमें सम्मिलित हुए। मि० जिन्ना भी नेहरू समिति द्वारा तय्यार की गई वैधानिक योजना के विरुद्ध थे। उन्होंने चौदह शर्तों* के आधार पर जिन्हें उन्होंने मुसलमानों के हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए

जिन्ना की चौदह शर्तें

* डा० राजेन्द्र प्रसाद ने जिन्ना की चौदह शर्तों का निम्नलिखित सारांश उपस्थित किया है "(१) भावी संविधान का रूप संघ-प्रणाली का हो जिसमें अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तों में विहित हों। (२) सभी प्रान्तों में एक समान स्वायत्त शासनाधिकार रहें। (३) सभी प्रान्तों की विधान-सभाओं और लोकप्रतिनिधि संस्थाओं में अल्पसंख्यक सम्प्रदायों का निश्चित रूप से उचित और पर्याप्त प्रतिनिधित्व रहे। जहां उनका बहुमत हो, वहां घटा कर समान या अल्पमत न कर दिया जाय। (४) केन्द्रीय विधानमण्डल में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व एक तिहाई से कम न रहे। (५) साम्प्रदायिक वर्गों का प्रतिनिधित्व पृथक् निर्वाचन की पद्धति से हो परन्तु कोई भी सम्प्रदाय जब चाहे तब संयुक्त निर्वाचन की पद्धति स्वीकार कर सकता है। (६) किसी भी प्रादेशिक पुनर्विभाजन द्वारा पंजाब, बंगाल और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में मुसलमानों के बहुमत पर कोई प्रभाव न पड़ना चाहिए। (७) सभी सम्प्रदायों को अपने धार्मिक

आवश्यक बताया,लीग के दोनो पक्षो में पुनरैक्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। मि० जिन्ना की चौदह शर्तें साम्प्रदायिक समस्या का वास्तविक समाधान नही दे सकती थी लेकिन "इनका इसलिये और भी अपना विशेष महत्व है कि श्री मेकडानेल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय में ये प्रायः मान ली गई थी।"‡ नेहरू रिपोर्ट ने भारतीय राज्यो के शासकों को, जो यह विचार सहन नही कर सकते थे कि स्वतंत्र भारत की नई केन्द्रीय सरकार, ब्रिटिश सम्राट से सार्वभौमत्व ले ले, त्रस्त कर दिया था।

७१. संघर्ष की ओर

यह हम पहले देख चुके है कि कांग्रेस ने अपने मद्रास-अधिवेशन के अवसर पर अपना लक्ष्य 'पूर्ण स्वतन्त्रता' अंगीकार किया। जब अगले अधिवेशन (कलकत्ता १९२८) में नेहरू रिपोर्ट उपस्थित की गई, उस समय कांग्रेस के दो पक्ष हो गये। एक पक्ष तो डोमिनियन स्टेटस से ही संतुष्ट था, और दूसरा पक्ष जिसके नेता सुभाष बोस व जवाहरलाल नेहरू थे, यह चाहता था कि कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता के लक्ष्य पर डटी रहे। इस पक्ष का कहना था "जब तक अंग्रेजो से संसर्ग नही टूटता, (भारत को) सच्ची स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती।" तथापि महात्मा गांधी दोनो पक्षों में समझौता कराने में सफल हुये और कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार को एक अल्टिमेटम देने का निश्चय किया। कांग्रेस ने

कांग्रेस अल्टिमेटम् (कलकत्ता, दिसम्बर १९२८)

* राजेन्द्र प्रसाद. खंडित भारत पृ० २०१।

विश्वास, उपासना उत्सव, प्रचार,सम्मेलन और शिक्षा की पूर्ण स्वाधीनता रहनी चाहिए। (८) किसी भी विधान सभा अथवा लोकप्रतिनिधि संस्था में ऐसा कोई भी विधेयक या प्रस्ताव स्वीकृत न होना चाहिए जिसका कि किसी भी सम्प्रदाय के तीन चौथाई सदस्य अपने सम्प्रदाय के हितों का विरोध बताते हुए विरोध करें। (९) सिन्ध बम्बई प्रेसीडेन्सी से पृथक् कर दिया जाय। (१०)अन्य प्रान्तो में जिस प्रकार के सुधार किए जायें उसी प्रकार के सुधार सीमा प्रान्त और बिलोचिस्तान में किए जायें (११) विधान में सभी नौकरियों में योग्यता की आवश्यकता के अनुरूप मुसलमानों को उचित भाग मिले। (१२) मुस्लिम संस्कृति- शिक्षा, भाषा, धर्म, व्यक्तिगत कानून और धार्मिक संस्थाओं की रक्षा व उन्नति के लिये उचित संरक्षण तथा पर्याप्त सरकारी सहायता मिले। (१३) केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय मन्त्रिमण्डल में कम से कम तिहाई मंत्री मुसलमान रहें। (१४) केन्द्रीय विधान मण्डल को संविधान मे कोई परिवर्तन करने का केवल तभी अधिकार रहे जब भारतीय संघ में आबद्ध सभी इकाइयां उसे स्वीकार कर लें।" खण्डित भारत पृ. २०२-२०३।

ब्रिटिश सरकार को जो अन्तिम चेतावनी दी, उसमें मांग की गई कि सरकार नेहरू-संविधान को ज्यों का त्यों पूरा स्वीकार कर ले, यदि उसने ऐसा नहीं किया तो कांग्रेस "देश को यह सलाह देकर कि वह करों का देना बन्द कर दे, अहिंसात्मक असहयोग का आदोलन सगठित करेगी।"

मई १९२९ में इगलैण्ड के साधारण निर्वाचन में अनुदार दल की पराजय हुई और रैमजे मैकडानेल्ड के नेतृत्व में श्रमिक दल शासनारूढ हुआ। भारतवासियों को बडी-बडी आशाएं बध गई, क्योंकि निर्वाचन के तुरन्त बाद ही राष्ट्रमण्डलीय देशो के श्रमिक दलो के सम्मेलन मे मैकडानेल्ड ने निम्न घोषणा की थी "मुझे आशा है कि वर्षों की तो कौन चलाई कुछ महीनो की ही अवधि मे राष्ट्रमण्डल में एक अन्य डोमिनियन, एक अन्य प्रजाति का डोमिनियन, वह डोमिनियन जो राष्ट्रमण्डल मे एक समकक्ष के रूप मे आदर पायगा, सम्मिलित हो जायगा। मेरा अभिप्राय भारत से है।" जून में दीर्घ विचार-विमर्श के लिये लार्ड इर्विन को इंगलैण्ड बुलाया गया। भारत वापिस आने पर लार्ड इर्विन ने ३१ अक्टूबर १९२९ को एक घोषणा की, जिसमे कांग्रेस की माग को पूरी तरह से टाल दिया गया। वायसराय ने २० अगस्त १९१७ की घोषणा का हवाला देते हुये कहा "ब्रिटिश सरकार ने मुझे यह स्पष्ट घोषित कर देने का अधिकार दिया है कि १९१७ की घोषणा में यह अभिप्राय असदिग्ध रूप से है कि भारत को अन्त मे उपनिवेश का दर्जा मिले।" उन्होने एक गोलमेज परिषद के आयोजन की भी, जिसमे ब्रिटिश भारत और देशी राज्यो के प्रतिनिधि ब्रिटिश सरकार से नये संविधान के सिद्धातो पर विचार-विनिमय कर ले, पूर्व सूचना दी।

इंगलैण्ड में श्रमिक सरकार (मई, १९२९)

लॉर्ड इर्विन की घोषणा (३१ अक्टूबर १९२९)

लार्ड इर्विन की घोषणा कूटनीतिक अस्पष्टता की एक श्रेष्ठ उदाहरण थी। इस घोषणा से सरकार की वास्तविक नीति समझना कठिन था। घोषणा में डोमिनियन स्टेटस को लक्ष्य बताया गया, परन्तु वह कब प्राप्त होगा, इसका कोई जिक्र नही था। राष्ट्रमण्डल में, वर्षों की तो कौन कहे, कुछ महीनों के भीतर, भारत एक डोमिनियन के रूप में सम्मिलित होगा, इसके बारे में घोषणा में एक शब्द भी नही कहा गया था। इसके विपरीत, देशी राजाओं का सवाल उठा कर भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या को और पेचीदा कर देने की कोशिश की गई। फिर भी

दिल्ली का घोषणा पत्र

भारत के बड़े बड़े नेता और कांग्रेस कार्यसमिति के पुराने सदस्य एक ऐसी आशा लगाये रहे, जो तथ्यों के प्रकाश में भ्रामक सिद्ध हुई। दिल्ली से प्रकाशित एक वक्तव्य में उन्होंने वायसराय को धन्यवाद दिया और कहा कि "हम समझते हैं कि प्रस्तावित परिषद औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना का समय निश्चित करने के लिये नहीं बुलाई जा रही है, बल्कि ऐसे स्वराज्य का संविधान तय्यार करने को आमन्त्रित की जायगी।" उन्होंने इस बात की अपील की कि "वर्तमान शासन में उदार भावनाओं का संचार होना चाहिये और "समझौते की नीति को अख्तियार करना चाहिये" जिससे जनता इस बात का अनुभव करने लगे कि "आज से ही नवीन युग आरम्भ हो गया है।" बहुत से युवक काग्रेसी इस दृष्टिकोण से असहमत और असन्तुष्ट थे। जवाहरलाल नेहरू और सुभाष बोस दोनों ने कार्यसमिति से त्यागपत्र दे दिया। इसके विपरीत महात्मा गांधी ने एक अंग्रेज मित्र को लिखा था कि "मै तो सहयोग देने को मर रहा हूं।" उन्होने कहा था "यदि मुझे व्यवहार में सच्चा औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जाय, तो मैं उसके संविधान के लिये ठहरा भी रह सकता हूं।" लेकिन उन्होंने इस बात को स्पष्ट कह दिया कि "औपनिवेशिक स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि यदि मैं चाहूं तो आज ही ब्रिटिश सम्बन्ध विच्छेदकर सकू।'

इंगलैण्ड में प्रतिक्रिया

लार्ड इर्विन की घोषणा पर इंगलैण्ड में जो प्रतिक्रिया हुई, वह किसी भी तरह से आशाजनक नही थी। "वायसराय की घोषणा में भारतवासियों को बहुत छोटी सी चीज देने का वचन दिया गया था, फिर भी ब्रिटिश संसद में इसी पर तूफान खड़ा हो गया।"* टोरियों ने औपनिवेशिक स्वराज्य की चर्चा तक का विरोध किया। श्रमिक दल की सरकार ने विरोधी दल की ठकुरसुहाती करने में कुछ उठा न रखा और वह "भारतीयो की आशाएं पूर्ण करने के बजाय अनुदार दल की शंकाओ को दूर करने के लिए अधिक उत्सुक थी।" दूसरे शब्दो में श्रमिक सरकार दुमुंहेपन से बात करती थी। भारत में तो वह यह धारणा उत्पन्न करने की चेष्टा करती थी कि अब भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति एक नई नीति ग्रहण की जायगी। दूसरी ओर इंगलैंड में वह यह दिलासा देती थी कि नीति में किसी प्रकार का कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नही किया हैं।

इस भ्रान्तिमय वातावरण में महात्मा गान्धी ने वायसराय से भेंट करके हरेक चीज को साफ साफ कर लेना चाहा। २३ दिसम्बर १९२९ को यह भेंट हुई। उसी

---

* पट्टाभि सीता रामय्या- दि हिस्टी आफ दि कांग्रेस, पृ. ५९४

दिन वायसराय की गाड़ी के नीचे बम फटा था और वे बाल बाल बच गये थे। पण्डित मोतीलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू, वल्लभभाई पटेल और जिन्ना भी बैठक में उपस्थित थे। तथापि इस बैठक से कोई विशेष फल नही निकला क्योंकि वायसराय यह आश्वासन देने की स्थिति में नहीं थे कि पूर्ण उत्तरदायी शासन गोलमेज परिषद की कार्यवाही का आधार होगा।

गान्धी-इर्विन भेंट

इस समाचार ने कि "वायसराय भवन में भारत की आशाएं चूर्ण हुईं"* लाहौर-कांग्रेस का, जिसका अधिवेशन रावी के तट पर हुआ, वातावरण गम्भीर कर दिया। इस वर्ष के अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरू भारतीय राष्ट्रवाद की उग्र भावना के प्रतीक थे। कांग्रेस ने घोषणा की कि औपनिवेशिक स्वराज्य के प्रस्ताव को स्वीकार करने का समय गत हो चुका है और अब भारत का लक्ष्य पूर्ण स्वराज्य है। ३१ दिसम्बर १९२९ की मध्य रात्रि में स्वतन्त्र भारत के तिरगे झंडे को फहराया गया। कांग्रेस ने गोलमेज परिषद में भाग न लेने का निश्चय किया और महासमिति को यह अधिकार दिया कि "वह जब चाहे और जहा चाहे, सविनय अवज्ञा और करबन्दी तक का कार्यक्रम आरम्भ कर दे।

लाहौर में

कांग्रेस ने २६ जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस निश्चित किया और इस अवसर पर पढ़े जाने को स्वतन्त्रता का एक घोषणा पत्र अंगीकार किया। घोषणा पत्र ने ब्रिटिश सरकार को भारत के आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पतन के लिए दोषी ठहराया और "स्वतन्त्रता प्राप्त करने के भारतीय जनता के जन्मसिद्ध अधिकार" की घोषणा की।

२६ जनवरी स्वतन्त्रता दिवस

७२. सविनय अवज्ञा आन्दोलन (१९३०-३१)

कांग्रेस और महात्मा गान्धी ने जल्दबाजी में कोई काम नहीं किया। उन्होंने इस बात का ध्यान रक्खा कि उस संघर्ष के लिए जो कि अपरिहार्य हो गया था, देश को तय्यार किया जाय। एतदर्थ उन्होंने अहिंसक प्रतिरोध की टेकनीक का व्यापक प्रचार किया। उस समय देश एक ऐसी विश्वव्यापी मन्दी के पंजे मे था, जिसने अयनवृत्तीय आन्धी के जोर से भारत पर प्रहार किया।* खेती संबन्धी चीजों के भाव ५०% से अधिक गिर गये थे और किसानों

सविनय अवज्ञा की तय्यारी

* पट्टाभि सीता रामय्या- दि हिस्ट्री आफ दि कांग्रेस पृ. ६००
* पोलक- महात्मा गान्धी, पृ. १७२

की हालत इतनी तंग थी कि "वे एक गज कपड़ा या डेढ पाव लैम्प का तेल भी नहीं खरीद सकते थे। सीधा-सादा तथ्य यह था कि वे कर, लगान और ऋण को अदा करने में असमर्थ थे।"‡ व्यावसायिक और औद्योगिक वर्गों में रुपये की नई विनिमय दर के कारण असन्तोष पैदा हो गया था। सरकार ने रुपये की कीमत १६ पेंस से बढा कर १८ पेंस कर दी थी। इस परिवर्तन से इंगलैंड को पूरा लाभ हुआ। "भारत के उद्योगपतियो और व्यापारियो ने कांग्रेस का समर्थन किया तथा उसके कोष में १९२० से भी अधिक मुक्तहस्त होकर दान दिया।"* औद्योगिक कमकर भी असन्तुष्ट और उत्तेजित थे। दमन के फलस्वरूप उन्हे प्रभूत कष्ट उठाने पडे थे। "श्रमिक आन्दोलन विचारधारा और सगठन दोनो में वर्ग-चैतन्य, उग्र तथा भयावह होता जा रहा था।"† सरकार ने मार्च १९२९ में मजदूर सगठन के ३६ योग्यतम और उग्रतम नेताओ को गिरफ्तार करके और मेरठ षडयन्त्र अभियोग का अभिनय करके जो लगातार शिथिलता पूर्वक चार वर्ष तक चलता रहा, जिसमें १६ लाख रुपये खर्च हुए और अन्त में २७ श्रमिक नेताओ को सम्राट को भारत की प्रभुता से च्युत करने के अपराध में दीर्घ कारावास का दंड मिला था, श्रमिक सगठन पर भीषण आघात किया। इसके अलावा लाहौर षडयन्त्र अभियोग ने भी सारे भारत के राजनीतिक वायुमण्डल को विद्युन्मय कर दिया था।

इस प्रकार उस समय चारो ओर गर्मी छाई हुई थी और इस बात के चिन्ह वर्तमान थे कि यदि महात्मा गान्धी ने सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश न किया होता, तो तत्कालीन आर्थिक दुरवस्था व नौकरशाही दमनचक्र भारत में एक ऐसी क्रांति का सूत्रपात कर देते, जिसका स्वरूप निश्चितत अहिंसात्मक न होता। गान्धी इस बात से अवगत थे। २ मार्च १९३० को उन्होने वायसराय को चेतावनी का एक पत्र लिखा और उसमें यह मत व्यक्त किया कि हिंसक दल का जोर बढता जा रहा है और वह अहिंसक आन्दोलन जिसे प्रारम्भ करने का मै निश्चय कर चुका हूं, न केवल ब्रिटिश शासन के हिंसक बल का ही अपितु बढते हुए हिंसक दल की संगठित हिंसा का भी सामना करेगा।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन का श्रीगणेश मार्च के प्रारम्भ में किया गया। महात्मा गांधी ने अपनी ग्यारह शर्तों द्वारा वायसराय सेकुछ सुधारों को कार्यान्वित करने की

---

‡ वही- पृ, १७३

* पोलक- महात्मा गांधी, पृ. १७५

† जवाहर लाल नेहरू- आउटोबाइग्राफी, पृ. १८८

दाण्डी कूच

मांग की थी। जब उसका कोई संतोषजनक परिणाम नही निकला, तब गाधी जी और कांग्रेस के सामने एकमात्र मार्ग यही रह गया था कि वे सविनय अवज्ञा आंदोलन को शुरू करें। यह निश्चित किया गया कि सविनय अवज्ञा का श्रीगणेश महात्मा गाधी और उनके ७९ चुने हुये शिक्षित कार्यकर्त्ता करेंगे, और आन्दोलन दाण्डी-यात्रा तथा लाक्षणिक नमक-कानून-भग के साथ प्रारम्भ हो। १२ मार्च १९३० को महात्मा गाँधी और उनके ७९ प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता साबरमती आश्रम से समुद्रतट की ओर चल पड़े। दो सौ मील की लम्बी यात्रा पैदल चल कर २४ दिनो मे तय की गई। बल्लभभाई-पटेल आगे आगे चले और उन्होने जॉन दि बैपटिस्ट (John the Baptist) की तरह मसीहा के आगमन के लिये लोगो को तय्यार किया। इस महान् यात्रा के मार्ग में ग्राम वासियो ने सहस्रो की सँख्या मे महात्मा गाधी का अभिनन्दन किया, महात्मा गांधी ने उन्हे आत्मबलिदान और अहिंसा का उपदेश दिया। "लोगो ने ज्यो ज्यों दिन प्रति दिन कूच करती हुई तीर्थयात्रियो की इस प्रगति को देखा, त्यो त्यो देश का तापमान ऊचा चढ़ता गया।"* देशभक्ति की ज्वाला पूरे प्रकाश के साथ प्रज्ज्वलित हुई और उसने जनता को मातृभूमि की मुक्ति के एक महान् सग्राम के लिए प्रस्तुत कर दिया। ६ अप्रैल को प्रात काल की प्रार्थना के बाद महात्मा गाधी ने समुद्रतट पर नमक बीन कर नमक कानून भग किया।

सविनय अवज्ञा का कार्यक्रम

यह भारत के विभिन्न भागो मे विशाल पैमाने पर सविनय अवज्ञा के शुरू हो जाने का सकेत-चिन्ह था। ६ अप्रैल को महात्मा गाधी ने आदोलन के लिए निम्न कार्यक्रम निर्धारित किया। "गाव गाव को नमक बीनने के लिए निकल पडना चाहिए। बहनो को शराब, अफीम और विदेशी कपडे की दुकानो पर धरना देना चाहिए। विदेशी वस्त्र को जला देना चाहिये। हिन्दुओं को अस्पृश्यता त्याग देनी चाहिये। विद्यार्थी सरकारी मदरसे छोड दें और सरकारी नौकर अपनी नौकरी से त्यागपत्र दे दें।" ४ मई को महात्मा गाधी की गिरफ्तारी के बाद करबन्दी को भी कार्यक्रम में जोड दिया गया।

शीघ्र ही आन्दोलन पूरे जोर में आ गया। इस महीने के भीतर ही भीतर २०० से अधिक पटेलो और पटवारियों ने अपनी नौकरी छोड़ दी। बहुत से सदस्यों में

* जवाहर लाल नेहरू : आउटोबायग्राफी; पृ. २१०।

आन्दोलन पूरे जोरों में

विधान मंडलों से और कई सरकारी नौकरों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिए। हजारों लोगों ने नमक-कानून भंग किया। धारासना में २५०० स्वयसेवको ने नमक के गोदाम पर चढ़ाई की और पाशविक लाठी-प्रहार के शिकार हुए। "जमीन, पीड़ा से कराहते हुए आदमियोसे पट गई थी। किसी का कधा टूट गया था और किसी की खोपडी। लोगों के सफेद कपडे खून से तर थे।" ३०० से अधिक व्यक्ति अस्पताल ले जाये गये और दो मर गये। लेकिन एक व्यक्ति ने भी वार तक बचाने के लिये अपनी भुजा नही उठाई। सविनय अवज्ञा आंदोलन के कार्यक्रम में विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार सबसे आगे रहा और उसने महान् सफलता प्राप्त की। एच. एन. ब्रेल्सफोर्ड के अनुसार '१९३० की शरद् तक कपास के कपडों का आयात पूर्व वर्ष के इन्हीं महीनों के आयात की तुलना में तिहाई या चौथाई के बीच रह गया था। बम्बई मे अंग्रेज व्यवसाइयों की सोलह मिलें बन्द हो गई थीं और बत्तीस हजार मजदूर बेरोजगार थे। इसके विपरीत भारतीय व्यवसाइयों की मिलें दुगनी गति से काम कर रही थी।"† मदिरा बहिष्कार के कार्यक्रम को पिकेटिंग और प्रचार के द्वारा भी दृढ किया गया। इस आन्दोलन की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि भारतीय स्त्रियों ने अपने सकोच को त्याग कर स्वातत्र्य योद्धाओ के साथ मिल कर काम किया। दिल्ली मे लगभग १६०० महिलाए शराब की दुकानों पर धरना देने के अपराध में गिरफ्तार की गईं। किसानों में भी हलचल मच गई थी। गुजरात, मद्रास, पजाब और बाद मे यू. पी के भागों में वन-कानूनों के बहिष्कार और करबन्दी के आदोलन का खूब प्रचार हुआ। जवाहर-लाल नेहरू ने इस बात का समर्थन किया कि करबन्दी आदोलन का सम्पूर्ण देश में संगठन होना चाहिए। लेकिन "कांग्रेस का सम्पत्तिशाली तत्व इसके विरुद्ध था।"* भारत के अधिकाश मुसलमान इस आदोलन से पृथक् रहे। महात्मा गाधी के उन कतिपय घनिष्टतम मित्रो ने, जो खिलाफत आन्दोलन मे उनके साथ रहे थे उनकी नीति का विरोध किया। मि. जिन्ना का कथन था "हम मि. गांधी के साथ शामिल होने से इनकार करते हैं क्योकि उनका आन्दोलन भारत की पूर्ण स्वतंत्रता के लिये नहीं, अपितु भारत के ७ करोड़ मुसलमानो को हिन्दू-महासभा के आश्रित बना देने के लिये है"‡ लेकिन मुस्लिम लीग और नौकरशाही के गठबन्धन के बावजूद भी, जिन देशभक्त मुसलमानो ने कांग्रेस के ध्वज के नीचे खड़े

सविनय अवज्ञा और भारतीय मुसलमान

---

† एच. एन. ब्रेल्सफोर्ड - रेबेल इंडिया, पृ० २६।

* पोलक: महात्मा गांधी, पृ. १७६

‡ कूपलैण्ड: इंडिया, ए रिस्टेटमेंट, पृ.११८-१६।

होकर, इस आन्दोलन में भाग लिया, उनकी संख्या कम महत्वपूर्ण नहीं थी। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में खुदाई खिदमतगारों ने राष्ट्रवादी शक्तियों का साथ दिया और पुलिस की नृशंसताओं का हंसते हंसते, आश्चर्यजनक सहनशीलता के साथ सामना किया।

जून १९३० में, भारत में क्रान्ति पूरे जोर के साथ हिलोरें लेरही थी और बहुत से स्थानों में ब्रिटिश शासन-यन्त्र बिल्कुल ठप्प हो गया मालूम होता था। इस काल में बम्बई शहर का शासन-सूत्र ब्रिटिश नौकरशाही के हाथ में नहीं, अपितु कांग्रेस के हाथ में था। सरकार भी निष्क्रिय सरकार का नहीं थी। उसके लिये यह लड़ाई और इस लड़ाई का रवैया दमन-चक्र बिल्कुल अजब था, पहले तो वह एकदम हतप्रभ सी हो गई। लेकिन इसके शीघ्र बाद ही उसने दमन-चक्र को वेगपूर्वक घुमाना शुरू कर दिया। लाठी-प्रहार दिन प्रति दिन की घटना हो गई। १९२१ में ही "कोलोनल जॉनसन ने लाठी-प्रहार की टेकनीक को पूर्ण कर दिया था।"* "पुलिस को इस भयंकर शस्त्र का शरीर के प्राणभूत अंगो पर आघात करनेमें प्रशिक्षित किया गया था।"† अब प्रदर्शनो और सार्वजनिक सभाओ को निर्दयतापूर्वक तितर बितर किया जाने लगा। कभी कभी पुलिस छात्रों का पीछा करती हुई उनके कक्षाओ में घुस जाती थी और उन्हे व उनके अध्यापको को अपनी लाठियों का शिकार बनाती थी। कांग्रेस को अवैध संगठन घोषित कर दिया गया था और दमनचक्र ने एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय में ९०,००० से अधिक सत्याग्रहियो को जेल में ठूंस दिया। महिलाओं के साथ भी किसी प्रकार की नरमी का बर्ताव नही किया जाता था और पुलिस द्वारा स्त्री-कार्यकर्ताओ का पीडन भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास के अत्यन्त काले कारनामों में से एक है। देश को अध्यादेश शासन के आधीन कर दिया गया था और एक के तुरन्त बाद दूसरे दमनमूलक कानूनो का बोलबाला था। करबन्दी आन्दोलन को कुचलने के लिए सरकार ने सम्पत्ति के बलात ग्रहण, हरण और नीलाम का आसरा लिया था। बोरसद में १८ राजनीतिक कैदियों को एक पिंजडे में बन्द कर दिया गया था। पुलिस के जुलुम का फल यह हुआ कि कई गाव बिल्कुल उजड गये।

जैसी कि आशा की जा सकती है, कुछ स्थानों पर जनता ने भी हिंसात्मक कार्यवाहियां कीं। सरकार ने आतंक का दौरदौरा शुरू करने के लिए उनको बहाना बना लिया। शोलापुर में एक उत्तेजित भीड़ ने छः थाने जला दिये और कुछ चौकी-

* पट्टाभि सीतारामय्या; हिस्ट्री ऑफ दि नेशनलिस्ट मूवमेंट इन इंडिया, पृ. ५४।
† पोलकः महात्मा गाँधी, पृ. १७९।

दारों को मार डाला। सगठित कार्यकर्ताओं ने व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त की, लेकिन पुलिस ने पच्चीस आदमियो को गोली से भून कर और सैकडों को घायल करके प्रतिशोध लिया। पेशावर में, अप्रैल १९३० में इससे भी भयकर घटनाएं हुईं। वहां कई प्रदर्शन किए गए, कुछ अवसरो पर पुलिस और लोगों के बीच संघर्ष हो गया। इसके बाद जो अव्यवस्था फैली, उसमें पुलिस ने नगर को छोड दिया और तीन दिनों तक शान्तिपूर्ण व अनुशासित खुदाई खिदमतगारो ने व्यवस्था को कायम रक्खा। चौथे दिन सैनिक दस्तो ने शहर पर पुनः कब्जा कर लिया और दर्जनो खुदाई खिदमतगारो को मशीनगनो से भूशायी कर दिया। इस दौर में एक महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि एक गढवाली प्लेटून ने अपने मुस्लिम देशवासियो के ऊपर गोली चलाने से इन्कार कर दिया।

७३. पहली गोलमेज परिषद (नवम्बर-दिसम्बर १९३०)

इधर सविनय अवज्ञा आन्दोलन जोर पकड रहा था, उधर सरकार ने भारत के नये संविधान के सिद्धान्तों पर विचार करने के लिए एक गोलमेज परिषद का आयोजन किया। परिषद १२ नवम्बर १९३० को सेंट जेम्स प्रासाद, लन्दन में आरम्भ हुई। सम्राट ने उसका उद्घाटन किया। कुल प्रतिनिधि ८९ थे। इनमें से ५७ प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत का प्रतिनिधित्व करते थे तथा १६ प्रतिनिधि भारतीय राज्यों से गये थे। बाकी १६ व्यक्ति ब्रिटिश संसद के सदस्य थे और वे इगलैण्ड के तीनों राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करते थे। भारतीय प्रतिनिधि वायसराय ने चुने हुए थे और वे विभिन्न जातियो, वर्गों और हितो के लिए बोले। "सेंट जेम्स प्रासाद में राजा और अछूत, सिख, मुसलमान, हिन्दू और ईसाई, भूस्वामियो, श्रमिक सघो और वाणिज्य मण्डलो के प्रवक्ता एकत्रित हुए, लेकिन भारतमाता वहा नही थी।"* काग्रेस, जिसके नेता जेल में पडे हुए ब्रिटिश नौकरशाही के आतिथ्य का सुख भोग रहे थे वह इस परिषद मे बिल्कुल अनुपस्थित थी।

प्रतिनिधि

प्रधान मन्त्री मेकडानेल्ड ने उन सिद्धान्तों का निरूपण किया, जिनके आधार पर विचार-विनिमय किया जाना था। नया सविधान संघीय होने को था। ब्रिटिश सरकार ऐसे अनुविहित रक्षा-कवचो के साथ, जिनकी सक्रमणकाल की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गुंजाइश रख ली जाय, प्रान्तो में और केन्द्र में उत्तरदायी शासन की पुनः-स्थापना करने के लिए तय्यार थी। उन्होने इस बात का

परिषद का कार्य

* एच. एन. ब्रेसफोर्ड : सब्जेक्ट इंडिया, पृ. ४६

बिल्कुल उल्लेख नहीं किया कि यह संक्रमणकाल कब तक रहेगा और रक्षा कवचों की बात स्पष्टतः वास्तविक शक्ति को ब्रिटिश हाथों में रखने की एक चाल थी। मि० जयकर और सर तेजबहादुर सप्रू ने औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रश्न उठाया। मि० जयकर ने कहा था "यदि आप भारत को आज औपनिवेशिक स्वराज्य दे दें, तो स्वतन्त्रता की आवाज अपने आप खतम हो जायगी।"† लेकिन अंग्रेज इतना आगे बढ़ने के लिए तय्यार नहीं थे। सघीय सिद्धान्तो को साधारणत: स्वीकार कर लिया गया। राजाओ तक ने एक अखिल भारतीय सघ के विचार का समर्थन किया। सप्रू ने राजाओ की इस नीति का स्वागत किया और आशा प्रकट की कि वे 'हमारे सविधान मे सुस्थिरता रखने वाले तत्व' सिद्ध होगे। मि० जिन्ना और सर मोहम्मद शफी ने, जो मुस्लिम लीग के दो पक्षो का प्रतिनिधित्व करते थे, इस विषय पर सहमति प्रकट की। दूसरे अल्पसख्यक वर्गों ने भी इसका विरोध नही किया।

संघ: उत्तरदायी शासन रक्षा कवच

लेकिन साम्प्रदायिकता की समस्या परिषद की असफलता का कारण सिद्ध हुई। अल्पसख्यक उपसमिति में पुरानी लडाई पुन लडी गई युक्तिया भी वही थी और परिणाम भी वही रहा। लेकिन इस बार एक नई चीज देखने को मिली। दलित वर्गों की ओर से डा० अम्बेदकर ने पृथक् निर्वाचक-मण्डलो की माग की। जहा हिन्दू प्रतिनिधियो ने इस बात की वकालत की कि सब जातियो को भारत की साथ साथ सेवा करने का अवसर मिलना चाहिए, मुस्लिम प्रतिनिधियों ने पृथक् निर्वाचन मण्डलो पर बल दिया। मौलाना मोहम्मद अली ने साम्प्रदायिकता के हाथो को मजबूत किया। उन्होने कहा "मै समान आकार के दो दायरो से सम्बन्ध रखता हू लेकिन उनका केन्द्र एक नही है। एक भारत है और दूसरा मुस्लिम-विश्व। हम राष्ट्रवादी नही, अपितु अति राष्ट्रवादी हैं।"* निर्वाचक मण्डलों की लडाई अनिर्णीत समाप्त हुई। अपने अन्तिम भाषण मे प्रधान मन्त्री मैकडानेल्ड ने कहा कि ब्रिटिश सरकार सघीय योजना को—प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी शासन और केन्द्र में उचित रक्षाकवचो सहित उसकी आशिक पुरःस्थापना को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हैं। जहा तक साम्प्रदायिक वाद-विवाद का सबन्ध हैं, इसे उन्होने "जातियो के ऊपर आपस में ही समझौता करने के लिए" छोड दिया।

निर्वाचक-मण्डलों की लड़ाई

---

† कूपलैण्ड द्वारा उद्धृत - इंडिया, एरिस्टेटमेंट, पृ. १३६

* कूपलैण्ड - इंडियन प्राब्लेम १८३३-१९३५, पृ. १२१

ये ही वे चीजें हैं, जिन्हें कूपलैण्ड ने पहली गोलमेज परिषद की दृष्टव्य सफलता का नाम दिया है। दूसरी ओर सुभाष बोस ने गोलमेज परिषद के कर्तृव्य के प्रति भारत के राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को संक्षेपतः निम्न लिखित शब्दो मे व्यक्त किया है, "परिषद ने भारत को दो कड़वी गोलिया-रक्षाकवच और सत्र प्रदान की। गोलियों को भक्षणीय बनाने के लिए उन्हे 'उत्तरदायित्व' की शक्कर में लपेट दिया गया।*"

शर्करा मंडित गोलियाँ

७४. गांधी-इर्विन समझौता और दूसरी गोलमेज परिषद

पहली गोलमेज परिषद में कांग्रेस की अनुपस्थिति से ब्रिटिश सरकार स्पष्टतः परेशान थी। कांग्रेस के बिना सम्पूर्ण परिषद की स्थिति बिना दूल्हे वाली बारात के तुल्य रही थी। कांग्रेस के साथ समझौते का मार्ग प्रशस्त करने के लिये २५ जून १९३१ को महात्मा गांधी और कार्यसमिति के १९ सदस्यो को बिना शर्त कारागार से मुक्त कर दिया गया। 'शांति स्थापको सप्रू और जयकर के प्रयत्नो के फलस्वरूप महात्मा गाधी और लार्ड इर्विन के बीच एक सम्मेलन हुआ, जो १७ फरवरी से शुरू हुआ व जिसकी चरम परिणति इतिहास में गाधी-इर्विन समझौते के नाम से प्रख्यात है।

कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश सरकार की उत्सुकता

गाधी-इर्विन समझौते पर ५ मार्च १९३१ को हस्ताक्षर हुये। यह समझौता कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने के लिये ब्रिटिश सरकार की उत्सुकता को प्रकट करता था। समझौते की शर्तों के अनुसार वायसराय (१) हिंसात्मक अपराधों के सिद्धदोष कैदियों के सिवाय शेष सब राजनीतिक कैदियो को छोड़ने, (२) जब्त की हुई सम्पत्ति को वापिस करने, (३) समुद्रतट के आसपास निवास करने वाले लोगो को नमक निःशुल्क तय्यार करने या एकत्रित करने की आज्ञा देने और (४) शराब, अफीम व विदेशी कपडो की दुकानो पर शांतिपूर्वक पिकेटिंग करने की आज्ञा देने के लिये सहमत हो गये। कांग्रेस ने अपनी ओर से (१) सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करने (२) पुलिस की ज्यादतियों की निष्पक्ष जाच पड़ताल की अपनी मांग को त्याग देने और (३) भारत के हित में संरक्षणों या रक्षाकवचों सहित उत्तरदायित्व के आधार पर दूसरी गोलमेज परिषद में भाग लेने का वचन दिया।

गाधी-इर्विन समझौते की शर्तें

समझौते के सम्बन्ध में के. एम. मुन्शी ने कहा था कि यह 'भारतीय इतिहास

*सुभाष बोसः इंडियन स्ट्रगल, पृ. २७५।

की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है।" परन्तु यह दृष्टिकोण कांग्रेस के दक्षिण-पक्ष का था। कांग्रेस का वाम-पक्ष समझौते से घोर असंतुष्ट था। उसकी

समझौते के ऊपर प्रतिक्रिया

दृष्टि में यह समझौता साम्राज्यवाद के निकट प्रथम आत्म-समर्पण था। जवाहर लाल नेहरू को 'रक्षा-कवचों' से सम्बद्ध धारा के कारण जिसका वे स्वतन्त्रता के साथ 'बेर केर सग' समझते थे, गम्भीर आघात पहुँचा। एच. मुकर्जी का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि "साम्राज्यवाद ने भारतीय राष्ट्रवाद के साथ संधि तो अवश्य की, लेकिन अपनी शर्तों के ऊपर।" समझौते के सम्बन्ध में उग्रवादियो की उक्त धारणा सर्वथा निराधार नही थी, यह बात 'टाइम्स' की इस टिप्पणी से भी पुष्ट होती है जिसमे कहा गया था कि "इस प्रकार की विजय किसी वायसराय को बहुत कम मिली है।" अत यह स्पष्ट है कि जहा कांग्रेस के दक्षिण-पक्ष ने गाधी-इर्विन समझौते को अपनी विजय समझा, वहा वस्तुत. वह ब्रिटिश कूटनीति की विजय थी। भारतीय युवक सरदार भगतसिंह और उनके साथियो की फासी के ऊपर बहुत क्रुद्ध हुए। महात्मा गाधी उनके लिए सरकार से क्षमा प्राप्त करने मे असफल रहे, इसलिए वे भी युवक वर्ग के रोष-भाजन बने। कुछ स्थानो पर उन्हे काले झण्डे दिखाये गये। कराची अधिवेशन में एक प्रतिनिधि ने तो यहा तक कह दिया कि यदि समझौते के लिए महात्मा गाधी को छोड कर अन्य कोई व्यक्ति उत्तर-दायी होता, तो उसे समुद्र मे फेक दिया जाता। इस सारे

कांग्रेस का दूसरी गोलमेज परिषद में योगदान

विरोधके बावजूद भी महात्मा गाधी के प्रभावशाली व्यक्तित्व तथा दक्षिण पथियो के बहुमत के कारण २५ मार्च १९३१ को कराची-कांग्रेस के अवसर पर इस समझौते को स्वीकार कर लिया गया। फलत दूसरी गोलमेज परिषद मे, जो ७ सितम्बर १९३१ को शुरू हुई, कांग्रेस की ओर से महात्मा गाधी ने भाग लिया। प० मदनमोहन माल-वीय और श्रीमती सरोजिनी नायडू अपनी व्यक्तिगत क्षमता में परिषद में सम्मिलित हुये।

परिषद शुरू होने के कुछ ही समय पूर्व ब्रिटिश राजनीतिक रंगमंच में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। श्रमिक सरकार अपदस्थ हो गई। रैमजे मैकडानेल्ड अब भी प्रधान मन्त्री थे, लेकिन उनके दल ने उनको बदनाम कर दिया था। इस समय वे राष्ट्रीय सरकार के प्रधान थे और अनुदार दल व उदार दल का हाथ उनकी पीठ पर था। सर वेजवुड बेन के स्थान पर सर सैमुअल होर, जो पक्के टोरी थे, भारत-मन्त्री नियुक्त हुए थे।

दूसरी गोलमेज परिषद में महात्मा गाधी कांग्रेस के एकमात्र सरकारी प्रति-

निधि के रूप में सम्मिलित हुए थे, लेकिन उनकी उपस्थिति भी परिषद को सफल नही बना सकी। यह ठीक है कि नये सविधानके कुछ ब्योरे निश्चित कर लिये गये। संघीय न्यायपालिका का ढांचा, सघीय विधानमण्डल का सगठन और भारतीय राज्यों के अखिल भारतीय संघ मे प्रवेशन से सम्बद्ध आदि बाते निश्चित हो गई। महात्मा गाधी ने काग्रेस के राष्ट्रीय स्वरूप का प्रतिपादन किया और 'सुरक्षा बलो व वैदेशिक मामलो के ऊपर पूर्ण नियंत्रण' सहित औपनिवेशिक स्वराज्य की माग की। लेकिन इस माग का कोई विशेष प्रभाव नही हुआ। इसके अलावा साम्प्रदायिक गतिरोध अनिर्णीत ही बना रहा। उन्होने अल्पसख्यक वर्गों के साथ समझौते की बातचीत की, लेकिन साम्प्रदायिक प्रश्न का कोई हल नही निकल सका। १ दिसम्बर १९३१ को परिषद विसर्जित हो गई।

साम्प्रदायिक गतिरोध अनिर्णीत ही रहता है

७५. पुनः सविनय अवज्ञा आंदोलन (१९३२-३४)

महात्मा गाधी इगलैण्ड मे खाली हाथो वापिस आ गये, यद्यपि उन्होने इस बात का दावा किया कि मै "बढी हुई आशा को लेकर लौट रहा हू।" उनकी अनुपस्थिति में भारत मे काग्रेस और सरकार का सन्धिकाल समाप्त होने लगा था। सरकार ने काग्रेस के ऊपर यह दोषारोप लगाया कि उसने यू पी मे किसानो को कर न देने के लिए उत्साहित किया है और इस बात की शिकायत की कि पश्चिमोत्तर सीमा प्रात मे खान अब्दुल गफ्फार खा के नेतृत्व मे खुदाई खिदमतगार सविनय अवज्ञा को पुन शुरू करने की तय्यारी कर रहे है। इसके विपरीत काग्रेस ने यह आक्षेप किया कि नौकरशाही ने गांधी-इर्विन समझौते की सब शर्तों का उल्लंघन किया है और पुलिस का दमन-चक्र पूर्ववत् जारी है।

संधिकाल का अन्त

लार्ड इर्विन के उत्तराधिकारी लॉर्ड वैलिंगटन कठोर नीति के विश्वासी थे। उन्होने भारत-राष्ट्र की नवचेतना भग करने के लिए कमर कस ली थी। इगलैण्ड की राष्ट्रीय सरकार के दक्षिण पक्ष ने भी काग्रेस को, जो वैलिंगटन के अनुसार "वैकल्पिक सरकार" होने का अभिनय करती थी, कुचल डालने का निश्चय किया। रोम से आने वाली एक झूठी प्रेस रिपोर्ट से जिसमे कहा गया था कि महात्मा गाधी का सविनय अवज्ञा को पुनः प्रारम्भ करने का इरादा है, सरकार को बहाना मिल गया। २८ दिसम्बर १९३१ को जब महात्मागाधी बबई में उतरे, जवाहरलाल नेहरू, खान बन्धु और दूसरे चोटी के नेता पहले ही जेल मे बद कर दिए गए थे।

लॉर्ड वैलिंगटन की कठोर नीति

महात्मा गांधी ने "बिना किन्हीं शर्तों का समारोप किये" वैलिंगटन से एक इंटरव्यू के लिए प्रार्थना की, लेकिन वैलिंगटन ने इस प्रार्थना को अस्वीकार किया। कांग्रेस कार्य समिति ने सविनय अवज्ञा को पुराने तरीके से पुनः शुरू करने का निश्चय करके, इस चोज का जवाब दिया। ३ जनवरी १९३२ को महात्मा गान्धी ने राष्ट्र का एक 'अग्नि-परीक्षा' का सामना करने के लिये आवाहन किया।

सरकार ने तुरन्त कार्यवाही की। ४ जनवरी को सरदार पटेल व महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिये गए और यरवदा जेल में नजर बन्द कर दिये गए। अध्यादेशों के समूह ने नौकरशाही को विशेष शक्तियो से सज्जित कर दिया। महात्मा गान्धी की गिरफ्तारी सघर्ष के पुनः प्रारम्भ होने का सकेत-चिन्ह था। जवाहर लाल नेहरू के शब्दों मे "इस बार ब्रिटिश सरकार का जो प्रतिरोध किया गया, वह १९३० से महान था।" लेकिन जैसे समय बीतता गया,

आन्दोलन और दमन

आन्दोलन की शक्ति घटती गई। तथापि आन्दोलन १९ मई १९३३ तक चलता रहा, जब तक कि वह महात्मा गान्धी द्वारा बारह सप्ताह के लिए स्थगित न कर दिया गया। सरकार ने महात्मा गान्धी को छोड तो ८ मई को ही दिया था, लेकिन इस समय उनके साम्ने सबसे बडी समस्या अछूतो की और समीपागत साम्प्रदायिक पचाट के द्वारा हिंदू जाति के सभाव्य विघटन की थी। १४ जुलाई १९३३ को जन आन्दोलन रोक दिया गया यद्यपि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा एक वर्ष तक और चलती रही। जनता का उत्साह निश्चित रूप से कम हो गया था और नैतिक पतन के चिन्ह स्पष्ट रूप से दृष्टिगत हो रहे थे। ७ अप्रैल १९३४ को महात्मा गान्धी ने सविनय अवज्ञा समाप्त कर दी। उनके सेनापतित्व के ऊपर पुनः आक्षेप हुए। सुभाष बोस और वी० जी० पटेल ने, जो उस समय यूरोप मे थे, सविनय अवज्ञा के स्थगन को पराजय की स्वीकारोक्ति बताया और कहा कि एक राजनीतिक नेता के रूप में महात्मा गान्धी असफल सिद्ध हुए हैं।* जवाहर लाल नेहरू भी रुष्ट हुए और उन्होंने कांग्रेस नेतृत्व की कटु आलोचना की।

यह स्मर्त्तव्य है कि इस बार आन्दोलन का दमन करने में सरकार ने अभुतपूर्व निर्दयता से काम लिया। चर्चिल तक ने कहा था कि सरकार की दमन नीति ग़दर के बाद से इस बार सबसे कठोर रही थी। काग्रेस और उसके सब सहायक संगठनों पर

---

* आर० पी० दत्त-इंडिया टुडे, पृ. २४२

प्रतिबन्ध लगा दिया गया था व उसकी समस्त सम्पत्ति, बैंक के हिसाब किताब तथा कार्यालयो पर अधिकार कर लिया गया। सरकार ने राष्ट्रवादी समाचार-पत्रों के मुँह पर ताला लगा दिया और कांग्रेस को डाकखाने के उपयोग से वंचित कर दिया। कांग्रेस को हरकारों द्वारा डाक भेजने और गुप्त समाचार पत्र निकालने के भूमिगत तरीको को अपनाना पडा। 'विद्रोही' स्थानो में दण्ड पुलिस और ट्रूपो को तैनात कर दिया गया। सम्पत्ति की जब्ती और सामूहिक जुर्माने नित्य के कार्यक्रम हो गए।

७६. मैकडानेल्ड (साम्प्रदायिक) पंचाट और पूना-समझौता

यह स्मर्तव्य है कि गोलमेज़ परिषद के प्रथम दो अधिवेशन साम्प्रदायिक समस्या के गतिरोध को दूर करने मे असमर्थ रहे थे। एडवर्ड थामसन के अनुसार यह मुख्यत समझौते का तीव्र विरोध करने वाले मुसलमानो तथा कुछ विशेष अलोकतत्रवादी ब्रिटिश राजनैतिक क्षेत्रो का अभिसन्धि का प्रमाण था।* तथापि द्वितीय गोलमेज़ परिषद के अन्त मे मैकडानेल्ड ने प्रतिनिधियो से कह दिया था कि साम्प्रदायिक समस्या का समाधान मुख्यत. तो सम्बद्ध जातियों के ही ऊपर निर्भर है लेकिन "ब्रिटिश सरकार इस बात के लिए कृतसकल्प है कि यह बाधा भी उन्नति के मार्ग मे बाधक नही बनने दी जायगी।" उन्होने इस बात की घोषणा की थी कि "यदि कोई सर्वसम्मत हल सामने नही आया तो ब्रिटिश सरकार को अपनी काम चलाऊ योजना लागू करनी पडेगी।" साप्रदायिक अथवा मैकडानेल्ड पचाट जो ८ अगस्त १९३२ को प्रकाशित हुआ, इसी का परिणाम था। इसके साथ ही साथ यह भी घोषणा कर दी गई थी कि "यदि सरकार को यह विश्वास हो जायगा कि विभिन्न साप्रदायो को एक वैकल्पिक योजना स्वीकार है तो वह ब्रिटिश ससद से सिफारिश करेगी कि साप्रदायिक पचाट मे रखी गई योजना के बदले में नई योजना स्वीकार कर ली जाय।"†

पंचाट की पृष्ठ भूमि

पचाट ने विशेष हितों और अल्पसंख्यक वर्गों के लिए और बंगाल व पजाब मे मुसलमानो के लिए, यद्यपि वे इन प्रान्तो में जनसख्या की दृष्टि से बहुमत में थे, पृथक् निर्वाचन पद्धति को पूर्ववत कायम रक्खा। पंचाट में दो अन्य विलक्ष-

* डा० राजेन्द्र प्रसाद द्वारा खंडित भारत में उद्धृत, पृ. २०७

† राजेन्द्र प्रसाद वही पृ. २०८-२०९

णताएं भी थी। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के विधान मण्डलके सिवाय प्रत्येक प्रान्तीय विधान मण्डल में ३ प्रतिशत स्थान, जिन्हें विभिन्न साम्प्रदायो में बांट दिया गया था, स्त्रियो के लिए सुरक्षित रक्खे गये। पचाट में 'गुरुभार' भी था, यद्यपि उसे अत्यन्त विषम रीति से वितरित किया गया था। लेकिन इस योजना की सबसे घातक विशेषता यह थी कि दलित वर्गों को एक विशिष्ट अल्पसख्यक वर्ग के रूप में मान्य किया गया और उन्हे पृथक् निर्वाचन पद्धति द्वारा अपने प्रतिनिधि चुनने का व 'साधारण' निर्वाचन क्षेत्रो में एक अतिरिक्त मत का अधिकार दिया गया। सांप्रदायिक पचाट भारतीय राष्ट्रवाद के बल को निर्बल करने के लिए भारत के सम्प्रदायगत व वर्गगत मतभेदों को उत्तेजित करने की परम्परागत ब्रिटिश नीति के अनुरूप ही था। मेहता और पटवर्धन ने लिखा है, "भारत में साम्प्रदायिक क्रियाकलापों का सरक्षण राष्ट्रीय भावना की वृद्धि के साथ साथ हुआ है। १६०९ में निर्वाचक मण्डल को चार साम्प्रदायिक और वर्ग-निर्वाचक मण्डलों में विभाजित किया गया, १९१९ में उसे दस भागों में बाट दिया गया और १६३५ में यह सख्या १७ तक बढा दी गई है।"* यह बात महत्वपूर्ण है कि, "१६१९ में साम्प्रदायिकता का सूत्रपात इसलिए किया गया क्योंकि दो दल इससे सहमत थे। १९३५ में साम्प्रदायिकता को इसलिए बढ़ाया गया क्योंकि हिन्दू और मुसलमान एकमत नही हो सके।"‡

पंचाट की शर्तें

स्पष्ट है कि फूट डालो और राज्य करो की पुरानी नीति, जिसकी एल्फिस्टन मैल्काम और मैटकाफ के जमाने में जोर शोर से घोषणा की जाती थी, अब सूक्ष्मतर प्रादुर्भावों की तलाश करने के लिये विवश हो गई थी। ब्रिटिश कूटनीति ने निरपेक्षता का अभिनय करना सीख लिया था लेकिन इस अभिनय का भौंडापन भी साफ दिखाई देने लगा था।

'निरपेक्ष' ब्रिटिश सरकार अल्पसंख्यक वर्गों और विशेष रूप से मुसलमानों के ऊपर बहुत ही कृपाल थी। पंचाट में हिन्दुओं के साथ बहुत अन्याय किया गया था। पंजाब और बगाल में हिन्दू अल्पमत में थे, वे इस अन्याय के सबसे ज्यादा शिकार हुए। ब्रिटिश-'निष्पक्षता' के कुछ उदाहरण यहां दिए जा सकते हैं। १९३१ की जनगणना के अनुसार बंगाल में मुसलमान कुल जनसंख्याके ५४.८%

ब्रिटिश निष्पक्षता का अद्भुत प्रदर्शन

---

* मेहता और पटवर्धन- दि कम्युनल ट्रायंगल; पृ. १०१

‡ वही, पृ. ७५

और हिन्दू ४४.८ प्रतिशत थे। लेकिन प्रान्तीय विधान मण्डल के २५० स्थानों में से ११९ स्थान मुसलमानों को और ८० स्थान हिन्दुओं को दिए गये। यूरोपीय कुल जनसंख्या के .०१% ही थे लेकिन फिर भी उन्हे २५ स्थान देने के लिये दोनों जातियों को अपना प्राप्य प्रतिनिधित्व उत्सर्ग करना पड़ा, परन्तु विलक्षण बात यह है कि हिन्दुओं से जिस उत्सर्ग की मांग की गई, वह अनुपात की दृष्टि से मुसलमानो से तिगुना था। पंजाब में अल्पसंख्यक वर्गों (हिन्दुओं और सिखों) को 'गुरुभार' उसी माप के अनुसार नहीं दिया गया जिस माप के अनुसार वह मुसलमानो को उन प्रान्तों में, जहा वे अल्पमत में थे, दिया गया था। 'गुरुभार' के मामले में ब्रिटिश निष्पक्षता ने अनोखी रीति से काम किया। पजाब में हिन्दू और सिख तो ब्रिटिश सरकार की कृपाकोर से वंचित रहे, लेकिन भारतीय ईसाइयों, आंग्ल भारतीयों और यूरोपीयों को ब्रिटिश सरकार का भूरिशः अनुग्रह प्राप्त हुआ। उन्हें क्रमात् ३००%, ३०००% और २५०००% गुरुभार मिला। डा० राजेन्द्र प्रसाद ने व्यंग के रूप में लिखा है 'ब्रिटिश सरकार अवश्य ही इस मामले में सर्वथा उदासीन' थी।"*

भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने जहा साम्प्रदायिक पंचाट का साधारणतः खंडन किया, कांग्रेस ने उसके प्रति कुछ विचित्र सा दृष्टिकोण अपनाया। कार्य समिति ने निर्णय किया कि कांग्रेस को न तो इसे स्वीकार ही करना चाहिये और न अस्वीकार ही, यद्यपि अधिकांश सदस्यों के मत में "पंचाट सर्वथा तिरस्कार योग्य था।"‡ पंडित मालवीय और एम. एस अणे इस डावाडोल दृष्टिकोण से अप्रसन्न हुए और उन्होंने पचाट के विरुद्ध लड़ाई जारी रखने के लिये कांग्रेस राष्ट्रवादी दल का निर्माण किया।

कांग्रेस का दृष्टिकोण

लेकिन पंचाट के दलित वर्गों से सम्बन्ध रखने वाला उपबन्ध महात्मा गाधी के लिए असह्य था। इससे उन्हें मर्मान्तिक पीड़ा पहुँची और उन्होंने अपने प्राणो की बाजी लगा कर हिन्दू जाति का विघटन करने की इस अपवित्र चेष्टा को निष्फल करने का निश्चय किया। जिस समय पंचाट प्रकाशित हुआ, वे जेल में थे, उन्होंने आमरण अनशन करने का निश्चय किया। २० सितम्बर १९३२ को महात्मा गान्धी का यह ऐतिहासिक उपवास प्रारम्भ

गान्धी जी का उपवास और पूना-समझौता

* राजेन्द्र प्रसाद, खंडित भारत पृ० २१२।
‡ सुभाष बोस, दि इंडियन स्ट्रगल, पृ. ३७२।

हुआ। डा० अम्बेदकर ने उसे 'राजनीतिक धूर्तता' बताया और बहुतों ने उसकी आलोचना करते हुए कहा कि यह बल-प्रवर्तन का तरीका है। लेकिन इस उपवास का मनोवाछित फल हुआ, इसने हिन्दू जाति का मनोमथन करके रख दिया। पंडित मालवीय, राजेन्द्र प्रसाद और एम. एस. राजा के प्रयत्नो के फलस्वरूप एक समझौता-सूत्र तय्यार किया गया जिसे महात्मा गान्धी ने ससन्तोष स्वीकार किया और जिस पर आवेमन से डा० अम्बेदकर ने भी हस्ताक्षर कर दिये। इस सूत्र के अनुसार 'हरिजनों' (यह शब्द महात्मा गान्धी ने दलित वर्गो के लिये गढा था) को मेकडानेल्ड पंचाट द्वारा दिये गये स्थानों से भी अधिक स्थान दिए गये। लेकिन इन स्थानों के निर्वाचन दो स्तरों में होना निश्चित हुआ अर्थात् प्रारम्भिक निर्वाचन में अछूत पृथक निर्वाचक मडल के आधार पर प्रत्येक स्थान के लिये चार प्रत्याशी चुने लेकिन अंतिम निर्वाचन में सवर्ण हिन्दू और हरिजन सम्मिलित रूप से मतदान दें। इसके अलावा उन साधारण स्थानो के लिये, जो हरिजनो के लिये सुरक्षित नहीं रखे गये थे, हरिजनों को निर्वाचन में एक अतिरिक्त मत दिया गया। यह समझौता, जो पुना-समझौते के नाम से प्रख्यात है, २६ सितम्बर १९३२ को अगीकृत किया गया और उसी दिन महात्मा गान्धी ने अपना उपवास तोड़ा।

७७. तीसरी गोलमेज परिषद

गोलमेज परिषद का तीसरा और अन्तिम अधिवेशन नवम्बर १९३२ में शुरू हुआ और वर्ष समाप्त होन के कुछ दिनो पूर्व समाप्त हुआ। श्रमिक दल ने परिषद से अपना सहयोग खीच लिया था। भारत का प्रतिनिधित्व कट्टर राजभक्तो ने किया था। फलतः यह अधिवेशन प्रतिगामी तत्वो की पूर्ण अधीनता में सम्पन्न हुआ। भारत के नये सविधान के सम्बन्ध में मोटी-मोटी बातें तो पहले ही तय कर ली गई थी, परिषद का मुख्य कार्यक्रम उन्हे पुन. पुष्ट करने और कुछ बातों को सविस्तार निश्चित करने का था।

परिषद का प्रतिगामी स्वरूप

मार्च १९३३ में ब्रिटिश सरकार ने श्वेत पत्र प्रकाशित किया। इस श्वेत पत्र में में कहने को तो गोलमेज परिषद के निष्कर्षों को ही लेखबद्ध किया गया था, लेकिन इन निष्कर्षों में अनुदार दल की आलोचना का सामना करने के लिए महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये गये थे। श्वेत पत्र के प्रस्ताव "इतने प्रतिगामी थे, कि भारत के प्रत्येक प्रगतिशील लोकमत के लिए सर्वथा अस्वीकार्य थे।"† ब्रिटिश संसद के दोनों

श्वेत-पत्र

* सी. वाई. चिन्तामणिः इंडियन पालिटिक्स सिन्स दि म्यूटिनी पृ. १८५।

सदनों की एक सयुक्त प्रवर समिति ने श्वेत-पत्र की योजना का परोक्षण किया। अपनी रिपोर्ट में समिति ने श्वेत-पत्र के प्रस्तावों पर साधारण रूप से अपनी स्वीकृति दे दी। उसने जो थोड़े से सशोधन किए भी, उन्होंने योजना को और खराब कर दिया। उदाहरणार्थ मूलत. सघीय सभा के लिए प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व का प्रस्ताव किया गया था, लेकिन समिति ने उसके लिए परोक्ष निर्वाचनो की सिफारिश की। सँयुक्त सासद समिति ने सवैधानिक योजना को जो अन्तिम रूप दिया यह "सुधार के नाम में उन्मुक्त साम्प्रदायिकता और प्रतीपगमन (Retrogression) था।" इस योजना ने १९३५ के भारत सरकार के अधिनियम का स्वरूप धारण किया। ब्रिटिश ससद ने इसको अगस्त १९३५ में पास किया।

संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट

नया भारत सरकार अधिनियम

सारांश

१९२४ में कारागार से छूटने के पश्चात् महात्मा गाधी सक्रिय राजनीति से दूर रहे थे। १९२७ में काग्रेस के निर्विवाद नेता के रूप मे भारत के राजनीतिक रगमंच पर वे पुन. अवतरित हुये। उस वर्ष नवबर में अनुविहित (साइमन कमीशन) की नियुक्ति की घोषणा की गई। कमीशन के जिम्मे मोंटफोर्ड सुधारो की क्रियान्विति की जाच-पडताल करना और इस बात की कि भारत में उत्तरदायी शासन को बढ़ाया जाय या नही रिपोर्ट करना था। कमीशन ने १९२८ में भारत की यात्रा की।

कमीशन में एक भी भारतीय सदस्य नही था। थोड़े से प्रतिगामियो को छोड़-कर भारतीय लोकमत के सभी वर्गों ने उसका वहिष्कार किया। जिस समय कमी-शन अपने अनुसधान करने मे व्यस्त था, भारत के समस्त राजनीतिक दलो के एक सम्मेलन ने पडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में भारत के नये सविधान का मस-विदा तय्यार करने के लिये एक समिति नियुक्त की। नेहरू रिपोर्ट (१९२८) ने पूर्ण उत्तरदायी शासन सहित औपनिवेशिक स्वराज्य की माग की और पृथक् साम्प्र-दायिक निर्वाचन पद्धति को अस्वीकार कर दिया।

१९२७ में काग्रेस ने पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना लक्ष्य अंगीकृत कर दिया था। १९२८ के अधिवेशन में उसने सरकार को एक अल्टीमेटम दे दिया था। इस अल्टी-मेटम में काग्रेस ने सरकार से यह माग की थी कि वह नेहरू रिपोर्ट में प्रस्तावित

वैधानिक योजना को पूर्णतः स्वीकार कर ले। यदि सरकार ने इस योजना को स्वीकार नही किया, तो काग्रेस औपनिवेशिक स्वराज्य से सहमत होने के अपने पूर्व प्रस्ताव को वापिस ले लेगी। चूकि सरकार ने अक्तूबर १६२६ मे लार्ड इरविन द्वारा की गई एक अस्पष्ट उद्घोषणा के सिवाय इस चेतावनी का और कोई उत्तर नही दिया, अत. काग्रेस ने अपने लाहौर अधिवेशन (दिसम्बर १६२६) में पूर्ण स्वराज्य के लिए सग्राम करने का निश्चय किया और अखिल भारतीय काग्रेस कार्यसमिति को सविनय अवज्ञा शुरू करने का अधिकार दे दिया।

महात्मा गाधी ने अपनी ऐतिहासिक दाण्डी यात्रा के अन्त में नमक-कानून तोड़कर ६ अप्रैल १९३० को सविनय अवज्ञा आन्दोलन का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन ने जनता में अभूतपूर्व उत्साह उत्पन्न किया और नौकरशाही दमनचक्र ने जनता के प्रतिरोध को दृढ से दृढतर ही बनाया।

जिस समय आन्दोलन जोरो से चल रहा था, ब्रिटिश सरकार ने लन्दन में एक गोलमेज परिषद की। इसमें ब्रिटिश भारत, देशी रियासतों और ब्रिटिश ससद के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। परिषद ने भारत के नये सविधान के सिद्धान्तो पर विचार-विनिमय किया। कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने की वाछा से सरकार ने महात्मा गांधी के साथ समझौते की बातचीत शुरू की। गाधी-इर्विन समझौते के फलस्वरूप, जिस पर ५ मार्च १९३१ को हस्ताक्षर हुए, सविनय अवज्ञा आन्दोलन स्थगित कर दिया गया और महात्मा गाधी गोलमेज परिषद के दूसरे अधिवेशन में सम्मिलित हुए। लेकिन उनकी उपस्थिति भी साम्प्रदायिक गत्यवरोध को दूर करने में असफल रही। यद्यपि परिषद ने नये सविधान के कतिपय मूलभूत पहलुओ को निश्चित कर लिया, लेकिन साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की जटिल समस्या अनिर्णीत बनी रही।

२८ दिसम्बर, १६३१ को महात्मा गाधी भारत वापिस आ गये और शीघ्र ही सविनय अवज्ञा आन्दोलन को पुनः शुरू कर दिया गया। सरकार ने आन्दोलन को कुचल डालने के लिए पाशविक उपायों का आश्रय लिया। अप्रैल १९३४ में आन्दोलन को अंततः बन्द कर दिया गया।

इसी बीच में अगस्त १९३२ में साम्प्रदायिक पंचाट प्रकाशित कर दिया गया था। इसने पृथक् निर्वाचन पद्धति को न केवल मुसलमानों के लिए ही कायम रक्खा अपितु उसे दलित वर्गों के ऊपर भी लागू कर दिया। पंचाट ने दलित वर्गों को एक विशिष्ट अल्पसख्यक वर्ग की मान्यता प्रदान की। हिन्दू जाति को विघटित करने की इस चेष्टा को निष्फल करने के लिए महात्मा गांधी ने आमरण उपवास आरम्भ कर

दिया। फलत. २६ सितम्बर को पूना-समझौता स्वीकार किया गया। इस समझौते में जिस निर्वाचन पद्धति को निर्धारित किया गया, वह पृथक् निर्वाचन-पद्धति और संयुक्त निर्वाचन-पद्धति के बीच का मार्ग थी। इस समझौते ने दलित वर्गों को हिन्दू जाति से अलग होने से रोक दिया।

गोलमेज परिषद के तीसरे अधिवेशन ने उसके प्रारम्भिक अधिवेशनों के कार्य को पूरा कर दिया। मार्च १९३३ में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया जिसमें नये सविधान के प्रस्ताव लेखबद्ध थे। इन प्रस्तावों का एक संयुक्त प्रवर समिति ने निरीक्षण किया और उन्हे ससद ने १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के रूप में पास किया।

अध्याय ११

१९३५ का भारत सरकार अधिनियम

७८. मुख्य विशेषताएं

प्रतिगामी कानून

प्रो० कूपलैण्ड ने १९३५ के अधिनियम को "रचनात्मक राजनीतिक विचार की एक महान् सफलता"* बतलाया है। उनके मत में, "उसने भारत के भाग्य का स्थानांतरण अंग्रेजों के हाथों से भारतीयों के हाथो में सम्भव कर दिया।"* तथापि कोई भारतीय इस दृष्टिकोण को कठिनता से ही स्वीकार कर सकता है। निष्पक्ष ब्रिटिश टीकाकारों तक ने इस बात को नोट किया है कि अधिनियम में डोमीनियन स्टेटस के लक्ष्य की प्राप्ति के सम्बन्ध में कोई चर्चा नही की गई थी।* भारत के लगभग सभी राजनीतिक दलों ने इस आधार पर अधिनियम का तिरष्कार किया कि उसने सम्पूर्ण वास्तविक शक्ति अंग्रेजो के हाथों में रक्खी और वह एक प्रतिगामी कानून था। पं० जवाहर लाल नेहरू ने उसे "दासता का एक चार्टर" बताया। उनके मत में अधिनियम ने ब्रिटिश सत्ता से सचालित हुकूमती ढाचे में हस्तक्षेप करने या सुधार करने के लिए भारतीय जनता के प्रतिनिधियो को कोई रास्ता नहीं छोडा था। "इस एक्ट से ब्रिटिश सरकार की रजवाडो से, जमीदारों से और हिन्दुस्तान की दूसरी प्रतिक्रियावादी जमातो से दोस्ती और भी ज्यादा मजबूत हो गई। पृथक् निर्वाचन पद्धति को इससे बढावा दिया गया और इस तरह अलग होने वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला। इस एक्ट ने ब्रिटिश व्यापार, उद्योग, बैंकिंग और जहाजी व्यापार को, जिनका पहले से ही आधिपत्य था, अब और ज्यादा सुदृढ कर दिया। इस एक्ट में ऐसी धाराएं साफ तौर पर रखदी गईं कि उनकी इस हैसियत

---

* कूपलैंड : इंडिया, ए रिस्टटमेंट, पृ. १५४
* कूपलैंड : दि इंडियन प्राब्लेम १८३३-१९३५ पृ. १४७
* मि० एटली ने कामन-सभा के एक वाद-विवाद में इस आधार पर अधिनियम का विरोध किया था। देखिये कीथ : ए कंस्टीटयूशनल हिस्ट्री आफ इंडिया पृ. ४७०

पर रोक या पाबन्दियां बिल्कुल नही लगाई जा सकती थी।... इस कानून के मुताबिक भारतीय राजस्व, फौज और विदेशी नीति के सारे मामलो में पूरा नियन्त्रण ब्रिटिश हाथों में ज्यो का त्यो बना रहा। इस विधान ने वायसराय को पहले से कही ज्यादा ताकत सौंप दी।"* गवर्नर जेनरल और प्रान्तीय गवर्नरो की स्वेच्छाचारी शक्तिया पूर्ववत् अखड बनी रही। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के इन एजेंटो में निहित स्वविवेकी शक्तियो और विशेष उत्तरदायित्वों ने उत्तरदायी शासन की कथित पुर स्थापना को निरर्थक कर दिया था। सघीय विधान मण्डलों की विधायी सक्षमता को गवर्नर जेनरल की प्रत्यादेशक शक्तियो के द्वारा कठोरतापूर्वक निर्बन्धित कर दिया गया था। विधानमडल राष्ट्र की आय-व्यय को भी नियन्त्रित नही कर सकता था, उस पर पूर्णत गवर्नर जेनरल का अधिकार था, जो भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के प्रति नही, अपितु ब्रिटिश ससद के प्रति उत्तरदायी था।

वास्तविक शक्ति भारतीयों को हस्तान्तरित नहीं की गई

१९३५ के अधिनियम की विलक्षणता इस बात में थी कि उसने एक ऐसे अखिल भारतीय सघ की रचना का प्रस्ताव किया जो कि ब्रिटिश भारत के प्रान्तों और भारतीय राज्यों की एक पर्याप्त सख्या से मिलकर बने। यह उपबन्धित कर दिया गया था कि भारतीय राज्य प्रस्तावित सघ में स्वेच्छा से सम्मिलित होगे। यह ब्रिटिश शासन के अधीन भारत के वैधानिक ढाचे की एकात्मक परम्परा के बिल्कुल विपरीत था और भारतीय रजवाडो व शेष भारत को एक सामान्य प्रशासन के अन्तर्गत लाने का प्रथम प्रयास था। लेकिन प्रस्तावित सघ की योजना सर्वथा अनूठी थी। भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग ने उसको अस्वीकार कर दिया और वह कभी कार्यरूप में परिणत नही हुई।

संघीय आधार

१९३५ के अधिनियम के अनुसार केन्द्र में द्वैधशासन-प्रणाली के अनुसार उत्तरदायी शासन स्थापित होने को था। अधिनियम ने संघीय (केन्द्रीय) शासन के प्रशासनिक क्षेत्र को संरक्षित और हस्तातरित दो भागो में बाटना निश्चित किया था। संरक्षित विषयो का शासन गवर्नर जेनरल कार्यकारिणी-परिषदों की सहायता से अपने विवेक के अनुसार करने को था। संघीय कार्यपालिका का यह भाग संघीय विधानमंडल के नियंत्रण से पूर्णतः बाहर था।

केन्द्र में द्वैध शासन प्रणाली का प्रस्ताव

* जवाहरलाल नेहरू : हिन्दुस्तान की कहानी पृ. ४५५

हस्तांतरित विषयों के शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में गवर्नर जेनरल से यह आशा की जाती थी कि वह साधारणतः संघीय विधानमंडल के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी मंत्रियों की मंत्रणा के अनुसार कार्य करेगा।

प्रान्तीय स्वायत्तता

इसके साथ ही साथ अधिनियम ने प्रांतों में द्वैध शासन प्रणाली को समाप्त कर दिया और उसके स्थान पर प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना की। सरक्षित और हस्तान्तरित विभागो के भेद को दूर कर दिया और न्यूनाधिक रूप से सम्पूर्ण प्रान्तीय प्रशासन उत्तरदायी मन्त्रियों के हाथो में सौंप दिया गया। तथापि प्रान्तो में उत्तरदायी शासन न तो जेन्य ही था और न पूर्ण ही। गवर्नरो को ऐसी विशेष शक्तिया दे दी गई थी, जिनसे वे अपने मन्त्रियों के परामर्श का प्रत्यादेश कर सकते थे। प्रान्तीय स्वायत्तता ने प्रान्तो को प्रस्तावित सघ के स्वायत्त एकको का एक नया वैधानिक स्तर भी प्रदान किया। इस चीज को सुनिश्चित करने के लिए शक्तियाँ तीन विशद सूचियो के आधार पर केन्द्र और प्रान्तो के बीच वितरित कर दी गई। तथापि इसने प्रान्तीय क्षेत्र का अतिक्रमण करने को केन्द्रीय सरकार की शक्ति को पूर्णत. समाप्त नही कर दिया। नये सविधान के सघीय आधार को कायम रखने के लिये १९३५ के अधिनियम ने सविधान के निर्वचन और क्षेत्राधिकार सम्बन्धी मतभेदो का निर्णय करने के लिए एक सघीय न्यायालय की स्थापना का भी उपबन्ध किया। यद्यपि १९३५ के अधिनियम मे चित्रित अखिल भारतीय सघ ने तो मूर्त्त रूप धारण नही किया, परन्तु सघीय न्यायालय का १ अक्टूबर १९३७ को उद्घाटन कर दिया गया।

संघीय न्यायालय

७९. रक्षा-कवच और संरक्षण

रक्षा-कवचों की प्रकृति

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम का सर्वाधिक विवादास्पद पहलू उन रक्षा-कवचो और सरक्षणो में विद्यमान था, जिसका उसने उपबन्ध किया था। भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने उनका विरोध किया क्योंकि वे लोकतन्त्र की भावना के विरुद्ध थे और उनका उद्देश्य गवर्नर जेनरल व प्रान्तीय गवर्नरों के हाथों में ऐसी विशाल शक्तियाँ देकर, जिनका वे इच्छानुसार प्रयोग कर सकते थे, भारत में ब्रिटिश साम्राज्यशाही की जड़ों को मजबूत करना था। अधिनियम के अधीन प्रस्तावित सघ इतना प्रतिगामी था कि यदि कही वह मूर्त्तरूप धारण कर लेता तो उन अनुदार तत्वों व न्यस्त स्वार्थों का गढ़ बन जाता जिनको ब्रिटिश अधिकारी इच्छानुसार

अपनी स्वार्थपूर्ति का साधन बना सकते थे। लेकिन वे संयोग पर कोई चीज न छोडने के लिये कृतनिश्चय थे और इसलिए ब्रिटिश शक्ति को अखण्ड-अजस्र रखने के उद्देश्य से पग पग पर रक्षा कवचों व सरक्षणो का विधान किया गया। सघीय क्षेत्र में प्रतिरक्षा विदेशी मामलों, जनजाति-क्षेत्रों के प्रशासन और धार्मिक विषयो को उत्तरदायी मन्त्रियो के पर्यवलोकन से बाहर रक्खा गया। ये 'सरक्षित विषय थे और गवर्नर जेनरल को इनका प्रबन्ध मन्त्रियों से मन्त्रणा किये बिना अपने विवेक के अनुसार करना था। सक्षेप में, सेना और वैदेशिक नीति का नियन्त्रण पूर्णत: ब्रिटिश हाथो मे रहा। वित्त के सम्बन्ध में भी यही बात थी। केन्द्र में भी और प्रान्तोंमे भी। यह ठीक है कि इस विषय को एक उत्तरदायी मन्त्री की अधीनता में रक्खा गया था लेकिन वास्तविकता यह है कि व्यय पर उसका अथवा विधानमण्डल का कोई नियन्त्रण नही था। इस प्रकार भारत की करेंसी और मुद्रा सम्बन्धी नीति का प्रबन्ध रिज़र्व बैंक के गवर्नर के द्वारा होने को था जो विधानमण्डल के प्रति नही, अपितु गवर्नर जेनरल के प्रति उत्तरदायी था। गवर्नर जेनरल वित्त-मन्त्री द्वारा प्रस्तावित किन्ही भी विधेयको के ऊपर अपने निषेधाधिकारो का प्रयोग कर सकता था। भारत की आर्थिक स्थिरता और साख को कायम रखना गवर्नर जेनरल के "विशेष उत्तरदायित्वों" में से एक था।

केन्द्र में संरक्षण

वित्त

रक्षा-कवचों का उद्देश्य गवर्नर जेनरल और प्रांतीय गवर्नरो को एक ऐसी शक्ति प्रदान करना था, जिससे वे उत्तरदायी मन्त्रियो की इच्छा का अतिक्रमण कर सकें। सरक्षित विषयो के सम्बन्ध में वे मन्त्रियों से मन्त्रणा किये बिना भी कार्य कर सकते थे। दूसरे विषयो के सम्बन्ध में उनसे यह आशा की जाती थी कि वे साधारण परिस्थितियों में मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करेंगे। लेकिन यदि वे समझते कि अमुक विषय में उनका कोई विशेष उत्तरदायित्व अन्तर्ग्रस्त हैं तो उस स्थिति में वे अपने विशेष अधिकार का प्रयोग कर सकते थे। ये विशेष उत्तरदायित्व मुख्य रूप से निम्नलिखित थे — (१) भारतवर्ष (अथवा गवर्नर की स्थिति में प्रात) की शाति भंग करने वाले खतरों का निवारण, (२) अल्पसंख्यक वर्गों के उचित अधिकारो और हितों की रक्षा करना, (३) लोक-सेवाओ के सदस्यो के अधिकारों का रक्षण, (४) भारतीय राज्यों के अधिकारों और शासकों की मर्यादा की रक्षा करना और (५) ब्रिटिश व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद का निवारण। इस प्रकार गवर्नर जेनरल और गवर्नरों को अल्पसंख्यक वर्गों, भारतीय राज्यों

विशेष उत्तरदायित्व और व्यक्तिगत निर्णय

के शासकों, लोक-सेवाओं के सदस्यों व ब्रिटिश व्यापारियों का अभिभावक बना दिया गया। जब कभी वे समझते कि उत्तरदायी मन्त्रियो द्वारा सुझाई गई नीति इनके ऊपर प्रतिकूल प्रभाव डालेगी, वे व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार काम कर सकते थे। इस स्थिति में उन्हें मन्त्रियो से मन्त्रणा तो करनी पडती थी, पर वे उनके परामर्श को मानने के लिये बाध्य नही थे।

यह स्पष्ट है कि गवर्नर जेनरल और गवर्नरों में निहित विशेष शक्तिया और उत्तरदायित्व उत्तरदायी शासन के सर्वथा प्रतिकूल थे। जेन्य उत्तरदायी शासन-प्रणाली के अधीन वास्तविक शक्ति मन्त्रियों के पास रहती है और ये मन्त्री विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। १९३५ के अधिनियम के अधीन इसका उपबन्ध नही किया गया। उसने गवर्नर जेनरल अथवा प्रातो के गवर्नरो को वैधानिक शासक नही बनाया। इसके विपरीत, रक्षा-कवचो ने उन्हे स्वेच्छाचारी बना दिया। इन रक्षा-कवचो का लक्ष्य भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद को अजेय बनाना तथा उसके पृष्ठपोषको, प्रतिगामी तत्वो व न्यस्त स्वार्थों को मजबूत करना था। उन्होंने असली ताकत अंग्रेजों के हाथो में रहने दी और भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधियो के हाथो मे बहुत कम शक्ति छोड़ी। दूसरे शब्दो में वे प्रगति और लोकतन्त्र के पैरो में बेडिया थे।

रक्षा-कवच उत्तरदायी शासन के प्रतिकूल थे और उनका उद्देश्य विदेशी शासन को कायम रखना व न्यस्त स्वार्थों की रक्षा करना था

अखिल भारतीय संघ

८०. प्रस्तावित संघ

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं १९३५ के अधिनियम ने एक संघीय संविधान की योजना प्रदान की। उसने ब्रिटिश भारत के प्रांतों और भारतीय राज्यो की एक निश्चित संख्या के मिलने से बनने वाले एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया। भारतीय लोकमत इस प्रकार के संघवाद के विरुद्ध नहीं था। इसके विपरीत, साधारणत: यह अनुभव किया जाता था कि भारत जैसे एक विशाल उप-महाद्वीप में, जहा भाषा, संस्कृति तथा आर्थिक परिस्थितियों की पर्याप्त विभिन्नताएँ विद्यमान हों, संघीय शासन प्रणाली स्वाभाविक है। लेकिन १९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित संघीय योजना भारतीय लोकमत के किसी वर्ग में रंचमात्र भी उत्साह पैदा करने में सफल नहीं हुई। चारों ओर से उसका तिरस्कार

भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग द्वारा तिरस्कृत

हुआ और "इसके पूर्व कि कार्यरूप में उसकी परीक्षा की जाती, वह समाप्त हो गया।" कांग्रेस ने उसका समूल रूप से विरोध किया। मुस्लिम लीग ने कहा कि अधिनियम का सघीय भाग "मूलतः खराब और पूर्णतः अस्वीकार्य" था। और तो और देशी रजवाडो तक का, जिन्हें कि विशेषाधिकारों से युक्त स्थिति प्रदान की गई थी, वह उत्साह ठंडा पड गया, जो उन्होंने एक समय अखिल भारतीय संघ के लिए प्रकट किया था।

संघीय विशेषताएं

तथापि, प्रस्तावित योजना में संघवाद की प्रायिक विशेषताएँ विद्यमान थी। संविधान एक लिखित प्रलेख था और उसने संघ और उसके एककों में शक्तियों का वितरण विशद रूप से कर दिया था। एक संघीय न्यायालय भी था जिसका कर्तव्य यह देखना था कि केन्द्र, स्थानीय सरकारे और विधानमण्डल अपनी अपनी मर्यादाओं का उचित रूप से पालन करें। प्रस्तावित भारतीय संघ में कई नियमबाह्य विशेषताए भी थी। उसकी एक विलक्षणता उसकी रचना की प्रक्रिया में ही थी। साधारणतः कोई संघ उन राज्यो के, जो पहले स्वतन्त्र और प्रभुत्व-सम्पन्न रहे हो, एकीकरण से उत्पन्न होता है। ये राज्य कतिपय सामान्य उद्देश्यो की सिद्धि के लिए आपस में सुगठित होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका का जन्म इसी प्रकार उन तेरह उपनिवेशो के एकीकरण से हुआ था, जिन्होंने पहले पूर्ण प्रभुत्व-शक्ति को हस्तगत कर लिया था। कनाडा और आस्ट्रेलिया के संघो की रचना भी इसी प्रक्रिया के अनुसार हुई, इसके विपरीत भारत में संघ का जन्म उन प्रांतों को स्वायत्तता देने से होने को था, जो एक एकात्मक राज्य के अधीनस्थ विभाग थे। इन स्वायत्त प्रांतो के साथ वे भारतीय राज्य मिलने को थे, जो अपन भाग्य को संघ के साथ जोडना पसन्द करते।

संघ के निर्माण की असाधारण प्रक्रिया

एककों में कोई एकरूपता नहीं: राज्यों की स्थिति

प्रस्तावित भारतीय सघ का सबसे बुरा पहलू भारतीय राज्यों को दी गई स्थिति था। सघ के एककों में किसी प्रकार की एकरूपता नही थी। यदि प्रान्तों में अर्द्ध लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली प्रचलित थी, तो देशी राज्य, जहां स्वेच्छाचारी नरेश जनता को दासता में रखते थे, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के मित्र थे। इस प्रकार अखिल भारतीय संघ अंशतः लोकतन्त्रात्मक प्रान्तों व स्वेच्छाचारी ढंग से शासित राज्यों का एक अस्वाभाविक गठबन्धन होने

को था। इस प्रकार की स्थिति और किसी संघ में नहीं पाई जाती। उदाहरणार्थ अमेरिका के समस्त राज्यों और स्विटजरलेंड के समस्त कैण्टनों में एक सी ही शासन प्रणाली प्रचलित है।

इसके अलावा, जहां ब्रिटिश भारत के प्रान्त प्रस्तावित संघ के स्वतः ही एकक बनने को थे, भारतीय राज्यों का प्रवेश उनके शासकों के निर्णय के ऊपर छोड़ दिया गया था जो इस बात का भी निश्चय करने को थे कि उनके राज्यक्षेत्रों के भीतर संघीय सरकार किन शक्तियो का उपभोग करेगी। समस्त प्रान्तो के सम्बन्ध में संघीय सरकार की शक्तियां एक सी रखी गई थी, लेकिन प्रत्येक राज्य के सम्बन्ध में वे उसके शासक द्वारा प्रयुक्त प्रवेश पत्र पर निर्भर रहने को थी। यह एक दूसरी अभूतपूर्व असगति थी।

संघीय सरकार की शक्तियां समस्त एककों के सम्बन्ध में समान नहीं

राज्यो को सघीय विधान मण्डल मे अनुचित रूप से भारी प्रतिनिधित्व दे दिया गया था। अधिकाश सघो मे, सघीय विधान मण्डल के उच्च सदन मे अवयवी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है और इस प्रकार उनकी कानूनी असमानता की रक्षा की जाती है। प्रस्तावित भारतीय सघ मे एकको को कानूनी समानता प्राप्त नही होने को थी। उन्हे मोटे तौर पर अपनी जनसख्या के अनुपात मे प्रतिनिधित्व मिलने को था, परन्तु राज्यो के सम्बन्ध में यह बात नहीं थी। उन्हे पर्याप्त गुरुभार दिया गया। राज्यो की जनसख्या भारत की कुल जनसंख्या की केवल २३% थी। लेकिन उन्हें संघीय विधान मडल के निम्न सदन में ३३% और उच्च सदन मे ४०% स्थान दिये गये। यही बात समाप्त नही हो जाती। राज्योके प्रतिनिधि नरेशो द्वारा मनोनीत होने थे। निसर्गतः वे अपने उन स्वामियों के एजेंटों के रूप में कार्य करते, जो स्वयं, "वायसराय और ब्रिटिश सम्राट के अनुशासित दास थे।"* अल्पसंख्यक वर्गों के प्रतिगामी तत्वों के प्रतिनिधियों और जमीदारों व व्यापारियों के प्रतिनिधियो के साथ मिल कर राज्यों का प्रतिनिधित्व-दल संघीय शासन मे राष्ट्रवादी तत्वों के विरुद्ध लोकतंत्र के प्रवर्तन को पराजित कर सकता था। सर सैमुअल होर ने ब्रिटिश संसद में बड़े गर्व से इस बात का बखान किया था कि "उग्रवादियों"

एककों की कानूनी असमानता

राज्यों को भाराक्रान्त प्रतिनिधित्व

राज्यों के प्रतिनिधि शासकों द्वारा मनोनीत होने को थे

* एच. एन. ब्रेल्सफोर्डः सब्जेक्ट इंडिया, पृ. ५०।

को नये अधिनियम के अनुसार सत्तारूढ़ होने से रोकने के लिये प्रत्येक चौकसी से काम लिया गया था। संघ के भारतीय राज्यों की स्थिति की ओर विशेष रूप से दृष्टि-निक्षेप करते हुए प्रो० कीथ ने लिखा है, "भारत के इस आरोप के औचित्य को अस्वीकार करना कठिन है कि संघ ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने के प्रश्न से बच कर निकल जाने की कामना से बनाया जा रहा था।"‡ उन्होंने निष्कर्ष निकाला है कि, "राज्यों और ब्रिटिश भारत के प्रतिगामी तत्वों द्वारा समर्पित गवर्नर जेनरल की नियंत्रक-शक्ति की आरूढता"† के कारण प्रस्तावित संघ की असफलता निश्चितप्राय थी।

संघीय सभा के लिए परोक्ष निर्वाचन

केन्द्रमें क्रान्तिकारी और राष्ट्रवादी तत्वों के प्रभाव को कम करने के लिए यह भी उपबन्धित किया गया कि संघीय विधान मण्डल के निम्न सदन के लिये निर्वाचन परोक्ष रीति से और उच्च सदन के लिये प्रत्यक्ष रीति से होंगे। यह संघीय विधान मण्डल को कमजोर करने की एक और तरकीब थी। वह तो वैसे भी प्रभुत्व-शक्ति विरहित निकाय था, उसकी विधायी और वित्तीय सक्षमता वायसराय की विशेष शक्तियो और ब्रिटिश संसद की अंतिम सत्ता के अधीन थी व उसका प्रतिनिधिक स्वरूप साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक-मंडलो से विषाक्त था।

केन्द्रीय सरकार प्रान्तीय स्वायत्तता में हस्तक्षेप कर सकती थी

१९३५ के अधिनियम ने प्रान्तों को स्वायत्तता प्रदान की और संघीय-प्रान्तीय व समवर्ती सूचियों में सक्तियो का विशद रूप से वितरण कर दिया। फिर भी उसने प्रान्तीय क्षेत्र में संघीय सरकार के हस्तक्षेप के लिए पर्याप्त रास्ते छोड दिये थे। गवर्नर जेनरल आपात की उद्घोषणा निकाल कर संघीय ढाचे को पूर्णतः विनष्ट कर सकता था। पुनश्च, जैसे ही कोई गवर्नर अपने प्रान्त में संविधान के विफल होने की उद्घोषणा कर देता, प्रांत का सम्पूर्ण प्रशासन सीधे केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में आ सकता था। जब कभी प्रांतीय गवर्नर अपने विवेक के अनुसार कार्य करत अथवा व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते, वे गवर्नर जेनरल की सत्ता के अधीन होते थे। इसके अलावा गवर्नर जेनरल १९३५ के अधिनियम धारा १२६ अ के अधीन प्रांतीय

‡ ए. बी. कीथः ए कंस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ. ४७४।
† वही, पृ. ४७४-७५।

सरकारों के लिए ऐसे निर्देश जारी कर सकता था, जिन्हें वह भारत की शान्ति और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझता ।

१९३५ के अधिनियम के अधीन योजित भारतीय सघ की एक अन्य विशेषता अवशिष्ट शक्तियो के उपबन्ध से सम्बन्ध रखती थी । साधारणतः संघीय सविधान इन शक्तियो को या तो केन्द्र को अथवा अवयवी एककों को प्रदान करता है । काग्रेस और मुस्लिम लीग के परस्पर विरोधी दृष्टिकोणो को देखते हुए १९३५ के अधिनियम ने अपने विवेक के अनुसार यह निश्चय करने की शक्ति कि अमुक अवशिष्ट शक्ति केन्द्र को दी जानी चाहिए अथवा प्रान्तों को, गवर्नर जेनरल को दे दी ।

अवशिष्ट शक्तियों का बंटवारा

इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि १९३५ के अधिनियम में प्रस्तावित अखिल भारतीय सघ कोई जेन्य सघ नही था । वह कुछ ऐसी विलक्षणताओ की खिचडी था, जिनकी इतिहास मे कोई सानी नही मिलती । एक ओर तो वह राष्ट्रवाद की बढती हुई शक्तियो को सतुष्ट करने का प्रयास था, दूसरी ओर वह साम्राज्यवाद के पृष्ठपोषको, देशी रजवाडो, साम्प्रदायवादियो और ब्रिटिश औद्योगिक व व्यापारिक हितो की ताकत बढाने का छद्म प्रयत्न था । कहने का सार यह है कि प्रस्तावित सघ भारतीयो की राष्ट्रीय आकाक्षाओं का उत्तर नही, अपितु केन्द्र में उत्तरदायी शासन की अधमनी पुर स्थापना के प्रभाव को कम करने की एक सूक्ष्म चेष्टा थी । अत हम प्रो० के० टी० शाह के शब्दों में कह सकते हैं कि, संघीय योजना के लिए किसी प्रकार का सतोष अनुभव करना कठिन है ।'

जेन्य संघ नहीं

८१. संघीय कार्यपालिका

१९३५ के अधिनियम ने प्रस्तावित सघीय सरकार में उत्तरदायित्व के तत्व का समावेश करने के विचार से द्वैध कार्यपालिका की योजना की । सघीय विषयों को संरक्षित और हस्तातरित दो भागो मे बाट दिया गया । प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले, धार्मिक मामले और कबायली इलाके सरक्षित विषय थे । इन विषयों का प्रवन्ध करने में गवर्नर जेनरल मत्रियों से परामर्श किए बिना अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था । तथापि तीन कार्यकारी पारिषद, जो पदेन, मतदान के अधिकार के बिना संघीय विधान मण्डल के दोनों सदनों के सदस्य होने को थे, गवर्नर जेनरल को सहा-

द्वैध शासन-प्रणाली

(क) गवर्नर जेनरल और पारिषद

यता देने के लिये थे। संघीय कार्यपालिका का यह भाग अर्थात् परिषद संघीय विधानमण्डल के प्रति किसी प्रकार उत्तरदायी नही था।

चार संरक्षित विषयो को छोड कर संघीय प्रशासन के शेष सब विषय मन्त्रीय उत्तरदायित्व के क्षेत्र में आते थे। इन विषयों का शासन प्रबन्ध गवर्नर जेनरल एक मन्त्रिपरिषद की सहायता और मन्त्रणा से करने को था। मन्त्री अनुदेश-पत्र में निर्धारित उपबन्धों के अनुसार गवर्नर जेनरल के द्वारा नियुक्त किये जाने को थे। उसे उस दल के नेता को जिसका संघीय विधानमण्डल में बहुमत होता प्रधान मन्त्री चुनना था और प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर दूसरे मन्त्रियों को नियुक्त करना था। मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से संघीय विधानमण्डल के दोनो सदनो के प्रति उत्तरदायी थी यद्यपि इस उत्तरदायित्व को एक कानूनी दायित्व नही बना दिया गया। मन्त्रिपरिषद की कार्यपालिका-सत्ता में समस्त हस्तातरित विषय आ जाते थे। इन विषयो का शासन प्रबन्ध करने मे गवर्नर जेनरल से साधारणत यह आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा लेकिन १६३५ के अधि-

(ख) गवर्नर जेनरल और मंत्रिपरिषद

नियम ने मन्त्रीय क्षेत्र तक में गवर्नर जेनरल को वैधानिक प्रधान नही बनाया। इसके विपरीत उसने उसे निम्न विशेष उत्तरदायित्व सौंप दिए (१) भारतवर्ष या उसके किसी भाग में शातिभग करने वाले खतरो का निवारण, (२) संघ सरकार की आर्थिक स्थिरता और साख सुरक्षित रखना, (३) अल्पसख्यक वर्गों के उचित हितो की रक्षा करना, (४) लोक-सेवाओं के सदस्यो के कानूनी अधिकारों और उचित हितो की रक्षा करना, (५) देशी राज्यो के अधिकारों और उनके नरेशों की मर्यादा की रक्षा करना, (६) ब्रिटिश व्यापारिक हितों के विरुद्ध विभेद का निवारण, और (७) इस बात का प्रबन्ध करना कि अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय द्वारा किये जाने वाले कार्यों के सम्पादन में किसी अन्य विषय सम्बन्धी कार्य से कुछ बाधा न पडे। जब कभी गवर्नर जेनरल यह समझता कि मन्त्रियों द्वारा दिये गये परामर्श से उनके इन उत्तरदायित्वो मे से किसी के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ने की सम्भावना है, उस समय वह मन्त्रियों के परामर्श की उपेक्षा करके अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था। गवर्नर जेनरल के विशेष उत्तरदायित्व खाली कागजी रक्षा कवच ही नही थे। उनका मन्तव्य उत्तरदायी शासन को भ्रष्ट करना था। प्रो० कीथ के मतानुसार यदि उनका निर्वचन सकुचित रीति से किया जाता, तो वे मन्त्रीय उत्तरदायित्व की सम्भावना को नष्ट कर सकते थे।

गवर्नर जेनरल के विशेष उत्तरदायित्व

गवर्नर जेनरल और बहुत सी दूसरी स्वविवेकी तथा विशेष शक्तियों का प्रयोग

करता था। कार्यकारी क्षेत्र में वह लोक सेवा आयोग के सदस्यों व अध्यक्ष को और अजमेर मारवाड़, कुर्ग तथा बिलोचिस्तान के चीफ कमिश्नरों को नियुक्त करने में अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था। वित्तीय परामर्शदाता, आडीटर जेनरल, एडवोकेट जेनरल और गवर्नरों की नियुक्ति करने में उसे अपने व्यक्तिगत निर्णय के प्रयोग का अधिकार था। वह रिजर्व बैंक के डायरेक्टरों को नियुक्त करता था।

गवर्नर जेनरल की दूसरी विशेष शक्तियां

अपने विवेक के अनुसार काम करते हुए वह संघीय विधानमण्डल का आवाहन, स्थगन या विघटन कर सकता था, उसके किसी एक या दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता था और उन्हें सन्देश भेज सकता था। संघीय विधान मण्डल द्वारा पास किये गए विधेयक गवर्नर जेनरल की स्वीकृति के बिना कानून नही बन सकते थे। गवर्नर जेनरल को अपने विवेक के अनुसार किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी अनुमति देने या न देने अथवा उसे सम्राट की आज्ञा के लिये रिजर्व रखने का अधिकार था। कतिपय विशेष प्रकार के विधेयक उसकी पूर्व स्वीकृति के बिना विधान मण्डल में पुरःस्थापित नहीं किए जा सकते थे। गवर्नर जेनरल किसी प्रस्ताव को विधानमण्डल में पुनर्विचार के लिए वापिस भेज सकता था और यदि उचित समझता तो विधानमण्डल के विचाराधीन किसी प्रस्ताव पर चल रही बहस को बन्द कर सकता था। अध्यादेश अथवा गवर्नर जेनरल के अधिनियम * जारी करके गवर्नर जेनरल प्रत्यक्ष व्यवस्थापन कर सकता था

व्यवस्थापन के क्षेत्र में गवर्नर जेनरलकी विशेष शक्तियां

---

* अध्यादेश आपात की स्थिति से निबटने के लिए एक स्थायी कानून था। उसकी अवधि साधारणत ६ महीने थी, लेकिन इसे बढाया जा सकता था। इसके विपरीत गवर्नर जेनरल का अधिनियम उसकी अपनी विशेष शक्ति के द्वारा पास किया गया एक स्थाई कानून था। इसका प्रयोजन गवर्नर जेनरल को अपने संरक्षित कृत्यों व विशेष उत्तरदायित्वों का निर्वहन करने मे समर्थ बनाना था। जब कभी उसे प्रतीत होता कि इन प्रयोजन के लिए व्यवस्थापन की आवश्यकता है, वह विधानमण्डल के पास एक सन्देश और अपने मनोवाछित विधेयक का मसविदा भेज सकता था। यदि विधानमण्डल एक महीने के भीतर ही उस विधेयक को अधिनियमित करने में असफल हो जाता, गवर्नर जेनरल विधानमण्डल की स्वीकृति के बिना ही, अपने हस्ताक्षरों के द्वारा उसे कानून का रूप दे सकता था।

गवर्नर जेनरल की वित्तीय शक्तियां

वित्तीय क्षेत्र में भी गवर्नर जेनरल को विशेष शक्तियां प्राप्त थी। करारोप और व्यय से सम्बद्ध समस्त प्रस्ताव उसकी सिफारिश पर ही हो सकते थे। कुल व्यय का ८०% भाग मत-निरपेक्ष था। उस पर गवर्नर जेनरल को पूरा नियन्त्रण प्राप्त था। सघीय विधानमण्डल द्वारा अस्वीकृत या कम की गई किसी भी अनुदान माग को वह यथापूर्व स्थापित कर सकता था।

स्पष्ट है कि १९३५ के अधिनियम का उद्देश्य गवर्नर जेनरल को प्रशासन का केन्द्र बनाना था ; भारत की प्रतिरक्षा और वैदेशिक नीति के निर्द्वन्द्व नियन्त्रण के अलावा, उसकी विशाल स्वविवेकी शक्तियो और विशेष उत्तरदायित्वो ने उसे एक शक्तिशाली स्वेच्छाचारी शासक बना दिया था। विंस्टन चर्चिल के शब्दो मे वह "हिट-लर अथवा मुसोलिनी की समस्त शक्तियों से सज्जित था। अपनी कलम की एक लकीर के द्वारा वह संविधान को छिन्न भिन्न कर सकता था और किसी भी कानून के पास किए जाने की आज्ञप्ति दे सकता था।"

८२. संघीय विधान मंडल

राज्य परिषद

१९३५ के अधिनियम के अधीन सघीय विधानमण्डल द्विसदनात्मक होने को था। उच्च सदन अथवा राज्य-परिषद के सदस्यो की संख्या २६० निश्चित की गई थी। इनमें १५६ प्रतिनिधि (१५० निर्वाचित और ६ गवर्नर जेनरल द्वारा मनोनीत) ब्रिटिश भारत का प्रतिनिधित्व करने को थे। राज्यो से आने वाले सदस्य, जिनकी संख्या १०४ थी, शासको द्वारा मनोनीत होने को थे। ब्रिटिश भारत के १५० निर्वाचित स्थानों का विभिन्न प्रातों के बीच निम्न प्रकार से वितरण निश्चित हुआ था:—

बगाल	...	२०	उडीसा	...	५
मद्रास	..	२०	पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	...	५
यू. पी.	...	२०	सिंध	...	५
बम्बई	..	१६	बलूचिस्तान	...	१
बिहार	...	१६	दिल्ली	...	१
पजाब	...	१६	अजमेर मारवाड	...	१
सी.पी.और बरार	...	८	कुर्ग	...	१
आसाम	...	५	अ-प्रातीय	...	१०

साम्प्रदायिक आधार पर स्थानो का बटवारा निम्न प्रकार से निश्चित हुआ:—

साधारण	...	७५	सिक्ख	...	४

अनुसूचित जातियां	...	६	यूरोपीयन	...	७
मुस्लिम	...	४९	आंग्ल-भारतीय	...	१
स्त्रियां	...	६	भारतीय ईसाई	...	२

ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डलो के आधार पर प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित होने को थे। मताधिकार संकुचित था और उच्च सम्पत्ति सम्बन्धी अर्हताओं पर आश्रित था। सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत मे मतदाताओ की कुल सख्या १,००,००० के आसपास थी। अधिकाश दूसरे संघों मे संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन परोक्ष रीति से निर्वाचित होते हैं, भारत में इस प्रणाली को नहीं अपनाया गया। यहा सघ के समस्त एककों को समान प्रतिनिधित्व देने के अभिसमय का भी पालन नही किया गया। कूपलैण्ड के मतानुसार यह हिन्दू एकात्मिकता के साथ की गई एक रियायत थी।

राज्य परिषद एक स्थायी निकाय थी, उसका विघटन नही हो सकता था। उसके तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष हट जाने को थे। तथापि, प्रत्येक सदस्य नौ वर्षों के लिए निर्वाचित होने को था।

संघीय सभा

सघीय विधानमण्डल के निम्न सदन का नाम सघीय सभा था। इसके सदस्यों की संख्या ३७५ निश्चित की गई थी। इन स्थानो में १२५ स्थान राज्यो के लिए निस्थापित कर दिये गये थे। ब्रिटिश भारत के २५० स्थानो में से ४ स्थान अ-प्रान्तीय थे और व्यापार, उद्योग तथा श्रम के लिये निश्चित कर दिये गये थे। शेष २४६ विभिन्न प्रान्तों मे निम्न प्रकार से वितरित किये गये थे:—

बंगाल	...	३७	उडीसा	...	५
मद्रास	...	३७	पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत	...	५
यू पी.	...	३७	सिन्ध	...	५
बम्बई	...	३०	बलूचिस्तान	...	१
पंजाब	...	३०	दिल्ली	...	२
बिहार	...	३०	अजमेर-मारवाड	...	१
सी. पी. और बरार	...	१५	कुर्ग	...	१
आसाम	...	१०			

विभिन्न सम्प्रदायों, वर्गों और हितों का प्रतिनिधित्व निम्न प्रकार से होने को था:—

साधारण (जिनमें १९ स्थान अनुसूचित जातियों के लिए शामिल हैं)	१०५	आंग्ल-भारतीय ...	४
मुस्लिम ...	८२	स्त्रियां ...	९
सिक्ख ...	६	व्यापार और उद्योग	११
यूरोपियन ...	८	श्रम ...	१०
आंग्ल ईसाई ...	८	भूस्वामी ...	७

सघीय सभा का कार्यकाल साधारणत पाच वर्ष निश्चित हुआ था, लेकिन इसके पूर्व भी उसका विघटन किया जा सकता था।

संघीय सभा के गठन में एक अपूर्व विशेषता यह थी कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि साम्प्रदायिक आधार पर प्रान्तीय विधान मडलो द्वारा परोक्ष रीति से चुने जाने को थे। इस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम प्रतिनिधि प्रान्तीय विधान सभाओं के क्रमशः हिन्दू और मुस्लिम सदस्यों द्वारा पृथक् पृथक् निर्वाचित किये जाने को थे।

संघीय विधानमण्डल की शक्तियाँ: प्रभुत्व-शक्ति-विरहित निकाय

प्रस्तावित संघीय विधानमडल का स्वरूप अलोकतन्त्रात्मक था और उसकी शक्तियां अत्यन्त सीमित थी। सघीय सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के सम्बन्ध में उसे कानून बनाने की शक्ति प्राप्त थी। यदि गवर्नर जेनरल आपात की उद्घोषणा निकाल देता, तो विधान मडल प्रान्तीय विषयो के सम्बन्ध में भी कानून बना सकता था। लेकिन उसकी विधायिनी सक्षमता के कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। वह किसी भी प्रकार प्रभुत्व शक्ति सम्पन्न विधान मडल नही था। उसे सविधायी शक्तियां प्राप्त नही थी। वह सविधान-अधिनियम में कोई सशोधन नही कर सकता था और न भारत के ऊपर लागू होने वाले ब्रिटिश ससद के अधिनियमो को ही सशोधित अथवा रद कर सकता था। कतिपय विशेष प्रकार के

(क) विधायी

विधेयक गवर्नर जेनरल की पूर्व अनुमति के बिना विधान मण्डल में पुरःस्थापित नही किये जा सकत थे। भारत की शांति और सुव्यवस्था सम्बन्धी अपने विशेष उत्तरदायित्व से सम्बन्ध रखने वाले विधानमडल के विचाराधीन किसी विधेयक पर अथवा उसकी किसी धारा पर गवर्नर जेनरल चलती हुई बहस बन्द कर सकता था। संघीय विधानमंडल द्वारा पास किये गये समस्त प्रस्ताव गवर्नर जेनरल के निषेधाधिकार के अधीन थे। गवर्नर जेनरल सघीय विधान मण्डल की सहमति के बिना आध्यादेश जारी करके और गवर्नर जेनरल के अधिनियम पास करके उसकी इच्छा की

अवहेलना कर सकता था। संघीय विधानमण्डल की वित्तीय शक्तियां भी अत्यन्त परिमित थी। करारोप और व्यय से सम्बन्धित प्रस्ताव केवल गवर्नर जेनरल की सिफारिश पर ही पुरःस्थापित किये जा सकते थे। विधानमण्डल बजट पर (गवर्नर जेनरल के वेतन के सिवाय) वादविवाद कर सकता था, लेकिन व्यय का ८० प्रतिशत से अधिक भाग मत निरपेक्ष था। मत सापेक्ष भाग की स्थिति में भी, गवर्नर जेनरल संघीय विधानमण्डल द्वारा अस्वीकृत या कम की गई किसी अनुदान माग को बहाल कर सकता था।

(ख) वित्तीय

संघीय विधानमण्डल का संघीय कार्यपालिका के ऊपर नियंत्रण केवल उन्ही विषयों तक सीमित था, जो गवर्नर जेनरल की स्वविवेकी शक्तियों और विशेष उत्तरदायित्वो की परिधि में नही आते थे। मन्त्रिपरिषद उसके प्रति उत्तरदायी थी लेकिन गवर्नर जेनरल और उसके पारिषद उसके नियन्त्रण से पूर्णतः विमुक्त थे। तथापि, संघीय विधानमण्डल सरकार की नीतियों और कार्यों की आलोचना कर सकता था तथा जनता की शिकायतों पर विचार-विनिमय कर सकता था। कहने का सार यह है कि १९३५ के अधिनियम के अधीन सघीय विधानमण्डल मुख्यतः एक विचारात्मक निकाय था।

कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण

मुख्यतः एक विचारात्मक निकाय

८३ संघीय न्यायालय

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने एक सघीय न्यायालय की स्थापना का उपबन्ध किया था। १ अक्टूबर, १९३७ को इस न्यायलय का उद्‌घाटन कर दिया गया। न्यायालय एक प्रधान न्यायाधिपति और छ दूसरे न्यायाधीशो से मिल कर बना था। न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा करता था। प्रधान न्यायाधिपति का वेतन ७,००० रुपया प्रति मास और दूसरे प्रत्येक न्यायाधीश का ५,५०० रुपया प्रतिमास था। न्यायाधीश सदाचार पर्यन्त पद धारण करते थे। सेवा-निवृत्ति की अवस्था ६५ वर्ष थी। वे कदाचार और शरीर अथवा मन की दुर्बलता के आधार पर सम्राट के द्वारा अपदस्थ किये जा सकते थे।

न्यायालय का गठन

संघीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार प्रारम्भिक और अपीलीय दोनो प्रकार का था। उसका प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (क) सविधान अधिनियम के निर्वाचन को अन्तर्ग्रस्त करने वाले सभी मामलों में और (ख) भारतीय सघ तथा एक

न्यायालय का क्षेत्राधिकारः प्रारम्भिक

राज्य अथवा एक प्रांत के बीच के, या एक प्रान्त और एक राज्य के बीच के, या दो अथवा अधिक प्रान्तों या राज्यों के बीच के विवादों मे होता था। अपने अपीलीय क्षेत्राधिकार में सघीय न्यायालय प्रान्तों तथा सघातिरेकी राज्यो के उच्च न्यायालयो से अपीले सुन सकता था, यदि वे यह प्रमाणित कर देते कि अपील के अधीन मामले में संविधान अधिनियम या इसके अधीन दिये गये आर्डर इन-कौंसिल या राज्य के प्रवेश-पत्र द्वारा सघ में निहित विधायी अथवा कार्यपालिका-सत्ता के विस्तार के निर्वचन से सम्बद्ध कोई सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। १९४८ में सघीय न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को बढा दिया गया और उसे उच्च न्यायालयो से उन मामलों के सुनने का भी अधिकार दे दिया गया जो ५०,००० से अन्यून की राशि को अन्तर्ग्रस्त करते हैं। सघीय न्यायालय को परामर्शीय क्षेत्राधिकार भी प्राप्त था। गवर्नर जेनरल कानून सम्बन्धी कोई भी महत्वपूर्ण विषय विचारार्थ न्यायालय को सौंप सकता था और उस पर उसकी राय ले सकता था।

(ख) अपीलीय

(ग) परामर्शीय

संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय नही था। उसके निर्णय अतिम नही होते थे और उससे अपीलें निम्न प्रकार के मामलों में प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति के पास भेजी जा सकती थी : (क) वे मामले जो संविधान के अथवा उसके अधीन किए गये आर्डर-इन-कौंसिल के निर्वचन से सम्बन्ध रखते हो; (ख) वे मामले जो राज्य के प्रवेश-पत्र द्वारा सघ में निहित विधायी और कार्यपालिका शक्ति के विस्तार से सम्बन्ध रखते हो और (ग) वे मामले जो राज्य-क्षेत्रों के अन्तर्गत सघीय कानून के प्रवर्तन के लिए किये गये समझौते के निर्वचन से सम्बद्ध रखते हो। इन सब मामलो में सघीय न्यायालय की अनुमति के बिना अपीलें प्रिवी कौंसिल में लें जायी जा सकती थी। इसके अलावा दूसरे मामलों में भी सघीय न्यायालय अथवा स-परिषद गवर्नर जेनरल की अनुमति मिलने पर अपीले प्रिवी कौसिल में की जा सकती थी।

संघीय न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय नहीं था

प्रान्तीय सरकार

८४. प्रान्तीय स्वायत्तता

भारत के लिये सघीय सविधान की रचना करने में १९३५ के अधिनियम ने प्रान्तों को प्रान्तीय स्वायत्तता नामक एक बिल्कुल नया स्टेटस प्रदान किया। अब प्रान्त

सर्व शक्ति सम्पन्न केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक एकक नही रहे। नये संविधान ने उन्हे एक पृथक् कानूनी व्यक्तित्व से आभूषित कर दिया। अपनी मौलिक शक्तिया सीधे सविधान से प्राप्त करने लगे और प्रस्तावित संघ के स्वायत्त एकक हो गए। 'अब केन्द्रीय सरकार के अधीनस्त कई प्रान्त नही रहे, अपितु ग्यारह स्वायत्त राज्य थे। उनकी स्वायत्तता कानून मान्य थी और वे अपने निश्चित क्षेत्र के भीतर अपने निजी अधिकार में कार्यपालिका और विधायिनी शक्तियो का प्रयोग कर सकते थे। केन्द्रीय सरकार को सौंपी गई निरीक्षण और नियत्रण की शक्तियो को बिल्कुल तो नहीं हटाया गया लेकिन उन्हे अत्यन्त सीमित और ठीक ठीक निश्चित अवश्यकर दिया गया।

(क) प्रान्तों का नया स्टेटस

१९३५ के अधिनियम मे भारत सरकार और प्रान्तो के सम्बन्धों को सघीय आधार पर निश्चित किया गया था। अधिनियम में तीन सूचियां थीं। इन सूचियों में इस बात का साफ साफ उल्लेख कर दिया गया था कि क्रमश. केन्द्र और प्रान्तो की प्रशासनिक, विधायिनी और वित्तीय शक्तिया कौन कौन सी हैं। सघीय सूची में वे ५९ विषय थे जिनका प्रबन्ध केवल संघीय सरकार ही कर सकती थी। इस सूची में प्रति-रक्षा, वैदेशिक मामले, चलार्थ व टकण, डाक और तार, ब्राडकास्टिंग, संघीय रेल, बीमा, नमक और आयकर आदि विषय सम्मिलित थे। प्रान्तीय सूची में ५४ विषय थे जिनका प्रबन्ध साधारण परिस्थितियो में केन्द्र के हस्तक्षेप के बिना प्रान्तीय सरकारें कर सकती थी। शाति और सुव्यवस्था, न्याय, पुलिस, जेल, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन और वन आदि विषय इस सूची मे आते थे। समवर्ती सूची में वे ३६ विषय सम्मिलित थे जिनका प्रबन्ध केन्द्र और प्रात दोनो कर सकते थे। लेकिन शर्त यह थी कि संघीय कानून और प्रान्तीय कानून मे मतभेद होने की स्थिति होने में, जब तक कि प्रातीय कानूनो को विचारार्थ संरक्षित न रख लिया गया हो और गवर्नर जेनरल अथवा सम्राट ने उस पर अपनी स्वीकृति न दे दी हो, संघीय कानून अभिभावी होगा। समवर्ती विषयो मे से कुछ निम्न थे-फौजदारी और दीवानी कानून व कार्यवाही, प्रेस, श्रमिक संघ, श्रमिक कल्याण और औद्योगिक झगडे।

तीन सूचियां

यह स्मर्त्तव्य है कि प्रातीय सरकारें अपने निश्चित क्षेत्र मे भी केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण से पूर्णतः स्वतंत्र नही थी। गवर्नर जेनरल अधिनियम की धारा १०२ के अधीन आसन्न युद्ध अथवा भयकर आंतरिक अशान्ति के खतरे को देखते हुये आपात की उद्घोषणा निकाल देता, तो विधान मंडल प्रातीय क्षेत्र का अतिक्रमण कर सकता था। गवर्नर जेनरल उन विधेयकों पर, जिन्हे गवर्नर उसके

प्रान्तों की स्वायत्तता पर प्रतिबन्ध

द्वारा विचारा के लिए संरक्षित रख लेते, अपनी अनुमति देना अस्वीकार कर सकता था। यदि विभाग ९३ के अधीन गवर्नर अपने प्रान्त के भीतर शासन यत्र के विफल हो जाने की उद्घोषण कर देता, तो प्रान्तीय स्वायत्तता के सम्पूर्ण ढाचे को धूलिसात किया जा सकता था। इस उद्घोषण के प्रभावस्वरूप सम्पूर्ण प्रान्तीय प्रशासन को केन्द्र की अधीनता में रक्खा जा सकता था। साधारण परिस्थितियों में भी जब कभी गवर्नर अपने विवेक के अनुसार कार्य करते अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते, गवर्नर जेनरल के नियन्त्रण में होते थे। अन्ततः यदि गवर्नर जेनरल भारत में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के दृष्टिकोण से प्रान्तीय सरकारों के लिये कतिपय निर्देश निकालना आवश्यक समझता, तो १९३५ के अधिनियम की धारा १२६ के अधीन निकाल सकता था।

(ख) प्रान्तों में उत्तरदायी शासन

१९३५ के अधिनियम के अधीन प्रांतीय स्वायत्तता का अभिप्राय प्रांतों के ऊपर केन्द्रीय नियन्त्रण के मर्यादित होने से अधिक था। इसका एक दूसरा अभिप्राय भी था, अर्थात् इसने प्रातो में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना की। रैमजे मैकडॉनेल्ड ने प्रातीय स्वायत्तता के इस दुहरे अर्थ को निम्न शब्दो में व्यक्त किया था, "गवर्नरो के प्रात अपने निजी क्षेत्र मं अपनी नीतियों को कार्यान्वित करने में बाह्य नियन्त्रण और अनुवचन से अधिकतम सभव स्वतत्रता का उपभोग करने वाले उत्तरदायी शासन के अनुसार शासित एकक होने को है। १९१९ के अधिनियम ने द्वैध शासन प्रणाली के रूप में आशिक उत्तरदायित्वकी स्थापना की थी। नये अधिनियम ने दोहरे शासन का अन्त कर दिया। सरक्षित और हस्तातरित विभागों का भेद समाप्त हो गया और प्रातीय प्रशासन का पूरा क्षेत्र प्रातीय विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी एक मन्त्रि-परिषद के जिम्मे आ गया। लेकिन इस उत्तरदायी शासन के ऊपर कई कठोर प्रतिबन्ध थे। जेन्य उत्तरदायी शासन प्रणाली में प्रातीय गवर्नरों को वैधानिक प्रधान होना चाहिये। १९३५ के अधिनियम में ऐसा नही किया गया। गवर्नरों को विपुल स्वविवेकी शक्तियां और ऐसे विशेष उत्तरदायित्व दे दिये गये, जिनका निर्वहन करने में वे मन्त्रियों से परामर्श किये बिना और यदि परामर्श करते भी तो उसे स्वीकार किये बिना, कार्य कर सकते थे।

उत्तरदायी शासन के ऊपर प्रतिबन्ध

ये 'रक्षा-कवच' उत्तरदायी शासन के पैरो मे बेड़ियों के तुल्य थे, यदि गवर्नर इनका बारम्बार और स्वेच्छाचारिता से प्रयोग करते, तो ये उत्तरदायी शासन की नींव तक को भस्मीभूत कर सकते थे। इस प्रकार प्रातीय स्वायत्तता एक भी अर्थ में पूर्ण अथवा प्रतिबन्ध-शून्य नहीं थी।

८५. गवर्नर

१९३५ के अधिनियम ने प्रांत की कार्यपालिका शक्ति गवर्नर में निहित की। गवर्नर सम्राट का प्रतिनिधि होता था। प्रांतों में संघीय सिद्धांत और उत्तरदायी शासन की पुरःस्थापना ने गवर्नर की वैधानिक स्थिति में परिवर्तन कर दिया। जब गवर्नर मन्त्रियों की मन्त्रणा पर कार्य करता था, वह गवर्नर जेनरल के नियन्त्रण से मुक्त होता था, लेकिन जब वह अपने विवेक अथवा व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था, गवर्नर जेनरल के निरीक्षण और नियन्त्रण के अधीन होता था। बम्बई, मद्रास और बंगाल के गवर्नरों को सम्राट भारतमन्त्री की सिफारिश पर नियुक्त करते थे और अन्य प्रांतों के गवर्नरों को वायसराय की सिफारिश पर। उनकी उपलब्धियां,* पदावधि और सेवा की शर्तें वे ही रहीं जो १९१९ के अधिनियम के अधीन थीं। नये अधिनियम ने उनकी राजकीय शानशौकत में किसी प्रकार की कोई कमी न की।

गवर्नर की वैधानिक स्थिति में परिवर्तन

नियुक्तियां और उपलब्धियां आदि

१९३५ के अधिनियम ने प्रांतों में द्वैधशासन प्रणाली का अन्त कर दिया। साधारण परिस्थितियों में गवर्नर से यह आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा का पालन करेगा। लेकिन अधिनियम का उद्देश्य गवर्नर को वैधानिक शासक बनाना नहीं था। अधिनियम ने गवर्नर को इतनी विपुल शक्तियां दे दी थीं कि यदि वह मन चाहे ढंग से उनका प्रयोग करने का हठ करता तो सदैव की भांति ही स्वेच्छाचारी शासक बना रह सकता था। कतिपय मामलों का प्रबन्ध करने में, जिन्हें मन्त्रीय उत्तरदायित्व तथा देखभाल के क्षेत्र से बाहर रखा गया था गवर्नर मन्त्रियों का परामर्श प्राप्त किए बिना ही अपने

गवर्नर की शक्तियां

---

* गवर्नरों के वार्षिक वेतन (रुपयों में) प्रत्येक प्रांत के नाम के आगे नीचे दिए जाते हैं। सजावट, पर्यटन, फर्नीचर, वैयक्तिक स्टाफ और मनोरंजन आदि के भत्ते कोष्ठों में दिए गए हैं। मद्रास १,२०,००० (५,७५,५००), बम्बई १,२०,००० (५,३८,४००), बंगाल १,२०,००० (६,०७,३००), यू.पी. १,२०,०००(२,९७,०००) पंजाब १,००,००० (१,४१,२००), बिहार १,००,००० (१,०८,०००), सी.पी. ७२,००० (१,०७,३००), आसाम ६६,००० (१,४२,१००), पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत ६६,००० (१,१२,८५०), सिन्ध ६६,००० (१,२९,८००), उड़ीसा ६६,००० (१,०३,०००)।

विशेष (स्वविवेकी) शक्तियां

विवेक के अनुसार कार्य कर सकता था। कार्यकारी क्षेत्र में गवर्नर की स्वविवेकी शक्तिया निम्न विषयों से सम्बन्ध रखती थीः—(१) अपवर्जित क्षेत्रो का प्रशासन, (२) मन्त्रियों की नियुक्ति और पदच्युति, * (३) मन्त्रियो के वेतनो को, जब तक कि वे विधानमण्डलो द्वारा निश्चित न कर दिये जायें, निश्चित करना, (४) ऐसी हिंसक और विनाशकर कार्यवाहियो को रोकना, जिनका उद्देश्य शासनयन्त्र को नष्ट-भ्रष्ट करना हो, (५) जासूमी विभाग की सूचनाओ को ऐसे व्यक्तियो को (मन्त्रियों सहित) दिए जाने से रोकना, जिनके लिए उसने आदेश न दिया हो, (६) प्रातीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यो की नियुक्ति, (७) प्रतिरक्षा आदि के सम्बन्ध में गवर्नर जेनरल के निर्देशो को कार्यान्वित करना और (८) अपने व्यक्तिगत कर्मचारी मण्डल को नियुक्त करना और उसका वेतन निश्चित करना।

विधायी क्षेत्र में गवर्नर की स्वविवेकी शक्तिया निम्न विषयो से सम्बन्ध रखती थी (१) प्रान्तीय विधान मण्डल का आवाहन और स्थगन तथा विधान सभा का विघटन, (२) प्रान्तीय विधान मण्डल में कतिपय विशेष प्रकार के विधेयकों की पुरःस्थापना के लिये पूर्व अनुमति देना, (३) किसी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा पर अग्रेतर वाद-विवाद रोक देना, (४) प्रातीय विधान मण्डलों द्वारा पास किये गए विधेयकों पर स्वीकृति देना, निषेधाधिकार का प्रयोग करना अथवा उन्हे गवर्नर जेनरल के विचारार्थ संरक्षित कर लेना तथा (५) अध्यादेश जारी करना और गवर्नर के अधिनियम अधिनियमित करना।

जहां तक वित्तीय क्षेत्र का सम्बन्ध है, गवर्नर इस बात का निश्चय करने में कि कौन सा विषय मत सापेक्ष है और कौन सा नहीं व प्रान्तीय विधान मण्डल द्वारा कम या अस्वीकृत की गई किसी अनुदान माग को यथापूर्व स्थापित करने में अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था।

गवर्नर की जिन स्वविवेकी शक्तियो का ऊपर वर्णन किया गया है, उनके अलावा १९३५ के अधिनियम की धारा ९३ ने गवर्नर को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्वविवेकी शक्ति और प्रदान की थी। अपने विवेक के अनुसार कार्य करते हुए गवर्नर इस बात की उद्घोषणा निकाल सकता था कि प्रान्त में संविधान के उपबन्धो के अनुसार

धारा ९३

* सिन्ध के प्रधान मन्त्री खान बहादुर अल्लाबख्श की पदच्युति ने, जब कि उन्हें प्रांतीय विधानमण्डल का विश्वास प्राप्त था, गवर्नर की पदच्युत करने की शक्ति की वास्तविकता को सिद्ध कर दिया।

शासन सचालित नहीं किया जा सकता । उद्घोषणा निकाल देने पर वह मन्त्रिपरिषद को अपदस्थ कर सकता था, विधान-सभा का विघटन कर सकता था और उच्च न्यायालय के सिवाय प्रान्तीय निकायों की समस्त शक्तियों को अपने हाथ में ले सकता था। नवम्बर १९३९ में जिन प्रान्तों में कांग्रेसी मत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये थे, उनमें इसी उद्घोषणा के अधीन पूर्व नौकरशाही शासन की स्थापना कर दी गई थी।

गवर्नर की स्वविवेकी शक्तियो द्वारा आवृत विषयों को छोड कर बाकी विषय मत्रीय उत्तरदायित्व के क्षेत्र के भीतर आते थे । इन विषयो का प्रबन्ध गवर्नर उत्तरदायी मन्त्रियो की सहायता और मत्रणा से करता था ।

गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व

साधारण परिस्थितियो में गवर्नर से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियो की मत्रणा का पालन करे । लेकिन यहा भी उसके कई ऐसे विशेष उत्तरदायित्व थे, जैसे कि सघीय क्षेत्र मे गवर्नर जेनरल के थे । वे विशेष उत्तरदायित्व मुख्य रूप से निम्न लिखित थे: (१) प्रान्त या उसके किसी भाग में शाति भग करने वाले खतरो का निवारण, (२) अल्पसख्यक वर्गों के उचित हितो, सरकारी नौकरो के कानूनी अधिकारो और उचित हितो तथा देशी राज्यो के अधिकारो और उनके नरेशो की प्रतिष्ठा की रक्षा करना, (३) व्यापारिक विभेद की रोक थाम, (४) आशिक रूप से अपवर्जित क्षेत्रो का प्रशासन और (५) गवर्नर जेनरल के आदेशो और अनुदेशो पर अमल करना जो वे उसके लिए जारी करे । जब कभी गवर्नर को यह अनुभव होता कि मन्त्रियो द्वारा दी गई मन्त्रणा उसके किसी विशेष उत्तरदायित्व पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, तो वह अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य कर सकता था अर्थात् मत्रियो के परामर्श का उल्लघन कर सकता था । इस बात का निर्णय वह अपने व्यक्तिगत विवेक के अनुसार करता था कि उसका कोई विशेष उत्तरदायित्व कब अन्तर्ग्रस्त होता है । इसके अलावा, प्रान्त के एडवोकेट जेनरल को नियुक्त करने में व प्रातीय पुलिस के ऊपर असर डालने वाले नियमों का संशोधन करने में गवर्नर अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करता था ।

प्रान्तीय गवर्नरो की स्वविवेकी शक्तिया व विशेष उत्तरदायित्व उन 'रक्षा कवचों' का निर्माण करते थे, जिनका भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने तीव्र विरोध किया । "शान्ति और सुरक्षा," "अल्पसख्यक वर्गों के उचित अधिकार" जैसे वाक्याश अस्पष्ट थे । इसके अलावा यह बतलाना कि इनका क्या अर्थ है, गवर्नर का काम था । ये वाक्याश ऐसे रास्ते थे, जिनके द्वारा गवर्नर दिन प्रतिदिन के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकता था और उत्तरदायी शासन को उपहास की चीज बना सकता था । अनुभव ने यह दिखा दिया कि इन विशेष शक्तियों के सम्बन्ध में भारत के राष्ट्रवादी लोकमत की यह शंका कि गवर्नर इनका बारम्बार प्रयोग करेंगे, बिल्कुल निराधार नही थी ।

८६.मंत्री परिषद

१९३५ के अधिनियम के अधीन प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना उत्तरदायी शासन प्रणाली की स्थापना की दिशा में एक कदम था। इस प्रकार की शासन प्रणाली के अन्दर कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग वस्तुतः कुछ मन्त्री करते हैं जो विधान मण्डल के बहुमत वाले दल के सदस्य होते हैं। ये मन्त्री अपनी नीतियो और कार्यो के लिये पूर्णतः विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी होते हैं और उसी समय तक सत्तारूढ़ रहते हैं जब तक कि वे विधान मण्डल के विश्वास का उपभोग करते हैं। चूंकि विधान मडल में यदि वह सम्प्रदाय, वर्ग और हित के भेद-भावो से शून्य सार्वभौम वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित हुआ है जनता के प्रतिनिधि हैं, अत मन्त्री अंततोगत्वा स्वय जनता द्वारा नियंत्रित होते हैं। यह वर्णन इगलैण्ड के सासद लोकतत्र के ऊपर लागू होता है। लेकिन १९३५ के अधिनियम द्वारा भारतीय प्रातो मे स्थापित उत्तरदायी शासन दो दृष्टियो से अपूर्ण था । पहली बात तो यह है कि प्रान्तीय विधान मण्डल जो मन्त्रियो पर नियत्रण रखते थे, सत्यत. जनता का प्रतिनिधित्व नही करते थे क्योकि मताधिकार सीमित था और निर्वाचक मडल सम्प्रदायगत और वर्गगत आधार पर छोटे छोटे गुटो में बाट दिये गए थे। दूसरी बात यह है कि एक ओर मत्रियो को तो पूर्णत विधान मण्डलो के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया था, दूसरी ओर उनकी कार्यपालिका-शक्ति को अनुत्तरदायी मत्रियों की विशेष शक्तियो व उत्तरदायित्वो द्वारा परिमित कर दिया गया था।

उत्तरदायी शासन का आधार

भारतीय प्रांतों में उत्तरदायी शासन अपूर्ण था

१९३५ के अधिनियम के अधीन गवर्नर अपने अनुदेश-पत्र में दिए गये निर्देशो के अनुसार मत्रिपरिषद की नियुक्ति करता था। विधानमडल में जिस दल का बहुमत होता था, गवर्नर उसके नेता को आमन्त्रित करके मन्त्रिमंडल की रचना का कार्य उसके जिम्मे सौंप देता था। यह नेता मुख्यमन्त्री बन जाता था। शेष मत्री मुख्य मन्त्री की मन्त्रणा पर गवर्नर द्वारा नियुक्त किये जाते थे। अनुदेश-पत्र के एक उपबन्ध के सम्बन्ध में जिसमें गवर्नर को निर्देश दिया गया था कि महत्वपूर्ण अल्पसख्यक वर्गो के प्रतिनिधियो को जहा तक व्यवहारिक हो, मन्त्रिमण्डल में स्थान दे, कुछ मतभेद था। इसके साथ ही साथ अनुदेश पत्र के अनुसार गवर्नर से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह सयुक्त उत्तरदायित्व की वृद्धि को प्रोत्साहित करें। स्पष्ट है कि यदि बहुमत वाले

मंत्रिपरिषद की नियुक्ति

मंत्रिपरिषद में अल्पसंख्यक वर्गों का प्रतिनिधित्व

दल में अल्पसंख्यक वर्गों का कोई निर्वाचित प्रतिनिधि शामिल नही होता था. उस स्थिति में उक्त दोनो प्रतिबन्ध एक दूसरे के प्रतिकूल पड़ सकते थे। उन प्रांतों में, जिनमें कि कांग्रेस को पूर्ण बहुमत प्राप्त नही हुआ, यह समस्या नग्न रूप में उठ खड़ी हुई। उदाहरणार्थ यू. पी, में कांग्रेस ने केवल उन्ही मुसलमानो को मन्त्रिमडल में सम्मिलित करने का निश्चय किया, जो उसकी शपथ पर हस्ताक्षर करने, दल में शामिल होने और उसके कार्यक्रम को स्वीकार करने के लिए तय्यार थे। मुस्लिम लीग ने विधान मण्डल के कई मुस्लिम स्थानो पर कब्जा कर लिया था। उसने इन शर्तो के ऊपर कांग्रेस के साथ सहयोग करना अस्वीकार कर दिया। फलत· केवल उन्ही मुसलमानों को मन्त्रिमण्डल में स्थान दिया गया, जो कि कांग्रेस दल के सदस्य थे। मुस्लिम लीग ने इस कृत्य के विरुद्ध इस आधार पर कि कांग्रेस के मुसलमानो को विधानमडल के मुस्लिम सदस्यो के बहुमत का समर्थन प्राप्त नही है, और इसलिये वे जाति के सच्चे प्रतिनिधि नही हैं, गवर्नर से अपील की। लेकिन चू कि कांग्रेस दल को विधानमडल का समर्थन प्राप्त था, इसलिये गवर्नर ने इस मामले मे हस्तक्षेप करने से इनकार कर दिया।

मंत्रियों की पदच्युति

१६३५ के अधिनियम ने यह भी निर्धारित कर दिया कि मंत्री गवर्नर के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करेंगे। उसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि गवर्नर चाहता तो मन्त्रियो को अपदस्थ कर सकता था। लेकिन जैन्य उत्तरदायी शासन मे इस कानूनी अधिकार का केवल प्रधान मत्री की मन्त्रणा पर ही प्रयोग किया जाता हैं, और जहा तक प्रधान मन्त्री का सम्बन्ध है, जब तक वह विधानमण्डल का विश्वासपात्र हैं, उसे अपदस्य नही किया जा सकता। इगलेंड मे यही स्थिति है। वहा सम्राट इच्छानुसार मन्त्रियो को अपदस्थ करने की अपनी सैद्धान्तिक शक्ति का कदापि प्रयोग नही करता। भारतवर्ष के प्रांतीय गवर्नरों की साधारण प्रवृत्ति तो यही थी कि उत्तरदायी शासन के सिद्धातो का पालन किया जाय लेकिन कुछ गवर्नरो ने स्वेच्छाचारी शासको की तरह काम किया। उदाहरणार्थ सिन्ध के प्रधान मन्त्री अल्ला बख्श के मामले मे वहा के गवर्नर ने पदच्युति की अपनी शक्ति का सर्वथा अवधानिक रीति से प्रयोग किया था।

१९३५ के अधिनियम ने मन्त्रियो की सख्या के सम्बन्ध में कोई सीमा निश्चित नही की। दलगत राजनीति की आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न प्रातो में मत्रियों की संख्या भिन्न भिन्न थी। उदाहरणार्थ एक समय बंगाल में मत्रियों

मंत्रियों की संख्या का प्रश्न

की सख्या सबसे अधिक (१२) और उडीसा में सबसे कम (३) थी। यद्यपि संविधान ने ससद-सचिवो के लिए कोई उपबन्ध नही किया था, लेकिन अधिकाश प्रातों में कई ससद-सचिव नियुक्त किये गये। संसद सचिव बहुमत वाले दल के सदस्य होने के नाते राजनीतिक कार्यपालिका के एक मुख्य भाग होते थे। वे मन्त्रियों को उनके सासद और प्रशासनिक कार्य में सहायता देते थे और उनका भार काफी हलका कर देते थे। इस प्रणाली ने युवक राजनीतिज्ञो को उपयोगी शिक्षा प्रदान की, ये ही लोग आगे चल कर कुशल मन्त्री हो सकते थे। काग्रेस प्रातो में ससद-सचिव २५० रु० प्रतिमास वेतन पाता था।

संसद-सचिव

८७. प्रान्तीय विधानमण्डल

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अधीन प्रान्तीय विधामण्डल सम्राट् के प्रतिनिधि गवर्नर और विधानमण्डल के एक या दो सदनो से मिलकर बनता था। ग्यारह प्रान्तो में से छ * मे द्विसदनात्मक विधानमण्डल थे। द्विसदनात्मक विधानमडल वाले प्रान्त का उच्च सदन विधान-परिषद कहलाता था। ऐसे प्रातो के निम्न सदन अथवा दूसरे प्रान्तो के विधान मण्डल विधान सभाओ के नाम से प्रख्यात थे। आकार की दृष्टि से विधान परिषदे विधान सभाओ की तुलना में बहुत छोटी होती थी। वे स्थायी निकाय थी, उनका विघटन नहीं हो सकता था। सदस्यों का निर्वाचन ९ वर्ष के लिये होता था, तिहाई सदस्य प्रति तीसरे वर्ष हट जाते थे। द्वितीय सदनों की शक्तिया निम्न सदनो के समकक्ष ही थी, अन्तर केवल इतना था कि धन विधेयक केवल निम्न सदनों में ही पुर स्थापित किये जा सकते थे और अनुदान-मांगों के सम्बन्ध में उच्च सदन सर्वथा शक्तिहीन थे। प्रातो में उनकी स्थापना को भारतीयो ने सन्देह की दृष्टि से देखा। सर तेज बहादुर सप्रू ने कहा था कि वे प्रतिक्रियावादी सिद्ध होंगे और प्रगतिशील व्यवस्थापन के मार्ग मे रोडे अटकायेंगे। यह भी अनुभव किया गया कि वे सर्वथा अनावश्यक थे क्योंकि विधान मण्डलो द्वारा जल्दी में और बिना ठीक से सोचे समझे पास किये गये कानूनों के ऊपर गवर्नर की शक्तिया पर्याप्त अंकुश रख लेतीं थीं। ये भय जन्य थे। लेकिन जहां तक वास्तविकता का प्रश्न है, लोकतन्त्र के उद्देश्य को प्रतिगामिता के इन गढ़ो ने कोई

छ प्रान्तों में द्वितीय सदन

उनकी क्यों स्थापना की गई

*ये छः प्रान्त आसाम, बंगाल, बिहार, बम्बई, मद्रास और यू. पी. थे।

हानि नही पहुँचाई क्योंकि द्वि सदनात्मक विधानमण्डलों वाले लगभग सभी प्रांतों में कांग्रेस ने पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया और उन संयुक्त बैठकों में जिनका संविधान ने दोनो सदनों का गतिरोध दूर करने के लिए उपबन्ध किया था, निम्न सदन के प्रगतिशील तत्व उच्च सदन के प्रतिगामी तत्वो को अधिक राय से हरा सकते थे।

विधान सभा: उसका गठन

विधान सभा का आकार अलग-अलग प्रातो में अलग-अलग था। उदारहरणार्थ यू. पी की विधान सभा में पृथक् साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक-मडलों के आधार पर निर्वाचित २८८ सदस्य थे। विभिन्न वर्गों और जातियों के बीच स्थानो का वितरण निम्न प्रकार से किया गया था:—साधारण (जिसमें अनुसूचित जातियो के २० स्थान भी शामिल थे) १४०, मुस्लिम ६४, यूरोपियन २, आंग्ल ईसाई २, आंग्ल भारतीय १, वाणिज्य और उद्योग ३, भू स्वामी ६, विश्वविद्यालय १, श्रम ३, स्त्रिया ६, (चार हिन्दू और दो मुस्लिम)। विधान सभा की अवधि ५ वर्ष की थी

उसकी अवधि

लेकिन गवर्नर उसकी पूरी अवधि की समाप्ति के पूर्व भी उसका विघटन कर सकता था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच गवर्नरो को इस बात की विशेष रूप से शक्ति दे दी गई थी कि वे युद्ध की समाप्ति तक के लिये प्रान्तीय विधान सभाओ की अवधि बढा दें। सभा अपना अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती थी।

कानून निर्माण करने की शक्तियां

प्रातीय विधानमंडल चाहे वह एक सदनात्मक होता अथवा द्विसदनात्मक, प्रांतीय सूची मे गिनाये गये समस्त विषयों पर कानून बनाने के लिये सक्षम था। वह समवर्ती सूची के विषयों पर भी कानून बना सकता था, लेकिन इसमें एक शर्त थी और वह यह कि यदि प्रातीय कानून उसी विषय से सम्बद्ध केन्द्रीय कानून के प्रतिकूल पड़ता तो वह विफल हो जाता था और उसके स्थान पर केन्द्रीय कानून प्रभावी होता था। गवर्नर की विशेष शक्तियों के कारण प्रातीय विधानमडल की विधायी शक्तियों के ऊपर कई प्रतिबन्ध लगे हुए थे। कतिपय विधेयको की पुरःस्थापना के लिये उसकी पूर्व अनुमति आवश्यक थी। वह निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था और उसे वे स्वतन्त्र विधायिनी शक्तियां प्राप्त थी; जिनके द्वारा वह विधानमंडल की सहमति के बिना ही अध्यादेश और गवर्नर के अधिनियम जारी कर सकता था।

प्रांतीय स्वायत्तता की स्थापना के साथ ही साथ, प्रातीय विधानमडल की वित्तीय शक्तियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई। यदि विधानमंडल द्विसदनात्मक होता, तो

वित्तीय शक्तियां

यह आवश्यक था कि वार्षिक बजट दोनों सदनों के सम्मुख रक्खा जाय लेकिन अनुदान मांगो पर मतदान देने का अधिकार केवल विधान सभा को प्राप्त था। मत-सापेक्ष अनुदान मांगो का अनुपात लगभग ७५ प्रतिशत था। प्रांतीय विधानमण्डल प्रांतीय प्रशासन के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण रखता था। मन्त्रिमंडल के ऊपर अविश्वास का

प्रशासन के ऊपर नियन्त्रण

प्रस्ताव पास करके वह उसे त्यागपत्र देने के लिए विवश कर सकता था। वह सरकार की भूलो को प्रकट कर सकता था, उसकी नीतियो का निरनुमोदन कर सकता था और प्रश्नो, अनुपूरक प्रश्नो, कामरोको प्रस्तावो और बजट वाद-विवादो के द्वारा जनता की शिकायतो को सरकार के कानो तक पहुंचाया जा सकता था।

८८. मताधिकार और निर्वाचक-मण्डल

मोटफोर्ड सुधारो की तरह १६३५ के अधिनियम के अधीन भी भारत की निर्वाचन पद्धति "जातियो-वर्गो और हितो" के सिद्धान्त के ऊपर आश्रित थी। अब तक जो पृथक् साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक-मंडल

साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक-मण्डल

वर्तमान थे, उनमे श्रम और स्त्रियो के लिए और निर्वाचक मंडल जोड दिये गये। प्रतिनिधित्व मे गुरुभार की पद्धति भी बनी रही। मुसलमानो की आबादी मद्रास मे ७ १ % और यू. पी मे १४ ८ प्रतिशत थी, परन्तु उन्होने मद्रास मे १३ प्रतिशत और यू. पी में २७ प्रतिशत स्थान प्राप्त किये। यूरोपियनो के साथ विशेष रूप से पक्षपात किया

प्रतिनिधित्व मे गुरुभार

गया। उनकी जनसख्या १ प्रतिशत की १।३५ थी, परन्तु उन्हे प्रातीय विधानमंडलो मे ३ प्रतिशत और प्रस्तावित संघीय सभा मे साढे ५ प्रतिशत स्थान दिये गये। १६३५ के अधिनियम ने सम्पत्ति और शिक्षा विषयक अर्हताओ मे कमी करके १६१६ के अधिनियम के ऊपर कुछ सुधार किया था। फलत साढे ३ करोड व्यक्तियो ने, जिनमें ६० लाख स्त्रिया थी, मतदान का अधिकार प्राप्त किया।

कुल निर्वाचक

मोटफोर्ड सुधारों के अधीन भारत की कुल जनसख्या के केवल साढे ३% भाग को ही मतदान का अधिकार प्राप्त था, लेकिन १६३५ के अधिनियम के अधीन भारत की कुल जनसंख्या के १४ प्रतिशत अथवा कुल वयस्क जनसंख्या के २७ प्रतिशत भाग को मतदान का अधिकार मिल गया।

८९. गृह सरकार

१९३५ के अधिनियम ने गृह सरकार में थोडे से उपचारिक परिवर्तन किए। अधिनियम ने भारत के प्रशासन के ऊपर भारत मन्त्री की 'निरीक्षण, निर्देशन और नियन्त्रण" की शक्ति का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।

एक उपचारिक परिवर्तन

यह शक्ति अब सम्राट में निहित कर दी गई। लेकिन यह परिवर्तन नाममात्र का था। यद्यपि सम्राट अग्रभूमि में आ गया, लेकिन व्यवहार मे उसकी शक्ति का प्रयोग भारत मन्त्री ही करता रहा। जब कभी गवर्नर जेनरल और गवर्नर अपने विवेक के अनुसार आचरण करते थे अथवा अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग करते थे, उस समय भारत मन्त्री उनका निरीक्षण और नियन्त्रण करता था। अधिनियम ने भारतीय परिषद का उत्सादन कर दिया। अधिनियम ने भारत-मंत्री की सहायता के लिए तीन से अन्यून और ६ से अनधिक परामर्शदाताओं की व्यवस्था की।

भारत मन्त्री के परामर्शदाता

कम से कम आधे परामर्शदाताओं के लिए यह आवश्यक था कि वे नियुक्ति से पूर्व दस बरस तक भारत में नौकरी कर चुके हो और उन्हें भारतवर्ष छोड़े दो वर्ष से अधिक न हुआ हो। परामर्शदाता पांच वर्ष के लिए नियुक्त किए जाते थे और १३५० पौंड वार्षिक वेतन प्राप्त करते थे। जिन परामर्शदाताओं का निवास स्थान भारत में था, उन्हें वेतन के अतिरिक्त ६०० पौंड वार्षिक भत्ता मिलता था। इस व्यय का भार इ गलैण्ड के कोष पर था, भारत के कोष पर नहीं। भारत-मन्त्री परामर्शदाताओं से व्यक्तिगत रूप से अथवा सामूहिक रूप से जैसे चाहता, परामर्श कर सकता था, परन्तु वह उनके परामर्श को स्वीकार करने के लिए बाध्य नही था।

सारांश

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम का भारत के राष्ट्रवादी लोकमत ने तीव्र विरोध किया और उसे एक प्रतिगामी कानून बताया। इस अधिनियम ने वास्तविक सत्ता भारतीय जनता को न सौंप कर ब्रिटिश अधिकारियो के ही हाथो मे रहने दी। उसने केन्द्र में द्वैध कार्यपालिका की पुनःस्थापना कर के आंशिक उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया और एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया। प्रान्तों में उसने द्वैध शासन प्रणाली का उत्सादन कर दिया और प्रान्तीय स्वायत्तता की स्थापना की, जिसके ऊपर कई कठोर प्रतिबन्ध लगे हुए थे। संघीय सिद्धान्त के अनुरूप ही अधिनियम ने तीन सूचियों में केन्द्र और प्रान्तो के बीच शक्तियों का विशद रूप से वितरण किया। इसके अलावा, उसने एक संघीय न्यायालय की स्थापना के लिए उपबन्ध किया।

१९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित अखिल भारतीय संघ में संघवाद की समस्त प्रायिक विशेषताएं पायी जाती थीं, लेकिन कुछ दृष्टियों से वह बिल्कुल बेजोड़ था। भारतवर्ष में उसका चारो ओर से विरोध किया गया और उसे प्रतिक्रियावाद की शक्तियो को सुदृढ करने का एक प्रयास बताया गया। संघ के निर्माण की असाधारण प्रक्रिया के अलावा, एकको में किसी प्रकार की एकरूपता नहीं थी। प्रस्तावित संघ न्यूनाधिक रूप से लोकतन्त्रात्मक प्रातो व स्वेच्छाचारी ढग से शासित राज्यों का एक अस्वाभाविक गठबन्धन होने को था। प्रातो और राज्यो के सम्बध में संघीय सरकार को समान सत्ता प्राप्त होने को नही थी। प्रात तो सघ मे स्वतः ही सम्मिलित होने को थे, लेकिन राज्यो का पवेश उनके शासको की इच्छा पर निर्भर था। संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन में प्रस्तावित सघ के अवयवी एकको को समान प्रतिनिधित्व दिया गया और उनके प्रतिनिधि शासको द्वारा मनोनीत होने को थे। स्वय सघीय विधान मण्डल के लिये ही, विलक्षण गठन का पस्ताव किया गया। उसका निम्न सदन परोक्ष रीति से निर्वाचित होने को था।

प्रस्तावित सघीय कार्यपालिका द्वैध होने को थी। प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामलो, धार्मिक मामलों और कबाइली इलाकों को 'सरक्षित' विषय माना गया गा। इनका शासन-प्रबन्ध गवर्नर जेनरल तीन कार्यकारी परिषदो की सहायता से करने को था। शेष विषयों का शासन प्रबन्ध गवर्नर जेनरल उन मन्त्रियो की सहायता से करने को था, जो विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी थे। लेकिन मन्त्रीय क्षेत्र में भी गवर्नर जेनरल के कई ऐसे विशेष उत्तरदायित्व थे, जिनका प्रबन्ध करने मे वह अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था। इस प्रकार गवर्नर जेनरल किसी प्रकार एक वैधानिक शासक नही था। कार्यकारी, विधायी और वित्तीय क्षेत्रो मे वह विशाल वास्तविक शक्तियो का उपभोग करता था।

सघीय विधानमण्डल द्विसदनात्मक होने को था। उच्च सदन (राज्य परिषद) में २६० सदस्य होने को थे जिनमें १०४ सदस्य राज्यों का प्रतिनिधित्व करने को थे। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियो मे से ६ तो गवर्नर जेनरल द्वारा मनोनीत होने को थे और शेष १५० सदस्य साम्प्रदायिक और वर्ग निर्वाचक मण्डलो के द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित होने को थे। निम्न सदन (संघीय सभा) के सदस्यों की सख्या ३७५ निश्चित हुई थी। ब्रिटिश भारत के २५० सदस्य परोक्ष रीति से निर्वाचित होने को थे। सघीय विधानमण्डल प्रभुत्व शक्ति विरहित कानून निर्माता निकाय था। उसकी विधायिनी और वित्तीय सक्षमता गवर्नर जेनरल की विशेष शक्तियो के अधीन थी।

सघीय न्यायालय में, जिसका उद्‌घाटन १ अक्टूबर १९३७ को हुआ, एक मुख्य

न्यायाधिपति और छः दूसरे न्यायाधीश सम्मिलित थे। उसे प्रारम्भिक, अपीलीय और परामर्शीय क्षेत्राधिकार प्राप्त था। लेकिन वह सर्वोच्च न्यायालय नही था क्योंकि उसके पास से अपीलें प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समितिके समीप भेजी जा सकती थी।

१९३५ के अधिनियम ने प्रातो को एक नया वैधानिक स्टेटस प्रदान किया। जिसे प्रातीय स्वायत्तता के नाम से अभिहित किया गया। इसके दो अर्थ थे:— (क) प्रांतीय सरकारो को अपने उल्लिखित क्षेत्र मे केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण से मुक्ति प्राप्त हो और (ख) प्रातो मे पूरे पैमाने पर उत्तरदायी शासन की स्थापना हो। लेकिन व्यवहारत प्रातीय स्वायत्तता इन दोनों मे से एक भी अर्थ में पूर्ण या सच्ची नहीं थी। केन्द्रीय सरकार कई रीतियो से प्रातीय सरकारो के क्षेत्र को अतिक्रात कर सकती थी। इसके अलावा प्रातो का उत्तरदायी शासन गवर्नरो व गवर्नर जेनरल की विशेष शक्तियो के कारण अत्यन्त सीमित हो गया था।

गवर्नर जेनरल की तरह प्रतीय गवर्नर भी वास्तविक शासक था। उसे पर्याप्त स्वविवेकी शक्तिया और विशेष उत्तरदायित्व प्राप्त थे। कार्यकारी, विधायी और वित्तीय मामलो मे वह, कई अवसरो पर अपने विवेक के अनुसार आचरण कर सकता था। अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर और अध्यादेश व गवर्नर के अधिनियम जारी करके वह विधानमण्डल की इच्छा को अवरुद्ध कर सकता था।

गवर्नर प्रात का प्रशासन मन्त्रि-परिषद की सहायता और मन्त्रणा से करता था, साधारणत उससे यह आशा की जाती थी कि वह अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा के अनुसार कार्य करेगा। लेकिन यदि गवर्नर को यह भान होता कि मन्त्रियो द्वारा दी गई मन्त्रणा का उसके किसी विशेष उत्तरदायित्व के ऊपर प्रतिकूल प्रभाव पडता है, उस दशा में वह अपने व्यक्तिगत निर्णय का प्रयोग कर सकता था। मन्त्री सामूहिक रूप से प्रातीय विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी थे। लेकिन वे गवर्नर के द्वारा भी अपदस्थ किए जा सकते थे। उदाहरणार्थ सिध के प्रधान मन्त्री के. बी अल्लाबख्श को वहा के गवर्नर ने पदच्युत कर दिया था। यह उत्तरदायी शासन की प्रवचना थी।

प्रातीय विधानमडल को प्रातीय सूची मे प्रगणित विषयो पर कानून बनाने का अधिकार था। वह समवर्ती सूची के विषयो पर भी कानून बना सकता था, लेकिन इसमें एक शर्त थी और वह यह कि प्रातीय विधानमडल द्वारा पास किया गया कोई कानून यदि केन्द्रीय विधानमण्डल द्वारा उसी विषय पर पास किये गये किसी कानून के प्रतिकूल पडता, तो उस स्थिति मे केन्द्रीय विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कानून ही अभिभावी हो सकता था। प्रातीय विधानमण्डल की सर्वशक्तिमत्ता गवर्नर की विशेष शक्तियो द्वारा मर्यादित थी। १९३५ के अधिनियम ने प्रातीय मताधिकार को

विस्तृत कर दिया और मतदान का अधिकार ब्रिटिश भारत की १४ प्रतिशत जनसंख्या को प्रदान किया।

गृह-सरकार में अधिनियम ने कुछ ही उपचारिक परिवर्तन किये। भारतीय परिषद का उत्मादन कर दिया गया और भारत मन्त्री की सहायता के लिए छः से अनधिक व तीन से अन्यून परामर्शदाता नियुक्त किये गये।

यह स्मर्त्तव्य है कि प्रस्तावित संघ की स्थापना नहीं की गई और १९३५ के अधिनियम का केवल प्रांतीय भाग ही १ अप्रैल १९३७ को कार्यरूप में परिणत किया गया।

———

अध्याय १२

प्रान्तीय स्वायत्तता पर आचरण

९०. निर्वाचन (फर्वरी, १९३७)

पूर्व अध्याय में हम देख चुके हैं कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का भारतीय लोकमत के सभी महत्वपूर्ण वर्गों ने तिरस्कार किया। अधिनियम द्वारा प्रस्तावित अखिल भारतीय सघ ने व्यापक विरोध को जन्म दिया।

प्रान्तीय स्वायत्तता का उद्घाटन

१९३० में ब्रिटिश सरकार के 'अनुशासित दासो', अर्थात् देशी नरेशो ने सघीय विचार का जोर शोर से अनुमोदन किया था, लेकिन अब उन्होंने भी उसकी ओर से पीठ मोड ली। फलत अधिनियम के संघीय भाग को स्थगित कर दिया गया क्योंकि अखिल भारतीय सघ की रचना उस समय तक सभव नही थी, जब तक कि कम से कम इतने राज्य, जिनकी जनसख्या सब राज्यो की कुल जनसख्या की आधी हो और जो सघीय विधानमण्डल के उच्च सदन में समस्त राज्यो के लिये निस्यापित कुल स्थानो के कम से कम अर्द्धांश के अधिकारी हों, उसमें प्रविष्ट न हो जाये। अवसर आने पर नरेशों ने अपने भाग्य को शेष भारत के साथ सयुक्त करना अस्वीकार कर के सघीय योजना की हत्या कर डाली। फिर भी, अधिनियम के भाग ३ को (जो प्रान्तीय शासन मे सम्बन्ध रखता था)कार्यरूप में परिणत किया गया और फर्वरी १९३७ में प्रान्तीय विधानमण्डल के लिये सम्पन्न होने वाले साधारण निर्वाचनों के पश्चात् उसी वर्ष पहली अप्रैल को नवीन संविधान में निर्दिष्ट प्रान्तीय स्वायत्तता का उदघाटन किया गया। जुलाई १९३५ जब कि अधिनियम पास किया गया था और फर्वरी १९३७ के बीच मे निर्वाचन क्षेत्रो के निर्धारण, मतदाता-सूचियों की तय्यारी तथा प्रान्तो और केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धों की आवश्यक अदल बदल की प्रारम्भिक कार्यवाहिया पूरी कर ली गईं।

कांग्रेस १९३५ के सम्पूर्ण अधिनियम के विरुद्ध थी लेकिन उसने नये सविधान को नष्ट भ्रष्ट करने के उद्देश्य से निर्वाचनो में भाग लेने का निश्चय किया। मुस्लिम

लीग ने संघ को तो अस्वीकार कर दिया लेकिन निर्वाचनो में प्रातीय विधानमण्डलो के लिये अपने प्रत्याशी खड़े करना तय किया। उदारवादियो ने अधिनियम के सीमित उपबन्धों का तीव्र विरोध किया लेकिन वे नये सविधान की एक बार अच्छी तरह से जाच कर लेने के पक्ष मे थे। इस प्रकार, निर्वाचनो के दौरान में भारत का प्रत्येक राजनीतिक दल मैदान में उपस्थित था।

निर्वाचन-परिणाम

निर्वाचन के परिणाम महत्वपूर्ण थे। छ प्रान्तो (मद्रास, बिहार, बम्बई, यू०पी०, सी० पी० और उडीसा) में, जिनमें ब्रिटिश भारत की दो तिहाई जनसख्या आ जाती थी, काग्रेस ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया। आसाम में उसने १०८ स्थानो में से ३५ पर अधिकार कर लिया और वह सबसे शक्तिशाली दल के रूप में अवतरित हुई। पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में कांग्रेस को ५० में से १९ स्थान मिले। मुस्लिम लीग समस्त प्रान्तों के ४०० मुस्लिम स्थानो मे से केवल ५१ ही प्राप्त कर सकी।

९१. पद-ग्रहण

कांग्रेस में मतभेद

निर्वाचनो के पश्चात् काग्रेस के सामने यह समस्या उठ खड़ी हुई कि पद ग्रहण किया जाय या नही। छ प्रान्तो में तो उसका पूर्ण बहुमत था और शेष प्रान्तों में से कुछ मे वह मन्त्रिमण्डल बनाने की स्थिति में थी। कांग्रेस का वामपक्ष काग्रेसी मन्त्रिमण्डलो की रचना का घोर विरोधी था। जवाहरलाल नेहरू ने यहाँ तक कह दिया कि पदग्रहण "उस ध्येय के प्रति विश्वासघात होगा, जिसे हमने स्वीकार किया है।" सुभाष बोस के मतानुसार पद-ग्रहण पराजय की स्वीकारोक्ति के तुल्य था। काग्रेस के समाजवादी और साम्यवादी गुटो ने संघर्ष के कार्यक्रम का समर्थन किया। लेकिन बहुमत दक्षिणपक्षियो का था, जिनके नेता सरदार पटेल, राजगोपालाचारी और राजेन्द्रप्रसाद थे। दक्षिण-पक्षियो को महात्मा गान्धी का भी मौन समर्थन प्राप्त था। मार्च, १९३७ में दिल्ली में काग्रेस महासमिति की बैठक हुई। उसमे दक्षिणपक्षियो ने वामपक्षियो को बहुमत से हरा दिया और अन्तिम रूप से यह निश्चित किया गया कि उन प्रान्तो में जहा विधानमण्डलो मे काग्रेस का बहुमत है और जहाँ काग्रेस दल के नेता को इस बात का सुस्पष्ट आश्वासन मिल जाये कि गवर्नर मन्त्रियों के वैधानिक कार्यों में हस्तक्षेप नही करेगा, काग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनाया जा सकता है। काग्रेस इस परम्परा का विकास करना चाहती थी कि गवर्नर की विशेष शक्तियों के सम्बन्ध में भी मन्त्रियो की मन्त्रणा पर आचरण होना चाहिये। काग्रेस ने साफ साफ शब्दों में यह माग की कि गवर्नरो को उस समय भी जब कि संविधान के अधीन उनसे यह अपेक्षा की जाती हो कि वे व्यक्तिगत विवेक के

कांग्रेस द्वारा गवर्नरों से आश्वासन की मांग

अनुसार कार्य करें, मन्त्रियो के परामर्श पर ही कार्य करना चाहिये । चूंकि गवर्नर उक्त आश्वासन देने के लिये तय्यार नहीं हुये अतः जिन प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत था, वहा के विधानमण्डल के कांग्रेस दल के नेताओं ने मंत्रिमंडल बनाने का आमन्त्रण अस्वीकार कर दिया । ब्रिटिश अधिकारियो ने यह दृष्टि विन्दु ग्रहण किया कि इस प्रकार का आश्वासन संविधान में सन्शोधन किये बिना नही दिया जा सकता था । इसके विपरीत महात्मा गान्धी ने कहा कि संविधान मे ऐसी कोई चीज नही है जो गवर्नरो को अपनी विशेष शक्तियो का प्रयोग मन्त्रियो के परामर्श पर करने से रोकती हो । उनका मत था कि १९३५ के अधिनियम के अन्तर्गत आवश्यक अभिसमय विकसित किये जा सकते हैं । चूकि इस वाद-विवाद ने कानूनी रूप धारण कर लिया था अत. बहुत से प्रसिद्ध विधिवेत्ताओ ने इसमे भाग लिया । प्रख्यात विधानशास्त्री प्रो० कीथ ने कांग्रेस के दृष्टिकोण का समर्थन किया ।

अन्तरिम मन्त्रिमंडल

जिस समय यह वाद-विवाद चालू था और छ प्रान्तो में कांग्रेस ने पद ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया, गवर्नरो ने अल्पसख्यक दलो के नेताओ द्वारा निर्मित मन्त्रि-मडलो को प्रतिष्ठापित कर दिया । ये अलोकप्रिय मन्त्रि-मडल विधानमंडल का सामना नही कर सकते थे और नही अपने बजट पास करा सकते थे । गतिरोध तीन महीने तक चलता रहा । धीरे धीरे दोनो विरोधी पक्षो (सरकार और कांग्रेस) ने अपने दृष्टिकोण को नरम किया । जुलाई मे गवर्नर जेनरल ने यह घोषणा की कि भारतीय जनता मुझ पर इस बात का भरोसा रख सकती है कि मैं, "भारत मे सासद शासन के सिद्धान्तो की पूर्ण और चरम स्थापना के लिये अनथक गति मे कार्य करूँगा ।"

समझौता

यद्यपि कोई स्पष्ट वचन तो नही दिया गया, लेकिन लार्ड लिलिथगो ने यह कह दिया था कि दिन प्रति दिन के प्रशासन मे गवर्नर अपनी विशेष शक्तियो का प्रयोग नही करेंगे । वायसराय के वक्तव्य ने "कोई वैधानिक आधार नही छोडा,"* लेकिन कांग्रेस ने उसके सान्त्वनामूलक स्वर का मिश्रतायुक्त जवाब दिया । ७ जुलाई, १९३७ को कांग्रेस कार्यकारिणी ने "एक ओर नए अधिनियमसे भिडने और दूसरी ओर (सामाजिक सुधार के) रचनात्मक कार्यक्रम को चलाने के लिये"* कांग्रेसी मन्त्रिमडल बनाने की आज्ञा दे दी । कांग्रेस के यह निर्णय करने पर 'अन्तरिम' मन्त्रि-मडलो ने त्यागपत्र दे दिये और कांग्रेसी मन्त्रिमडल सत्तारूढ हो गये । कुछ काल

* कूपलैंड : इंडिया, ए रिस्टटमेंट, पृ. १५६
* जवाहरलाल नेहरू : दि यूनिटी आफ इंडिया, पृ. ५९ ।

पश्चात आसाम और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में भी काग्रेस के मन्त्रिमंडल बन गए ।

९२. कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता पर आचरण

पद-ग्रहण के साथ साथ, "काग्रेस ने युद्धों, अवज्ञा और कारावास के पुराने युग के स्थान पर रचनात्मक राजनीतिज्ञता के एक नवीन युग में पदार्पण किया।' † अब तक जो राजद्रोही रहे थे, वे शासको के रूप में अवतरित हुए और इस क्षमता में उन्होने अपने नौकरशाही विरोधियों, गवनरो और आई० सी० एस० पदाधिकारियों के साथ मिलकर काम किया। आठ प्रान्तों में काग्रेसी मन्त्रिमडल उस समय तक सत्तारूढ रहे जब तक कि द्वितीय विश्वयुद्ध के सूत्रपात पर उन्होंने त्यागपत्र नही दे दिए ।

शासकों के रूप में राजद्रोही

काग्रेसी नेताओ का यह भय कि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का अत्यधिक प्रयोग करेंगे, कुछ अतिशयोक्त सा सिद्ध हुआ। यह भी नही है कि गवर्नर वैधानिक प्रधानमात्र हो गये हों। वे सक्रिय शासक बने रहे। यदि उनमें और मन्त्रियो में मतभेद होने के बहुत कम अवसर आए, तो इसका श्रेय उन दोनों को ही समान रूप से जाता है। मन्त्रियों और गवर्नरों दोनों ने ही अत्यन्त सतर्कतापूर्वक कार्य किया। "रक्षा-कवच" रद नही किये गये। वे सदैव ही मन्त्रियो और गवर्नर के वाद-विवादों की पृष्ठभूमि में रहते थे। कई अवसरों पर उनका प्रयोग भी किया गया। १९३८ के प्रारम्भ मे, यू० पी० और बिहार में राजनीतिक कैदियों को मुक्त करने के प्रश्न पर मन्त्रियों और गवर्नरों में मतभेद उत्पन्न हो गया। गवर्नर जेनरल ने सम्विधान की धारा १२६ के अधीन सम्बद्ध गवर्नरो को यह अनुदेश दे दिया कि वे अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा को न मानें क्योंकि इससे अमन और चैन बनाए रखने के उनके विशेष उत्तरदायित्व पर असर पडता है। इस पर मन्त्रिमण्डलों ने इस्तीफे दे दिये लेकिन अन्तोगत्वा यह गतिरोध समझौते की बातचीत के द्वारा तय हो गया। एक सन्तोषजनक हल खोज निकाला गया और मन्त्रिमण्डलो ने पुन काम सम्हाल लिया। उडीसा में इसी प्रकार का सकट एक अधीनस्थ नौकरशाही पदाधिकारी की गवर्नर के पद पर नियुक्ति को लेकर उठ खडा हुआ लेकिन स्थिति को स्थायी गतिरोध का रूप धारण करने से रोक लिया गया। व्यवस्थापन के क्षेत्र में गवर्नरों ने केवल चार बार ही निषेधाधिकार का प्रयोग किया।

गवर्नरों का नियत कर्म

विशेष शक्तियों का यदा कदा प्रयोग

---

† पट्टाभि सीतारामय्या : दि हिस्ट्री आफ दि नेशनलिस्ट मूवमेंट, पृ. ९०।

यह स्मर्त्तव्य है कि कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता की तुलनात्मक रूप से सफलता का कारण विधान मण्डलों के कांग्रेस दलों की शक्ति और अनुशासन था। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो को जिस विशाल बहुमत का समर्थन प्राप्त था, गवर्नर उसकी महत्ता को समझते थे और निपट दूरदर्शिता के कारण वे लोकतन्त्र की शक्तियो के साथ रोज रोज के सघर्षों से बचने के लिए बाध्य थे। कांग्रेस दलो की अनुशासित शक्ति का कारण केवल उनका स्थायी बहुमत ही नही था अपितु केन्द्रीय कांग्रेस सगठन और उसके सासद बोर्ड का एकात्मक नियन्त्रण भी था। कूपलैण्ड के मत में, "कांग्रेस की एकात्मक नीति प्रातीय स्वायत्तता और उत्तरदायी शासन का उल्लघन करती थी।"* उसका कथन है कि कांग्रेस मँत्रिमण्डल सम्बद्ध विधानमण्डलो के प्रति इतने उत्तरदायी नही थे, जितने कि कांग्रेस 'केन्द्र' के प्रति। इसके विपरीत कांग्रेस का विचार यह था कि सासद बोर्ड के प्रभाव ने स्वस्थ राष्ट्रीय दृष्टिकोण का सचार किया और सकुचित प्रान्तीयता की वृद्धि को रोका।

कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों की शक्ति

केन्द्रीय कांग्रेस का नियन्त्रण

अपनी पदारूढि के अट्ठाइस महीनों मे कांग्रेस ने कतिपय ऐसी सफलताए प्राप्त की जिन पर वह "गर्व कर सकती थी।"† सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उन्होंने निर्वाचन-घोषणा पत्र मे दिए गए वचनो को पूरा करने की चेष्टा की। खेतिहरो की जमींदारो के अत्याचारो से रक्षा हो सके और वे ऋणग्रस्तता से छुटकारा पा सकें, इसके लिए कई प्रातो मे एक से सुधार हुए। शिक्षा के क्षेत्र मे यू० पी० और बिहार में प्रशसनीय तरक्की हुई। इन प्रांतो मे अशिक्षा के उन्मूलन के लिए महात्मा गाधी की बुनियादी तालीम की योजना को अपनाया गया। कांग्रेस-मन्त्रिमण्डलो ने ग्राम पुनर्गठन, कुटीर उद्योगों के विकास और ग्राम पचायतों के पुनरुत्थान की ओर भी ध्यान दिया। हरिजनो की दशा मे सुधार करने के भी प्रयास किये गये। कांग्रेस कार्यक्रम में मद्य-निषेध को मुख्य स्थान प्राप्त था। इस सुधार के पूर्ण प्रवर्तन का अभिप्राय यह था कि १८ करोड रुपयो के राजस्व का बलिदान कर दिया जाय। स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत को 'नीरस' कर देने की नीति एक ही छलाग मे कार्यान्वित नही की जा सकती थी। तथापि, लगभग सभी कांग्रेस

कांग्रेस-मंत्रिमण्डलों की सफलताएं

---

*कूपलैण्ड- इंडिया, ए रिस्टेटमेंट, पृ. १६१

† उपर्युक्त पुस्तक, पृ. १६१

प्रान्तों में इस नीति का 'श्री गणेश' कर दिया गया। बम्बई और मद्रास ने इस दिशा में नेतृत्व ग्रहण किया। अतःशुल्क राजस्व की हानि को बिक्रीकर जैसे राजस्व के नये स्रोतों की उद्भावना करके और प्रशासन के व्यय में कमी करके पूरा किया गया।

६३. गैर-कांग्रेसी प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्तता

गैर-कांग्रेसी प्रान्तो की हालत इतनी अच्छी नही थी। पंजाब को छोडकर, जहां 'यूनियनिस्ट' मन्त्रिमण्डल ने स्थायी शासन का निर्माण किया था, शेष प्रांतो के मन्त्रिमण्डल दुर्बल और अस्थायी थे। गवर्नरो के स्वेच्छाचारी व्यवहार के उदाहरण रोज रोज देखने को मिलते थे। अक्टूबर १९४२ में सिन्ध के गवर्नर ने मुख्यमन्त्री खान बहादुर अल्लाबख्श को इस आधार पर पदच्युत कर दिया वे 'उसके' विश्वास-भाजन नही थे। यह उत्तरदायी शासन के सिद्धातो के सर्वथा विरुद्ध था। क्योकि पदच्युति के समय मुख्यमत्री को विधान मडल का समर्थन प्राप्त था। जुलाई १९४३ मे बगाल के गवर्नर ने मुख्यमन्त्री फजलुल हक को त्यागपत्र देने के लिए वाध्य किया। मुख्यमत्री ने बाद में इस बात की शिकायत की थी कि, "गवर्नर सम्पूर्ण विचार विनिमय पर एकाधिकार कर लेता था और अपने मन्त्रियों पर अपने निर्णय लाद देता था।" बगाल के एक मन्त्री डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी ने दिन प्रति दिन के प्रशासन मे गवर्नर के हस्तक्षेप के कारण अपने पद से त्याग-पत्र देना आवश्यक समझा।

उत्तरदायी शासन में गवर्नरो के हस्तक्षेप के दृष्टान्त

सारांश

१९३५ के अधिनियम का प्रातीय भाग अप्रैल १, १९३७ को प्रवर्तन में आया। साधारण निर्वाचनो मे जो उस वर्ष फर्वरी में सम्पन्न हुए, छ प्रातों में कांग्रेस ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया और दो प्रातो में वह सबसे शक्तिशाली दलों के रूप में अवतरित हुई।

पद-ग्रहण के प्रश्न पर कुछ मतभेद था। जिन प्रातो में कांग्रेस का बहुमत था, वहां उसने उस समय तक मन्त्रिमण्डल बनाना अस्वीकार कर दिया जब तक कि गवर्नर यह आश्वासन न दे दें कि वे अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग मंत्रियों की मन्त्रणा पर करेंगे। गवर्नरों ने इस प्रकार का वचन देना अस्वीकार कर दिया, फलत: कांग्रेस दलों के नेताओं ने मंत्रिमण्डल बनाने के आमंत्रण को ठुकरा दिया। इन प्रांतों में अंतरिम मन्त्रिमण्डलों को प्रतिष्ठापित किया गया। जुलाई में कांग्रेस दलों और सम्बद्ध गवर्नरों के एक समझौते के परिणाम स्वरूप यह गतिरोध दूर हो गया।

फलत कांग्रेस ने छ प्रांतों में और बाद में आठ प्रांतों में शासन-सूत्र को सम्हाल लिया।

कांग्रेसी प्रांतों में प्रांतीय स्वायत्तता को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। गवर्नर वैधानिक शासक तो नही बने, लेकिन उन्होने अपनी विशेष शक्तियो का प्रयोग बहुत कम अवसरों पर किया। गैर-कांग्रेसी प्रातो में, जिनमें पजाब अपवाद था, स्थिति दूसरी रही। इन प्रातो में गवर्नरो ने दिन प्रतिदिन के शासन में हस्तक्षेप किया।

अध्याय १३

महायुद्ध और वैधानिक गतिरोध

६४. भारत और महायुद्ध

३ सितम्बर १६३९ को द्वितीय विश्वयुद्धका ज्वालामुखी फूट पडा । इस विस्फोट ने भारत में एक गम्भीर वैधानिक सकट उत्पन्न कर दिया । इ गलैड ने नाजी जर्मनी के विरुद्ध लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लक्ष्य की घोषणा करके हथियार उठाये । वायसराय ने भारतीय जनता के उन प्रतिनिधियो को, जो केन्द्रीय अथवा प्रातीय विधानमण्डलो में थे, बिना किसी प्रकार की सूचना दिये अथवा उनसे बिना किसी प्रकार की मन्त्रणा किये ही यह घोषणा कर दी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल है । महात्मा गाधी को वायसराय ने एक 'इ टरव्यू' के लिए आमन्त्रित किया । महात्मा जी ने कहा कि, 'मेरी अपनी सहानुभूति तो इ गलैड और फ्रास के साथ है' लेकिन उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह बात उन्होने व्यक्तिगत रूप से कही थी, काग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में नही । कुछ समय बाद उन्होने हरिजन मे लिखा कि 'अग्रेजों को जो भी सहायता दी जाय, वह बिना किसी शर्त के दी जानी चाहिये ।"* लेकिन कांग्रेस के ऊपर इसकी दूसरी प्रतिक्रिया हुई । जिस अ-लोकतन्त्रात्मक ढग से भारत को युद्ध में झोक दिया गया था, उसका काग्रेस ने तीव्र विरोध किया । "एक ऐसे उद्देश्य के लिये जो उसका अपना नही था, एक ऐसे झडे के नीचे जिसने उसका अपना झडा गिरा दिया था और ऐसे नेताओ की अधीनता में जो उसके अपने नेताओं से सलाह लेना नही चाहते थे—भारत को क्या नैतिक उत्साह होता, वह क्या सहायता प्रदान करता ?"‡ जिससमय अप्रैल १९३९मे भार-

वायसराय द्वारा भारतका युद्ध ग्रस्त होनेकी घोषणा

महात्मा गांधी का दृष्टिकोण

कांग्रेस की प्रतिक्रिया

---

* दि हरिजन, सितम्बर २३, १६३६ ।

‡ पट्टाभि सीता रामय्याः दि हिस्ट्री आफ दि कांग्रेस, भाग २, पृ. १२४-५ ।

सीय सैनिकों की एक टुकड़ी अदन में भेजी गई थी, कांग्रेस ने सरकार को चेतावनी दे दी थी कि वह भारतीय जनता की सहमति के बिना भारत के ऊपर युद्ध थोपने और भारतीय साधनों के युद्ध में प्रयोग की समस्त चेष्टाओं का प्राणपण से विरोध करेगी।' सरकार ने इस चेतावनी पर कोई ध्यान नहीं दिया तथा अगस्त में और अधिक भारतीय सैनिकों को मिश्र और सिंगापुर भेज दिया। इसके विरोध'स्वरूप काग्रेस ने अपने समस्त सदस्यो को केन्द्रीय विधानसभा से हटा लिया और प्रांतीय काग्रेसी मन्त्रिमंडलों को आदेश दिया कि वे "ब्रिटिश सरकार की तय्यारियो में किसी प्रकार से कोई सहायता न दें।"*

कांग्रेस का प्रस्ताव १४ सितम्बर १९३९

लेकिन इस सबके बावजूद भी जब भारत को युद्धग्रस्त घोषित किया गया, भारतीय विधानमडलो से किसी प्रकार की मन्त्रणा नही की गई। "अपनी सहमतिके बिना और अपने प्रतिनिधियो के अनुमोदन के बिना भारत के लाखो स्त्री-पुरुषो ने स्वयं को युद्धग्रस्त पाया।‡" ब्रिटिश ससद को उस संशोधन अधिनियम के पास करने मे, जिसने कि भारतीय जनता की स्वतन्त्रताओ को कुचलने के लिए उनके ब्रिटिश शासकों के हाथो में भयकर व्यापक-शक्तिया सौंप दी, केवल ११ मिनट का समय लगा। कांग्रेस ने अपने दृष्टिकोण को जवाहरलाल द्वारा तय्यार किए गए और १४ सितम्बर, १९३९ को पास किये गये कार्यसमिति के प्रस्ताव मे स्पष्ट किया। काग्रेस ने उस मनमाने ढग के ऊपर क्षोभ-व्यक्त किया,जिसमें कि ब्रिटिश सरकार एक ऐसी लडाई मे, जो कि भारत की अपनी नही थी, भारत को घसीटे ले जा रही थी। कांग्रेस ने यह साफ-साफ कह दिया कि वह फासिज्म के विरुद्ध है और उस उद्देश्य की जिसको लेकर इगलेंड और फास लडाई मे प्रविष्ट हुए हैं,प्रशंसा करती हैं। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था, "हम नाजियों की विजय नही चाहते थे, और हमारी सहानुभूति पूर्णतः उनकी तरफ थी, जिनके ऊपर आक्रमण किया गया था।"*

लेकिन इसके पूर्व कि भारत लोकतन्त्र की सहायता करता भारत में लोकतन्त्र की स्थापना होनी आवश्यक थी। "हमारे आदेश पर स्वयं पराधीन, वे (भारतीय) दूसरों को स्वतंत्र करने के लिये कैसे संग्राम करते‡ कांग्रेस

* इंडियन एनुअल रजिस्टर १९३९; पृ. २१४।
‡ एच. एन. ब्रेल्सफोर्ड सब्जेक्ट इंडिया पृ. ५३।
* जवाहर लाल नेहरूः दि यूनिटी ऑफ इंडिया, पृ. ३६१।
‡ एच. एन. ब्रेल्सफोर्डः वही, पृ. ५४।

युद्ध के उद्देश्यों को स्पष्ट करने की मांग

प्रस्ताव ने ब्रिटिश सरकार से यह माग की वह अपने युद्ध के उद्देश्यों को साफ साफ बतला दे और पूछा, क्या इन उद्देश्यों में साम्राज्यवाद का उन्मूलन शामिल है ? क्या ब्रिटिश सरकार भारत के प्रति एक ऐसे स्वतंत्र राष्ट्र का सा, जिसकी नीति अपनी जनता की इच्छाओं के अनुसार सचालित हो, व्यवहार करने के लिए तय्यार है ?" काग्रेस की माग थी कि यदि इगलैण्ड स्वतन्त्रता और लोकतंत्र की रक्षा करने के लिए लडाई लड रहा है, तो उसे भारत में भी स्वतत्रता और लोकतन्त्र की स्थापना करनी चाहिए। 'हमारे लिए स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नही हो सकता, यदि वह स्वयं हमे ही प्राप्त नही है।"* कटुअनुभवो ने उसे सिखा दिया था कि "ब्रिटिश सरकार या भारत सरकार के युद्धकालीन वचनो या वक्तव्यो पर विश्वास नही किया जा सकता।‡ फलतः काग्रेस ने माग की कि इगलैंड को चाहिए कि वह भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित कर दे। इस माग का आशय यह था कि भारत को युद्ध के पश्चात् अपना सविधान बनाने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए और ब्रिटिश नेकनीयती के प्रमाणस्वरूप तुरन्त ही लोक शासन की स्थापना होनी चाहिए। "किसी भी घोषणा की वास्तविक कसौटी उसका वर्तमानकालीन उपयोजन है।" काग्रेस ने यह माँग किसी सौदेबाजी की भावना से अनुप्राणित होकर नही की थी और न वह इगलैंड की कठिनाई से अपना मतलब निकालने के लिए ही उत्सुक थी।

उदारवादियों द्वारा कांग्रेस-मांग का समर्थन

भारतीय स्वतत्रता की घोषणा इसलिए आवश्यक थी कि भारत की जनता को उस लडाई के बारे में, जो कि उसकी अपनी नही थी, उत्साह पैदा हो जाए। यदि सरकार ने ऐसी घोषणा नही की, तो यह स्पष्ट था कि लडाई का उद्देश्य साम्राज्यवादी विशेषाधिकार को ज्यों का त्यो कायम रखना था इस प्रकार की लडाई से भारत को क्या लेना देना था ? भारतवर्ष सहयोग देने को इच्छुक था लेकिन वह यह सहयोग बराबर के साथी की हैसियत से देना चाहता था। यहा यह स्मर्त्तव्य हैं कि उदारवादियो ने भी काग्रेस की माग का समर्थन किया और सरकार से प्रार्थना की कि वह वर्तमान केन्द्रीय सरकार के स्थान पर जनता के प्रति उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने मे शीघ्रता करे।

मुस्लिम लीग का दृष्टि बिन्दु

मुस्लिम लीग तक इगलैंड को बिना किसी शर्त के सहायता देनेके लिये तय्यार नही थी। वह युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा के विरुद्ध नहीं थी लेकिन उसने यह स्पष्ट कर दिया था कि मुसलमानों के साथ पूरा

* जवाहर लाल नेहरूः दि यूनिटी ऑफ इंडिया पृ.३१४।

‡ पट्टाभि सीतारामय्याः दि हिस्ट्री ऑफ दि काँग्रेस, पृ. १२६।

न्याय होना चाहिए और सरकार को चाहिए कि वह उसकी रजामन्दी के बिना कांग्रेस को कोई आश्वासन न दे।

६५. सरकार का उत्तर और कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का त्यागपत्र

कांग्रेस ने सरकार से जो आश्वासन मांगा था, वह उसे नही मिला। साम्राट्, भारत मन्त्री और गवर्नर जेनरल सबने वक्तव्य दिये, लेकिन उनके वक्तव्यो में केवल पुरानी बातें दुहरायी गयी थीं और भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न की कोई चर्चा नही थी। लार्ड लिन्लिथगो ने मुलाकातो का एक ताना शुरू किया और ५२ व्यक्तियो से भेंट की। उन्होने इस बात का पूरा ध्यान रक्खा कि वे समस्त जातियो, हितो और देशी नरेशो के दृष्टिकोणों को भलीभांति समझ ले। इन सब बातचीतो का जो नतीजा १७ अक्टूबर १९३९ के श्वेतपत्र मे प्रकाशित हुआ उससे किसी को कोई आश्चर्य नही हुआ। वायसराय को "दृष्टिकोणों का स्पष्ट भेद" दिखाई दिया। स्पष्ट है कि यदि कोई व्यक्ति इन मतभेदो की लार्ड लिन्लिथगो की सी सूझबूझ के साथ खोज करता, तो उनकी खोज करने मे कोई कठिनाई नही होती। यह उसी चिरपरिचित "फूट डालो और राज्य करो" वाली नीति की पुनरावृत्ति थी। दृष्टिकोणो के इन स्पष्ट भेदो को देखते हुए वायसराय भारतीय देशभक्तो को केवल उसी बात की याद दिला सकते थे जो कि उनके पूर्ववर्तियो ने बारम्बार कही थी अर्थात् "भारत की उन्नति का स्वाभाविक लक्ष्य औपनिवेशिक पद को प्राप्त करना है।" उन्होने इस बात की घोषणा की कि युद्ध की समाप्ति पर १९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित सघीय सविधान में विभिन्न सम्प्रदायो, दलो और स्वार्थों के प्रतिनिधियो तथा देशी नरेशो से मन्त्रणा करके उचित सशोधन कर दिया जायगा। स्पष्ट है कि वे एक सविधान सभा का नही अपितु दूसरी गोलमेज परिषद का वचन दे रहे थे। जहा तक भारत की इस माग का सम्बन्ध था कि केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना होनी चाहिए, वायसराय केवल एक ऐसी 'मन्त्रणा-गोष्ठी' का ही आश्वासन दे सकते थे जिसके साथ वे समय-समय पर युद्ध सचालन के सम्बन्ध में विचार विनिमय कर सकें।

वायसराय की मुलाकातें और श्वेतपत्र : १७ अक्टूबर १९३९

वायसराय के वक्तव्य ने किसी को सन्तुष्ट नही किया और विरोध का एक तूफान खड़ा कर दिया। उन्होने भारत के स्वतन्त्रता और समानता के दावे को अस्वीकार करने के लिये प्रतिक्रियावादियों और अल्पसख्यक वर्गों के विरोध का दक्षतापूर्वक प्रयोग किया था। भारत के राष्ट्रवादियों ने इस दृष्टिकोण को अपने लिये अपमानजनक समझा। जवाहरलाल नेहरू के अनुसार इसका अभिप्राय यह था कि "ब्रिटिश साम्राज्यवाद के उन्मूलन के बारे में

प्रांतीय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों का त्यागपत्र

अन्तिम निर्णय करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ही हाथ में है।" कांग्रेस 'कुछ कहने' के लिये लाचार हो गई। उसने रोटी माँगी थी, उसे मिला पत्थर। १ अक्टूबर को कार्य-समिति ने प्रान्तीय कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो से कहा कि वे अपना अपना त्यागपत्र दे दें। नवम्बर में वायसराय ने सविधान की धारा ९३ के अधीन एक उद्घोषणा जारी की और उन आठ प्रान्तों में जहा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो ने त्यागपत्र दे दिये थे, परामर्शदाताओ के शासन की स्थापना करदी।

अपने वक्तव्य द्वारा उत्पन्न किये गये तीव्र विरोध से परेशान होकर वायसराय ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियो के साथ पुन. वार्ता शुरू की। उन्होने अपनी कार्यपालिका-परिषद के विस्तार करने का वचन दिया ताकि उसमें भारतीय दलो के प्रतिनिधि भी शामिल हो सकं। लेकिन इसमें एक शर्त थी और वह यह कि प्रान्तीय प्रश्न व प्रान्तो में सयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने के सम्बन्ध में समस्त सम्प्रदायो के बीच समझौता होना चाहिये। इससे और भी उलझन बढ गई। यह ऐसी धूर्तता थी जिसका उद्देश्य एक विशुद्ध राजनीतिक समस्या को साम्प्रदायिक रूप देना था। जैसी कि आशा की जानी चाहिये कांग्रेस ने इस आधार पर समझौते की बातचीत करना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार गतिरोध पैदा हो गया और वह युद्ध के आद्योपात बना रहा।

वायसराय का परिस्थिति को साम्प्रदायिक रूप देना

९६. अगस्त की घोषणा (१९४०)

लगभग एक साल बीत गया और भारत की राजनीति में सिवाय इसके कि मार्च १९४० में मुस्लिम लीग ने अपने द्विराष्ट्र-सिद्धान्त की घोषणा की और पाकिस्तान की माग उपस्थित की, कोई सारभूत परिवर्तन नही हुआ। लडाई की हालत इगलेंड के लिये बहुत खतरनाक हो गई। डनकर्क में ब्रिटिश दलों की पराजय और जर्मन हवाई बेड़े द्वारा परिचालित भयंकर हवाई हमलों के कारण इंगलेंड अपने इतिहास के सबसे नाजुक दौर से गुजर रहा था। चैम्बर लैन के स्थान पर चर्चिल प्रधान मन्त्री हो गये थे। कांग्रेस ने पुनः ब्रिटेन के साथ सहयोग करने के लिये दोस्ती का हाथ बढ़ाया। ७ जुलाई १९४० के अपने प्रस्ताव में कार्यसमिति ने "देश की रक्षा के लिये प्रभावशाली सगठन में पूरा-पूरा सहयोग देने का" निश्चय किया। सहयोग के लिये कांग्रेस की शर्ते ये थीं (१) पूर्ण स्वाधीनता के लिये भारत के अधिकार की स्वीकृति व (२) तात्कालिक साधन के रूप में केन्द्र में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना।

कांग्रेस द्वारा सहयोग का प्रस्ताव

लेकिन ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस द्वारा बढ़ाये गये दोस्तीके हाथ को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। उसने केन्द्रीय विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया और कहा कि ऐसा करना सारे सविधान को बदलना है, जो कि युद्धकाल में नही हो सकता। सरकार के अपने जो प्रस्ताव थे, वे ८ अगस्त के वायसराय के वक्तव्य में प्रकाशित हुए।

८ अगस्त की घोषणा

वक्तव्य में वचन दिया गया था कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात् यथाशीघ्र भारत को औपनिवेशिक पद दे दिया जायगा और एक प्रतिनिधिक सविधान निर्माता निकाय की स्थापना की जायगी। यह स्वीकार कर लिया गया था कि नये सविधान को बनाने की जिम्मेदारी मुख्यत. भारतीयों के ऊपर ही होगी। यह स्पष्ट नही था कि प्रतिनिधिक संविधान-निर्माता निकाय' का अभिप्राय पूर्ण विकसित संविधान सभा से था अथवा बाली एक और गोलमेज परिषद से। इसके अलावा इस प्रकार के निकाय की स्थापना करने के प्रस्ताव को प्राधिक सरक्षणो वाली बात ने उलझनपूर्ण कर दिया था। घोषणा में कहा गया था कि "ब्रिटिश सरकार ऐसे किसी दल को सत्ता नहीं दे सकती जिसे देश के बडे बडे और शक्तिशाली तत्व मानने के लिये तय्यार न हो।" स्पष्ट है कि ये शक्तिशाली तत्व मुस्लिम लीग, दूसरे प्रतिगामी अल्पसख्यक वर्गों के सगठन और देशी नरेश थे।

जहा तक वर्तमान का सम्बन्ध था, वक्तव्य में (१) बढी हुई कार्यपालिका-परिषद में कुछ भारतीय प्रतिनिधियो को सम्मिलित करने और (२) एक ऐसी युद्ध सलाहकार परिषद की स्थापना करने की जिसमें विभिन्न दलों के नेता व देशी राज्यों के प्रतिनिधि शामिल हों, बात कही गई थी।

वायसराय के वक्तव्य से कांग्रेस को सन्तोष नही हुआ और उसने इसकी ओर आंख उठाकर देखने से भी इनकार कर दिया। महात्मा गाधी के अनुसार उसने भारत और इंगलैंड के बीच की खाई को और चौडा कर दिया। सरकार ने अल्पसख्यक वर्गों के प्रश्न के सम्बन्ध मे जो रुख ग्रहण किया था, कांग्रेस ने उसका विशेष रूप से विरोध किया और सरकार के ऊपर आक्षेप लगाया कि वह इस प्रश्न को "भारत की उन्नति के मार्ग में एक दुस्तर बाधा"* बनाये दे रही है। कांग्रेस का दृष्टिकोण यह था कि अल्पसंख्यक वर्गों की समस्या भारतीयों के सुलझानेके लिए थी,। अंग्रेजी सरकार उसमें अयाचित अवांछित टाँग अड़ाकर उसे व्यर्थ में ही और पेचीदा बनाये दे रही थी।

परिणाम

* इंडियन एनुअल रजिस्टर, १९४० II, पृ. १९८

मुस्लिम लीग तक ने अगस्त के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया, यद्यपि भिन्न कारणों से। उसने वायसराय के वक्तव्य में विवक्षित संयुक्त भारत के विचार का विरोध किया और कहा कि "भारत का विभाजन ही समस्या का एकमात्र हल है।" उसने इस बात पर भी बल दिया कि "उसकी सम्मति के बिना कोई भी भावी संविधान, अन्तरिम या अन्तिम निर्मित नहीं होना चाहिये और कार्यपालिका-परिषद के किसी भी पुनर्निर्माण में उसके और कांग्रेस के बीच में ५०, ५० के सिद्धान्त को लागू किया जाना चाहिये।"* इस प्रकार ब्रिटिश सरकार की नीति ने साम्प्रदायिक समस्या को और भी उलझा दिया तथा कांग्रेस कार्यसमिति की सम्मति में वह "गृह कलह और संघर्ष के लिये प्रत्यक्ष प्रोत्साहन व उत्तेजना थी।

९७. व्यक्तिगत सत्याग्रह

कांग्रेस का असहयोग पर वापिस आना

अगस्त प्रस्ताव जवाहर लाल नेहरू और सी राजगोपालाचारी जैसे नेताओं के क्रिया कलापों के लिए, जो भारत की प्रति रक्षा में सक्रिय सहयोग चाहते थे और जिनके नेतृत्व में कांग्रेस ने पहले महात्मा गांधी के युद्ध-प्रयत्न सम्बन्धी शान्तिवाद और असहयोग को अस्वीकार कर दिया था, एक प्रतिघात था। अब पुनः कांग्रेस ने महात्मा गांधी को मार्ग-दर्शन के लिये आमन्त्रित किया। गान्धी जी ने वायसराय से प्रार्थना की कि वे उन्हें "देश की जनता को भारत के युद्ध-प्रयत्न में सहायता देने से रोकने की" स्वतन्त्रता दें। वायसराय ने इसे अस्वीकार कर दिया। फलतः महात्मा गांधी ने सीमित पैमाने पर व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ किया। सत्याग्रह आंदोलन

केवल प्रतीकात्मक विरोध

केवल नैतिक विरोध की अभिव्यक्ति था। उसका लक्ष्य ब्रिटिश सरकार को व्यग्र करना अथवा किसी भी प्रकार धुरी राष्ट्रों को सहायता देना नहीं था। इस सत्याग्रह में अहिंसा के पालन पर विशेष बल दिया गया और सामूहिक कार्यवाही को प्रत्येक रूप में निषिद्ध कर दिया गया। केवल कुछ छटे हुए सत्याग्रहियों को ही यह दुहराते हुये कि "जन या धन से ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्न में सहायता देना गलत है" सत्याग्रह करने की अनुमति दी गई। पंजाब के मुख्य मन्त्री सर सिकन्दर हयात खां ने महात्मा गांधी के ऊपर आक्षेप किया कि जिस समय इंगलैंड अपने जीवन मरण के संघर्ष में निरत है, वे उसकी पीठ में छुरा भोंक रहे हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि सत्याग्रह आन्दोलन का स्वरूप केवल प्रतीकात्मक ही था। जिस समय अंग्रेज जाति अपने जीवन-मरण का झूला झूल रही थी, कांग्रेस ने उसके ऊपर कठोर आघात करना

† कूपलैंड : इंडिया ए रिस्टेटमेंट, पृ. २०२

अनैतिक समझा और बहुत 'हलका आघात किया।"* फिर भी मई १९४१ तक लगभग १४००० ? सत्याग्रही जेल पहुच गए।‡ "इनमें छः प्रान्तो के भूतपूर्व मुख्य मंत्री, २९ मन्त्री और २९० प्रान्तीय विधान मण्डलों के सदस्य थे।"†

९८. कार्यपालिका-परिषद का विस्तार और आंशिक भारतीय करण

राष्ट्रवादी भारत की मागों की ओर ध्यान न देते हुये वायसराय ने जुलाई १९४१ में अपनी कार्यपालिका-परिषद मे पाच सदस्य और शामिल कर लिये। पहले उसमें वायसराय सहित आठ सदस्य थे, अब बढ कर तेरह हो गये। जिन नए पाच सदस्यो को नियुक्त किया गया था, वे भारतीय थे। इस प्रकार अब कार्यपालिका-परिषद में भारतीयो की कुल सदस्य-सख्या आठ हो गई। लेकिन कार्यपालिका-परिषद का यह आंशिक भारतीयकरण एक महत्वशून्य उपाय था क्योंकि सभी महत्वपूर्ण विभाग प्रति-रक्षा, गृह, वित्त अंग्रेजों के ही हाथो में बने रहे। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने ही इस विस्तृत कार्यपालिका-परिषद का बहिष्कार किया। जिन नए सदस्यो को वायसराय ने अपने विवेक के अनुसार चुना था, वे सबके सब उसकी हां में हां मिलाने वाले थे। सभवतः एक डा० अम्बेदकर को छोड कर और किसी को किसी सगठित दल का समर्थन प्राप्त नही था। इसके अलावा, कार्यपालिका-परिषद एक अनुत्तरदायी निकाय बनी रही। उसके ऊपर वायसराय का प्रभुत्व ज्यो का त्यो कायम रहा।

महत्वशून्य उपाय

९९. क्रिप्स मिशन (मार्च १९४२)

७ दिसम्बर १९४१ को जापान युद्ध स्थल में कूद पड़ा। अब विश्वयुद्ध ने एक नया रुख ग्रहण किया। यरोप में तो धुरी राष्ट्रों को आगे बढने से रोके रखा गया, लेकिन एशिया मे जापान की विजयवाहिनी अप्रतिहत गति से आगे बढी। मलाया, इडोचायना और इडोनेशिया ने जापान की सेनाओं के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया। फरवरी १९४२ के अन्त तक बर्मा का पराभव भी अपरिहार्य दीखने लगा। इस तरह युद्ध का खतरा भारत के निकटतर आता जा रहा था। बहुत कम भारतीयों को यह विश्वास था कि इंगलेड में जापानी आक्रमण से भारत की रक्षा करने की शक्ति है। चर्चिल तकने इस बात को स्वीकार किया कि इंगलेड के पास भारत की रक्षा करने के पर्याप्त साधन नही हैं। भारत के सिर

जापान का युद्ध-प्रवेश और भारत को खतरा

* एच. एन. ब्रेल्सफोर्ड: सब्जेक्ट इंडिया, पृ. ५९।
‡ कूपलैण्ड: इंडिया, ए रिस्टेटमेंट, पृ. २०५।
† एच. एन. ब्रेल्सफोर्ड वही पृ. ५९।

कांग्रेस की नीति में परिवर्तन

पर मंडराते हुए इस खतरे ने कांग्रेस की नीति में परिवर्तन कर दिया। प्रमुख कांग्रेसियों को नवम्बर १९४१ में जेल से मुक्त कर दिया गया था। जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में संचालित हलचलें फिर एक बार महात्मा गांधी की शांतिवाद की नीति से हट गई। अपनी ही प्रार्थना पर गांधी जी नेतृत्व के भार से मुक्त कर दिये गये। अब सत्याग्रह कांग्रेस की नीति नहीं रहा। जवाहर लाल जी देश को प्रतिरक्षा के लिये संगठित करना चाहते थे। वे सरकार के साथ सहयोग करने के लिये तय्यार थे—लेकिन कुछ शर्तों पर। उस समय "एक अभिमानी साम्राज्य को, जो फासिस्ट सर्वाधिकारवाद से अभिन्न है" सहायता देने का कोई प्रश्न नही था। सितम्बर १९४१ में चर्चिल से पूछा गया था कि क्या एटलांटिक चार्टर जो सब जातियों को अपनी मनोवांछित शासन-प्रणाली को पसन्द करने का अधिकार देता है, भारत के ऊपर भी लागू होगा ? चर्चिल ने इस प्रश्न के उत्तर में 'नहीं' 'जनाब' कहा था। भारत को यह 'नहीं' अच्छी तरह याद थी। लेकिन जापान की पूर्वीय विजय-यात्रा ने ब्रिटिश सरकार को विवश कर दिया कि वह भारत की ओर नया दृष्टिबिन्दु ग्रहण करे। फरवरी १९४२ में राष्ट्रवादी चीन के नेता मार्शल च्यांग-

विश्व-जनमत का दबाव

काई शेक भारत आये और उन्होंने इंगलैंड से अपील की कि वह भारत की स्वतन्त्रता की मांग पर सहृदयतापूर्वक विचार करे। अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट के बारे में भी यह प्रख्यात है कि वे चर्चिल पर इस बात का दबाव डाल रहे थे कि वे भारत का ऐच्छिक सहयोग प्राप्त करने के लिए कुछ करे। इस प्रकार युद्ध के संकटों और विश्व-जनमत के दबाव ने क्रिप्स-मिशन के लिए रंगमंच तय्यार कर दिया।

रंगून-पतन के चार दिन बाद ११ मार्च १९४२ को चर्चिल ने संसद में घोषणा की कि "जापान की प्रगति के कारण भारत के लिए जो खतरा पैदा हो गया है उसे

क्रिप्स-मिशन की घोषणा

देखते हुए हम यह आवश्यक समझते हैं कि हमलावर से देश की रक्षा करने के लिये हमें भारत के सभी वर्गों का संगठन करना चाहिए और सर स्टैफर्ड क्रिप्स-ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि के रूप में भारतीय गतिरोध का अन्त करने के लिए भारत प्रस्थान करेंगे।" इस घोषणा का भारत में स्वागत किया गया क्योंकि क्रिप्स की यहां बहुत ख्याति थी। यही वह व्यक्ति थे जो रूस को मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में खींच लाये थे। इसके अलावा वे एक समाजवादी थे और भारत के कई चोटी के राष्ट्रवादी नेताओं से उनके मित्रतायुक्त

सम्बन्ध थे। वे पहले भी दो बार भारत आ चुके थे। २२ मार्च १९४२ को क्रिप्स दिल्ली उतरे। तुरन्त ही उन्होंने वायसराय व उनकी कार्यपालिका-परिषद से मन्त्रणा की। इसके पश्चात उन्होंने भारतीय दलों के नेताओं से वार्ता शुरू की और यह प्रभाव उत्पन्न किया कि वे अन्तिम निर्णय करने के लिए कुछ निश्चित प्रस्ताव और सत्ता लाए है।

क्रिप्स भारत में

क्रिप्स मिशन के उन प्रस्तावों को, जिनके आधार पर बातचीत आगे बढ़ी, दो भागो में बांटा जा सकता है। पहला भाग युद्ध के पश्चात की परिस्थितियों से सबंध रखता था। उसमे निम्न योजनाए थीं:—(१) एक नये भारतीय सघ की स्थापना जिसे उपनिवेश का पूर्ण पद प्राप्त होगा और चाहे तो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकेगा। (२) युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद एक सविधान सभा की स्थापना जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रजवाडे दोनोके प्रतिनिधि सम्मिलित होगे। (३) इस प्रयोजन के लिए प्रातीय विधानमण्डलो के निम्न सदनो के सम्पूर्ण सदस्य एक निर्वाचक-मडल की हैसियत से बैठेंगे और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर विधान निर्मात्री सस्था का चुनाव करेंगे। निर्वाचक मडल में जितने व्यक्ति होगे, उसकी दशाश सख्या इस विधान निर्मात्री सस्था मे होगी। जहा तक राज्यों का सम्बन्ध है, वे अपनी जन-सख्या के अनुपात से अपने प्रतिनिधि नियुक्त करेंगे। (४) ब्रिटिश सरकार ने इस सस्था द्वारा तय्यार किये गए सविधान को स्वीकार करके कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व केवल उसी हालत मे लेने का निश्चय किया, जब कि निम्न शर्तें भी पूरी होती हो—(क) "यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रात नए सविधान को स्वीकार न करना चाहे तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम करने का अधिकार रहे।" यदि किसी प्रान्त की विधानसभा ६० प्रतिशत बहुमत से सघ में रहने का निश्चय नही करती, तो उसकी सघ में प्रविष्टि का अन्तिम निर्णय जन-निर्णय के द्वारा हो सकेगा। नए सविधान मे सम्मिलित न होने वाले प्रान्तोको सम्राट की सरकार नया स विधान देने के लिए तय्यार होगी और (ख) सम्राट की सरकार व विधान निर्मात्री स स्था के बीच एक स धि होगी। जहा तक स क्रान्तिकाल का स बंध है ब्रिटिश सरकार भारत की रक्षा "अपने विश्वयुद्ध प्रयत्नो के एक अग के रूप में अपने हाथ में रखेगी। परन्तु प्रमुख भारयीय दलो के नेताओ को अपने देश, ब्रिटिश राष्ट्रमडल तथा मित्र राष्ट्रो के सलाह मशविरे मे तुरन्त और प्रभावोत्पादक ढग से भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जायगा।

प्रस्ताव (क) भविष्य के सम्बन्ध में

(ख) वर्तमान के सम्बन्ध मे

एक ओर तो क्रिप्स और दूसरी ओर भारतीय दलों के नेताओं के बीच जो जो विचार विमर्श हुआ, उसके फलस्वरूप क्रिप्स प्रस्ताव को भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग ने अस्वीकार कर दिया। हिन्दू महासभा ने पृष्ठ द्वार से पाकिस्तान स्थापित करने की कुशल चेष्टा और भारत के समनुचिन्तित बलकानिस्तान का विरोध किया। सिक्ख पाकिस्तान की स्थापना के घोर विरोधी थे और उन्होने कह दिया कि हम अखिल भारतीय सघ से पजाब के पृथक्करण का समस्त सभव उपायों से प्रतिरोध करेंगे। उदारवादियों तक ने दीर्घ सूत्री प्रस्तावों को यह कह कर कि वे 'आत्म-निर्णय के उपहास' हैं अस्वीकार कर दिया। काग्रेस ऐसे प्रत्येक प्रस्ताव के विरुद्ध थी जिसका लक्ष्य भारत को खण्डित करना हो चाहे विवेक के आधार पर और चाहे भावना के आधार पर। क्रिप्स योजना का उद्देश्य "अनिश्चित सख्या के विभाजनों की सम्भावना के दरवाजे खोल देना था।* ५६२ देशी रजवाडो को भारत सघ में सम्मिलित न होने का जो अधिकार परोक्षतः दे दिया गया था काग्रेसने उसका तीव्र विरोध किया। यह बात स्पष्ट थी कि राज्य नए सविधान के निर्माण में प्रतिगामी तत्वो का सा काम करते लेकिन इस बात का कोई आश्वासन नहीं था कि वे सविधान की रचना के पश्चात् भारतीय अलस्टर नहीं हो जायेंगे। स्पष्ट है कि जब तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद "इन गढो में अपना अड्डा जमाए रखता, भारत अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त नही कर सकता था।"‡

क्रिप्स प्रस्ताव समस्त भारतीय वलों द्वारा अस्वीकृत

कांग्रेस का दृष्टिकोण

यद्यपि काग्रेस का आदर्श सम्पूर्ण भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करना था और उसने क्रिप्स प्रस्ताव द्वारा पृथक्करण की भावना को प्रोत्साहन दिए जाने का विरोध किया लेकिन फिर भी वह 'किसी भी प्रादेशिक इकाई को, उसकी इच्छा के विरुद्ध भारतीय सघ में सम्मिलित होने के लिए विवश करने की भाषा में नही सोच सकती थी।' इस प्रकार सम्भव था कि काग्रेस दीर्घसूत्री प्रस्तावों के ऊपर अपनी स्वीकृति दे देती। इनके ऊपर वार्ता भग नहीं हुई, लेकिन तात्कालिक वर्तमान के सम्बन्ध में जो प्रस्ताव थे, उनके ऊपर समझौते की बातचीत टूट गई। ये प्रस्ताव ब्रिटिश नेकनीयती की कसौटी थे। यहाँ दो अनुलंघनीय कठिनाइया उठ खडी हुईं। काग्रेस प्रधान के साथ अपनी पहली भेंट के समय सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया था कि

---

* जवाहर लाल नेहरू-दि डिस्कवरी आफ इण्डिया, पृ. ३८५
* एच० एन० ब्रेलसफोर्ड- सब्जेक्ट इण्डिया, पृ. ६७

संक्रान्ति कालीन प्रस्तावों के ऊपर वार्ता भंग

अस्थायी राष्ट्रीय सरकार के साथ वायसराय का सम्बन्ध वैसा ही होगा जैसा कि सम्राट का ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल से होता है। लेकिन बाद में क्रिप्स अपनी इस बात से हट गए और उन्होंने कहा कि ऐसा सुदूरव्यापी वैधानिक परिवर्तन असम्भव है और वायसराय की निरकुश शक्तिया ज्यो की त्यो कायम रहेगी। इससे एक नई समस्या पैदा हो गई और समझौता असम्भव हो गया। दूसरी कठिनाई प्रतिरक्षा से सम्बन्ध रखती थी। काग्रेस की माग थी कि "उस आक्रमण को देखते हुए जो हमारे सिर पर लटक रहा है, प्रतिरक्षा के ऊपर भारत का प्रभावशाली नियन्त्रण होना चाहिए। यही वह कसौटी है, जिससे हम परख करते हैं।' लेकिन ब्रिटिश सरकार वायसराय की कार्य-पालिका परिषद मे केवल एक भारतीय सदस्य को रखने के लिये तय्यार थी, जिसके अधीन जन-सम्पर्क विभाग, सैन्य विघटन और युद्धोत्तर पुनर्निर्माण, पैट्रोल का नियन्त्रण, सैनिको की सुख-सुविधाओ की व्यवस्था और कैण्टीन-सगठन आदि विषय होते। इन दोनों कठिनाइयो ने भारत की जनता का विश्वास करने और उसे सच्ची सत्ता हस्ता-तरित करने की ब्रिटिश सरकार की अनिच्छा को स्पष्ट कर दिया।

मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण

मुस्लिम लीग ने भी क्रिप्स प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। उसने अपनी अस्वीकृति की घोषणा काग्रेस के निर्णय की प्रतीक्षा करने के बाद की। कहा जाता है कि मि० जिन्ना ने मुस्लिम लीग की स्वीकृति के लिये एक प्रस्ताव का मसविदा तय्यार किया था। परन्तु जब काग्रेस ने क्रिप्स योजना को अस्वी-कार कर दिया, तब उन्होने उसे फाड डाला। अपने प्रस्ताव में मुस्लिम लीग ने इस बात पर सन्तोष प्रकट किया कि मुसलमानो के पृथक्करण के दावे को मान्यता दे दी गई है, लेकिन सम्पूर्ण क्रिप्स योजना को उसकी जकडबन्दी के कारण अस्वीकार कर दिया। लीग ने इस बात पर बल दिया कि ऐसे किसी जन-निर्णय में जिसका उद्देश्य यह तय करना हो कि कोई प्रान्त भारतीय सघ में रहे या उससे चला जाय, केवल मुसलमानो को ही वोट देने का अधिकार होना चाहिये। इस तरह से क्रिप्स अभिनय समाप्त हो गया। राष्ट्रवादियों की दृष्टि में यह समस्त घटनाचक्र नाटकीय प्रदर्शन मात्र था जिसका अभिनय अमेरि-कन आलोचको को सन्तुष्ट करने के लिए किया गया था। क्रिप्स जिन प्रस्तावो को लाये, वे बडे कठोर थे और उन्हें या तो पूरा का पूरा स्वीकार किया जा सकता था अथवा पूरा का पूरा अस्वीकार। इस प्रकार समझौते की गुंजायश शुरू से ही नहीं रही थी। पट्टाभि सीतारामैया के शब्दों में, 'उसमें प्रत्येक दल को खुश करने वाली

बातें थी। कांग्रेस को प्रसन्न करने के लिए इन प्रस्तावो की पूर्व भूमिका में औपनिवेशिक स्वराज्य सर्वोपरि बात संविधान-सभा का उल्लेख था जिसे प्रारम्भ में ही ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से पृथक् हो जाने की घोषणा कर देने का अधिकार दिया गया था। मुस्लिम लीग के लिए सबसे बडी बात यह थी कि किसी भी प्रान्त को भारतीय संघ से अलग हो जाने का हक था। नरेशो को न केवल इस बात की आजादी थी कि वे चाहें तो इस संघ म शामिल हो या न हो बल्कि स विधान सभा में रियासतो के प्रतिनिधि भेजने का एक मात्र अधिकार भी उन्हें ही दिया गया था। उनमें सत्ता हस्तांतरित करने का इरादा बिल्कुल नही था।"

१००.'भारत छोड़ो' आंदोलन

जिस ढंग से क्रिप्स वार्ता एक बारगी भग हुई और क्रिप्स को वापिस बुलाया गया तथा इस विषय में जो वाद विवाद ब्रिटिश ससद में हुआ इन सब ने इस विचार को मजबूत कर दिया कि यह सम्पूर्ण क्रिया कलाप एक राजनीतिक धूर्तता मात्र थी जिसका उद्देश्य विश्व-लोकमत की आंखो में धूल झोकना और पूर्व अनुमानित असफलता का भार भारतीय जनता के ऊपर लाद देना था। स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार का इरादा वास्तविक सत्ता को हस्तातरित करने का नही था। फलत देश निराशा, नि सम्बलता और व्यग्रता के गर्त में डूब गया। यह राष्ट्र के लिये बहुत ही असन्तोषकर अवस्था थी क्योंकि पूर्व की ओर से आसन्न आक्रमण का भय था। जवाहर लाल नेहरू ने लिखा है. "जनता की निपट निराशा को साहस और प्रतिरोध की भावना में बदलना आवश्यक था। यद्यपि इस गतिरोध का श्रीगणेश ब्रिटिश अधिकारियों के स्वेच्छाचारी आदेशो के विरुद्ध होता लेकिन उसे आक्रमणकारी के विरोध में भी परिवर्तित किया जा सकता था। निराशा और दासता दूसरे की ओर भी इसी दृष्टिकोण को और इसी प्रकार की दीनता और तुच्छता को उत्पन्न करती।"* अप्रैल, १९४२ के बीच में महात्मा गान्धी ने उग्रतापूर्वक सोचना शुरू कर दिया। 'भारतछोड़ो' विचार उनके मस्तिष्क में जमने लगा और उन्होंने उसे 'हरिजन में एक लेखमाला लिख कर विकसित किया।

निपट निराशा और व्यग्रता का वातावरण

वे इस निष्कर्ष पर आ गये थे कि "भारत में ब्रिटिश साम्राज्य तुरन्त समाप्त होना आवश्यक है।" केवल स्वतंत्र भारत में ही आक्रमणकारी का विरोध करने की

---

* जवाहर लाल नेहरू: दि डिस्कवरी ऑफ इंडिया, पृ. ३६६।

नैतिक शक्ति हो सकती थी। ६ जून १९४२ को लुई फ़िशर से उन्होने एक भेंट में कहा था "अंग्रेजों के यहा से चले जाने और न चले जाने के बीच का कोई दूसरा रास्ता नही है। लेकिन इसका यह आशय नही कि प्रत्येक अंग्रेज अपना बोरिया-बिस्तर बाध कर हट जाय।" वे इस बात के लिए भी तय्यार थे कि ब्रिटिश सेनाए स्वतंत्र भारत की सरकार के साथ एक सन्धि कर के यहा ठहरी रहे। लेकिन उन्होने जिस बात पर बल दिया, वह यह थी कि अंग्रेज भारतीय जनता के हाथ में सत्ता हस्तांतरित कर दें। चूं कि अंग्रेजो से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे भारत छोड़कर चले जायेंगे, इसलिए कुछ न कुछ कार्यवाही करनी आवश्यक थी। अब और निष्क्रियता असह्य थी। ब्रिटिश सरकार के प्रति सक्रिय प्रतिरोध सरकार के युद्ध प्रयत्न के रास्ते में आना आवश्यक था। फिर भी यह निष्क्रियता की तुलना में श्रेयस्कर था।

भारत छोड़ो नारा

८ अगस्त १९४२ को कांग्रेस महासमिति ने बम्बई मे भारत छोड़ो प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव मे भारत की स्वतंत्रता की तत्काल स्वीकृति और ब्रिटिश शासन के अन्त की माग की गई थी। प्रस्ताव मे कहा गया था कि ब्रिटिश शासन "का स्थायित्व भारत की प्रतिष्ठा को घटाता और उसे दुर्बल बनाता है और अपनी रक्षा करने तथा विश्व स्वातन्त्र्य के आदर्शों की पूर्ति मे सहयोग देने की उसकी शक्ति मे क्रमिक ह्रास उत्पन्न करता है।·····—स्वतंत्रता भारत को अपनी जनता की सम्मिलित इच्छा और शक्ति के बल पर आक्रमण का कारगर ढंग से विरोध करने में समर्थ बना देगी।" प्रस्ताव ने एक अस्थायी सरकार के निर्माण का सुझाव दिया "जिसकाप्रथम कर्त्तव्य अपनी समस्त सशस्त्र तथा अहिंसात्मक शक्तियों द्वारा मित्र-राष्ट्रों से मिल कर भारत की रक्षा करना" होगा। अस्थायी सरकार जनता के समस्त वर्गों के लिए स्वीकार्य संविधान की रचना करने के लिये एक विधान-निर्मात्री परिषद की योजना बनाएगी। यह संविधान संघीय होगा और जिसके अन्तर्गत संघ में सम्मिलित होने वाले समस्त एककों को अधिकतम स्वायत्तता प्राप्त होगी। अवशिष्ट शक्तियां भी इन एककों में निहित होगी। अन्त में प्रस्ताव ने यह स्वीकृति दी कि यदि ब्रिटिश सरकार स्वतंत्रता की माग को अस्वीकार न करे तो अहिंसात्मक प्रणाली से अधिक से अधिक विस्तृत परिमाण पर एक ऐसा आन्दोलन प्रारम्भ किया जाय जो अन्त में "भारत की स्वतंत्रता और मुक्ति पर जाकर समाप्त हो।"

कांग्रेस महासमिति द्वारा पास किया गया भारत छोड़ो प्रस्ताव ८ अगस्त १९४२

कांग्रेस महासमिति में दिए गये अपने भाषण में महात्मा गाधी ने घोषणा की

कि यह संघर्ष 'करो या मरो' सघर्ष होगा। लेकिन यह लडाई खुली और अहिंसक लडाई होगी, उसमें गुप्त कुछ भी नहीं होगा। महात्मा गान्धी ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि वे आन्दोलन प्रारम्भ करने से पूर्व वायसराय से मिलेंगे और मुख्य मित्र राष्ट्रों से अपील करेंगे। लेकिन सरकार ने उन्हे इसके लिए समय नही दिया। सरकार की दमन करने की सारी योजनाए तय्यार थी और उसने काग्रेस के ऊपर 'विद्युत' आक्रमण कर दिया। ९ अगस्त की प्रात' महात्मा गान्धी और काग्रेस कार्यसमिति के सदस्यो को गिरफ्तार कर लिया गया। काग्रेस को अवैध सगठन घोषित कर दिया गया और चोटी के नेताओ की चारो ओर धर-पकड शुरू हो गई।

१९४२ की क्रान्ति

बस, यह जन-विद्रोह का सकेत चिन्ह था। राष्ट्रीय नेताओ की गिरफ्तारी से कुछ जनता अपना समस्त सन्तुलन खो बैठी। पट्टाभि सीतारामैया ने लिखा है कि तीन वर्ष तक भारतवर्ष नरक बना रहा। चोटी के काग्रेसी नेताओ की अनुपस्थिति में अहिंसक आन्दोलन असभव था। सब प्रकार के तत्त्व आन्दोलन में कूद पडे और जनता लूट-मार और तोड फोड के विध्वसात्मक कार्यों मे सलग्न हो गई। पजाब, सिंध और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त को छोडकर १९४२ की जन-क्रान्ति सारे भारत में तेजी से फैल गई। ५०० डाकखानो, २५० रेलवे स्टेशनों और १५० थानो को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। ३१ सिपाही मार डाले गए। बिहार में कई सप्ताह तक रेल यातायात बन्द रहा। श्रमिको ने भी हडतालें की। टाटा की लोहे की फैक्टरी के सब मजदूर १४ दिन तक हडताल पर डटे रहे। सतारा और मिदनापुर जैसे कतिपय स्थानो मे समानान्तर राष्ट्रीय सरकारो की स्थापना की गई। सरकार ने अपनी ओर से आन्दोलन का नृशसतापूर्वक दमन करने मे कुछ उठा न रक्खा। जगह जगह लाठी-चार्ज हुए और ब्रेनगनो से गोलिया चलाई गई। पाच स्थानो पर हवाई जहाज से भीड पर गोली वर्षा की गई। सरकारी आकडो के अनुसार ६५८ व्यक्ति मारे गये लेकिन इस सख्या में वे मृतक सम्मिलित नही, जिन्हे भीड हटा कर ले गई थी। इस दमनचक्र ने खुले विद्रोह को तो दबा दिया लेकिन भूमिगत आन्दोलन कई महीनो तक चलता रहा और जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया तथा अरुणा आसफअली तुल्य समाजवादी नेताओ ने उसका मार्ग-दर्शन किया।

जन-हिंसा और नौकरशाही दमन चक्र

महात्मा गान्धी ने आगाखा किले से, जहा उन्हें गिरफ्तार करके रक्खा गया था, जनता के पागलपन और सरकार की पाशविकता को आहत हृदय से देखा। १९४३ की अंतिम तिथि को उन्होंने वायसराय को एक पत्र लिखा

महात्मा गान्धी का उपवास(फर्वरी-१९४३) और उनकी कारावास से मुक्ति (मई १९४४)

और उसमें इस आक्षेप को अस्वीकार किया कि कांग्रेस हिंसा के विस्फोट के लिए उत्तरदायी है। पत्र में उन्होंने समझौते की बातचीत करने का भी प्रस्ताव उपस्थित किया। लेकिन वायसराय ने जो कुछ हो चुका था, उस सबके लिए उन्हे और काग्रेस को उत्तरदायी ठहराया। पत्र-व्यवहार का कोई फल नही निकला। महात्मा गाधी इस स्थिति को सहन नही कर सके। उन्होंने १० फर्वरी, १९४३ को २१ दिन का उपवास प्रारम्भ कर दिया। उनकी वृद्धावस्था और दुर्बल स्वास्थ्य को देखते हुए उनके उपवास ने जनता को अपार चिन्ता मे डाल दिया। लेकिन उनका उपवास सकुशल समाप्त हो गया जो कि डाक्टरो की राय मे चमत्कार से कम नही था। आगे के बारह महीनो में उनके विश्वस्त मंत्री महादेव देसाई और पतिव्रता स्त्री कस्तूर बा का देहान्त हो गया। अप्रैल १९४४ में वे ज्यादा बीमार हो गये और सरकार ने उन्हे ६ मई १९४४ को कारावास से मुक्त कर दिया।

१०१. वैविल-योजना और शिमला-सम्मेलन(जून-जुलाई, १९४५)

अक्टूबर, १९४३ में लार्ड लिलिन्थगो का कार्यकाल समाप्त हो गया और लार्ड वैविल भारतवर्ष के वायसराय हुए। अपनी नियुक्ति के कुछ ही समय बाद उन्होने घोषणा की कि "मै अपने थैले में बहुत सी चीजें ला रहा हूं।" लार्ड वैविल ने इस बात का भी अस्पष्ट संकेत दिया कि वे अपने साथ भारत की राजनीतिक समस्या का समाधान लेकर आरहे हैं। लेकिन उन्होने अपने थैले को १४ जून, १९४५ तक नही खोला। इसके पूर्व उन्होंने इंगलैंड की यात्रा की और सम्राट की सरकार से सलाह मशविरा किया। अब वायसराय के थैले से एक नयी योजना निकली। इस योजना का, जिसे भारतीयो ने बाद में एक और धूर्तता कह कर तिरस्कृत कर दिया, परीक्षण करने के पूर्व उन परिस्थितियो की ओर ध्यान देना आवश्यक है, जो उसकी पृष्ठभूमि में थी। यूरोप में लडाई समाप्त हो गयी थी और मित्रराष्ट्रो को विजय प्राप्त हुई थी। इगलैंड में साधारण निर्वाचन निकट थे। इंगलैंड का लोकमत

नई योजना की पृष्ठभूमि

श्रमिक दल की ओर झुकता जा रहा था। श्रमिक दल भारत के सम्बन्ध में एक नयी नीति का प्रतिपादन कर रहा था, उसका कथन था कि भारत को स्वतन्त्रता मिल जानी चाहिए। चर्चिल की अनुदार दलीय सरकार इस घटनाचक्र को बेचैनी से देख रही थी। ११ नवंबर, १९४२ को जिन चर्चिल ने कहा था 'मै सम्राट का प्रथम मन्त्री ब्रिटिश साम्राज्य का दिवाला निकालने के लिये नही बना।" वे बदल नही गये थे। हिंसक पशु कभी एकादशी का व्रत नही करता। लेकिन चर्चिल ठहरे राजनीति-अखाड़े

के कुशल मल्ल। उन्होंने मतदाताओं की सहानुभूति श्रमिक दल की ओर से अपनी ओर करने के लिये एक निर्वाचन-चाल की आवश्यकता समझी। यही वेविल योजना और शिमला-सम्मेलन की पृष्ठभूमि है।

योजना की शर्तें

१४ जून १९४५ को लार्ड वैविल ने भारतीय जनता के नाम एक भाषण ब्राडकास्ट किया। उसमें उन्होंने अपनी जिस योजना की घोषणा की, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थी:—(१) ब्रिटिश सरकार भारत के राजनीतिक गतिरोध को दूर करना व उसे "स्वशासन के लक्ष्य की ओर अग्रसर करना" चाहती है। (२) इस लक्ष्य को दृष्टि मे रखते हुये वायसराय की कार्यकारिणी-परिषद के सदस्यों की एक नई सूची तय्यार की जाय जिसके सब सदस्य-खाली वायसराय और प्रधान सेनापति को छोडकर (जो युद्ध मन्त्री बना रहेगा) भारत के राजनीतिक नेता हों। (३) वैदेशिक मामलो का विभाग (सीमान्त और कबायली मामलो को छोडकर) परिषद के भारतीय सदस्य के हाथ मे होगा। (४) परिषद मे सवर्ण हिन्दुओ और मुसलमानो की समान सख्या होगी। * (५) कार्यकारिणी परिषद अन्तर्कालीन राष्ट्रीय सरकार के करीब होगी और गवर्नर जेनरल "निषेधाधिकार का प्रयोग अकारण नही करेगा।" (६) गवर्नर जेनरल की दोहरी स्थिति से उनके भारत सरकार के प्रधान और साथ ही ब्रिटिश हितों के प्रतिनिधि होने के कारण, जो दुविधा उत्पन्न हो सकती है, उसे दूर करने के लिये अन्य उपनिवेशो के समान भारत मे अंग्रेजी वाणिज्य तथा दूसरे हितों की रक्षा के करने के लिये हाई कमिश्नर नियुक्त किया जायगा। (७) इन प्रस्तावों से भारत के भावी स्थायी सविधान या सविधानों के स्वरूप पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। उनकी रचना भारतीय अपने आप करेंगे।

योजना का कार्य क्षेत्र

यह स्पष्ट है कि वैविल योजना ने लम्बे समय से चली आती हुई भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या पर कोई हल पेश नही किया। उसका कार्यक्षेत्र वर्तमान तक ही सीमित था और उसके प्रस्ताव वही थे जो कि क्रिप्स योजना के अन्तर्कालीन प्रस्ताव थे। क्रिप्स के दिनो में प्रश्न था—भारतीयों को कितनी शक्ति दी जाय। इस बार यह

*यहां भोलाभाई-लियाकत अली पैक्ट की, जिस पर ११ जनवरी, १९४५ को हस्ताक्षर हुए, चर्चा करना आवश्यक है। इस पैक्टमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समानता के आधार पर केन्द्र में एक अन्तर्कालीन सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया गया था। यह सोचा गया था कि इस समझौते को महात्मा गांधी की स्वीकृति प्राप्त है।

प्रश्न न होकर भारतीयों के बीच शक्ति अलग अलग भागों में को बांट देने का प्रश्न था। मुख्य समस्या नयी कार्यपालिका परिषद की सदस्य संख्या की थी। वायसराय ने शिमला में २२ प्रतिनिधि भारतीयों का एक सम्मेलन* बुलाया। सम्मेलन २९ जून को आशामय वातावरण में प्रारम्भ हुआ। लेकिन "शीघ्र ही वह मतभेद जो सदैव पृष्ठभूमि में रहा था, फिर सम्मुख आ गया।"* कांग्रेस ने हिन्दू-मुस्लिम समानता की शर्त स्वीकार कर ली लेकिन मि० जिन्ना इस बात पर अड़ गये कि कार्यपालिका-परिषद के लिये मुस्लिम सदस्य मनोनीत करने का अधिकार केवल मुस्लिम लीग को मिलना चाहिये कांग्रेस ने इस दावे का विरोध किया क्योंकि उसकी स्वीकृति का यह आशय होता कि कांग्रेस भी एक विशुद्ध हिन्दू संस्था है और उसका कोई राष्ट्रीय स्वरूप नही है। पंजाब के मुख्य मन्त्री मलिक खिज्र हयात खां ने भी मि० जिन्ना के दावे का विरोध किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि कार्यपालिका परिषद में पंजाब को भी प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। लेकिन मि० जिन्ना किसी तरह समझौता करने के लिये राजी नही हुए।

शिमला-सम्मेलन

मि० जिन्ना की हठधर्मी की चट्टान से टकरा कर शिमला सम्मेलन चूर-चूर हो गया। लार्ड वैविल ने चौदह जुलाई को उसके भंग होने की घोषणा करदी। इस प्रकार वैधानिक गतिरोध को दूर करने की एक और चेष्टा निष्फल हो गयी। सफलता अथवा असफलता की कुंजी एक बार फिर मुस्लिम लीग के हाथो मे दी गई थी। मि० जिन्ना ने वैविल योजना का तिरस्कार किया और उसे एक 'जाल' बताया जिस को स्वीकार करने से पाकिस्तान की प्राप्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता।

सारांश

सितम्बर, १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध का ज्वालामुखी फूट पडा और वायसराय ने केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधानमण्डलो से परामर्श किये बिना ही यह घोषणा करदी कि भारत भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में शामिल है। कांग्रेस ने इस अलोकतन्त्रात्मक कार्यवाही का घोर विरोध किया। उसने ब्रिटिश सरकार से माग की कि वह अपने युद्ध-उद्देश्यों को स्पष्ट करे। चूंकि इंगलैंड कहने को स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र

*शिमला-सम्मेलन में जो व्यक्ति आमन्त्रित किये गये थे, उनमें कांग्रेस और मुस्लिम लीग के अध्यक्षों के अलावा समस्त प्रान्तों के मुख्य मन्त्री और भूतपूर्व मुख्य मन्त्री, भूलाभाई देसाई, लियाकत अली खां, बी० शिवराज, और मास्टर तारा सिंह भी शामिल थे।

* पोलक : महात्मा गांधी, पृ. २६०

की रक्षा के लिये लड रहा था, इसलिये काग्रेस ने इंगलेंड से माग की कि वह भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित करदे। काग्रेस की दृष्टि से स्वतन्त्रता की घोषणा इसलिये आवश्यक थी ताकि भारत की जनता को उस लडाई के बारे मे, जो उसकी अपनी थी, उत्साह उत्पन्न हो जाय।

सरकार ने इस माग का कोई स्पष्ट उत्तर नही दिया। सम्राट्, भारत-मन्त्री और गवर्नर जेनरल सब ने वक्तव्य दिये लेकिन उनके वक्तव्यो में सब पुरानी बातें थी और भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्न की कोई चर्चा नही की गई थी। फलतः आठो प्रांतों के कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये।

अपने वक्तव्य द्वारा उत्पन्न किये गये तीव्र विरोध से परेशान होकर वायसराय ने अगस्त प्रस्ताव (१९४०) की घोषणा करदी। भारत को वचन दिया गया कि युद्ध की समाप्ति के पश्चात यथाशीघ्र उसे औपनिवेशिक पद दिया जायगा और नये सविधान के निर्माण करने का उत्तरदायित्व भारतीयों के कधे पर होगा। जहा तक वर्तमान का सम्बन्ध था, वायसराय की बढी हुई कार्यपालिका-परिषद ने कुछ प्रतिनिधि भारतीयो को सम्मिलित करने और एक युद्ध-सलाहकार-परिषद की स्थापना करने की बात कही गई थी।

अगस्त प्रस्ताव से काग्रेस को बिल्कुल सन्तोष नही हुआ और महात्मा गाधी के अनुसार उसने इगलेंड और भारत के बीच की खाई को और चौडा कर दिया। वास्तव मे वह जवाहरलाल नेहरू और सी. राजगोपालाचारी जैसे नेताओं की हलचलो के ऊपर, जो भारत की प्रतिरक्षा मे सक्रिय सहयोग चाहते थे, एक प्रतिघात था।

महात्मा गाधी ने सीमित व्यक्तिगत सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया जो केवल नैतिक विरोध की अभिव्यक्ति था। इसमें अहिसा के पालन पर विशेष बल दिया गया था और केवल कुछ छटे हुए सत्याग्रहियो को सत्याग्रह करने की अनुमति दी गई थी।

दिसम्बर १९४१ मे जापान लडाई मे कूद पडा। इससे स्थिति पेचीदा बन गई। मित्र-राष्ट्रों को भारत का ऐच्छिक सहयोग नितान्त आवश्यक होगया। अमेरिकाके लोकमत ने इगलेंड के ऊपर यह दबाव डाला कि वह भारत के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार करे। अमेरिकन लोकमत के दबाव में पडकर ब्रिटिश सरकार ने भारत के वैधानिक गतिरोधको दूर करने के लिये सर स्टैफर्ड क्रिप्स को भारत भेजने का निश्चय किया। क्रिप्स योजना ने युद्ध के पश्चात भारत की स्वतन्त्रता का वचन दिया, लेकिन इसके साथ ही साथ पृष्ठ द्वार से पाकिस्तान की स्थापना करने की भी चेष्टा की। वर्तमान के सम्बन्ध में उसने कार्यकारिणी परिषद के भारतीयकरण का प्रस्ताव किया। लेकिन नई परिषद के साथ उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल का सा व्यवहार नहीं किया जाने को था। इसके

अलावा प्रतिरक्षा विभाग अंग्रेजो के ही हाथो में रहने को था। भारत के सभी राजनीतिक दलो ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

भारतवर्ष मे लोगो की आम धारणा यह थी कि क्रिप्स-काण्ड जनता की आंखों में धूल झोंकने का एक प्रस्तावमात्र था। जिस ढग से समझौते की बातचीत भग हुई, उसने सारे देश में असन्तोष की एक लहर पैदा करदी। ८ अगस्त १९४२ को काग्रेस महासमिति ने भारत छोडो प्रस्ताव पास कर दिया और महात्मा गाधी के नेतृत्व में अहिंसात्मक प्रणाली से आन्दोलन चलाने का निश्चय किया। अगले दिन सुबह काग्रेस महासमिति के सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये और सारे देश में प्रमुख काग्रेसी नेताओ की धर-पकड शुरू हो गई। इससे जनता उत्तेजित हो गई और वह अपना सन्तुलन खो बैठी। उसने कुछ हिंसात्मक कार्यवाहियां की। सरकार ने अपने दमन-चक्र को पूरे वेग से चलाया और खुले विद्रोह को दबाने में सफलता प्राप्त की। लेकिन भूमिगत आन्दोलन कई महीनो तक चलता रहा।

जून १९४५ मे जर्मनी को पराभव होने पर युद्ध समाप्त हो गया। इंगलैंड में अब साधारण निर्वाचन होने वाले थे और लोकमत का पलडा श्रमिक दल की ओर झुकता मालूम पडता था। ऐसी स्थिति मे सरकार वेविल योजना लेकर सामने आयी। इस योजना के ऊपर भारतीय नेताओ के साथ शिमला-सम्मेलन मे विचार-विनिमय किया गया। योजना मे भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या के ऊपर कोई प्रकाश नही डाला गया था। इसमें मुख्यत वर्तमान के ही सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव थे और वायस-राय की कार्यपालिका-परिषद की पुनर्रचना की बात कही गयी थी। योजना में कहा गया था कि वायसराय और प्रधान सेनापति को छोडकर नई परिषद के शेष सब सदस्य भारतीय होगे, सवर्ण हिन्दुओ और मुसलमानो को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा। शिमला सम्मेलन बडे आशामय वातावरण मे प्रारम्भ हुआ था। लेकिन मि० जिन्ना की हठधर्मी के कारण असफलता के साथ समाप्त हो गया। मि० जिन्ना का कथन था कि कार्यपालिका परिषद के मुस्लिम सदस्यो को मनोनीत करने का अधिकार केवल मुस्लिम लीग को ही मिलना चाहिये। काग्रेस इस दावे को स्वीकार नही कर सकी।

अध्याय १४

स्वतंत्रता और विभाजन

१०२. पृथक्तावाद से पृथक्करण की ओर

१६३८ मे मुस्लिम राजनीति के प्रवाह की दिशा में एक नया और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। हम देख चुके हैं कि मुस्लिम पृथक्तावाद किस प्रकार अशतः देश की सामाजिक-आर्थिक दशाओ से लेकिन मुख्यत. आंग्ल-भारतीय नौकरशाही के प्रोत्साहन से प्रादुर्भूत होकर भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन की प्रगति मे रोडे अटका रहा था। १९३८ तक मुस्लिम साम्प्रदायिकता की मागे पृथक् निर्वाचक मण्डलों विधान मण्डलो मे भारावनत प्रतिनिधित्व और लोक-सेवाओं में सरक्षणो तक ही सीमित थी। मि० जिन्ना की 1देह शर्तें दस वर्ष तक राष्ट्रवादी दल से पृथक रहने वाले मुसलमानो की महत्वाकाक्षाओ का प्रतिनिधित्व करती रही। ये मागे राष्ट्र विरोधिनी होते हुए भी सयुक्त भारत की मान्यता पर आश्रित थी। दूसरी गोलमेज परिषद के अवसर पर मुस्लिम प्रतिनिधियो ने रहमत अली की पाकिस्तान सम्बन्धी योजना के बारे मे कहा था कि यह तो खाली 'छात्रों की योजना" है और सर्वथा 'काल्पनिक तथा अव्यवहार्य' है। जब १९३५ का अधिनियम पास हुआ, मि० जिन्ना ने प्रस्तावित संघ को "पूर्णतः अस्वीकार्य" बताया। लेकिन उनका आक्षेप यह नही था कि अधिनियम ने पृथक् मुस्लिम राज्य की मान्यता को स्वीकार नही किया, अपितु यह था कि उसने जेन्य उत्तरदायी शासन की स्थापना नही की।

मुस्लिम राजनीति में एक नया मोड़

"१९३८ के जाड़े के पश्चात् मुसलमानों के मन में एक नया और विध्यात्मक सिद्धान्त आकार ग्रहण करने लगा।"* यह नया सिद्धान्त द्विराष्ट्र सिद्धान्त था। मुस्लिम लीग ने देश के विभाजन की माग सामने रक्खी। अब भारतीय मुसलमान 'सम्प्रदाय' या अल्पसंख्यक वर्ग नही रहे, वे अनायास ही पूर्ण विकसित राष्ट्र बन गए

विभाजन की मांग

---

* कूपलैंड- इंडिया, ए रिस्टेटमेन्ट पृ. १८८

जिसे दो खण्डों वाले पाकिस्तान के रूप में अपने लिए एक राष्ट्रीय गृहदेश की मांग करने का अधिकार प्राप्त था। मि० जिन्ना 'कायदे आजम' हो गये और संयुक्त भारत के आधार पर समझौते के सारे प्रयत्न उनके हठ-धर्म की चट्टान से टकरा कर चूर चूर हो गए।

१०३. पाकिस्तान की मांग को जन्म देने वाले कारण

विभाजन की मांग का अभिप्राय भूतकाल से स्पष्टत: सम्बन्ध-विच्छेद था। लेकिन यह ठीक ही कहा गया है कि पाकिस्तान पृथक्तावाद की नीति का स्वाभाविक निष्कर्ष था। "मुस्लिम लीग ने अपने भवन को रक्षा-कवचों की बढती हुई खुराकों तथा अन्य बहुत सी तरकीबो द्वारा उत्तेजित की गई पृथक्तावादी भावना की नीव पर खडा किया था।"* रक्षा-कवचों द्वारा जो कुछ भी प्राप्त किया जा सकता था, १९३७ तक वह सब प्राप्त कर लिया गया था। मुस्लिम लीग एक प्रतिक्रियावादी संस्था थी,

"मुस्लिम लीग की राजनीति की तर्कना में विद्यमान"

उसके ऊपर मुस्लिम नरेशो, जमीन्दारों, उद्योगपतियो तथा अन्य दूसरे प्रतिगामी तत्वों का नियन्त्रण था। उसके पास सामाजिक और आर्थिक सुधार का कोई कार्यक्रम नहीं था फिर वह मुस्लिम जनता को किस प्रकार अपनी ओर आकृष्ट करती ? उसके ऊपर किस प्रकार अपना प्रभाव जमाती ? स्पष्ट है कि एक नये नारे की आवश्यकता थी। "पृथक् मत, पृथक् निर्वाचक-मण्डल, पृथक् प्रान्त, स्टेट्यूटरी रक्षा-कवच सबकी मांग की जा चुकी थी और पूरी हो चुकी थी। अगला तर्क सम्मत कदम...पृथक राज्यो की माग करना था। यह मुस्लिम लीग की राजनीति की तर्कना में विद्यमान था।" ‡ पाकिस्तान की माग चाहे तार्किक दृष्टि से मूर्खतापूर्ण, भोगोलिक दृष्टि से दुर्बल, आर्थिक दृष्टि से विनाशकर और अल्पसंख्यक वर्गों की समस्या के समाधान के रूप में सर्वथा अस्वीकार्य ही क्यो न रही हो, परन्तु वह हिन्दू मुस्लिम तनाव को अवश्य ही प्रचण्ड रख सकती थी और मुस्लिम जनता को लीग के झण्डे के नीचे एकत्र करनेमें समर्थ थी।

यह सही है कि पृथक्तावाद का 'तर्क' मुस्लिम लीग को पाकिस्तान के लक्ष्य की ओर खींच रहा था, लेकिन हमें यह भी न भूलना चाहिये कि कतिपय अन्यान्य कारणो ने इस प्रक्रिया की गति तीव्र कर दी। इन कारणो में से एक कारण १९३५ के अधिनियम के अधीन कांग्रेस के बहुमत वाले प्रान्तो में लीग और कांग्रेस के संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने का प्रश्न था। ऐसा मालूम पडता है कि १९३७ के निर्वाचन के पूर्व कांग्रेस लीग सहयोग के बारे में

कांग्रेस और संयुक्त मंत्रिमण्डल बनाने का प्रश्न

---

* मेहता और पटवर्धन- दि कम्युनल ट्रायंगल, पृ. ११९

‡ मेहता और पटवर्धन- वही, पृ. ११९

कुछ अस्पष्ट सा समझौता था। मि० जिन्ना ने स्वतन्त्र दलो के बीच जेन्य सहयोग के आधार पर कांग्रेस के साथ मिलकर संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने की इच्छा व्यक्त की थी। उन्होंने लिखा था, "वस्तुत: इस समय कांग्रेस और लीग मे किसी प्रकार का कोई सारभूत अन्तर नही है ..। हम कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम मे सदैव सहर्ष सहयोग देगे।"* लीग "विश्वास पूर्वक यह आशा करती थी कि उनसे कांग्रेस के साथ संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये कहा जायगा।"‡ कांग्रेस के पास से आशानुरूप आमन्त्रण आया। लेकिन कांग्रेस ने संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये लीग के सामने (यू० पी०) मे कुछ शर्ते रक्खी। वे शर्ते निम्न लिखित थीं, "मुस्लिम लीग गुट...... एक पृथक् गुट की तरह काम करना बन्द कर देगा......। संयुक्त प्रान्त की विधान सभा में मुस्लिम लीग के जो वर्तमान सदस्य है, व कांग्रेस दल के भाग हो जायेगे और ...उन्हे कांग्रेस दल का नियन्त्रण व अनुशासन मानना होगा। ... संयुक्त प्रात का मुस्लिम लीग सासद निकाय भग कर दिया जायगा और भविष्य में इस निकाय द्वारा किसी भी उप-निर्वाचन में सदस्य खड़े नही किये जायेगे।"† "वैधानिक दृष्टि से और साधारण सासद मापदण्डो द्वारा कांग्रेस की कार्यवाही का औचित्य सिद्ध किया जा सकता था।* चूंकि कांग्रेस के पास बहुमत काफी था, अतः वह मुस्लिम लीगियों को अपनी शर्तो के अन्य किन्ही शर्तों पर लेने पर बाध्य नही थी। कांग्रेस का विश्वास था कि उसकी शर्ते मन्त्रिमण्डलो के अनुशासन की दृष्टि से आवश्यक थी। इनके द्वारा मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर काम कर सकते थे। लेकिन कांग्रेस के आलोचको ने उसे 'विजयोन्मत्त' बताया। मुस्लिम लीग ने इन शर्तो पर, जिनका अभिप्राय उसका विघटन और कांग्रेस मे विलीनीकरण था, सहयोग देन से इनकार कर दिया।

यह संदिग्ध है कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच जेन्य सहयोग किसी प्रकार व्यावहारिक था। तथापि, यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि मन्त्रिमण्डल में हिस्सा न मिलने से मुस्लिम लीग अत्यन्त असन्तुष्ट हुई। कूपलैंड के अनुसार यह मि० जिन्ना का "प्रत्यक्ष तिरस्कार था।"‡ उन्होंने कहा- "मुसलमान कांग्रेस सरकार की अधीनता मे न तो न्याय की ही और न उसके साथ समान व्यवहार की ही आशा कर सकते हैं।" किसी समय उन्हे हिन्दू-मुस्लिम एकता का दूत कहा गया था, अब वे

* सय्यीद-जिन्ना, पृ ५५६
‡ साइमण्डस- दि मेकिंग आफ पाकिस्तान, पृ. ५३
† दि हिन्दुस्तान टाइम्स ३० जुलाई १९३७
* साइमंड्स- वही, पृ; ५४
‡ कूपलैंड: इंडिया, ए रिस्टेटमेंट पृ. १८२।

क़ायदे-आजम, "साम्प्रदायिक अहकार और कलह के प्रतीक" हो गये। उन्होंने कांग्रेस की कठोर से कठोर आलोचना शुरू कर दी, उसे फासिस्ट हिन्दू संस्था बताया और कहा कि वह 'देश के अन्य दलों, विशेषकर मुस्लिम लीग को कुचलने पर तुली हुई है।' भारतीय इतिहास के एक युग-विधायक अवसर पर समन्वयमूलक रुख ग्रहण करने में कांग्रेस की असफलता का उल्लेख करते हुए साइमड्स ने लिखा है, 'पाकिस्तान के निर्माण में इससे अधिक और किसी एक घटना ने सहायता नही दी।' यह कथन स्पष्टत: अतिशयोक्ति है, फिर भी इसमें सत्य का थोडा सा अश अवश्य है।

कांग्रेस का जन-सम्पर्क आंदोलन

जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व मे प्रारम्भ किए गये काग्रेस के जन-सम्पर्क आदोलन ने भी मुस्लिम लीग को विद्रोही बना दिया। काग्रेस ने इस बात पर बल दिया कि देश के सामने असली समस्या साम्प्रदायिक नही, अपितु आर्थिक है और मुस्लिम जनता को अपने साथ मिलाने की कोशिश की। कुछ समय तक यह आदोलन जोरो से चला और काग्रेस मे मुस्लिम सदस्यो की सख्या बढने लगी। लेकिन शीघ्र ही इसकी प्रतिक्रिया भी शुरू हो गई। मुस्लिम लीग ने इस आदोलन को अपने अस्तित्व के लिये एक चुनौती समझा। मि० जिन्ना के अनुसार इस आदोलन का लक्ष्य मुसलमानो में फूट डालना, उन्हे दुर्बल करना और उन्हे अपने विश्वसनीय नेताओ से पृथक् करना था।" लीग के पास कोई आर्थिक कार्यक्रम तो था नही, फलतः उसने 'इस्लाम खतरे मे है' का नारा बुलन्द किया और 'तर्क-विहीन अपीलकी टेकनीक' का आश्रय लिया।‡ उसने काग्रेस के विरुद्ध जी खोलकर प्रचार किया, उसे प्रत्यक्ष सिद्ध हिन्दू तानाशाही बताया जिसकी अधीनता मे मुसलमानों की स्थिति गुलामो से भी बदतर हो गई थी। मुस्लिम लीग इस तथ्य को जानबूझ कर भूल गई कि काग्रेमी प्रातो के कुल ३५ मन्त्रियो मे से ६ मन्त्री मुसलमान थे और ५ मन्त्री दूसरे अल्पसख्यक वर्गों के प्रतिनिधि थे।

हिन्दुओं के 'अत्याचार' का ढिंढोरा

मुस्लिम जनता के बीच उद्वेग की एक लहर व्याप्त हो जाय, इस आशय से मुस्लिम लीग ने हिन्दुओ के 'अत्याचार' का अपनी पूरी शक्ति के साथ ढिंढोरा पीटा। काग्रेस को पद ग्रहण किये हुये मुश्किल से आठ महीने बीते होगे कि मार्च १९३८ मे मुस्लिम लीग ने पीरपुर के राजा साहब की अध्यक्षता मे एक समिति नियुक्त की जिसका उद्देश्य मुसलमानों, विशेष कर लीग के कार्यकर्ताओ के साथ किये गये दमन और अत्याचार की शिकायतो की जाच

‡ मेहता और पटवर्धन: वही, पृ. १२०।

करना था। १५ नवम्बर १९३८ को समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश की। रिपोर्ट में समिति ने मुसलमानों के कष्टों की एक लम्बी सूची दी और निष्कर्ष निकाला, 'बहुमत के अत्याचार से बढ़ कर और कोई अत्याचार नही हो सकता।" कांग्रेस ने प्रस्ताव किया कि अभियोगों की निष्पक्ष जाच करायी जाय लेकिन लीगने वायसराय से अन्याय निवारण करवाना अधिक श्रेयस्कर समझा। यह नही मालूम कि वायसराय ने लीग द्वारा कांग्रेस पर लगाये गये अभियोगों के ऊपर कोई कार्यवाही की या नही। इस सम्बन्ध में सरकार का जो दृष्टिकोण था, उसे संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर हेरी हेग ने अपने पद से अलग हो जाने के बाद प्रकट किया। उन्होने "कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल के विवेक और विचारपूर्ण नीति की प्रशंसा की।"* प्रो. कूपलेंड ने भी, जो कि कांग्रेस के किसी प्रकार हिमायती नहीं हैं, लिखा है कि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने साम्प्रदायिक अन्याय अथवा उत्पीड़न की नीति का बिल्कुल आश्रय नही लिया था।"† मुस्लिम लीग का अपने निरर्थक अभियोगों की सचाई अथवा निष्पक्ष जाच की आवश्यकता से कोई नाता नही था। उसने उत्पीड़न की गाथा को मुस्लिम जनतापर अपना प्रभाव बनाये रखने और कांग्रेस को पराजित करने के लिए अत्यन्त उपादेयी पाया। दुर्भाग्यवश १९३७ और १९४२ के बीच के वर्षो में लीग की यह टेकनीक सफल हो गई। इस बीच मुस्लिम स्थानो के लिए जो ६१ उप-निर्वाचन हुए, उनमें लीग ने ४७ और कांग्रेस ने केलल ४ स्थान प्राप्त किये।

उत्पीड़न की गाथा

पाकिस्तान की माग के रूप मे मुस्लिम पृथकतावाद की पराकाष्ठा के लिए कुछ अशो मे हिन्दू-महासभा जैसे कतिपय सगठन भी दोषी हैं। प्रारम्भिक चरणो मे महासभा के नेता प० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय जेसे प्रमुख राष्ट्रवादी थे और उसका मुख्य उद्देश्य काग्रेस की शक्ति को बढाना था। १९२४ में अपने अध्यक्षीय भाषण मे पं० मालवीय ने कहा था "यदि किसी हिंदू ने कॉग्रेस का विरोध किया, तो यह लज्जा की बात होगी।" लेकिन धीरे-धीरे कट्टरपथी और प्रतिक्रियावादी तत्वो ने महासभा के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। १९३७ में वी. डी. सावरकर ने हिंदू राष्ट्र के अपने सिद्धात का प्रचार करना शुरू कर दिया। १९३९ मे उन्होने कहा, "भविष्य मे हमारी राजनीति विशुद्धत हिंदू राजनीति होगी।" इसमें कोई सदेह नही क हिंदू साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद मुस्लिम पृथकतावाद की प्रतिक्रिया था। उसने साम्प्र-

हिन्दू-साम्प्रदायिकता

* राजेन्द्र प्रसाद, खंडित भारत, पृ. २२५।
† कूपलैंड: इंडिया, ए रिस्टेटमेंट पृ. १८५।

दायिक कलह की आग तो नही फूकी, लेकिन उसकी ज्वालाओं को अवश्य ऊंचा रखा और मुसलमानों को पाकिस्तान की ओर बढने में प्रेरित किया।

भारत के ब्रिटिश महाप्रभुओ ने साम्प्रदायिक विद्वेष की वृद्धि में सबसे अधिक योगदान दिया। उन्होंने भारत की इन दोनों जातियों के हृदय में एक दूसरे के प्रति अविश्वास पैदा किया और इस अविश्वास को बढाया।

अंग्रेजों का हाथ

मेहता और पटवर्धन के शब्दों में, "पाकिस्तान का विचार आंग्ल भारतीय नौकरशाही के लिए नया नही था।"* १६३९ में एडवर्ड थामसन ने बडे विस्मय के साथ इसबात को नोट किया था कि "कतिपय सरकारी पदाधिकारी पाकिस्तान के विचार के प्रति बडे उत्साही थे।" ‡ १९४० के पश्चात, जब कि मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान को अपना लक्ष्य घोषित कर दिया था, उसने ब्रिटिश सरकार से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन प्राप्त किया। अनुदार दल के भारतमन्त्री मि० एमरी पाकिस्तान की माग के प्रति सहानुभति रखते हैं, ऐसा प्रख्यात था। अपने सार्वजनिक भाषणो में वे हिंदू मुसलमानो के मतभेदो का खूब जोरशोर से उल्लेख किया करते थे। एक अवसर पर उन्होंने कहा था "भारतीय स्वतन्त्रता के भावी आगार में कई भवनोके लिये स्थान है।' यह हम पहले देख ही चुके हैं कि क्रिप्स प्रस्ताव ने विभाजन की सम्भावना को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया था। ब्रिटिश सरकार के प्रवक्ताओ ने बाद की समस्त उद्घोषणाओ मे खडित भारत का निरूपण किया यद्यपि वे दिखाने को एकता के आदर्श के गीत गाते रहे।

१०४. द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त

मुसलमानो की पाकिस्तान की माग और तथाकथित द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त का ९६३७ और १९४० के बीच में विकास किया गया। मि० जिन्ना ने मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन मे (१९४०) अध्यक्षपद से भाषण देते

सिद्धान्त का विवरण

हुए द्वि राष्ट्र-सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से वर्णन किया। उन्होंने कहा, ये (हिन्दू धर्म और इस्लाम) शाब्दिक अर्थ में धर्म नही हैं प्रत्युत्तर ये दो पृथक और स्पष्ट सामाजिक व्यवस्थाए हैं। हिन्दू और मुमलमान कभी एक सयुक्त राष्ट्र के रूप में रह सकते हैं, यह कोरा स्वप्न है। हिन्दुओ और मुसलमानो के धार्मिक सिद्धान्त, सामाजिक रीति रिवाज, दर्शन और साहित्य एक दूसरे से सर्वथा पृथक हैं। उनका परस्पर रोटी बेटी

---

* मेहता और पटवर्धनः वही पृ; ७८।

‡ थामसन एनलिस्ट इंडिया फार फ्रीडम पृ० ५६।

का सम्बन्ध नही है। वस्तुतः दोनो की परस्पर विरोधी भावनाओं पर आधृत सभ्यताएं पृथक् पृथक् हैं। जीवन पर दोनो भिन्न प्रकार से विचार करते हैं। दोनो के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण मे अन्तर है। यह स्पष्ट है कि हिन्दुओं और मुसलमानों को पृथक-पृथक् ऐतिहासिक आधारो मे प्रेरणा मिलती है। उनकी पुरातन गाथाएं, उनके वीर और उन वीरो की कहानिया पृथक् पृथक् हैं। प्रायः एक का वीर दूसरे का शत्रु माना गया है और एक की विजय दूसरे की पराजय। ऐसे दो दो राष्ट्रो को एक राज्य में गूथने का प्रयत्न, जिसमे एक अल्पसख्यक हैं दूसरा बहुसख्यक, अवश्य असन्तोष उत्पन्न करेगा और उस शासन व्यवस्था का अन्त करके छोडेगा, जो ऐसा राज्य चलाने का प्रयत्न करेगा।"*

इस सिद्धान्त ने उन सबको, जो भारत के दो पृथक्, एक हिन्दू और एक मुस्लिम राज्यो के रूप मे विभाजन के समर्थक थे, एक नया आधार दिया। अलीगढ के मुहम्मद अफजल हुसैन कादरी और प्रोफेसर जफरूल हसन ने यह दावा किया कि "भारत के मुसलमान स्वतः एक राष्ट्र हैं। हिन्दुओ तथा अन्य गैर-मुसलमान दलो से उनका राष्ट्रीय अस्तित्व सर्वथा भिन्न है। वस्तुतः सुडेटान जर्मन और चेको में जितना पार्थक्य था, उससे कही अधिक पार्थक्य हिन्दुओ और मुसलमानो में है।"‡ अल हमजा ने कहा कि भारत एक देश नही हैं, उसमे कई देश हैं और इस लिये उसे कई राष्ट्रो मे विभक्त समझना चाहिये।†

सिद्धान्त का आधार धर्म

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त इस बात को लेकर चला था कि धर्म की भिन्नता ने हिन्दुओ और मुसलमानो का एक राष्ट्र के रूप मे सगठित होना असभव कर दिया है। यह धारणा सर्वथा निराधार थी। राष्ट्रीयता वस्तुत एक मनोवैज्ञानिक परिस्थिति हैं, यह पारस्परिक एकानुभूति की भावना है। इस एकानुभूति की भावना को जन्म देने वाले कई तत्व हैं, धर्म तो उनमे से केवल एक है। भौगोलिक और प्रजातीय तत्व, सामान्य भाषा और सस्कृति, सामान्य इतिहास और परम्पराएं आदि तत्व भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि करते है। जहा तक भारत के हिन्दुओ और मुसलमानो का सम्बन्ध है, इनमें से अधिकाश तत्व उपस्थित हैं। भौगोलिक दृष्टि से भारत सदैव ही एक प्रादेशिक इकाई रहा है। डा० बेनी

---

* राजेन्द्र प्रसाद द्वारा उद्धृत खंडित भारत पृ १-२।
‡ " " पृ,२।
† अल हमजा पाकिस्तान, ए नेशन, पृ ७।

प्रसाद ने ठीक ही कहा हैं, "ससार में ऐसा कोई भी देश नही जिसे समुद्र और प गड़ों के कारण भारत जैसा अखड रूप प्राप्त हो।" भारतवर्ष में धार्मिक भेदो के कारण प्रजातीय और भाषा सम्बन्धी एकता पर कोई प्रभाव नहीं पडता। एक मद्रासी मुसलमान का किसी पजाबी मुसलमान की अपेक्षा मद्रासी हिन्दू से अधिक निकट सम्बन्ध होता हैं। बगाल के हिन्दू और मुसलमान एक भाषा बोलते हैं और यह भाषा सिन्ध के हिन्दुओ और मुमलमानो की भाषा से पृथक् होती है। दोनो ही जातियो ने सामान्य भारतीय सस्कृति के विकास में सहयोग दिया हैं। यह मिली जुली सस्कृति दोनो के सम्मिलित पुरुषार्थ का फल है। कविता और सगीत में, चित्रकला और शिल्पकला में हिन्दू और मुस्लिम परम्पराओ का स्वतन्त्रतापूर्वक मिश्रण हुआ है। हिन्दुओं और मुसलमानो के बीच यदि कोई वास्तविक अन्तर है, तो है धर्म का। लेकिन यह साधारणतः स्वीकार किया जाता है कि केवल धर्म ही राष्ट्रीयता का अनिवार्य आधार नही है। और फिर अधिकाश भारतीय मुसलमान उन हिन्दुओ के वशज हैं जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था। क्या इसका यह आशय है कि धम बदल जाने से राष्ट्रीयता भी बदल जाती है ?

सिद्धान्त की दुर्बलता

इसमें कोई सन्देह नही कि द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त एक राजनीतिक मूर्खता थी। लेकिन दुर्भाग्यवश राजनीति के क्षेत्र में वे राजनीतिज्ञ, जो प्रत्येक मूल्य पर अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये कृतनिश्चय होते हैं, मूर्खताओ का अत्यन्त बुद्धिमता से उपयोग करते है। भारतवर्ष मे यही हुआ। भारतवर्ष में सास्कृतिक समन्वय की साधना शताब्दियो मे चली आ रही थी, ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने उसमे बाधा पहुँचाई और फिर उनके मित्रो सम्प्रदायवादियो ने उसके विकास का पथ अवरुद्ध किया। द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त, जो इस समन्वय-साधना की सभावना का ही निषेध करता था, साम्राज्यवादियो और सम्प्रदायवादियो की अभिसन्धि का नैसर्गिक निष्कर्ष था। राष्ट्रीयता मुख्य रूप से भावना का एक मामला है, मानस की एक स्थिति है, शताब्दियो के सामान्य जीवन द्वारा निर्मित सहयोग की एक अनुभूति है, उसे तर्कविहीन परन्तु अनवरत भावुक अपीलो द्वारा विभ्रष्ट किया जा सकता है। भारतवर्ष जैसे देश के बारे मे, जहां की अशिक्षित जनता को चतुर और कृतसकल्प प्रचार द्वारा सुगमतापूर्वक धोखे में डाला जा सकता है, यह विशेष रूप से सत्य है। मुस्लिम लीग के नेताओ ने मुस्लिम जनता की अशिक्षा और धार्मिक भावनाओ का पूरा लाभ उठाया और दुर्भाग्यवश उसमे एक पृथक् राष्ट्रवाद की चेतना का निर्माण करने में सफलता प्राप्त की। कोई आश्चर्य नही कि पाकिस्तान के नारे ने अधिकाश मुस्लिम जनता का सोत्साह समर्थन प्राप्त किया।

पाकिस्तान के समर्थकों ने द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त के विरुद्ध एक शक्तिशाली तर्क की उपेक्षा की। यदि भारत के हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं, तो फिर पाकिस्तान की स्थापना होने के पश्चात् उन मुसलमानों का क्या होगा, जो भारत में बच रहेंगे ? क्या वे भारत में विदेशियों की तरह रहेंगे ? पाकिस्तान में अमुस्लिमों का क्या होगा ? स्पष्ट है कि दोनों ही राज्यों में शक्तिशाली राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग शेष रहेंगे ? लेकिन डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद के शब्दों में "राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग-दोनों में परस्पर विरोध है।"*

राष्ट्रीय राज्य और राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्ग

मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए राष्ट्रीय गृह की अपनी माग को राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सुप्रसिद्ध सिद्धान्त पर आधारित किया। जे. एस. मिल ने इस सिद्धान्त का निम्न शब्दों में निरूपण किया है, "जहा एक राष्ट्रीयता किसी भी मात्रा में विद्यमान हो, उस राष्ट्रीयता के सब सदस्यों को एक ही शासन की अधीनता में, जो स्वय उनका ही एक भाग हो, सयुक्त करने के लिए प्राइमाफेसी केस है। प्रथम महायुद्ध के दौरान मे यह सिद्धान्त बहुत प्रख्यात हो गया और राष्ट्रपति विल्सन की चौदह शर्तों की आधारशिला बना। युद्ध के पश्चात् यूरोप के मानचित्र की नए सिरे से रचना की गई और राष्ट्रीयताओं की राजनीतिक आकाक्षाओं की पूर्ति करने के लिए कई नए राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ।

राष्ट्रीय और बहुराष्ट्रीय राज्य

लेकिन अब कुछ समय से राजनीतिक विचारधारा का झुकाव 'एक राष्ट्र, एक राज्य' सिद्धान्त के विरुद्ध हो गया है क्योंकि यह अव्यावहारिक भी है और अवाछनीय भी। राष्ट्रीयताए एक दूसरे के साथ इतनी अधिक घुलमिल गई हैं कि वे सटे हुए प्रदेशों मे निवास करती हुई कम पाई जाती हैं। समस्त विभिन्न जातीय राष्ट्रीय अल्पसंख्यक वर्गों को निकाल कर किसी एकजातीय राष्ट्रीय राज्य का सृजन करना असंभव है। चाहे कुछ भी हो, छोटे छोटे प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य ऐटोमिक युग मे अप्रचलित हो गये हैं। फलत "आधुनिक विश्व की सबसे बडी आवश्यकता एक ऐसे राजनीतिक सिद्धान्त का सृजन करना है जिसमे राज्य और राष्ट्र सहव्यापी न हो।" फ्रीडमान के अनुसार, "राष्ट्रीयता अब राज्य के लिए आधार प्रदान नहीं कर सकती।" वस्तुतः रूस और स्विट्जरलैण्ड जैसे बहुराष्ट्रीय राज्य इस बात को सिद्ध करते हैं कि एक संघीय राज्य की छत्रछाया में विभिन्न राष्ट्रीयताए शान्तिपूर्वक निवास कर सकती हैं। और अपनी विशिष्ट सस्कृतियों का विकास तथा सधारण कर सकती हैं। लेकिन

* राजेन्द्र प्रसाद, खंडित भारत पृ० ४५।

भारतवर्ष में मुस्लिम पृथकतावादियों ने न तर्क की परवाह की और न इतिहास की। वे सर सय्यद अहमद खाँ के आदर्शों से, जिन्होंने कहा था कि हिन्दू और मुसलमान भारतमाता की दो आखें हैं, काफी आगे निकल गये थे। यह भी स्मर्तव्य है कि द्वि-राष्ट्र सिद्धात ने हिन्दू साम्प्रदायिक नेताओ के क्रियाकलापो और उद्घोषणाओं से भी बहुत कुछ प्रोत्साहन प्राप्त किया। १९३७ में वी. डी. सावरकर ने घोषणा की, "भारतवर्ष को एकात्मक और सहजातीय राष्ट्र नही माना जा सकता। इसके विपरीत भारतवर्ष में मुख्य रूप से दो राष्ट्र है हिन्दू और मुसलमान।"* यह स्मर्तव्य है कि इसके एक ही वर्ष पश्चात १९३८ मे मुस्लिमलीग ने द्वि-राष्ट्र-सिद्धान्त को गम्भीरता पूर्वक उपस्थित किया।

१०५. पाकिस्तान के लिए आन्दोलन

पाकिस्तान का विचार

बहुधा कहा जाता है कि भारतीय मुसलमानो के लिये एक पृथक राज्य का विचार कविवर इकबाल के मस्तिष्क मे उद्भूत हुआ। मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन (१९३०) मे उन्होने कहा था "कम से कम पश्चिमोत्तर भारत के मुसलमानो का अन्तिम भाग्य मुझे एक दृढ पश्चिमोत्तर भारतीय मुस्लिम राज्य की रचना प्रतीत होता है।"* इस विचार का विरोध और उपहास तक हुआ, परन्तु उसने कैम्ब्रिज मे पढने वाले कतिपय युवक मुस्लिम छात्रो की कल्पना को उत्तेजित किया। उनका नेता रहमतअली था। उसने सबसे पहले १९३३ मे भारतीय मुसलमानो को 'एक राष्ट्र' के नाम से सम्बोधित किया और प्रस्तावित नए राज्य 'पाकिस्तान' के लिये एक योजना तय्यार की। रहमत अली के 'पाकिस्तान' में पजाब पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, काश्मीर और बलूचिस्तान सम्मिलित करने का सुझाव था।

---

* हिन्दू महासभा के अहमदाबाद अधिवेशन के अध्यक्ष-पद से दिया गया व्याख्यान।

*यह स्मर्तव्य है कि इकबाल ने केवल एक ऐसे स्वायत्त राज्य के सृजन की कल्पना की थी, जो भाषा-प्रजाति, इतिहास, धर्म और आर्थिक हितो की एकता के ऊपर आधारित हो। उन्होंने मुसलमानो के लिए किसी एक प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतंत्र राज्य अथवा राज्यो की माग नही की थी। कूपलैण्ड के अनुसार वे सम्पूर्ण भारत का एक ऐसा शिथिल संघ चाहते थे जिसमे कि, "केन्द्रीय सघीय सरकार केवल उन शक्तियो का उपभोग करती हो, जो कि उसके सघीय राज्यो की स्वतंत्र सहमति द्वारा निहित की जायें।" थॉमस एडवर्ड के साथ एक भेंट में इकबाल ने अपना यह विचार व्यक्त किया था कि "पाकिस्तान की योजना, ब्रिटिश सरकार, मुस्लिम जाति और हिन्दू जाति सब के लिए घातक होगी।"

उसकी योजना में बंगाल और आसाम को मिला कर 'बंग-इ-इस्लाम' और हैदराबाद के राज्यक्षेत्र का 'उस्मानिस्तान' बनाने की भी चर्चा की गई थी। रहमत अली ने अपने विचार को लोक प्रिय बनाने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ किया और पाकिस्तान का समर्थन करने वाले पैम्फलैटो को ब्रिटिश संसद के सदस्यो तथा गोलमेज परिषद में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों मे बाटा। तथापि उनकी योजना का कोई आदर नही हुआ और जफरुल्ला खा ने सयुक्त सांसद समिति के सामने भाषण देते हुये उसे "काल्पनिक तथा अव्यावहारिक" बता कर अस्वीकार कर दिया।

मुस्लिम लीग पाकिस्तान के लक्ष्य को अपनाती है

सच तो यह है कि १९३७ के पूर्व मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के विचार में कोई विशेष रुचि नही ली। निर्वाचन के पश्चात् जब लीग के नेताओं की सयुक्त मन्त्रि-मडल की आशाए फलवती नही हुई, तब उन्होंने 'इस्लाम खतरे मे है का नारा बुलन्द किया और मुस्लिम जनता को पाकिस्तान का इन्द्रजाल दिखाकर अपनी स्थिति मजबूत करने की चेष्टा की। यह स्मर्त्तव्य हैं कि १९३७ के निर्वाचन मे मुस्लिम लीग को करारी हार खानी पडी थी, विशेषकर मुस्लिम बहुल प्रान्तो मे। उदाहरणार्थ, बगाल म वह ११९ मुस्लिम स्थानो मे से केवल ३६ पर ही अधिकार कर सकी थी। पजाब में उसने ८६ स्थानो मे से केवल १ को ही प्राप्त किया। १९३७ के पश्चात मुस्लिम लीग की शक्ति बहुत तेजी से बढी। इसलिये इसमे कोई आश्चर्य नही है कि १९३८ मे सिन्ध प्रान्तीय मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में सभापति पद से भाषण देते हुए मि० जिन्ना ने भारत के विभाजन की माग उपस्थित की। लेकिन यह माँग अभी प्रयोगात्मक थी और जनवरी, १९४० में मि० जिन्ना ने एक अग्रेजी पत्र मे लिखा "भारत मे दो राष्ट्र हैं और दोनो को अपनी सामान्य मातृभूमि के शासन मे भाग मिलना चाहिए।"* कूपलेंड ने ठीक ही लिखा है, 'भाग लेना पृथक्करण नहीं है और मि० जिन्ना ने अभी उस रेखा को पार नही किया था।"† लेकिन तीन महीने बाद ही उन्होंने पाकिस्तान का राग अलापना शुरू कर दिया। अपने लाहौर-अधिवेशन (मार्च १९४०) में मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान का प्रस्ताव पास किया। प्रस्ताव में माग की गई थी कि "भारत के पश्चिमोत्तर और पूर्वी क्षेत्र जैसे मुस्लिम बहुल क्षेत्रो को आपस मे मिला कर स्वतन्त्र राज्य के रूप मे सगठित किया जाना चाहिये।" अपने अध्यक्षीय भाषण में मि० जिन्ना ने घोषणा की, "राष्ट्र की किसी भी परिभाषा के अनुसार मुसलमान एक राष्ट्र हैं, अतः उनकी अपनी वासभूमि, अपना प्रदेश और अपना राज्य होना चाहिए।" इस

* टाइम एंड टाइड, १९ जनवरी, १९४०: कूपलैंड द्वारा उद्धृतः इंडिया ए रिस्टेटमेंट, पृ. १९१।
† कूपलैंड वही, पृ. १९१।

अधिवेशन के कुछ ही समय बाद मि० जिन्ना ने एसोसियेटेड प्रेस ऑफ अमेरिका को एक 'इंटरव्यू' दिया और उसमें कहा कि पाकिस्तान एक लोकतन्त्रात्मक संघीय राज्य होगा जिसमें पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, बालूचिस्तान, सिन्ध और पंजाब व पूर्व में बंगाल और आसाम सम्मिलित होंगे।

पाकिस्तान का विरोध

१९४० के पश्चात् "पाकिस्तान" मुस्लिम लीग की विचारधारा का केन्द्रबिंदु हो गया। भारतीय मुसलमानों की वैध आकांक्षाओं को तृप्त करने के उद्देश्य से व्यक्तियों तथा गुटों ने मुस्लिम लीग के सामने कई योजनाएं रखीं, लेकिन वह पाकिस्तान की मांग पर अंगद के पैर की तरह जमी रही। पाकिस्तानकी योजना का स्वयं मुसलमानों के बीच ही पर्याप्त विरोध हुआ। अखिल भारतीय स्वतंत्र मुस्लिम सम्मेलन ने जिसका अधिवेशन खान बहादुर अल्लाबख्श की अध्यक्षता में दिल्ली में हुआ (अप्रैल, १९४०), पाकिस्तान की योजना की तीव्र आलोचना की और कहा कि यह योजना "मुसलमानों को एक 'पृथकत्व-निरोधायन' में पटक देगी।"* जमैयतुल-उलेमा-ए हिन्द भी पाकिस्तान की मांग की कट्टर विरोधी थी। उसका कथन था, "राष्ट्रीय दृष्टि से प्रत्येक मुसलमान भारतीय है।" मजलिस-ए-अहरार-ए-हिन्द, पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के खुदाई खिदमतगार बलूचिस्तान के राष्ट्रवादी मुस्लिम,अखिल भारतीय मोमिन सम्मेलन और अखिल भारतीय शिया राजनीतिक सम्मेलन आदि दूसरी कई मुस्लिम संस्थाएं पाकिस्तान के विरुद्ध थीं। जहां तक अ-मुस्लिमों का संबंध है, उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया था कि वे अपनी मातृभूमि की एकता को खंडित करने वाले प्रत्येक प्रयास का प्राणपण से विरोध करेंगे। पंजाब के सिक्ख अपने छोटे लेकिन पौरुषमय सम्प्रदाय के भविष्य के ऊपर विभाजन के संभाव्य परिणामों के बारे में विशेष रूप से शंकित थे और उसका डट कर विरोध करने के लिये बद्धपरिकर थे। कांग्रेस, निसर्गतः अखंड भारत के आदर्श की अनुगामिनी थी। जहां कांग्रेस ने स्वयं को मुस्लिम लीग की पाकिस्तान योजना के एकदम विरुद्ध घोषित किया वह अनिच्छुक जनता के ऊपर बलपूर्वक लादने के लिये तय्यार नहीं थी और प्रादेशिक आत्मनिर्णय के सिद्धांत को मानती थी। लेकिन उसका कथन था कि

कांग्रेस का दृष्टिकोण

आत्मनिर्णय का सिद्धांत मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में निवास करने वाले सभी लोगों के ऊपर लागू होना चाहिए। इसके विपरीत मुस्लिम लीग की मांग थी कि मुस्लिम बहुल क्षेत्रों में आत्म निर्णय का अधिकार केवल मुसलमानों को ही मिलना चाहिए। तथापि,पाकि-

* राजपूत द्वारा उद्धृतः मुस्लिम लीग, पृ. ६५।

स्तान का विरोध दो मुख्य कारणो से असफल सिद्ध हुआ। सम्प्रदायवादियो ने अशिक्षित और श्रद्धालु मुस्लिम जनता को हिन्दू तानाशाही का भय दिखाया और घृणाभाव का खुलकर प्रचार किया। भोलाभाली जनता उनकी बातों में आ गई। मुस्लिम लीग ने धार्मिक मदान्धता और भावुक उन्माद का जो तूफान खड़ा कर दिया। विवेक की आवाज उसमें निश्शब्द हो गई। इसके साथ ही साथ ब्रिटिश अधिकारियो ने, जिन्होंने कि भारतवर्ष में जानबूझ कर भेद नीति से काम लिया, एकता बनाये रखने के सारे प्रयत्नो को निष्फल कर दिया। आग्ल भारतीय नौकरशाही ने मि जिन्ना को चग पर चढा दिया और उनके उस पृथक्तावादी सघर्ष को, जिसने कि भारतीय स्वतन्त्रता की समस्या को जटिल व साम्राज्यवादी प्रभुत्व को दीर्घ कर दिया, अद्भुत तटस्थता के साथ निहारा।

विरोध की असफलता

पृथक्तावादियो के प्रति ब्रिटिश सहानुभूति क्रिप्स-प्रस्तावो (अप्रैल १९४२) में, जिनका हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं, स्पष्ट रूप से व्यक्त होती थी। क्रिप्स-योजना में कहा गया था कि द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के तुरन्त बाद, भारत का नया सविधान बनाने के लिए एक संविधान-सभा की रचना की जायगी। यह मान लिया गया था कि, "यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नए सविधान को स्वीकार न करना चाहे, तो उसे वर्तमान वैधानिक स्थिति को कायम रखने का अधिकार रहे किन्तु साथ में यह व्यवस्था भी रहेगी कि यदि वह प्रान्त बाद में चाहे तो सविधान मे सम्मिलित कर लिया जाय। नए सविधान में सम्मिलित न होने वाले प्रान्तो को, यदि वे चाहें सम्राट की सरकार नया सविधान देना स्वीकार करेगी और उनका पद भी पूर्ण रूप से भारतीय सघ के समान ही होगा।" स्पष्ट है कि योजना मे पाकिस्तान की बात प्रकारान्तर से स्वीकार कर ली गई थी। काग्रेस ने इस योजना को "भारतीय एकता की मान्यता के ऊपर कठोर आघात ठीक ही बताया। इस प्रकार, ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग के आन्दोलन के लिए हरी झण्डी दिखा दी और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच सयुक्त भारत के आधार पर समझौते के सब प्रयास निष्फल कर दिये। इस गतिरोध ने शंकर जी के पिनाक का रूप धारण कर लिया और मुस्लिम लीग की हठधर्मी के कारण उसके निवारण के समस्त प्रयत्न असफल हो गये।

क्रिप्स-योजना और पाकिस्तान

१९४४ में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी न गतिरोध को दूर करने की एक असफल चेष्टा की। उन्होंने एक प्रस्ताव उपस्थित किया, जिसे महात्मा गान्धी का समर्थन प्राप्त

था यद्यपि बाद में कांग्रेस ने उसका विरोध किया। इस प्रस्ताव ने पाकिस्तान के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया और इसमें निम्न बातें थी: (१) मुस्लिम लीग स्वतन्त्रता सम्बन्धी भारत की माग को स्वीकार करेगी और सक्रमण-काल के लिये अस्थायी सरकार बनाने में कांग्रेस के साथ सहयोग करेगी। (२) युद्ध के पश्चात एक कमीशन नियुक्त होगा, जो भारत के उत्तर पश्चिम और उत्तर पूर्व की ऐसी सीमाएं निश्चित करेगा जिनमें मुसलमान स्पष्टतः बहु-सख्यक हों। इन क्षेत्रों के समस्त निवासियों का लोक-निर्णय यह निश्चित करेगा कि उन्हे भारत से अलग होना चाहिये या नही। (३) पृथक्करण की स्थिति में प्रतिरक्षा, यातायात, और दूसरे अनिवार्य प्रयोजनों के लिए समझौते किये जायेंगे। (४) ये शर्तें तभी लागू तथा स्वीकृत होगी जब कि ब्रिटिश सरकार भारत को सच्चा उत्तरदायित्व तथा सम्पूर्ण सत्ता हस्तांतरित कर दे।

राजगोपालाचारी का प्रस्ताव

मि० जिन्ना ने राजा जी की योजना को दृढतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। उन्होने इस योजना द्वारा प्राप्त होने वाले 'लगड़े और हीनाग' पाकिस्तान का तिरस्कार कर दिया और कहा कि मै सिन्ध, पजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, बलूचिस्तान, बंगाल और आसाम की अपनी माग पर टस से मस नहीं होऊंगा। इसके अलावा वे मुस्लिम बहुल क्षेत्रो के अ-मुस्लिम निवासियो को अपने भाग्य निर्णय में कोई आवाज देने के लिए तय्यार नही थे।

१०६. कैबिनेट मिशन और उसके बाद

१९४६ के बसन्त से भारत के वैधानिक और साम्प्रदायिक गतिरोध के निर्णयो का अन्तिम दौर प्रारम्भ हुआ। उस समय तक चर्चिल सरकार के स्थान पर एटली सरकार की स्थापना हो गई थी। भारतवर्ष में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के लिए साधारण निर्वाचन हो चुका था और उससे महत्वपूर्ण परिणाम प्रकट हुए थे। कांग्रेस ने केन्द्र और प्रान्तों में लगभग सभी हिन्दू स्थानों पर विजय प्राप्त करली थी। इसी तरह मुस्लिम लीग ने कुल ४९५ मुस्लिम स्थानो में से ४४६ स्थानों पर अधिकार कर लिया था। उसे यदि कहीं असफलता प्राप्त हुई तो केवल पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त में। लीग को मन्त्रिमण्डल बनाने मे केवल बगाल और सिन्ध में असफलता मिली लेकिन उसकी निर्वाचन विजय ने यह सिद्ध कर दिया था कि मुस्लिम जाति समग्र रूपसे उसकी पाकिस्तान की मांग का समर्थन करती है।

जिस समय भारतवर्ष में निर्वाचन हो रहे थे, ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने भारत के प्रति अपनी सरकार की नीति के सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण वक्तव्य दिये। एक वक्तव्य

में उन्होंने कहा कि "ब्रिटिश भारत के पूर्ण स्वतन्त्रता और यह निश्चय करने के कि वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहे या न रहे, अधिकार को स्वीकार करती हैं।" अपने दूसरे वक्तव्य में उन्होंने घोषणा की कि "एक अल्पसंख्यक वर्ग को इस बात की छूट नही दी जा सकती कि वह बहुसंख्यक-वर्ग की राजनीतिक प्रगति के मार्ग में रोड़े अट-काये।" इसके साथ ही साथ उन्होंने अपनी सरकार के इस निश्चय की भी घोषणा की कि भारतीय समस्या का समाधान प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्यों का एक शिष्टमण्डल भेजा जायगा।

कैबिनेट मिशन भारत में

कैबिनेट मिशन ने, जिसमें भारतमन्त्री लार्ड पैथिक लारेंस, व्यापार मण्डल के प्रधान सर स्टैफोर्ड क्रिप्स और फर्स्ट लार्ड ऑफ एडमिरेल्टी मि० ए. वी एलेक्जेंडर शामिल थे, २३ मार्च, १९४६ को भारत में पदार्पण किया। कैबिनेट मिशन के सदस्यो ने भारत आने के तुरन्त बाद ही यहा के विभिन्न राजनीतिक दलो के नेताओ और प्रतिनिधियों से बातचीत आरम्भ कर दी। ५ मई को मिशन ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चार-चार प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन शुरू किया। लेकिन सम्मेलन किसी सर्वसम्मत सूत्र को निकालने मे सफल न हुआ और अतत: १२ मई को भग हो गया। इस पर कैबिनेट मिशन ने १६ मई १९४६ के राज्य पत्र मे अपने निजी प्रस्तावो की घोषणा कर दी।

कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव (क) पाकिस्तान की अस्वीकृति

राज्य-पत्र ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माग का ध्यानपूर्वक परीक्षण किया और निष्कर्ष निकाला कि एक प्रभुत्व-सम्पन्न मुस्लिम राज्य की स्थापना अव्या-वहारिक है। कैबिनेट मिशन ने कहा कि पाकिस्तान "साम्प्रदायिक समस्या का ठीक समाधान" नही दे सकता। पाकिस्तान की मांग को अस्वीकार करते हुए, उसने भारत के ऐसे एक सघ के निर्माण का प्रस्ताव किया जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रान्त और देशी राज्य दोनो सम्मिलित हों। भारत सघ ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से अलग हो जाने के लिए स्वतन्त्र होगा। सविधान-सभा के बारे में मिशन ने बताया कि उसके सदस्यो के निर्वाचन का आधार साम्प्रदायिक होगा जिसके अनुसार प्रान्तीय विधान सभाओं के

(ख) संविधान सभा

धार्मिक सम्प्रदायों को १० लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया जायगा। यह सविधान सभा भारत के लिये एक सविधान बनायेगी जो कुछ शर्तों के अधीन होगा। इन शर्तों में एक यह थी कि भारत सघ

वैदेशिक मामलों, प्रतिरक्षा तथा यातायात का नियन्त्रण करेगा, दूसरे सब विषय तथा अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तो में निहित होंगी। जब तक संविधान बनकर तय्यार हो, उस समय तक के लिये कैबिनेट मिशन ने एक ऐसी अन्तरिम सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया जिसे भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों का समर्थन प्राप्त हो और जिसमें सभी विभाग जनता के विश्वास पात्र नेताओं के हाथों में रहे।

(घ) भारत संघः अन्तरिम सरकार

कैबिनेट मिशन की योजना के सर्वाधिक विवादास्पद विषयों में से एक विषय वह था जो प्रान्तो के वर्गीकरण से सम्बन्ध रखता था। इस योजना के अनुसार प्रांतीय प्रतिनिधि, संविधान सभा के प्रारम्भिक अधिवेशन के पश्चात तीन विभागो में बट जायेंगे। विभाग (क) में बम्बई, बिहार, मध्यप्रान्त, मद्रास, उड़ीसा और सयुक्तप्रान्त, विभाग (ख) मे पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, पंजाब और सिन्ध तथा विभाग (ग) में आसाम और बगाल सम्मिलित होंगे। यह स्पष्ट है कि अन्तिम दो विभागो मे मुसलमानो का बहुमत था। इन विभागो को इस बात का निश्चय करना था कि प्रान्तो के लिये समूह-विधान की व्यवस्था की जाय अथवा नही और अगर ऐसा किया जाय तो समूह को किन विषयों का प्रबन्ध सौंपा जाय। लार्ड पैथिक लारेंस के अनुसार कैबिनेट मिशन के प्रस्तावो में "तीन स्तरो, के संविधान की कल्पना की गई थी जिनमें सबसे ऊपर भारत संघ होगा। सबसे नीचे प्रान्त होंगे। लेकिन इसके अतिरिक्त हम यह भी सोचते हैं कि प्रान्त गुटों के रूप में इसलिये एक साथ सम्मिलित होना चाहेंगे कि सामूहिक रूप से वे एक प्रान्त की अपेक्षा और बड़े क्षेत्र की सर्विसों का सचालन कर सकें।"*

प्रांतों के वर्गीकरण के ऊपर वादानुवाद

अपने प्रस्तावों के पैरा १५ (५) में कैबिनेट मिशन ने कहा था—"प्रान्तों को समूह बनाने की स्वतन्त्रता होगी और प्रत्येक प्रान्त-समूह यह तय करेगा कि कौन-कौन से विषय समान रूप से सामूहिक शासन में रहें।" पैरा १९ (५) में उसने कहा था, "ये विभाग अपने अपने समूह के प्रान्तों के संविधान को तय्यार करेंगे और यह भी तय करेंगे कि क्या उन प्रान्तों के लिये कोई सामूहिक संविधान तय्यार करना चाहिये, यदि ऐसा हो तो कौन से विषय सामूहिक संविधान के अन्तर्गत रहने चाहियें।" प्रस्तावों में यह भी कह दिया गया था कि प्रान्त को अपने समूह से निकल जाने का अधिकार होगा। नये संविधान के अन्तर्गत प्रथम निर्वाचन होने के पश्चात नया प्रान्तीय विधान-मण्डल इस प्रकार का निर्णय कर सकेगा।

* मोहम्मद अशरफ द्वारा उद्धृत: कैबिनेट मिशन एण्ड आफ्टर, पृ. ५९

स्पष्ट है कि प्रान्तों के वर्गीकरण से सम्बन्ध रखने वाली धाराओं को बड़े गोल-मोल शब्दों में व्यक्त किया गया था। निसर्गत. कांग्रेस ने उनका कुछ और अर्थ लगाया तथा मुस्लिम लीग ने कुछ और। कांग्रेस के दृष्टिकोण से समूहों का निर्माण ऐच्छिक था, समझौते की बातचीत के दौरान में कांग्रेस ने इस बात को बारम्बार कह दिया था कि वह उपसघो के निर्माण अथवा प्रान्तो के बाध्य वर्गीकरण के विरुद्ध है। मुस्लिम लीग इस निवर्चन से असहमत थी और उसने ब्रिटिश सरकार से स्पष्टीकरण की माग की। ब्रिटिश अधिकारियों के इस वचन के प्रतिकूल कि कैबिनेट मिशन की योजना का न निवर्चन किया जायगा और न उसमे कोई नयी चीज जोडी जायगी, ६ दिसम्बर को ब्रिटिश सरकार ने एक महत्वपूर्ण वक्तव्य दिया जिसमें उसने मूल प्रस्तावो का सर्वथा नूतन अर्थ लगाया। अब उसने कहा कि प्रान्तो का वर्गीकरण योजना का एक अनिवार्य तत्व है और यदि कोई सर्वसम्मत समझौता न हो सके, तो विभाग का निर्णय उसके प्रतिनिधियो के बहुमत द्वारा हो जाना चाहिये। ब्रिटिश सरकार ने यह भी घोषणा की कि *"यदि ऐसी सविधान-सभा-जिसमे भारतीय जनसख्या का एक बड़ा भाग शामिल नही है, कोई सविधान बनाये तो सम्राट की सरकार भारत के अनिच्छुक हिस्सो पर बलपूर्वक लागू नही करेगी।"* यह वक्तव्य ब्रिटिश सरकार के इस वचन का कि अल्पसंख्यक वर्ग को बहुमख्यक वर्ग की राजनीतिक प्रगति के मार्ग मे बाधक नही बनने दिया जायगा, पूर्ण व्यतिक्रम था। यह कांग्रेस को वर्गीकरण से सम्बद्ध धारा के नये निर्वचन को मानने के लिये विवश करने की एक स्पष्ट चेष्टा थी।

कांग्रेस और लीग के निवर्चनों में विरोध

दिसम्बर ६ का वक्तव्य

इसी बीच में, जुलाई, १९४६ में सविधान-सभा के लिये निर्वाचन हुए। इन निर्वाचनों में कांग्रेस ने २०५ और मुस्लिम लीग ने ७३ स्थान प्राप्त किये। ९ दिसम्बर १९४६ को सविधान सभा की प्रथम बैठक हुई। मुस्लिम लीग के सदस्यों ने उसमें भाग नहीं लिया। कांग्रेस ने लीग का सहयोग प्राप्त करने की यथासम्भव चेष्टा की। उसने ६ दिसम्बर वाले वक्तव्य को भी स्वीकार कर लिया और ७ जनवरी १९४७ को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने यह प्रस्ताव पास किया कि सविधान-सभा को "विभागों में अनुसरण की जाने वाली कार्यपद्धति के विषय में ब्रिटिश सरकार की व्याख्या स्वीकार कर लेनी चाहिये।" लेकिन इसके साथ ही साथ उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि "इसके कारण किसी प्रांत पर अनुचित दबाव न पड़ना चाहिए और पंजाब में सिक्खों के

लीग द्वारा संविधान सभा का बहिष्कार

अधिकार सुरक्षित रहने चाहिये।" परन्तु लीग ने इस आधार पर कि कांग्रेस ने १६ मई वाले वक्तव्य को पूर्णत: स्वीकार नही किया है, संविधान सभा का अपना बहिष्कार वापिस लेने से इनकार कर दिया।

१०६. अन्तरिम सरकार का निर्माण

१६ मई के वक्तव्य वाली अपनी सिफारिशो के प्रकाशन के तुरन्त बाद ही कैबिनेट मिशन और वायसराय ने योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित एक अन्तरिम सरकार के निर्माण के लिये बातचीत शुरू कर दी। चूंकि कांग्रेस और लीग दोनों ने ही १६ मई के वक्तव्य को स्वीकार कर लिया था, अत: आशा की जाती थी कि अन्तरिम सरकार की स्थापना में कोई विशेष कठिनाई उत्पन्न नही होगी। तथापि, अवसर पर कठिनाइयां उठ खड़ी हुई। सरकार में कौन कौन व्यक्ति सम्मिलित हो इस प्रश्न के ऊपर दोनो दलो में कोई समझौता नहीं हो सका। १६ जून १९४६ को वायसराय ने एक वक्तव्य निकाला और उसमे कांग्रेस के ६, मुस्लिम लीग के ५ तथा दूसरे अल्पसंख्यक वर्गों के ३ (एक सिख, एक पारसी और एक भारतीय ईसाई) प्रतिनिधियो को अन्तरिम सरकार में शामिल होने के लिये आमन्त्रित किया। विभागो के वितरण का प्रबन्ध वायसराय को कांग्रेस और लीग के नेताओ की मन्त्रणा से करना था। वक्तव्य मे यह स्पष्ट कर दिया गया था कि दोनो प्रमुख दलो अथवा उनमें से किसी एक के द्वारा अन्तरिम सरकार मे निर्दिष्ट आधार पर सम्मिलित होने की अनिच्छा प्रकट करने पर वायसराय का इरादा है कि वे अन्तरिम संयुक्त दलीय सरकार निर्माण के कार्य मे अग्रसर रहे। जो लोग १६ मई का वक्तव्य स्वीकार करते हैं, यह सरकार उनका यथासम्भव अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व करेगी।

कठिनाइयां

१६ जून का वक्तव्य

मुस्लिम लीग ने १६ जून के वक्तव्य को स्वीकार कर लिया, लेकिन कांग्रेस ने मांग की कि उसे अपने प्रतिनिधियो में एक राष्ट्रवादी मुसलमान को सम्मिलित करने का अधिकार मिलना चाहिए। मुस्लिम लीग ने इस माग का डट कर विरोध किया, फलत: कैबिनेट मिशन ने उसे अस्वीकार कर दिया। परिणाम स्वरूप कांग्रेस ने अन्तरिम सरकार में शामिल होने से इनकार कर दिया। लीग ने माग की कि कांग्रेस के बिना ही सरकार का निर्माण होना चाहिये, लेकिन वायसराय ने इस प्रश्न को कुछ समय के लिये टाल देने का निश्चय किया। चूंकि १६ मई के वक्तव्य को दोनों ही प्रमुख दलो ने स्वीकार किया था, अत: वायसराय दोनो ही दलो का प्रतिनिधित्व

वार्ता-भंग

करने वाली सरकार का निर्माण करने के लिये वचनबद्ध थे। अस्थाई व्यवस्था के रूप में वायसराय ने राजकर्मचारियो की एक रक्षक सरकार की स्थापना की। इस पर मि० जिन्ना अत्यन्त क्रुद्ध हुये और उन्होंने ब्रिटिश सरकार पर विश्वासघात का दोषारोपण किया। २९ जुलाई को मुस्लिम लीग ने कैबिनेट मिशन के प्रस्तावो की अपनी स्वीकृति को वापिस ले लिया और हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान के लिये क्रमशः दो पृथक संविधान सभाओ की अपनी पुरानी माग को फिर से दुहराया। उसने मुसलमानों से अनुरोध किया कि वे अपनी पदवियां त्याग दें तथा अपनी कार्यसमिति को अधिकार दिया कि वह "पाकिस्तान प्राप्त करने...तथा अंग्रेजो की वर्तमान दासता व सवर्ण हिन्दुओ के भावी प्रभुत्व से छुटकारा पाने के लिए" तत्काल प्रत्यक्ष कार्यवाही करने का एक कार्यक्रम तय्यार करे।

कांग्रेस द्वारा अन्तरिम सरकार का निर्माण

चूंकि मुस्लिम लीग ने केबिनेट मिशन योजना के अधीन प्रस्तावित अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनो प्रकार की व्यवस्थाओं को अस्वीकार कर दिया, अतः ६ अगस्त १९४६ को वायसराय ने कांग्रेस को इस बात का आमंत्रण दिया कि वह उन्हे केन्द्र में अन्तरिम सरकार के निर्माण-कार्य में सहायता दे। कांग्रेस ने यह आमंत्रण स्वीकार कर लिया और सहयोग के लिये लीग से पुनः अनुरोध किया। लेकिन लीग टस से मस नहीं हुई। इस पर २ सितम्बर को अन्तरिम सरकार की स्थापना हो गई और जवाहरलाल नेहरू उसके उपाध्यक्ष नियुक्त हुए।

प्रत्यक्ष कार्यवाही का दिन और उसका परिणाम

इसी बीच में घटना-चक्र प्रभंजन की गति से आगे बढ़ चुका था। मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त को प्रत्यक्ष कार्यवाही का दिन निश्चित किया था। बंगाल सरकार ने इस दिन सार्वजनिक छुट्टी कर दी। प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस को कलकत्ता और सिलहट में गम्भीर उपद्रव हुए। कलकत्ते के नरमेध में लगभग ७००० व्यक्ति मारे गए। इसी प्रकार सिलहट और ढाका में भी भयंकर रक्तपात हुआ। हिंसा की आग पूर्वी बंगाल में जा पहुंची। नोआखाली और टिपरा में जो अत्याचार और रक्तपात हुआ "उसने चारो ओर आतंक पैदा कर दिया...। नारी-निर्यातन, बलपूर्वक विवाह, बलात्कार, जबरन धर्म-परिवर्तन, घरो में आग लगा देने, उन पर सामूहिक हमले और प्रसिद्ध परिवारों के इन हमलो में शिकार होने से पूर्वी बंगाल में जो अविश्वास फैल गया था, वह तीन वर्ष पूर्व अकाल में हुई सामूहिक मृत्युओं से कहीं अधिक भीषण था।"* केन्द्रीय सभा में वक्तव्य देते

* पट्टाभि सीतारामय्याः दि हिस्ट्री ऑफ दि कॉंग्रेस, भाग २, पृ. ८०६

हुए पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने साफ कह दिया कि दंगे मुस्लिम लीग की पहल और उत्तेजना दिलाने से हुए हैं।

कांग्रेस द्वारा नियन्त्रित अन्तरिम सरकार की स्थापना पर लीग बहुत बेचैन हो रही थी। वायसराय लॉर्ड वैवल भी लीग को अन्तरिम सरकार में लानेके लिये अत्यन्त उत्सुक थे। वार्ताओं के दौरान में उन्होंने सदेहास्पद नीति से काम किया था और अक्टूबर में वे मुस्लिम लीग के पांच मनोनीत सदस्यों को, बिना उससे इस बात का स्पष्ट वचन लिये कि वह सविधानसभा के कार्य में सहयोग देगी, अन्तरिम सरकार में शामिल करनेके लिए सहमत हो गये। मुस्लिम लीग क प्रतिनिधियो ने सविधान सभा के कार्य में कोई सहयोग नही दिया।

मुस्लिम लीग का अन्तरिम सरकार में प्रवेश

१०८. अंग्रेजों का भारत छोड़ने का निश्चय

जैसा कि शका की जाती थी, अतरिम सरकार में कांग्रेस-लीग की संयुक्तता ने स्थिति को और भी खराब कर दिया। साम्प्रदायिक हालत तेजी से बिगड गई। बंगाल में जो उपद्रव हुए थे, बिहार, गढमुक्तेश्वर (यू. पी.),लाहौर और रावलपिंडी (पश्चिमी पजाब) में उनकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। सम्पूर्ण प्रशासन छिन्न-भिन्न हुआ जा रहा था। गृह युद्ध के स्पष्ट लक्षण दिखाई दे रहे थे। मुस्लिम लीग ने हलाकू और चगेज खां के दिनों को पुनरुज्जीवित करने की जो धमकी दी थी, वह मूर्तरूप धारण करती हुई प्रतीत होती थी।

बिगड़ी हुई परिस्थिति

ब्रिटिश सरकार ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारत की स्थिति अब उसके काबूसे बाहर निकल गई तथा निर्णय करने में जितना ही विलम्ब किया जायगा, उतनी ही यहाँ की हालत और खराब हो जायगी। उसने भारत के भाग्य को उसकी जनता के हाथो मे छोडकर यहा से चले जाने का निश्चय किया। प्रधानमन्त्री एटली ने २० फरवरी १९४७ की महत्वपूर्ण घोषणा में इस निर्णय को व्यक्त किया। उन्होंने कहा, "सम्राट् की सरकार स्पष्ट रूप के अपने इस निश्चय को सूचित कर देना चाहती है कि वह जून १९४८ तक जिम्मेदार भारतीयों के हाथ में शक्ति सौंपने के कार्य को सम्पन्न कर देगी।" यह घोषणा करते समय ब्रिटिश सरकार ने आशा प्रकट की कि ब्रिटिश शक्ति के भारत से हट जानेकी बात भारतीय राजनीतिज्ञों के हृदय में आशुबुद्धि पैदा कर देगी और उन्हें वास्तविकताओ का सामना करने तथा उचित समझौता निकालने की सामर्थ्य प्रदान करेगी। लेकिन घोषणा ने यह स्पष्ट

२० फरवरी १९४७ की घोषणा

कर दिया कि यदि सब प्रकार से प्रतिनिधित्वपूर्ण संविधान सभा जून १९४८ से पूर्व कोई संविधान न बना सकी, तो उस स्थिति में "सम्राट् की सरकार को यह विचार करना पड़ेगा कि ब्रिटिश भारत की केन्द्रीय सरकार का दायित्व पूरे का पूरा, ब्रिटिश भारत की किसी केन्द्रीय सरकार को या विभक्त करके वर्तमान प्रांतीय सरकारों को, अथवा किसी ऐसे ढग से जो सर्वोचित तथा भारतीयो के लिए सर्वाधिक लाभपूर्ण हो, सौपा जाय।" सत्ता-हस्तांतरण के कार्य को सुगम करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने जो कदम उठाये, उनमे एक वायसराय लॉर्ड वैवल को वापिस बुलाना और उनके स्थान पर लॉर्ड माउंटबेटन को नियुक्त करना था।

कांग्रेस द्वारा विभाजन स्वीकार

जैसा कि स्पष्ट है, २० फरवरी के वक्तव्य ने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माग को प्रच्छन्न रूप से स्वीकार कर लिया था। निसर्गतः लीग ने अखंड भारत के आधार पर समझौता करने की कोई उत्सुकता प्रकट नहीं की। उसका संविधान सभा का बहिष्कार चलता रहा और देश की राजनीतिक स्थिति अधिकाधिक बिगडती गई। नये वायसराय लॉर्ड माउंटबेटन ने सम्पूर्ण स्थिति का ध्यान-पूर्वक अवलोकन किया और निष्कर्ष निकाला कि देश की हालत सुधारने के लिये एक क्रांतिकारी उपाय का अवलम्बन ग्रहण करने की आवश्यकता है तथा वह क्रांतिकारी उपाय देश का विभाजन है। अतः उन्होंने भारत के 'काल्पनिक' विभाजन पर आधा-रित एक योजना तय्यार की। कांग्रेस ने आजीवन अखंड भारत के आदर्श के लिये संघर्ष किया था। परिस्थितियों से विवश होकर उसने अनुभव किया कि देश के विभा-जन को स्वीकार करना ही ब्रिटिश दासता के अन्त करने और देश को गृहयुद्ध की लपटो से बचाने का एकमात्र मार्ग है। वस्तुतः विभाजन को स्वीकार करने का निर्णय उसके २ अप्रैल १९४६ वाले प्रस्ताव के अनुकूल ही था। इस प्रस्ताव मे कहा गया था कि "कांग्रेस किसी प्रादेशिक इकाई की जनता को उसकी घोषित और दृढ इच्छा के विरुद्ध भारत में बने रहने के लिए विवश करने की भाषा में नही सोच सकती।"

माउण्टबेटन-पंचाट ३ जून १९४७

माउण्टबेटन-पंचाट की घोषणा ३ जून १९४७ को की गई। इसमें भारत और पाकिस्तान दो पृथक डोमिनियनों की स्थापना व बंगाल और पंजाब के विभाजन का निर्णय किया गया था। उसने अंग्रेजों के भारत से हटाने की तारीख को घटाकर १५ अगस्त, १९४७ कर दिया। पंचाट में कहा गया था कि बंगाल और पंजाब की विधान सभाओं में मुस्लिम और अ-मुस्लिम बहुल जिलो के जो प्रतिनिधि हैं, वे भारत अथवा पाकिस्तान में शामिल होने के प्रश्न पर पृथक्‌त मतदान

देंगे। पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त और सिलहट (आसाम का मुस्लिम बहुल क्षेत्र) वयस्क मताधिकार पर आश्रित लोक निर्णय द्वारा अपने भविष्य का निर्णय करने को थे। सिन्ध में विधान-सभा समग्ररूप से इस प्रश्न पर मतदान देने को थी। बलोचिस्तान अपनी प्रतिनिधिक संस्थाओ की एक संयुक्त बैठक के द्वारा अपने भविष्य का निर्णय करने को था। इन व्यवस्थाओं के परिणाम पूर्व निश्चित थे। पंजाब के पश्चिमी और बंगाल के पूर्वी जिलों ने पाकिस्तान के पक्ष मे मत दिया। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त सिन्ध और बलोचिस्तान ने भी यही किया। फलत. १५ अगस्त १९४७ को भारत और पाकिस्तान का दो स्वतन्त्र राज्यों के रूप में अवतरण हुआ। स्वतन्त्र भारत और पाकिस्तान की स्थापना अभूतपूर्व हत्याकाण्डो, लूटपाट, अपहरणो और बलपूर्वक जन-संख्या के हस्तांतरण के बीच हुई। इन पाशविकताओ के फलस्वरूप ५ लाख से अधिक व्यक्ति कालकलवित और एक करोड़ २० लाख से अधिक व्यक्ति गृहविहीन हुए। भारतीय इतिहास का यह दूषित अध्याय अभी जनता के स्मृति-पटल पर ताजा ही है, अतः उसका यहा विशद विवरण देने की कोई आवश्यकता नही है।

१०९. १९४७ का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम

माउण्टबेटन पचाट के आधार पर ब्रिटिश संसद ने जुलाई १९४७ मे भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पास किया। (१) इस अधिनियम ने १५ अगस्त १९४७ को भारत और पाकिस्तान दो प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न राज्यो की स्थापना की और दोनो को औपनिवेशिक पद प्रदान किया। यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटिश सरकार दोनों डोमिनियनो की संविधान-सभाओ को सत्ता हस्तातरित कर देगी और इन संविधान-सभाओ को अपने अपने देशो के लिए इच्छानुरूप संविधान बनाने की स्वतन्त्रता होगी।

अधिनियम के मुख्य उपबन्ध

(२) यह निर्धारित किया गया कि प्रत्येक डोमिनियन का डोमिनियन मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर ब्रिटिश सम्राट द्वारा नियुक्त एक एक गवर्नर जेनरल होगा। अधिनियम ने यह उपबन्धित कर दिया कि गवर्नर जेनरल और प्रान्तीय गवर्नर भविष्य में स्वेच्छाचारी शासको के रूप में कार्य नही करेंगे। दूसरे शब्दों में उन्हें समस्त मामलो में, अपनी विवेकी शक्तियो और उत्तरदायित्वो के प्रयोग के सबन्ध में भी अपने मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार आचरण करना पडेगा। (३) प्रत्येक डोमिनियन की संविधान-सभा उसके विधान मण्डल के रूप मे कार्य करेगी तथा उसकी वैधानिक शक्तियो के ऊपर किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नही होगा। (४) प्रत्येक डोमिनियन के विधान मण्डल को पूर्ण विधायिनी शक्ति प्राप्त होगी और १५ अगस्त १९४७ के पश्चात् ब्रिटिश संसद द्वारा पास किया कोई अधिनियम किसी डोमिनियन पर उसके विधान मण्डल की स्वीकृति के बिना लागू नही होगा। (५) अधिनियम ने

भारत मन्त्री के पद को समाप्त कर दिया। (६) जब तक कि नया संविधान बन कर तय्यार नही हो जाता, १९३५ का भारत सरकार अधिनियम कुछ संशोधित होकर भारत का वैधानिक कानून बना रहेगा। (७) जहां तक भारतीय राज्यो का प्रश्न है, उनके ऊपर से ब्रिटिश सार्वभौमता समाप्त हो गई और उन्हें नए डोमिनियनों के साथ अपने भावी सम्बन्धो को तय करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय।

१८ जुलाई को अधिनियम पर सम्राट की स्वीकृति प्राप्त हो गई और १५ अगस्त, १९४७ को वह प्रभावी हो गया। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त हुआ। साठ वर्षों के सघर्ष के पश्चात भारतवर्ष ने स्वतन्त्रता प्राप्त की, परन्तु इसके साथ ही साथ उसे कई दुरूह समस्याओ का भी सामना करना पडा। राजनीतिक दृष्टि से भारत सदियो से अखड रहा था, उसके विभाजन ने झुड की झुड कठिनाइया खडी कर दी। सबसे जटिल समस्या थी, देशी राज्यों की। वे अपने को स्वतन्त्र घोषित कर सकते थे अथवा जिस डोमिनियन में चाहते शामिल हो सकते थे। यहा भारत के बलकानिस्तान बनने का गम्भीर खतरा विद्यमान था। यदि देशी नरेश स्वयं को स्वतन्त्र शासक घोषित करने के अपने कानूनी अधिकार का प्रयोग कर बैठते, तो भारत की स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नही रहता। अग्रेजो ने दीर्घकाल तक भारत का शोषण किया था और जाते जाते वे उसमें एक और घुन लगा चले। क्या यह एक जानीबूझी चेष्टा थी, उस स्वतन्त्रता को ग्रन्तर्ध्वंस्त करने के लिये जो उदारता के इतने अधिक प्रदर्शन के साथ दी गई थी ? चर्चिल जैसे कई अनुदार राजनीतिज्ञों ने तो यहा तक कहा था कि भारत की स्वाधीनता मृग-मरीचिका मे अधिक कुछ नही होगी, वह गृह युद्ध की लपटों से क्षत-विक्षत हो जायगा और उसमें अराजकता फैल जायगी। फलतः इगलेंड उस पर पुन. अपनी प्रभुत्व शक्ति लादने में समर्थ होगा। यह भारतीय राजनीतिज्ञों के साहस और दूरदर्शिता के प्रति श्रद्धाजलि है कि वे अत्यल्प काल में ही देश की स्वतन्त्रता की जड जमाने और लोलुप साम्राज्यवादियो की आशाओ को निर्मूल करने मे सफल हुए।

११०. अंग्रेजों ने भारत क्यों छोड़ा ?

बहुधा पूछा जाता है कि अग्रेजो ने भारत में अपने साम्राज्यवादी शासन को क्यो समाप्त कर दिया ? एक उत्तर यह है कि १९४६ मे श्रमिक दल सत्तारूढ हुआ और वह भारतीय स्वतंत्रता के प्रस्ताव का समर्थन करने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध था। लेकिन यह व्याख्या विशेष सतोषजनक नही है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि भारत छोडने का निर्णय कुशल राजनीतिज्ञता का अथवा महात्मा गान्धी के शब्दों में "ब्रिटिशराष्ट्र का सबसे भला" काम था। लेकिन इस बात में सन्देह है कि यह निर्णय सर्वथा ऐच्छिक

था। यह एक तथ्य है कि इंगलैण्ड की समाजवादी सरकार भी उपनिवेशवाद के प्रतिकूल नहीं रही है। आज भी न्यूनाधिक रूप से ६० छोटे और बड़े उपनिवेशों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद एक जीवित शक्ति है। तब फिर इगलेंड ने अपने भारतीय साम्राज्य से हाथ धोने का क्यों निश्चय किया ?

सबसे महत्वपूर्ण कारण डा. पट्टाभि सीतारामय्या के अनुसार "समय की गति और परिस्थितियों की विवशता है।" वह श्रेष्ठ आदर्शवाद नहीं अपितु परिस्थितियों का बल था जिसने अंग्रेजो को भारत छोडने के लिए बाध्य कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध ने इगलैंड की शक्ति और प्रतिष्ठा को धूलधूसरित कर दिया था। आर्थिक दृष्टि से उसका दिवाला निकल चुका था और वह अमेरिका का मोहताज होकर ही बने रह सकता था। निसर्गतः उसे अपने राष्ट्रीय और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए अपनी सम्पूर्ण जन शक्ति की आवश्यकता थी। उसकी यह स्थिति नही थी कि भारतवर्ष में अपने साम्राज्यवादी प्रभुत्व को कायम रखने के लिए पर्याप्त सेना रख सकता।

परिस्थितियों की विवशता

भारतवर्ष की परिस्थिति ने भी इगलेंड के साम्राज्यवादी शासन को एक निपट असम्भावना कर दिया था। एशिया अपनी युग युग व्यापी तन्द्रा को त्याग कर उठ खडा हुआ था और उपनिवेशवाद की मौत की घंटी बज चुकी थी। भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना इतनी पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी कि इगलैण्ड ने जनता को शक्ति के द्वारा दबाए रखने की असारता देख ली। सन्, ४२ की क्रान्ति अंग्रेजो के लिये एक स्पष्ट चेतावनी थी कि वे शीघ्रातिशीघ्र भारत छोड दे अन्यथा भयकर परिणाम होगे। आजाद हिन्द फौज का उद्भव और भारतीय नौसेना का विद्रोह भी कम महत्वपूर्ण नही था। अंग्रेजो ने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया था कि जनता की राष्ट्रीय आकाक्षाओं का दमन करने के लिये भारतीय सेनाओ का अब और प्रयोग नही किया जा सकता। अंग्रेज अपनी राजनीतिक व्यवहारबुद्धि और अनिवार्यता उपस्थित होने पर समझौते की तत्परता के लिये प्रख्यात हैं। स्पष्ट था कि यदि अंग्रेज राजी से नही जाते तो उन्हे कुराजी से जाना पडता। फलतः उन्होंने भारत छोडने का और जनता की सद्भावनाओं को जीतने का निश्चय किया।

ब्रिटिश शासनः एक निपट असम्भावना

१११. सुभाष बोस और आजाद हिन्द फौज

सुभाषचन्द्र बोस और उनकी आजाद हिन्द फौज ने भारतीय स्वतंत्रता की प्राप्ति

के लिए, महत्वपूर्ण कार्य किया। यहा उनका कुछ विशद प्रसग-निर्देश करना उचित प्रतीत होता है। नेताजी भारतीय स्वतत्रता के एकनिष्ठ पुजारी थे। मातृभूमि की परतत्रता-बेडियों को काटने के लिये उन्होंने जो अथक बलिदान किये उनके कारण उनका नाम देश के इतिहास में सदैव स्वर्णाक्षरों में अकित रहेगा।

जन्म जात योद्धा

वे जन्मजात योद्धा थे। अपने विद्यार्थी-जीवन में उन्होंने एक अग्रेज अध्यापक को भारत के सम्बन्ध में निन्दायुक्त बाते कहने पर पीट दिया। सोलह वर्ष की अवस्था में वे घर से भाग गये और साधु का वेश धारण का हिमालय की नीची पहाडियों में घूमते रहे। बाद में उन्होने कैम्ब्रिज से आनर्स की डिग्री प्राप्त की और आई. सी. एस. की परीक्षा में चतुर्थ उत्तीर्ण हुये। लेकिन उन्होने नौकरी नही की और राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करना अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया। देशबन्धु चित्तरंजन दास के नेतृत्व में उनके राजनीतिक जीवन का श्रीगणेश हुआ, और उन्होने शीघ्रता-पूर्वक अनवरत गति से उन्नति की। जब वे ३३ वर्ष के थे, कलकत्ता के मेयर निर्वाचित हुए। १९३८ में वे काग्रेस के अध्यक्ष बने। अगले वर्ष भी उन्होने काग्रेस का अध्यक्ष पद जीत लिया। इस बार उन्होने महात्मा गाधी के खुला विरोध करने पर भी सफलता प्राप्त की। लेकिन कुछ समय बाद ही काग्रेस के दक्षिण-पक्ष के साथ उनका मतभेद इतना तीव्र हो गया कि उन्होने सस्था छोड दी और अपने एक पृथक् दल फार्वर्ड ब्लॉक की स्थापना की।

सुभाष बोस काग्रेस के वामपक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे। वे सरदार पटेल और राजेन्द्रप्रसाद की तरह कट्टर गान्धीवादी नही थे। अहिंसा का सिद्धान्त उन्हे केवल एक नीति के रूप में मान्य था। "यदि गाधी जी भारतीय राष्ट्रवाद के सूर्य थे, जिनके चारों ओर काग्रेस के समस्त ग्रह परिभ्रमण करते थे, तो सुभाष बोस एक नक्षत्र थे, जिनका अपना एक पृथक् ग्रहपथ था।" देश के नवयुवक-वर्ग का सगठन करने में उन्होने बहुत काम किया था। अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस के भी वे अध्यक्ष रहे थे। उनका विचार था कि राजनीतिज्ञ के रूप में गांधी जी असफल रहे हैं।

आजाद हिन्द फौज और सुभाष बोस

जुलाई १९४० में भारत सुरक्षा अधिनियम के अधीन सुभाष बोस को गिरफ्तार कर लिया गया। जेल में स्वास्थ्य बिगड जाने के कारण सरकार ने उन्हें छोड़ दिया और उनके घर पर ही उन्हें नजरबन्द कर दिया। २६ जनवरी १९४१ को वे रहस्यमय ढग से अदृश्य हो गये और कुली का वेश धारण कर उत्तरी भारत, अफगानिस्तान और

रूस होते हुए जर्मनी जा पहुंचे। जुलाई १९४३ में उन्होंने दक्षिणी पूर्वी एशिया में आजाद हिन्दफौज का नेतृत्व सम्हाल लिया। आजाद हिन्दफौज का सगठन सितम्बर १९४१ में भारत के एक क्रान्तिकारी रास बिहारी बोस ने किया था। इस फौज में वे साठ हजार भारतीय सैनिक सम्मिलित थे जिन्हे ब्रिटिश सेनापतियो ने जापानियों की दया के ऊपर छोड़ दिया था। वे देशभक्त सैनिक रासबिहारी बोस के आवाहन पर जापान की सहायता से भारत की स्वतत्रता के लिये संघर्ष करने को कृतसंकल्प हो गये। कैप्टिन मोहन सिंह ने आजाद हिन्दफौज में नई जान फूंकी और उसे देश की स्वतत्रता के लिये मर मिटनेका गुरुमत्र दिया। वे उसके प्रथम सेनापति थे। जब सुभाष बोस स्थल पर पहुंचे आजाद हिन्दफौज को मुंह माँगा वरदान एक गतिशील नेता-प्राप्त हो गया। सुभाष बोस को सेना-सचालन का कोई अनुभव नही था। लेकिन उन्होने अपने जादू भरे व्यक्तित्व, अपूर्व सगठन क्षमता और विलक्षण भाषण-कला द्वारा आजाद हिन्दफौज को, जिसके पास न अस्त्र-शस्त्र का समुचित प्रबन्ध था और न भोजनादि का, एक अद्वितीय लडाकू सेना बना दिया। उनके 'दिल्ली चलो' नारे ने सिपाहियों में अपूर्व उत्साह पैदा किया, सिपाही अतिशय कठिन परिस्थितियो मे लडे और शतकोटि आपत्तिया आने पर भी अपने दृढ निश्चय से रचमात्र भी विचलित नही हुए।

उनके मिशन की असफलता और उनकी मृत्यु

आजाद हिन्द फौज ने बर्मा में शानदार लडाई लडी और कुछ समय के लिए भारत की भूमि में पदार्पण किया। नेताजी की अस्थायी सरकार ने कुछ समय तक मनीपुर और ऐशेवपुर के छोटे से राज्य क्षेत्र मे जिसका विस्तार लगभग १५,००० वर्ग मील था, काम किया। लेकिन अन्त में सामग्री, रसद और अस्त्र शस्त्रादिके अभाव और पराजित जापानियों के सहायता शून्य दृष्टिकोंण के कारण आजाद हिंद फौज को मित्र राष्ट्रों के सम्मुख घुटने टेकने पडे। सुभाष बोस अपने मिशन को प्राप्त करने में असफल हुए और १९ अगस्त १९४५ को जापान के आत्म-समर्पण के कुछ समय बाद ही, ४८ वर्ष की अल्पायु में, एक हवाई दुर्घटना में उनका देहान्त हो गया।

देशद्रोही नहीं, देशभक्त

सुभाष बोस की मृत्यु ने उन्हे अमर बना दिया। भारत की जनता उन्हे अपने देश के एक ऐसे महान् सपूत के रूप में सदैव याद रखेगी जिसने उसकी स्वतन्त्रता के लिये अपना सर्वस्व बलिदान किया। सुभाष बोस के हृदय में विदेशी शासन के प्रति घोर घृणा का भाव था। कतिपय पश्चिमी लेखकों ने उन्हें विभीषण बताया। लेकिन यह दोषारोप सर्वथा मिथ्या था। उन्होंने आजाद हिन्द फौज के एक कठपुतली-सेना होने के आरोप का प्रतिवाद किया। अपने सम्बन्ध एकमें बार

उन्होंने कहा था "यदि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ मुझे फुसलाने अथवा परवश करने में असफल हो चुके हैं, तो कोई और राजनीतिज्ञ ऐसा करने में सफल नही हो सकता।' सुभाष बोस का यह दृढ विश्वास था कि भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिये विदेशी सहायता की अनिवार्य आवश्यकता है। तिलक की भांति उनका भी यह विश्वास था कि अपने साध्य के सिद्धि के लिये मन चाहे साधनो का प्रयोग किया जा सकता है।

सुभाष बोस में जहा इतने गुण थे, वहा उनमें कुछ दुर्बलताए भी थी। उनमें एक बड़ा दोष यह था कि वे स्वय को परिस्थितियो के अनुकूल नही बना पाते थे। उनके चरित्र में अहमन्यता की प्रधानता थी और अकेले सघर्ष-रत रहना उनके लिये सर्वाधिक सुखकर था। महात्मा गाधी के साथ उनके गम्भीर मतभेद थे और उन्होंने 'कांग्रेस हाई कमाड के सर्वस्वायत्तवाद' के विरुद्ध सतत युद्ध किया। वसे उन पर स्वय फासिस्ट प्रवृत्तियो वाला व्यक्ति होने का सन्देह किया जाता था। लेकिन उनके वीरता-पूर्ण अन्त ने उनकी दुर्बलताओ की स्मृति को भुला दिया है और देशवासियो के हृदय मन्दिर में उनकी मूर्ति भारतीय स्वतन्त्रता के उस अमर साधक के रूप में विराजमान है जिसने मातृभूमि की मुक्ति के लिये अपना तन-मन-धन सभी कुछ निछावर कर दिया।

सारांश

१९३५ के अधिनियम के प्रारम्भ होने के पश्चात् मुस्लिम राजनीति मे एक नया मोड उपस्थित हुआ। अब तक मुस्लिम पृथकतावाद ने अपनी मागो को पृथक निर्वाचक मण्डलों, गुरुभार और सरक्षणों तक ही सीमित रखा था। लेकिन १९३८ में द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त सामने आया और १९४० में मुस्लिम लीग ने पृथक मुस्लिम राज्य पाकिस्तान की माग अगीकृत की।

पृथक्करण की इस प्रकार की माग पृथक्तावाद का स्वाभाविक निष्कर्ष था। इससे हलकी प्रत्येक चीज पा चुकने पर मुस्लिम लीग ने मुस्लिम जनता पर अपने प्रभाव को जमाये रखने के लिए पाकिस्तान का नारा बुलन्द किया। पाकिस्तान की माग के लिए कुछ और कारण भी उत्तरदायी थे। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ मिलकर सयुक्त मन्त्रिमण्डल बनाना अस्वीकार कर दिया, लीग इससे बहुत क्रुद्ध हुई और कायदे आजम जिन्ना ने देश के विभाजन के लिये प्रचड आंदोलन शुरू कर दिया। कांग्रेस ने विशाल पैमाने पर जिस जन-सम्पर्क आदोलन को शुरू किया था, मुस्लिम लीग ने उसे अपने अस्तित्व के लिए ही एक धमकी समझा और कांग्रेस शासित प्रांतों मे हिन्दू अत्याचार की आवाज ऊची की। हिन्दुओं के अत्याचार के ढिंढोरा ने लीग को अपनी लक्ष्य-पूर्ति में सहायता दी और मुस्लिम समाज पर उसका प्रभाव जम गया। हिन्दू महासभा के

नेतृत्व द्वारा प्रकटित हिन्दू साम्प्रदायिकता का भी यही प्रभाव हुआ। आंग्ल-भारतीय नौकरशाहों ने भी भारत की एकता को खण्डित करने में अपनी ओर से कुछ उठा न रखा। उनकी कुचेष्टाओं ने भी पृथकतावाद की भावना को बल दिया।

द्वि-राष्ट्र सिद्धांत मुस्लिम लीग की विचारधारा का केन्द्रबिन्दु और उसकी पाकिस्तान की माग का आधार बन गया। उसने दावा किया कि हिन्दू और मुसलमान कभी एक राष्ट्रीयता नही हो सकते क्योकि 'उनके धर्म, दर्शन, सामाजिक आचार और साहित्य एक दूसरे से भिन्न हैं। यह एक विकट सिद्धान्त था। इसने धर्म को राष्ट्रीयता की एकमात्र कसौटी माना और इस तथ्य की उपेक्षा की कि भारतीय मुसलमान उन हिन्दुओ के वशज है जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। यदि यह मान भी लिया जाय कि हिन्दू और मुसलमान दो राष्ट्र हैं, तो इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि उनके दो पृथक राज्य होने चाहिए। "एक राष्ट्र, एक राज्य" एक विगत सिद्धात है और स्विट्जरलैण्ड तथा सोवियट रूस जैसे बहुराष्ट्रीय राज्य यह सिद्ध करते हैं कि एक सघीय राज्य की छत्रछाया में कई राष्ट्रीयताए शान्तिपूर्वक रह सकती हैं।

लेकिन लीग को तर्क से क्या मतलब था ? उसका पाकिस्तान आदोलन बराबर आगे बढ़ता गया। लीग ने उत्तर-पश्चिम में पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, पजाब, सिन्ध और बलोचिस्तान व उत्तर पूर्व मे आसाम और बंगाल की माग की। मुस्लिम सम्प्रदाय के कई विभागों ने इस माग का विरोध किया। कांग्रेस अखण्ड भारत के आदर्श की पुजारी थी यद्यपि वह मुस्लिम जनता के ऊपर उसकी इच्छा के विपरीत एकता लादने के लिए भी प्रस्तुत नही थी। क्रिप्स-सूत्र (१९४२) ने पाकिस्तान की मांग को परोक्ष रूप से स्वीकार कर लिया, पर उसको कांग्रेस और लीग दोनों ने ही अस्वीकार कर दिया। राजा जी के सूत्र ने भी मुस्लिम बहुल क्षेत्रो के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान लिया। लेकिन कांग्रेस के अधिकारी वर्ग ने उसका तिरस्कार किया और मि० जिन्ना ने भी उसे ठुकरा दिया। इसी बीच में मुस्लिम लीग के साम्प्रदायिक घृणाभाव के प्रचार ने एक भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी और देश गृहयुद्ध की ओर बढता हुआ मालूम पडने लगा।

१९४५ में इंगलेंड में श्रमिक दल सत्तारूढ हुआ और उसने भारतीय समस्या को नए सिरे से सुलझाने का निश्चय किया। भारत में केन्द्रीय और प्रांतीय विधानमडलों के जो निर्वाचन हुए, उनसे महत्वपूर्ण नतीजे सामने आए। मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान के प्रश्न को लेकर चुनाव लडा था। उसे ४९५ में से ४४६ स्थानों पर विजय प्राप्त हुई। उसे असफलता का सामना केवल पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में ही करना पडा। स्पष्ट है कि उसकी माग को मुस्लिम समाज के बहुमत का समर्थन प्राप्त था।

१९४६ के शुरू में प्रधान मन्त्री एटली ने दो महत्वपूर्ण वक्तव्य दिए। इन वक्तव्यों में उन्होंने भारत के स्वतन्त्रताके अधिकार को स्वीकार किया और कहा कि 'अल्प-

संख्यक वर्ग को इस बात की छूट नही दी जा सकती कि वह बहुमत की राजनीतिक प्रगति के मार्ग को रोके रखे।" इसके कुछ ही समय बाद राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए कैबिनेट मिशन ने भारत की यात्रा की। अपनी योजना में, मिशन ने पाकिस्तान की माग को अस्वीकार कर दिया और भारत संघ के लिए तीन स्तर वाले सविधान को बनाने के उद्देश्य से एक सविधान सभा की स्थापना का सुझाव दिया। जब तक नया सविधान बन कर तय्यार न हो जाय, उस समय तक के लिए उसने एक ऐसी अन्तरिम सरकार की स्थापना का जिसमें भारत के प्रमुख दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित हो, प्रस्ताव किया।

कैबिनेट मिशन प चाट के प्रकाशन के उपरांत भारत में घटनाचक्र बड़ी तेजी से और भयकरता मे बढा। लीग के प्रतिनिधियो ने सविधान सभा का बहिष्कार किया। यद्यपि लीग अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हुई, लेकिन पाकिस्तान को प्राप्त करने के प्रयोजन से। उनके प्रत्यक्ष कार्यवाही आदोलन ने विशाल साम्प्रदायिक उपद्रवों की एक श्रृखला शुरू कर दी। इ गलैंड ने जब देखा कि वह भारतवर्ष में अपना साम्राज्यवादी प्रभुत्व और अधिक कायम नही रख सकता, तो उसने २० फरवरी १९४७ को जून १९४८ तक भारत छोड देने के अपने ऐतिहासिक निर्णय की घोषणा कर दी। मार्च १९४७ में लॉर्ड वैवल के स्थान पर लार्ड माउ टबेटन भारत के वायसराय बन कर आये। उन्होंने भारत के विभाजन और दो पृथक डोमिनियनो-भारत और पाकिस्तान की स्थापना के लिए एक योजना तय्यार की। देश की संकटापन्न स्थिति को देखते हुए कांग्रेस ने एक आवश्यक बुराई के रूप में विभाजन को स्वीकार कर लिया। १५ अगस्त १९४७ को ३ जून के माउटबेटन प चाट की शर्तों के अनुसार देश का विभाजन हो गया और पाकिस्तान तथा भारत दो प्रभुत्व सम्पन्न राज्यो के रूप मे अवतरित हुए।

———

अध्याय १५

भारत का नया संविधान

११२. संविधान सभा और नए संविधान का निर्माण

भारतीय गणराज्य का वह सविधान, जो २६ जनवरी १९५० को शुरू हुआ, भारत की उस सविधान सभा के परिश्रम का फल था, जिसका सबसे पहले ९ दिसम्बर १९४६ को आयोजन किया गया था और जिसने २६ नवम्बर १९४९ को अपना काम पूरा किया । काग्रेस ने वयस्क मत धिकार पर आधारित ऐसी निर्वाचित सविधान सभा की माँग, जो भारत के लिए एक सविधान बना सके, सबसे पहले १९३४ मे की थी । काग्रेस ने १९३६ मे और फिर बाद के वर्षों मे इस माँग को बारम्बार दुहराया, लेकिन उसका कोई विशेष परिणाम नही निकला । यह महायुद्ध की विभीषिका का ही फल था, जिसने १९४२ में इंगलैंड को क्रिप्स प्रस्तावो मे निर्वाचित सविधान सभा के द्वारा भारत के अपने सविधान बनाने के अधिकार को मानने के लिए विवश कर दिया । बाद मे ब्रिटिश अधिकारियो ने भारत के प्रति अपनी नीति के सम्बन्ध में जो भी महत्वपूर्ण वक्तव्य दिए, उन सब में उन्होंने अपनी इस स्वीकृति को बार बार दुहराया । भारत की सविधान सभा का जन्म कैबिनेट मिशन योजना के उपबन्धो के आधार पर हुआ था ।

संविधान सभा की मांग

सविधान सभा भारत के प्रमुख सम्प्रदायो के प्रतिनिधियो से मिल कर बनी थी । विभिन्न प्रान्तो और राज्यो के बीच स्थानो का वितरण मोटे तौर से १० लाख की जनसख्या के ऊपर एक प्रतिनिधि के हिसाब से किया गया था । प्रान्तों से सदस्यो के निर्वाचन के लिए प्रत्येक प्रांतीय सभा साम्प्रदायिक निर्वाचक-समूहो में विभाजित एक निर्वाचक-मडल के रूप में कार्य करती थी । ये निर्वाचक समूह सानुपात प्रतिनिधित्व के द्वारा एकल सक्रमणीय मत-पद्धति के अनुसार अपने

गठन और निर्वाचन-प्रक्रिया

प्रतिनिधि निर्वाचित करते थे। देशी राज्यो के प्रतिनिधित्व की प्रणाली वार्ता के द्वारा निश्चित होने के लिए छोड दी गई थी। कैबिनेट मिशन योजना के अधीन प्रस्तावित सविधान सभा की कुल सदस्य सख्या ३८९ थी। इस सख्या में देशी राज्यों के ९३ प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे।

प्रातो के लिए स्थानों का निर्धारण निम्न प्रकार से हुआ :—

प्रतिनिधित्व-तालिका

विभाग क

प्रान्त	साधारण	मुस्लिम	कुल जोड़
सयुक्त प्रात	४७	८	५५
मद्रास	४५	४	४९
बिहार	३१	५	३६
बम्बई	१९	२	२१
सी पी.	१६	१	१७
उडीसा	९	०	९
योग:	१६७	२०	१८७

विभाग ख

प्रात	साधारण	मुस्लिम	सिक्ख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
सिन्ध	१	३	०	४
पश्चिमोत्तर-सीमाप्रात	०	३	०	३
योग:	९	२२	४	३५

विभाग ग

प्रात	साधारण	मुस्लिम	योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
योग:	३४	३६	७०

उक्त तालिका के अलावा दिल्ली, अजमेर-मारवाड और कुर्ग के चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों के तीन प्रतिनिधि विभाग क में और बलूचिस्तान का एक प्रतिनिधि विभाग ख में बैठने को थे।

कैबिनेट मिशन योजना के अधीन सस्थापित संविधान सभा प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था नहीं थी। उसकी शक्तियां सीमित थी। "उसकी सत्ता मूलभूत सत्ता और प्रक्रिया

दोनों में मर्यादित थी।"* वह कैबिनेट मिशन योजना में वर्णित नए संविधान की मुख्य रूपरेखा में कोई फेरफार न कर सकती थी। उदाहरणार्थ वह केन्द्र को प्रतिरक्षा, यातायात और वैदेशिक मामले छोड़ कर अन्य कोई विषय हस्तांतरित नहीं कर सकती थी। इसके अलावा, वह ब्रिटिश संसद की अन्तिम सत्ता के अधीन थी।

संविधान-सभा की सीमाएं

संविधान सभा का पहला अधिवेशन ६ दिसम्बर १९४६ को हुआ। प्रथम अधिवेशन के अवसर पर सबके सब प्रतिनिधि उसमें सम्मिलित नहीं हुए। मुस्लिम लीग ने उसका बहिष्कार किया। बाद में वह अन्तरिम सरकार में सम्मिलित हुई लेकिन वहां उसने हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के लिए पृथक् पृथक संविधान सभा की अपनी मूल मांग को दुहराया। तथापि सभा ने मुस्लिम लीग के सदस्यों की अनुपस्थिति के बावजूद भी अपने काम को आगे बढ़ाने का निश्चय किया। अपनी पहली बैठक और भारत के विभाजन के बीच के चार अधिवेशनों में, संविधान सभा ने डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद को अपना अध्यक्ष निर्वाचित किया, जवाहर लाल द्वारा प्रस्तावित प्रख्यात ओब्जेक्टिव्स रेज़ोलूशन पास किया और नए संविधान के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के लिए कई समितियां* नियुक्त की। स्वतन्त्रता की घोषणा और भारत व पाकिस्तान, दो पृथक् डोमिनियनों की स्थापना के पूर्व संविधान सभा के कार्य के बारे में निसर्गत अवास्तविकता का वातावरण व्याप्त था।

मुस्लिम लीग द्वारा बहिष्कार

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने संविधान-सभा के स्वरूप को बिल्कुल बदल दिया। अब वह पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न संस्था बन गई। कैबिनेट मिशन योजना के अधीन उसके ऊपर जो प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे, वे सब हट गये। सभा ने विभिन्न समितियों की रिपोर्टों पर विचार किया और ३१ अगस्त १९४७ को डाक्टर अम्बेदकर की अध्यक्षता में इन रिपोर्टों के आधार पर नए संविधान के प्रारूप को अन्तिम रूप देने के लिए एक प्रारूप समिति नियुक्त की। प्रारूप-समिति

स्वतंत्रता के पश्चात्

* बी. एन. शुक्ला- दि कन्स्टीट्यूशन आफ इंडिया, पृ. १३-१४

*संघीय शक्ति समिति, संघीय संविधान समिति, राज्य संविधान-समिति, मूलभूत अधिकारों और अल्पसंख्यक वर्गों पर परामर्शदात्री समिति, कबायली क्षेत्रों पर परामर्शदात्री समिति आदि।

ने प्रारूप २१ फरवरी १९४८ को अध्यक्ष के सम्मुख उपस्थित किया और २६ फरवरी को उसे जनता के लिये प्रकाशित कर दिया गया। ५ नवम्बर १९४८ को प्रारूप-संविधान संविधान-सभा के सम्मुख उपस्थित किया गया और २६ नवम्बर १९४९ को उसे कतिपय परिवर्तनो सहित अतिम रूप से पास व अगीकृत किया गया। इस प्रकार संविधान-सभा को स्वतंत्र भारत का सविधान बनाने में दो वर्ष-ग्यारह महीने व आठ दिन लगे। नया सविधान २६ जनवरी १९५० के दिन प्रवृत हो गया।

११३. नए संविधान की प्रमुख विशेषताएं

भारत का नया सविधान संसार का सबसे बृहद् सविधान है। इसमें ३९५ अनुच्छेद और ८ अनु सूचिया हैं। इस प्रकार यह एक लिखित सविधान है। यह एक अभिप्राय मे कठोर भी है। देश का कोई भी विधानमडल उसके सबमे महत्वपूर्ण उपबन्धों को अकेले सशोधिन नही कर सकता। लेकिन यदि हम अपने सविधान की अमेरिका, स्विट्जरलैंड और आस्ट्रेलिया के सविधानो से तुलना करके देख. तो पता चलेगा कि हमारा सविधान इन देशो के सविधानो की अपेक्षा कम कठोर है। सविधान में वर्णित सशोधन की प्रक्रिया न बहुत कठिन है, न बहुत जटिल। सविधान ने राष्ट्रपति को यह शक्ति दे दी है कि वह आपात की उद्घोषणा निकाल कर उसके सघीय ढाचे को एकात्मक ढाचे में बदल सकता है। इससे भी सविधान में लचीलेपन के तत्व का समावेश हो गया है। यदि राज्य परिषद अपने दो तिहाई बहुमत से घोषणा कर दे कि राज्य-सूची मे प्रगणित अमुक विषय का सघीय विधान मण्डल के क्षेत्राधिकार में आना राष्ट्रीय हित की दृष्टि से आवश्यक है, तो उस विषय पर साधारण परिस्थितियो तक में सघीय विधान मण्डल कानून बना सकता है।

लिखित और कठोर संविधान

सविधान भारत को एक प्रभुत्व-शक्ति सम्पन्न लोकतत्रात्मक गणराज्य घोषित करता है। भारतीय संविधान का गणराज्यात्मक स्वरूप इस तथ्य से प्रकट है कि राज्य का कार्यकारी प्रधान कोई आनुवशिक नरेश नहीं, अपितु निर्वाचित राष्ट्रपति है। सार्वभौम वयस्क मताधिकार का सूत्रपात, पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचक गणो और अस्पृश्यता का अन्त, समर्थनीय मूल अधिकारों का अनुदान तथा स्वतत्र न्यायपालिका का सघटन आदि तथ्य ऐसे हैं जो भारतीय सविधान के लोकतत्रात्मक आधार की पुष्टि करते हैं। संविधान का मुख्य उद्देश्य भारत के समस्त

यह भारत को प्रभुत्व-शक्ति सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य घोषित करता है

नागरिकों के लिये स्वतंत्रता, समता और बन्धुता प्राप्त कराना है और इस उद्देश्य को प्रस्तावना में घोषित कर दिया गया है। भारत ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य है, लेकिन इससे उसकी प्रभुत्व-शक्ति पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव नहीं पडता।

एकात्मक आत्मा-सहित संघीय संविधान

सविधान भारतवर्ष में सघीय राजतत्र की स्थापना करता है। उसने निर्धारित किया है कि भारत, अर्थात इडिया, राज्यो का सघ होगा। दूसरे सघो की तरह भारत में भी दो कोटि की सरकारे हैं—सघीय सरकार और राज्यो की सरकारें। सविधान शक्तियो का केन्द्र और अवयवी एकको के बीच तीन सूचियो-सघ-सूची, राज्य-सूची और समवर्ती सूची मे बिल्कुल स्पस्ट रूप से वितरण करता है लेकिन यह स्मर्त्तव्य है कि यद्यपि भारतीय सघ में सघ-शासन की सामान्य विशेषतायें तो अवश्य विद्यमान हैं, वह एक आदर्श सघ नही है। उसमें निश्चितरूप से एकात्मक अभिनति है। भारत अमेरिकन सघ की अपेक्षा कनाडियन सघ के अधिक समीप है।

सांसद शासन प्रणाली

सविधान ने भारतवर्ष के लिये केन्द्र और राज्यो दोनो स्थानो पर सासद शासन प्रणाली को अंगीकृत किया हैं। भारत के राष्ट्रपति और राज्यो के राज्यपालो (अथवा राजप्रमुखो) से यह आशा की जाती है कि वे वैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करेंगे यद्यपि सविधान ने उनकी स्थिति को बिलकुल स्पष्ट नही किया है। तथापि, मन्त्री वैधानिक दृष्टि मे विधानमडल के निम्न सदन के प्रति उत्तर-दायी हैं। यह चीज भविष्य के गर्भ मे छिपी हुई है कि भारत की सासद-प्रणाली इग-लेंड के आदर्श का अनुगमन करेगी अथवा अपने एक नये आदर्श का निर्माण करेगी।

मूल अधिकार

सविधान मे एक अध्याय नागरिको के मूल अधिकारो के ऊपर है। इन अधि-कारो का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता और इन्हें न्यायालयो द्वारा बाध्यता दी जा सकती है। इसका अभिप्राय यह है कि वह कानून अथवा अध्यादेश जो इनमें किसी अधिकार का अपहरण करता है और उच्च न्यायालयो व सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अवैध घोषित किया जा सकता है। नागरिक इन अधिकारो के प्रवर्त्तन और संरक्षण के लिये सर्वोच्च न्यायालय अथवा राज्यो के उच्च न्यायालयो की शरण तक जा सकते हैं। मूलभत अधिकारों (अनुच्छेद १२ से ३५ तक) में भारत के नागरिको को यह गारण्टी दी गई है कि वे कानून की दृष्टि में बिना किसी भेदभाव के बराबर समझे जायेंगे, उन्हे भाषण, उपासना और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता रहेगी, शान्तिपूर्वक सभाएं

करने और समुदाय बनाने का उन्हें अधिकार रहेगा, सघ के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र में घूमने फिरने की, कही भी बसने की और किसी भी जीविका, वाणिज्य या व्यवसाय की स्वतन्त्रता का वे उपभोग करेंगे। सविधान ने मानव के पण्य और बलात् श्रम का प्रतिषेध कर दिया है और नागरिको को अन्त.करण की तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता दी है। उसने प्रबन्ध किया है कि अल्पसंख्यको के हितो का सरक्षण किया जायगा व उन्हे शिक्षा-सस्थाओ की स्थापना और प्रशासन करने का अधिकार होगा। सविधान के अनुसार कोई भी व्यक्ति कानून के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वचित नही किया जायगा और राज्य प्रतिकर दिये बिना किसी भी वैयक्तिक सम्पत्ति को सार्वजनिक उपयोग के लिये कब्जाकृत न करेगा।

राज्य की नीति के निर्देशक तत्व

भारतीय सविधान की एक अपूर्व विशेषता राज्य की नीति के निर्देशक तत्व, १९३७ के आयरिश सविधान से उधार ली गई है। निर्देशक तत्वो और मूल अधिकारो में अन्तर यह है कि निर्देशक तत्वो को न्यायालयो द्वारा बाध्यता नही दी जा सकती, जबकि मूल अधिकारो को दी जा सकती है। तथ्यत., इन सिद्धान्तो से केवल यह आशा की जा सकती है कि वे संघ व राज्य सरकारो की नीति का मार्ग दर्शन करें। सक्षम टीकाकारो के मतानुसार ये अस्पष्ट और अनिश्चित हैं और उनका सविधान में समावेश कोई व्यावहारिक महत्व नही रखता। इन सिद्धान्तो मे कहा गया है कि राज्य का ध्येय एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करना होगा, जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पर आश्रित हो तथा जिसमे समस्त नागरिको को काम व जीविका के उचित साधन पाने का अधिकार हो। राज्य स्व-शासन के एकको के रूप में ग्राम-पचायतो का सगठन करेगा, श्रमिको के लिये निर्वाह मजूरी आदि का प्रबन्ध करेगा, नागरिको के लिये एक समान व्यवहार-संहिता बनाने के लिये प्रयत्नशील होगा और बालको के लिये निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का उपबन्ध करने की चेष्टा करेगा।

संविधान का उद्देश्य भारत मे धर्म-निरपेक्ष राज्यकी स्थापना करना है

नये सविधान का लक्ष्य भारत मे साम्प्रदायिक अथवा धर्म-सापेक्ष राज्य की वृद्धि को रोकना है। इसके स्थान पर उसका उद्देश्य भारतवर्ष में धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना करना है। ऐसी व्यवस्था मे राज्य न तो धार्मिक होता है, न अधार्मिक होता है, न धर्म-विरोधी होता है अपितु धार्मिक मामलो में सर्वथा तटस्थ रहता है। हमारे सविधान ने समस्त नागरिको को धर्म, वश और जाति के बिना किसी भेदभाव के समान अधिकार प्रदान किये हैं। धर्म के सम्बन्ध में संविधान ने प्रत्येक नागरिक

को अपने मनोवाछित धर्म का अबाध गति से पालन करने की स्वतन्त्रता दे दी है। यदि किसी व्यक्ति का धर्म में विश्वास नही है, तो वह अपने धर्म-विरोधी विचारो को भी धारण कर सकता है। राज्य स्वय को किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नही करता और सब धर्मों पर सम-दृष्टि रखता है। राज्य का मुख्य उद्देश्य नागरिको की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति करना है, अपनी आध्यात्मिक उन्नति का पथ व्यक्ति स्वय प्रशस्त कर सकता है, वह उसका अपवर्जित या वैयक्तिक मामला है।

११४. नागरिकों के मूल अधिकार

भारत के सविधान ने नागरिको को कई मूल अधिकार प्रदान किये हैं। अमेरिका, सोवियत रूस और बेल्जियम जैसे ससार के अन्यान्य देशो के सविधानो में भी एक अध्याय नागरिको के मूल अधिकारो पर विद्यमान है। इस प्रकार नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान करना हमारे सविधान की कोई अपनी निजी विशिष्ट विशेषता नहीं है, लेकिन जैसा कि श्री अनन्त शयनम आयगर ने कहा है "नये भारतीय सविधान में जनता को गारण्टी किये गये मूल अधिकार दूसरे बहुत से देशो के सविधानो में पाये जाने वाले मूल अधिकारों से अधिक विशद और यथार्थ हैं।" चूकि नये सविधान ने भारत की जनता को मूल अधिकार नाम की वस्तु सर्व प्रथम प्रदान की है इससे पूर्व जनता मूल अधिकारों से सर्वथा वचित थी, अत इनका महत्व और भी बढ जाता है। सविधान के भाग ३ को, जिसमे इन अधिकारो की एक लम्बी सूची दी गई है, भारत के 'मैग्ना-कार्टा, के नाम से पुकारा गया है। सविधान मे वर्णित अधिकारो की सात श्रेणिया हैं। (१) समता-अधिकार (२) स्वातन्त्र्य अधिकार (३) शोषण के विरुद्ध अधिकार (४) धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार (५) सस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (६) सम्पत्ति का अधिकार और (७) सविधानिक उपचारो के अधिकार।

"अधिक विशद और यथार्थ"

अधिकारों की सात श्रेणियाँ

समता-अधिकार में कानून के समक्ष समता धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध और राज्याधीन नौकरी के विषय में अवसर-समता सम्मिलित है। सविधान अस्पृश्यता का अत करके और दुकानो, सार्वजनिक भोजनालयो तथा मनोरंजन के स्थानो में सब लोगो को समान रूप से प्रवेश का, व तालाब, कुओ, स्नानघाटो, सडको तथा सार्वजनिक समागम के स्थानो के उपयोग का अधिकार देकर समता-अधिकार को व्यावहारिक बना देता है। समता अधिकार सेना

(१ समता-अधिकार

या विद्या सम्बन्धी उपाधियों को छोड कर शेष उपाधियो को समाप्त करता है। समता अधिकार पूर्ण है और वह सब नागरिको को बिना किसी अपवाद के प्राप्त है। फिर भी सविधान में इस बात का उल्लेख है कि स्त्रियो-बच्चों और पिछडे हुये वर्गों के समान धरातल पर लाने के लिये विशेष उपबन्ध किये जा सकते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत के सविधान का लक्ष्य भारत में सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना करना है। अमेरिका ससार का सबसे प्रगतिशील लोकतन्त्रात्मक देश है लेकिन वहां भी रग के आधार पर विभेद की भावना को दण्ड योग्य अपराध नही माना गया। अत. यह कहा जा सकता है कि भारतीय सविधान में जिन समता अधिकारो का उल्लेख किया गया है, वे अमेरिकन सविधान के समता अधिकारो की अपेक्षा अधिक वास्तविक और विध्यात्मक हैं।

(२) स्वातंत्र्य-अधिकार

स्वातंत्र्य-अधिकार (अनुच्छेद १९) इस बात की गारण्टी देता है कि सब नागरिकों को वाक्-स्वातत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातत्र्य का शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का, सस्था या सघ बनाने का, भारत राज्य क्षेत्र में अबाध सचरण का, भारत राज्य क्षेत्र के किसी भाग मे निवास करने और बस जाने का, सम्पत्तिके अर्जन, धारण और व्ययन का तथा कोई वृत्ति, उपजीविका व्यापार या कारबार करने का अधिकार होगा।

स्वातंत्र्य-अधिकार पर प्रतिबन्ध

स्वातन्त्र्य अधिकार किसी भी प्रकार पूर्ण नही हैं। इनके ऊपर कई बडे बडे प्रतिबन्ध लगे हुए हैं और इन प्रतिबन्धो को कई विधान विशारदो ने कडी आलोचना की है। उदाहरणार्थ उनका कथन है कि निवारक-निरोध अधिनियम के अधीन, जिसे सविधान का सम्मोदन प्राप्त है किसी भी नागरिक को तीन महीनें तक और ससद की स्वीकृति मिलने पर इससे भी अधिक समय तक बिना परीक्षण के जेल मे रखा जा सकता है। आलोचको का मत है कि यह कानून स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र की भावना के प्रतिकूल है, इसकी आड मे शासन अपने राजनीतिक विरोधियो को कुचल सकता है। इसके विपरीत राज्य की मान्यता यह है कि समाज विरोधी तत्वो का सामना करने के लिए ये प्रतिबन्ध आवश्यक हैं। भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर सविधान अधिनियम (प्रथम सशोधन) द्वारा जिसे ससद ने जून ५१ में पास किया था और अधिक प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। यह अधिनियम राज्य को ऐसे प्रत्येक कानून की निर्मिति का अधिकार देता है, "जो राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यो के साथ मैत्री सम्बन्धो, सार्वजनिक व्यवस्था सुशी-

लता व नैतिकता के हित में हो अथवा न्यायालय की मानहानि, अपकीर्ति या अपराध की उत्तेजना के सम्बन्ध में हो।" आलोचकों ने इस संशोधन की कठोर आलोचना की है और इसे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर भयंकर आघात बताता है। सत्तालोलुप शासक इस अधिनियम का प्रयोग कर जनता को उसकी आधारभूत स्वतन्त्रताओं से वंचित कर सकता है।

(३) शोषण के विरुद्ध अधिकार

'शोषण के विरुद्ध अधिकार' मानव के पण्य और बेट-बेगार तथा इसी प्रकार के अन्य बलात श्रम का प्रतिषेध करता है व इस उपबन्ध के उल्लंघन को अपराध ठहराता है जो कानून के अनुसार दण्डनीय है। संविधान इस बात का भी उपबन्ध करता है कि चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी स्थान में नौकर न रखा जायगा और न किसी दूसरी संकटमय नौकरी में लगाया जायगा। इन अधिकारों का उद्देश्य भारत मे एक ऐसी समाज-व्यवस्था को कायम करना है जिसमे कि सबल व्यक्ति निर्बल का शोषण न कर सकें। ये अधिकार नव-जात भारत राज्य को 'लोक-संग्रही राज्य' का रूप प्रदान करते हैं।

(४) धर्म स्वातंत्र्य का अधिकार

भारत वर्ष विभिन्न धर्मों की सम्मिलन भूमि है। संविधान ने समस्त नागरिकों को "अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का" समान अधिकार प्रदान किया है। (अनुच्छेद २५)। इन अधिकारो के सम्बन्ध मे यह आवश्यक है कि इनका प्रयोग सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य आदि के अधीन रहते हुए किया जाय। संविधान ने यह भी निर्धारित किया है कि राज्य द्वारा घोषित शिक्षा संस्थाओं में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नही दी जायगी और राज्य से अभिज्ञात शिक्षा-संस्थाओं में जो राज्य की निधि से सहायता पाती हैं किसी भी विद्यार्थी को धार्मिक शिक्षा में भाग लेने अथवा धार्मिक उपासना मे संलग्न होने के लिए बाध्य नही किया जा सकेगा। तथापि संविधान ने इस बात का उपबन्ध कर दिया है कि राज्य धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक वित्तीय, राजनीतिक अथवा अन्य प्रकार की लौकिक क्रियाओं का विनिमय अथवा निर्बन्धन कर सकता है और हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिए खोल सकता है।

संविधान में संस्कृति और शिक्षा-सम्बन्धी अधिकारो का भी उल्लेख हैं। अनुच्छेद २९ में कहा गया हैं कि भारत के नागरिकों के किसी विभाग को, जिसकी अपनी विशेष

(५) संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार

भाषा, लिपि या संस्कृति है, उसे बनाए रखने का अधिकार होगा और राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-संस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित न रक्खा जायेगा। अनुच्छेद ३० धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन का अधिकार देता है व इस बात का उपबन्ध करता है कि शिक्षा-संस्थाओं को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है। ये अधिकार भारत में अल्पसंख्यक वर्गों के लिये एक नए युग का उद्घाटन करते हैं और उन्हें सांस्कृतिक स्वाधीनता की गारण्टी देते हैं।

(६) सम्पत्ति का अधिकार

अनुच्छेद ३१ सम्पत्ति के अधिकार का निरूपण करता है। संविधान ने निश्चित किया है कि "कोई व्यक्ति कानून के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा" और कोई भी सम्पत्ति सार्वजनिक उपयोग के लिये मुआवजा दिये बिना कब्जाकृत या अर्जित नहीं की जा सकती। इसके अलावा राज्य के विधान मंडल द्वारा पास किया गया कोई भी ऐसा कानून जो सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन का उपबन्ध करता हो, तब तक प्रभावी नहीं होगा, जब तक कि उस पर राष्ट्रपति की अनुमति न मिल गई हो। वैयक्तिक सम्पत्ति से सम्बद्ध संविधान के उपबन्ध काफी विवादास्पद रहे हैं। समाजवादी और साम्यवादी इन उपबन्धों की कठोर आलोचना करते है। विधान-शास्त्रियों का भी यह मत है कि इन उपबन्धों के कारण भारतवर्ष में 'समाजवाद के अनिवार्य तत्त्वों सहित लोकतन्त्र' की स्थापना करना कठिन हो जायेगा, जमींदार और सम्पत्तिशाली वर्ग कृषि-सुधारों के मार्ग में रोड़े अटका सकते हैं। उक्त आलोचना निराधार नहीं है, यह इस बात से स्पष्ट है कि कतिपय राज्यों द्वारा पास किए गए जमींदारी-उन्मूलन-कानूनों को वैध करने के लिये संविधान को संशोधित करना पड़ा है।

(७) संविधानिक उपचारों के अधिकार

संविधान उन संविधानिक उपचारों के अधिकारों का भी उपबन्ध करता है जिनके द्वारा उपर्युक्त अधिकारों को प्रवर्तित कराया जा सकता है। संविधान का अनुच्छेद ३२ प्रत्येक नागरिक को इस बात के लिए अधिकृत करता है कि वह संविधान द्वारा प्रदान किए गए अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिये न्यायालयों की शरण ले सकता है। इन अधिकारों में से किसी को प्रवर्तित कराने के लिये सर्वोच्च न्यायालय को ऐसे आदेश या लेख, जिनके अन्तर्गत

बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas corpus), परमादेश (mandamus), प्रतिषेध (prohibition) अधिकार-पृच्छा (quo-wassanto) और उत्प्रेषण (cretiorari) के प्रकार के लेख भी हैं, निकालने की शक्ति प्राप्त है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

यह स्मर्त्तव्य है कि साधारण परिस्थितियों में संविधान द्वारा प्रदान किए गए नागरिकों के मूल अधिकारों को न्यायालयों द्वारा बाध्यता दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में यदि राज्य साधारण परिस्थितियों में नागरिकों के इन मूल अधिकारों के अतिक्रमण का प्रयास करे, तो न्यायालय उनकी रक्षा में प्रवृत्त हो सकता है। अन्यान्य लोकतन्त्रात्मक देशों में भी मूल अधिकारों की यही स्थिति है। इसके अलावा अमेरिका की तरह भारत में भी न्यायपालिका को यह अधिकार दे दिया गया है कि यदि संसद अथवा राज्य विधानमंडल द्वारा पास किया गया कोई कानून मूल अधिकारों के प्रतिकूल हो, तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर सकती है।

लेकिन भारतीय संविधान के मूल अधिकारों में कतिपय ऐसी बातें हैं, जिनके ऊपर उग्र वाद-विवाद उठ खड़ा हुआ है। प्रत्येक अधिकार के ऊपर अनेक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। ये प्रतिबन्ध ऐसे हैं, जिनके बारे में कहा जा सकता है कि यदि संविधान एक हाथ में अधिकार देता है, तो दूसरे हाथ में उसे छीन लेता है। भारत के संविधान के विपरीत अमेरिका का संविधान नागरिकों के मूल अधिकारों का बिल्कुल निर्भ्रान्त ढंग से निरूपण करता है। भारत में मूल अधिकारों के ऊपर जो प्रतिबन्ध लगाए गये हैं, उनकी वजह से कभी कभी न्यायपालिका के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह कार्यपालिका अथवा विधानमंडलों के अतिक्रमणों के विरुद्ध उनकी रक्षा कर सके। संभवतः भारतीय संविधान द्वारा गारण्टी किए गए मूल अधिकारों का सबसे विवादास्पद पहलू यह तथ्य है कि इन अधिकारों में सबसे मूल्यवान् अधिकार अर्थात् वे अधिकार जो भाषण, अभिव्यक्ति, शान्तिपूर्वक सम्मेलन और संचरण आदि की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखते हैं, भारत के राष्ट्रपति द्वारा उस समय, जब कि वह आपात की उद्घोषणा निकालता है, स्थगित किए जा सकते हैं। इस प्रकार की उद्घोषणा की प्रवर्त्तन कालावधि में राष्ट्रपति न्यायालयों से इन मूल अधिकारों को लागू करने की शक्ति भी ले सकता है। यह ठीक है कि मूल अधिकारों का स्थगन केवल थोड़े से काल के लिए ही हो सकता है, लेकिन इसके लिए किये गए उपबन्ध पर आलोचकों ने कठोर आक्षेप किये हैं। उनका कहना है कि इन उपबन्धों की आड़ में कार्यपालिका अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर सकती है और जनता के ऊपर तानाशाही लाद सकती है। शासन का इस

उपबन्ध के समर्थन में यह कथन है कि राष्ट्रीय आपात की घडियों में मूल अधिकारों को स्थगित करने की शक्ति राज्य की सुरक्षा के लिए आवश्यक है और सार्वजनिक स्वतन्त्रता को कायम रखना व्यक्ति की स्वतन्त्रता से अधिक महत्वपूर्ण है। ऐसी स्थिति मे बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि शासन अपनी आपात-शक्तियो का किस प्रकार प्रयोग करता है। यदि शासन राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि लक्ष्य में रखते हुये अपनी आपात शक्तियो का प्रयोग करता है, तो यह नही कहा जा सकता कि वह सुरक्षा और व्यवस्था के नाम में जनता के स्वातन्त्र्य अधिकारो को अतिक्रान्त करेगा।

सम्पत्ति का अधिकार भी आलोचको के वाक्‌बाणो का आस्पद रहा है। कुछ ने तो यहां तक कह डाला है कि यह अधिकार मूल अधिकार नही, मूल अन्याय है। इसके विपरीत सविधान के निर्माताओ का यह कहना है कि आज जिस अन्तर्कालीन दौर से भारत गुजर रहा है, उसमें हमें एक एक कदम सम्हाल कर रखना है, किसी प्रकार के उग्र उपायो का अवलम्बन राष्ट्रीय हित की दृष्टि से वांछनीय न होगा।

११५. राज्य की नीति के निर्देशक तत्व

निर्देशक तत्वों का अभिप्राय

भारतीय सविधान मे राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो का समावेश एक ऐसी विशेषता है जो आयर्लैण्ड के सविधान से ग्रहण की गई है। उन निर्देशक तत्वो का पालन करना राज्य के लिये सर्वथा आवश्यक नही है, ये निर्देशक तत्व तो केवल आदर्श हैं। सविधान की प्रस्तावना में एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना की बात कही गई है जिसमें जीवन के सभी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों मे समानता, स्वतन्त्रता और न्याय विद्यमान हो। राज्य की नीति के निर्देशक तत्व उन साधनो का निरूपण करते हैं जिनके द्वारा ऐसी समाज व्यवस्था कायम की जा सकती है। अनुच्छेद ३७ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन उपबन्धों को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, तो भी वे 'देश के शासन में मूलभूत है और कानून बनाने में उनका प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा।" अनुच्छेद ३८ मे कहा गया है कि राज्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय पर आधारित समाज व्यवस्था की स्थापना का प्रयास करेगा। राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो का सक्षेप में यही सार है। सुविधा की दृष्टि से उनका निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है:—(क) आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक कल्याण से सम्बद्ध निर्देशक तत्व, (ख) न्याय, शिक्षा और लोकतन्त्र से सम्बद्ध निर्देशक तत्व तथा (ग) प्रकीर्ण निर्देशक तत्व।

अनुच्छेद ३९, ४१, ४२, ४३, ४६, ४७ और ४८ मुख्यत: आर्थिक मामलों से सम्बद्ध हैं। अनुच्छेद ३९ में कहा गया है कि राज्य अपनी नीतिका इस प्रकार सचालन करेगा जिसके फलस्वरूप नर और नारी सभी नागरिको को जीविका के समान साधन उपलब्ध हो सके, समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूपसे साधन हो सके, आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन-साधनों का अहितकारी केन्द्रण न हो सके, पुरुष और स्त्रियो को समान कार्य के लिये समान वेतन मिल सके, श्रमिक स्त्रियो और पुरुषो के स्वास्थ्य तथा शक्ति और बालको की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो सके एव आर्थिक विवशताओं से लाचार होकर नागरिको को ऐसे रोजगारो मे न जाना पडे जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हो तथा शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से और नैतिक व आर्थिक परित्याग से सरक्षण हो सके। अनुच्छेद ४१ बेकारी, बुढापा, अगहानि तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओ मे नागरिको के लोक-सहायता पाने के अधिकार को स्वीकार करता है। अनुच्छेद ४२ में कहा गया है कि राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओ को सुनिश्चित करनेके लिये तथा प्रसूति सहायताके लिये उपबन्ध करेगा। अनुच्छेद ४३ में कहा गया है कि राज्य श्रमिको के लिये निर्वाह मजूरी आदि का प्रबन्ध करेगा और कुटीर उद्योगो की उन्नतिके लिये चेष्टाशील होगा। अनुच्छेद ४६ में कहा गया है कि राज्य अनुसूचित जातियो के शिक्षा तथा अर्थ-सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा। अनुच्छेद ४७ में स्वीकार किया गया है कि आहार-पुष्टि-तल और जीवनस्तर को ऊचा करने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के सुधार करने का राज्य का कर्तव्य होगा। अनुच्छेद ४८ मे कहा गया है कि राज्य कृषि और पशु पालन को वैज्ञानिक प्रणालियो से सगठन करेगा व गो-वध का प्रतिषेध करेगा।

(क) आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक कल्याण से सम्बद्ध निर्देशक तत्व

राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो मे कुछ ऐसे भी हैं जो न्याय की सुरक्षा, शिक्षा के विस्तार और लोकतन्त्र के प्रसार का उपबन्ध करते हैं। अनुच्छेद ४४ और ५० न्याय की सुरक्षा से सम्बन्ध रखते हैं। अनुच्छेद ४४ मे कहा गया है कि राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र मे नागरिको के लिये समान व्यवहार-संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद ५० में कार्यपालिका से न्यायपालिकाके पृथक्करण की बात कही गयी है। शिक्षा के विस्तार के सम्बन्ध में अनुच्छेद ४५ ने निर्धारित किया है कि "राज्य, इस सविधान के प्रारम्भ

(ख) न्याय, शिक्षा और लोकतन्त्र से सम्बद्ध निर्देशक तत्व

से दस वर्ष की कालावधि भीतरके सब बालकोको चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिये उपबन्ध करने का प्रयास करेगा।" भारत में लोकतन्त्रात्मक भावनाओ के प्रसार के लिये निर्देशक तत्वो में ग्राम पचायतों के सघटन की बात कही गई है। अनुच्छेद ४० ने निश्चित किया है कि "राज्य ग्राम पचायतो का सघटन करने के लिये अग्रसर होगा, तथा उनको ऐसी शक्तिया और प्राधिकार प्रदान करेगा जो उन्हे स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप मे कार्य करने योग्य बनाने के लिये आवश्यक हो।"

(ग) प्रकीर्ण निर्देशक तत्व

अनुच्छेद ४९ और ५१ की हम प्रकीर्ण निर्देशक तत्वो मे गणना कर सकते हैं। अनुच्छेद ४९ में राष्ट्रीय महत्व के स्मारको, स्थानो और चीजो के सरक्षण की बात कही गई है। राज्य का यह आभार होगा कि वह विनाश, व्ययन और निर्यात से इनकी रक्षा करे। अनुच्छेद ५१ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति से सम्बन्ध रखता है। इसमें कहा गया है कि—

"राज्य—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का,
(ख) राष्ट्रो के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का,
(ग) सघटित लोगो के, एक दूसरे से व्यवहारो मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सधि बन्धनो के प्रति आदर बढाने का, तथा
(घ) अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के मध्यस्थता द्वारा निबटारे के लिये प्रोत्साहन देने का, प्रयास करेगा।"

निर्देशक तत्वों का संविधानिक महत्व

राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो की इस आधार पर आलोचना की गई है कि इनमे केवल कुछ पवित्र इच्छाओं का ही उल्लेख मात्र है। प्रिंसिपल श्री राम शर्मा ने सविधान के अध्याय ४ की, जिसमे राज्य की नीति के निर्देशक तत्वो का वर्णन किया गया है, आलोचना करते हुए लिखा है कि "इसमे कुछ उदात्त, प्रलाप, बहुत सी पवित्र इच्छाएं और कुछ ऐसे अधिकार जिनकी सविधान द्वारा गारंटी दी जासकती थी, समाविष्ट है।"* स्त्रियों और पुरुषोंको समान कामके लिये समान वेतन मिले,इनकी न केवल सविधान द्वारा गारटी ही दी जा सकती है, अपितु इसे कानून द्वारा परिवर्तित भी किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रारम्भिक नि शुल्क अनि-

* प्रिंसिपल श्री राम शर्मा : 'इंडियन जर्नल आफ पालिटिकल सायंस' 'सम आस्पेक्टस आफ दि इंडियन कंसटीट्यूशन' भाग १०, अंक ३, पृ: २४

वार्य शिक्षा का उपबन्ध निर्देशक तत्वों में न होकर यदि मूल अधिकारो में समाविष्ट होता, तो कही अधिक श्रेयस्कर था ।

राज्य की नीति के ये निर्देशक तत्व बहुत अस्पष्ट हैं। सविधान में इस बात का साफ-साफ उल्लेख कर दिया है कि "इन उपबन्धो को किसी न्यायायलय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी," परन्तु इसके साथ ही साथ यह भी साफ साफ कह दिया गया है कि ये तत्व "देश के शासन मे मूलभूत है और विधि बनाने में इन तत्वों का प्रयोग करना राज्य का कर्तव्य होगा ।" इस प्रसग में 'मूलभूत' का क्या अभिप्राय है ?

इसमें कोई सन्देह नही कि उक्त आलोचना में सत्य का एक बहुत बडा अंश है, लेकिन हमें यह भी नही भूल जाना चाहिए कि राज्य की नीति के इन निर्देशक-तत्वों में कुछ श्रेष्ठ आदर्श निहित हैं। इन आदर्शों का सविधान मे समावेश राज्य को निरन्तर इस बात की स्मृति दिलाता रहेगा कि वह इन आदर्शो की सिद्धि के लिए चेष्टाशील हो, अपनी नीतियो को इस प्रकार निर्धारित करे ताकि ये आदर्श खाली आदर्श ही न रह जाये अपितु मूर्त रूप धारण कर सकें। ये आदर्श किसी भी सत्तारूढ दल की अच्छाई और बुराई की कसोटी हो सकते हैं। जो सत्तारूढ दल जितना ही इन आदर्शों को मूर्तरूप देने मे सफल हो, उसकी उतनी ही प्रवीणता स्वत स्पष्ट है। जनता किसी भी सत्तारूढ दल की नीतियो और कार्यों का सही सही मूल्याकन इन आदर्शों के प्रकाश मे कर सकती है। इसके अलावा लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की यह अनिवार्य विशेषता है कि उसमे लोकमत समय समय पर बदलता रहता है। फलत यदि आज एक दल शासन की बागडोर को सम्हाल रहा है, तो कल दूसरा दल शासन की बागडोर को सम्हाल सकता है, यदि आज अनुदार प्रवृत्तियो का दल सत्तारूढ है तो कुछ समय पश्चात् क्रान्तिकारी प्रवृत्तियो का दल सत्तारूढ हो सकता है। ऐसी परिस्थिति मे राज्य की नीति के ये निर्देशक तत्व इस बात को समाश्वस्त करते रहेंगे कि अनुदार दल अपनी नीति के निर्धारण मे इन तत्वो का पूर्णत: उल्लघन न करे और इसके साथ ही साथ क्रातिकारी दल अपने आर्थिक व अन्य कार्यक्रमो को कार्यरूप में परिणत करने के लिए यह न अनुभव करे कि इस सविधान में काट-छाट करने की आवश्यकता है। श्री एम. सी सीतलवाड के शब्दो में राज्य की नीति के निर्देशक-तत्वों के सम्बन्ध में सविधान-निर्माताओ का अवश्य ही "यह उद्देश्य था कि ये तत्व प्रज्वलित ज्योति के रूप में राज्य के सभी प्राधिकारियों का राष्ट्र-निर्माण के प्रयासो में मार्ग दर्शन करें और राष्ट्र शनैः शनैः समृद्धिशाली और शक्तिशाली बने जिससे वह विश्व के अन्य राष्ट्रों में अपना योग्य स्थान प्राप्त कर सके।"*

---

*श्री एम. सी. सीतलवाड़- भारतीय सविधान (भाषण माला) के अन्तर्गत 'राज्य की नीति के निर्देशक-तत्व' पृ. १४

११६. भारतः एक धर्म-निरपेक्ष राज्य

भारत के नये संविधान की एक मुख्य विशेषता यह भी है कि उसका उद्देश्य देश में धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना करना है। धर्म-निरपेक्ष राज्य की मान्यता आज के राजनीतिक दर्शन में एक विशेष महत्व रखती है। पश्चिम के लगभग सभी राज्य धर्म-निरपेक्ष हैं। धर्म-निरपेक्षता के आधार पर भारत के नए संविधान की रचना करके संविधान निर्माताओं ने भारत को संसार के प्रगतिशील राष्ट्रों की पंक्ति मे ला खड़ा किया है। कुछ लोगो की धारणा है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य धर्म-विरोधी होता है, परन्तु यह धारणा बिल्कुल मिथ्या हैं। वस्तुतः यह राज्य, "न धार्मिक होता है, न अधार्मिक होता हैं अपितु वह धार्मिक रूढियो से सर्वथा विमुक्त रहता है और इस प्रकार धार्मिक मामलो में उसके क्रियाकलाप पूर्णतः तटस्थ होते हैं।"*

धर्म- निरपेक्ष राज्य क्या है ?

धर्म-निरपेक्ष राज्य में धर्म को एक वैयक्तिक मामला माना जाता है। किसी व्यक्ति का गीता पर विश्वास है या कुरान पर, मोहम्मद पर या ईसा पर, इससे राज्य को क्या लेना देना ? चाहे तो कोई व्यक्ति मस्जिद में नमाज पढे, गिरजे में अपना पाप स्वीकार करे अथवा मन्दिर में ध्यान मग्न हो, राज्य का इससे कुछ नही बनता बिगडता। व्यक्ति की पुनर्जन्म, आत्मा के अमरत्व और स्वर्ग-नर्क के विषय में क्या धारणाए हैं, राज्य इसकी कोई चिन्ता नही करता। धर्म-निरपेक्ष राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता पूर्वक अपना धर्म पालने का अधिकार होता है, राज्य स्वय को किसी धर्म विशेष से सम्बद्ध नहीं करता क्योंकि इसका अभिप्राय यह होगा कि अन्य धर्मों के विकास का पथ अवरुद्ध हो जायगा। राज्य का सब धर्मों के ऊपर समान अनुग्रह रहे, यह धर्म-निरपेक्ष राज्य का मूल सिद्धान्त हैं। इस राज्य में धर्म किसी व्यक्ति की योग्यता का मापदण्ड नही होता।

धर्म-निरपेक्ष राज्य की विवक्षाएं

सच तो यह है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य ही लोकतन्त्रात्मक राज्य है। इस राज्य का उल्टा धर्म-सापेक्ष या थियोक्रेटिक राज्य होता है। इस राज्य में शासन को ईश्वर का अंश माना जाता है। नागरिको के लिए यह आवश्यक होता हैं कि वे शासक के प्रति इसी प्रकार की निष्ठा रक्खें उसे ईश्वर के समान पूजनीय मानें। थियोक्रेटिक राज्य एक धर्म विशेष से सम्बद्ध होता है और उसके कायदे-कानून

धर्म-निरपेक्ष राज्य का उल्टा, धर्म सापेक्ष राज्य

* वेंकटरमन- ए ट्रीटाइज आन सेकुलर स्टेट, पृ. १

धर्म पुस्तकों के अनुसार निर्मित होते हैं। पूर्वी और पश्चिमी दोनों ही देशोंमें इस प्रकार के राज्य रहे हैं।

भारत में धर्म-निरपेक्ष राज्य की आवश्यकता

भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्ष राजतन्त्र की पुनःस्थापना का मन्तव्य बिल्कुल स्पष्ट है। आजादी की लड़ाई के दौरान में जिस साम्प्रदायिक त्रिभुज का यहा विकास हुआ और जिसके कारण देश खंडित हुआ व मानव रक्त की सरिता बही, उसकी सबसे बडी चेतावनी यही है कि धर्म और राजनीति का समन्वय धर्म और राजनीति दोनों के लिए ही विनाशकारी है। इसके अलावा भारत में कई धर्मों के मानने वाले लोग रहते हैं। ऐसी दशा में राज्य स्वयं को किसी एक धर्म विशेष, चाहे वह धर्म हिन्दू धर्म ही क्यों न हो, के साथ कैसे सम्बद्ध कर सकता है? राज्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह सब धर्मों के प्रति सम-दृष्टि रक्खे अर्थात् धर्म-निरपेक्षता के आदर्श को अपनाए।

धर्म- निरपेक्षता और भारतीय संविधान

भारतीय संविधान में धर्म-निरपेक्षता के सिद्धान्त को कहा तक अपनाया गया है? संविधान की प्रस्तावना में ईश्वर की कोई चर्चा नही है और न किसी धार्मिक भावना को ही कोई स्थान दिया गया है। भारतीय गण-राज्य का उद्देश्य देश में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की स्थापना करना निश्चित किया गया है। फ्रेंच राज्यक्रान्ति के मूलमन्त्रों स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता को भी प्रस्तावना में जोड दिया गया है। स्वतन्त्रता और समानता शब्दों की तो वैधानिक महत्ता है और बन्धुता एक नैतिक मूल्य है। 'धर्म' शब्द युग-युगान्तर से हिन्दू विधान का उद्गम रहा है। प्रस्तावना में इसका कोई उल्लेख नहीं है।

नागरिकता का आधार धर्म नहीं

संविधान के भाग दो में नागरिकता के आधार और नियम का वर्णन किया गया है। नागरिकता धर्म, वंश और रंग के आधार पर नहीं अपितु प्रादेशिक आधार पर निर्भर है। संविधान ने भारत राज्य क्षेत्र में जन्म, अधिवास और निवास को ही नागरिकता की कसौटी माना है। संविधान के भाग तीन में नागरिकों के मूल अधिकारों का उल्लेख है। इन अधिकारों को समता अधिकार, स्वातन्त्र्य-अधिकार, संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार आदि विभिन्न भागों में बाट दिया गया है। इन अधिकारों में वे अधिकार अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं, जिन्होंने धार्मिक परम्पराओ द्वारा आरोपित भेदभावों का अन्त कर

धार्मिक भेदभावों का अन्त

दिया है। अनुच्छेद १५ जाति, लिंग, मूलवंश या जन्म के आधार पर विभेद का प्रतिषेध करता है। सड़कों, कुओं, और स्नानघाटों जैसे सार्वजनिक स्थानों के उपयोग का जनता के सभी वर्गों को अधिकार दे दिया गया है। यही सिद्धान्त राज्याधीन नौकरी के विषय में भी लागू होता है। अनुच्छेद १७ में कहा गया है कि "अस्पृश्यता का अन्त किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध होगा जो विधि के अनुसार दण्डनीय होगा।" वास्तव में अस्पृश्यता भारतीय समाज का और विशेष रूप से हिन्दू समाज का एक बहुत बड़ा कलंक रहा है। इसका अन्त करके संविधान ने धर्म-निरपेक्षता के मार्ग की एक बहुत बड़ी बाधा को दूर कर दिया है।

धर्म-स्वातंत्र्य का अधिकार

संविधान के अनुच्छेद २५-२८ धर्म-स्वातंत्र्य के अधिकारों से सम्बन्ध रखते हैं और इसलिये वे नये धर्म-निरपेक्ष राज्य की आधार-शिला हैं। सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की तथा धर्म के अबाध मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता दी गई है। लेकिन राज्य को किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओं के विनिमय और निर्बन्धन से, चाहे वे धार्मिक आचरण से ही सम्बद्ध क्यों न हों, वंचित रक्खा गया है। राज्य को ऐसे कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है जो "सामाजिक कल्याण और सुधार उपबन्धित करते हों, अथवा हिन्दुओं की सार्वजनिक प्रकार की धर्म संस्थाओं को हिन्दुओं के सब वर्गों और विभागों के लिये खोलते हों।" सिक्खों को कृपाण धारण करने का अधिकार दे दिया गया है। धार्मिक सम्प्रदायों और प्राइवेट धार्मिक संस्थाओं को सम्पत्ति के उपार्जन, स्वामित्व और प्रशासन करने का अधिकार दे दिया गया है। कोई भी नागरिक ऐसे करों को देने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता जिनके आगम किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय की उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिये विशेष रूप से विनियुक्त कर दिये गये हों। राज्य-निधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। राज्य से अभिज्ञान अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली शिक्षा-संस्था में दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा में भाग लेने के लिये अथवा ऐसी शिक्षा-संस्था में की जाने वाली धार्मिक उपासना में भाग लेने के लिये शिक्षार्थियों को बाध्य नहीं किया जा सकता लेकिन यदि वे स्वेच्छासे चाहें तो भाग ले सकते हैं।

अनुच्छेद २९ और ३० में अल्पसंख्यक वर्गों के हितों के संरक्षण के लिये उपबन्ध निर्धारित किये गये हैं। नागरिकों के किसी विभाग की जिसकी अपनी विशेष

भाषा, लिपि या संस्कृति है उसे बनाये रखने का अधिकार होगा। राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्यनिधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-सस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वंचित नही किया जायगा। धर्म या भाषा पर आधारित समस्त अल्पसख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा सस्थाओं की स्थापना और उनका प्रशासन करने का अधिकार दिया गया है। शिक्षा संस्थाओ को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह विद्यालय धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसख्यक वर्ग के प्रबन्ध में है। इन समस्त उपबन्धों का लक्ष्य यही है कि धार्मिक मामलों में बिना किसी बाध्यता के ज्ञान-विज्ञान और शिक्षा का अधिकाधिक विस्तार हो सके।

अल्प संख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण

सविधान के भाग १६ में अनुसूचित जातियो के सम्बन्ध में कतिपय विशेष उपबन्धो का उल्लेख है। कहा जा सकता है कि ये उपबन्ध धर्म-निरपेक्ष राज्य की विशुद्ध विचारधारा के प्रतिकूल पड़ते है। परन्तु इन उपबन्धों का उतना सैद्धान्तिक महत्व नही, जितना व्यवहारिक महत्व है। ये उपबन्ध स्थायी नहीं रहेंगे। अनुसूचित जातिया बहुत पिछडी हुई हैं, वे नाना प्रकार की निर्योग्यताओं की शिकार है। यदि उनके लिये विशेष उपबन्ध नही किये जाते तो फिर उनकी उन्नति कैसे होगी? जैसे ही वे उन्नति की दौड मे भारत के शेष वर्गों को पकड लेगी, ये उपबन्ध समाप्त कर दिए जायेंगे।

अनुसूचित जातियों के सम्बन्ध में विशेष उपबन्ध

११७. भारत-संघ

यद्यपि ब्रिटिश शासन ने भारत में उच्चकोटि की केन्द्रित, एकात्मक शासन-प्रणाली स्थापित कर दी थी, फिर भी यह बराबर अनुभव किया जा रहा था कि भारत जैसे विशाल देश के लिये जहा जातियो, धर्मों और भाषाओ की विभिन्नता विद्यमान है, अतिशय केन्द्रीकरण किसी भी दशा मे उपयुक्त नही है। माटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में भविष्य में भारत को राज्यों के एक संघ के रूप में संगठित करने की चर्चा की गई थी। साइमन कमीशन की रिपोर्ट में भारत को एक संघ के रूप में संगठित करने की बात पर स्पष्ट रूप से विचार किया गया था। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव किया, लेकिन इस संघ का प्रादुर्भाव नही हुआ। स्वतन्त्र भारत के

भारत में संघीय विचार की वृद्धि

संविधान निर्माताओं ने संघवाद को देश के नये संविधान के ढांचे के आधार रूप में स्वीकार किया।

संविधानन संघ (Federation)शब्दका प्रयोग नही किया है। वह भारतको 'राज्यो की एक यूनियन' कहता है।* फिर भी उसमे संघीय राजतत्रकी मुख्त विशेषताएं विद्यमान हैं। संविधान ने संघ-सरकार और अवयवी राज्यों की सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण कर दिया है। संघ-सूची,राज्य-सूची और समवर्ती सूची ने प्रत्येक सरकार के क्षेत्र को निश्चित कर दिया है। साधारण परिस्थितियों में राज्य संघ सरकार के नियन्त्रण अथवा हस्तक्षेप से स्वतन्त्र है। दूसरे शब्दो में राज्य भारत संघ के स्वायत्त एकक हैं। संघ और राज्य दोनो ही अपनी शक्तिया सीधे संविधान से प्राप्त करते हैं। दूसरे संविधान देश का सर्वोच्च कानून है। उसके उपबन्ध सब सरकारो के ऊपर लागू है और संघ सरकार या राज्य सरकारों में से कोई भी उनका अतिक्रमण नही कर सकता। दूसरे शब्दो में कोई सरकार केवल अपनी ही सत्ता पर शक्तियो के वितरण मे फेरफार नही कर सकती। तीसरे संविधान लिखित और कठोर है। चौथे भारत को एक स्वतन्त्र न्यायपालिका प्राप्त है जो संविधान की निर्वचिका और अभिभाविका के रूप में कार्य करती है। यदि संघीय संसद अथवा राज्य विधानमण्डलो द्वारा पास किया गया कोई कानून संविधान के उपबन्धों के प्रतिकूल पडता है, तो सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय उसे असवैधानिक घोषित कर सकते हैं।

भारतीय संविधान की संघीय विशेषताएं

लेकिन हमारे संविधान ने संघवाद के नियत सिद्धातों मे इतना फेरफार कर दिया है कि उसे केवल अर्घ संघीय संविधान ही कहा जा सकता ह। भारत "सारभूत एकात्मक विशेषताओं सहित संघीय राज्य होने की अपेक्षा सारभूत संघीय विशेषताओ सहित एकात्मक राज्य अधिक है।" यह स्मर्त्तव्य है कि प्रारूप समिति ने संविधान को सघीय कहना पसन्द नही किया। इसके विपरीत उसने सोचा कि "भारत को यूनियन कहने में लाभ है यद्यपि संविधान देखने में संघीय हो सकता है।" इस प्रकार संविधान देखने में संघीय,पर वास्तव मे एकात्मक है। न केवल संविधान की भाषा में ही, अपितु उसकी भावना में भी मुख्य बल एकरूपता पर दिया गया है जो राज्यो के मूल्य पर यूनियन को शक्तिशाली बनाती है। संविधान की सबल एकात्मक अभिनति निम्न विशेषताओं से स्पष्ट है।

संविधान की सबल एकात्मक अभिनति

---

* हिन्दी में Federation और Union दोनों के लिये 'संघ' शब्द का प्रयोग चालू है।

शक्तिशाली केन्द्र

सबसे पहली बात तो यह है कि संविधान एक शक्तिशाली केन्द्र का सृजन करता है। यह इसलिये किया गया, क्योंकि जिस समय संविधान बना, देश की स्थिति बड़ी खराब थी और संविधान निर्माताओं ने देश के इतिहास की इस शिक्षा को याद रखा कि "केन्द्र कमजोर होने पर हमारा नाश हो जाता है।" फलतः शक्तियो के तिहरे वितरण में सबसे महत्वपूर्ण विषय संघ सूची मे रखे गये है। संघ सूची तीनों सूचियों मे सबसे लम्बी सूची है और उसमें ९७ विषय शामिल है। इसके अलावा समवर्ती सूची मे वे ४७ विषय शामिल है जिनके ऊपर संघ सरकार आवश्यकता पड़ने पर विधायक और प्रशासनिक अधिकार-क्षेत्र का प्रयोग कर सकती है और ऐसा करने मे राज्य सरकारो की शक्ति का अतिक्रमण कर सकती है। संविधान अवशिष्ट शक्तिया केन्द्र में निहित करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे टिपीकल संघ में अवशिष्ट शक्तिया अवयवी एकको को दी जाती है तथा संघीय सरकार को अत्यन्त मर्यादित और उल्लिखित शक्तिया सौंपी जाती है। भारतीय संघ अमेरिकन संघ की अपेक्षा कनाडियन संघ के अधिक निकट है।

संघ और राज्यों के लिए एक संविधान

दूसरी बात यह है कि भारत में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियट संघ की तरह अवयवी एकको को अपने निजी संविधान बनाने का अधिकार नही दिया गया है। भारत की संविधान सभा संघ और राज्यो दोनो के लिए एकमात्र संविधान-संविधायी सत्ता थी। डा. अम्बेदकर के शब्दो मे "संघ और राज्यो दोनो का संविधान एक ही है जिससे कोई बाहर नही निकल सकता और जिसके अंदर रह कर काम करना उनके लिये आवश्यक है।"*

दुहरी नागरिकता का अभाव

तीसरी बात यह है कि भारत का संविधान दुहरी नागरिकता को मान्यता नही देता। इस दृष्टि से हमारा संविधान अमेरिका के संविधान से बिल्कुल भिन्न है। अमेरिका मे प्रत्येक नागरिक न केवल समग्र देश का ही नागरिक होता है अपितु वह अपने विशेष राज्य की नागरिकता का भी उपभोग करता है। अमेरिका में राज्य बहुधा अपने नागरिको के साथ पक्षपात करते है, उन्हें कतिपय ऐसे अधिकार और विशेषाधिकार दे देते है, जिन्हे वे उन व्यक्तियो को जो उनके नागरिक अथवा निवासी नही हैं, नही देते या कठिनता से देते है। भारत

---

* कंस्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेट्स, भाग ८, पृ. ३४।

में हमें एकल नागरिकता के साथ दुहरा राजतन्त्र प्राप्त है। "भारतवर्ष में केवल एक नागरिकता है। वह भारतीय नागरिकता है। यहां राज्य-नागरिकता नहीं है। प्रत्येक भारतीय को नागरिकता के एक से अधिकार प्राप्त हैं, चाहे वह किसी भी राज्यमें क्यों न रहता हो।"

चौथी बात यह है कि आदर्शभूत संघ में दृढ़ता होती है, चाहे कैसी भी परिस्थितिया क्यो न हो, उसे एकात्मक नहीं बनाया जा सकता। "इसके विपरीत भारतीय संविधान समय और परिस्थितियों की आवश्यकताओ के अनुसार एकात्मक और संघीय दोनों प्रकार का हो सकता है।" साधारण परिस्थितियों में वह संघीय प्रणाली के रूप में कार्य करेगा। लेकिन युद्ध और दूसरे राष्ट्रीय संकट कालों में उसे बिना किसी औपचारिक संशोधन की आवश्यकता के एकात्मक प्रणाली के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। यह भारतीय संविधान की अद्वितीय विशेषता है। आपात की उद्घोषणा निकाल कर भारत संघ का राष्ट्रपति ऐसी असाधारण शक्तिया धारण कर सकता है जिनके फलस्वरूप राज्यो की स्वायत्तता स्थगित हो सकती है। आपात की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल में संघ की कार्यपालिका शक्ति राज्यो तक विस्तृत हो जाती है और संसद राज्य-सूची मे प्रगणित विषयो के ऊपर भी कानून बनाने मे समर्थ हो जाती है। यदि किसी राज्य का राज्यपाल अथवा राजप्रमुख राष्ट्रपति से इस बात की रिपोर्ट कर दे कि राज्य मे संविधान के उपबन्धो के अनुसार शासन नही चलाया जा सकता,तब भी यही प्रभाव होगा। तब राष्ट्रपति उद्घोषणा द्वारा राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य अपने हाथ मे ले सकता है और घोषणा कर सकता है कि राज्य के विधानमण्डल की शक्तियां संसद के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होंगी। राष्ट्रपति संघ और राज्यों के बीच शक्तियो के वितरण से सम्बद्ध संविधान के उपबन्धों को भी संशोधित कर सकता है।

आपात-काल में संविधान एकात्मक हो सकता है

पाचवी बात यह है कि संघ की विधायनी शक्ति साधारण परिस्थियो में भी राज्यो के मूल्य पर बढायी जा सकती। है साधारणतः राज्य-विधान मंडलों को राज्य सूची मे प्रगणित विषयों के ऊपर अपवर्जी अधिकार क्षेत्र प्राप्त है। लेकिन यदि राज्य-परिषद दो तिहाई बहुमत से समर्थित प्रस्ताव के द्वारा यह घोषणा कर दे कि राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संघीय संसद का इन विषयों में से किसी के ऊपर कानून बनाना आवश्यक है, तो संघीय संसद इन विषयों में से किसी के ऊपर कानून बना सकती है।

साधारण परिस्थितियों में भी संघ की शक्तियां बढ़ायी जा सकती हैं

छठी बात यह है कि भारत संघ के एककों के प्रदेश अलघनीय नहीं हैं। संघीय संसद (क) किसी राज्य से उसका कोई प्रदेश अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को मिला कर नया राज्य बना सकती है, (ख) किसी राज्य के क्षेत्र को घटा या बढा सकती है, और (ग) किसी राज्य की सीमाओं या उसके नाम को बदल सकती है। सविधान के अनुच्छेद ३ में कहा गया है कि ये परिवर्तन उसी समय किए जा सकते हैं जब कि संसद राष्ट्रपति द्वारा सम्बद्ध राज्य अथवा राज्यो के विचारो को निश्चित रूप से जान लेने के पश्चात् उनकी सिफारिश पर इस प्रयोजन के लिए एक विधेयक पास कर दे।

संसद राज्यों के प्रदेशों का पुनर्वितरण कर सकती है

सातवीं बात यह है कि संविधान ने राज्य-परिषद में राज्यो को समान प्रतिनिधित्व नही दिया है। अमेरिका स्विटजरलण्ड, सोवियट रूस और दूसरे टिपीकल सघो मे अवयवी एकको को संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन मे विस्तार और जनसंख्या के भेदो पर बिना कोई ध्यान दिए समान संख्या के स्थान दे कर कानूनी समानता प्रदान की गई है।

राज्य परिषद में राज्यों का प्रतिनिधित्व

आठवी बात यह है कि संविधान ने निर्धारित किया है कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त होगे। राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करेंगे। संविधान में उपबन्ध न की हुई किसी आकस्मिकता मे राज्य के राज्यपाल के कृत्यो के निवर्हन के लिए राष्ट्रपति जैसा उचित समझे, वैसा उपबन्ध बना सकेगा। यह एक और तथ्य है जो केन्द्र को राज्यों के प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित करने की शक्ति देते है, और इसलिए सच्चे संघवाद की भावना मे प्रतिकूल है। इस दृष्टि से भी भारतीय संविधान अमेरिकन संविधान की तुलना में कनाडियन संविधान के अधिक निकट है।

राष्ट्रपति द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति

नवी बात यह है कि कतिपय सघों में दुहरा राजतंत्र 'कानूनों प्रशासन और न्यायिक सरक्षण मे विविधता उत्पन्न कर देता है।" डाक्टर अम्बेदकर के अनुसार "एक विशेष सीमा तक तो यह विविधता बुरी नही है। इसका स्वागत किया जा सकता है, एक ऐसी चेष्टा के रूप में जो सरकार की शक्तियों को स्थानीय आवश्यकताओं व परिस्थितियों के अनुरूप व्यवस्थित करती है। लेकिन निश्चित सीमा से आगे बढ़ने पर यही विविधता

संविधान मूलभूत मामलों में एकरूपता स्थिर करता है

अव्यवस्था उत्पन्न कर देती है और इसने बहुत से संघीय राज्यों में अव्यवस्था उत्पन्न की है।" अमेरिका में औद्योगिक व्यवस्थापन के क्षेत्र में यह अव्यवस्था स्पष्ट है। भारत में सविधान उन समस्त मूलभूत मामलो में जो देश की एकता को बनाये रखने के लिये अनिवार्य हैं, एकरूपता स्थिर करता है। यह तीन उपायों द्वारा किया गया है: (क) एक न्यायपालिका, (ख) मूलभूत, दीवानी और फौजदारी कानूनो की एकरूप प्रणाली तथा (ग)सामान्य अखिल भारतीय सेवाएं। हमारे सविधान के अधीन राज्यों के उच्च न्यायालय व सर्वोच्च न्यायालय एक अखण्ड न्यायपालिका का निर्माण करते हैं। दीवानी और फौजदारी कानून व प्रक्रिया की एकरूपता इन विषयो को समवर्ती सूची में रख कर निश्चित की गई है। इसी प्रकार प्रशासनिक एकरूपता अखिल भारतीय सेवाओ के सदस्यों को सघ व राज्यो में मुख्य पदो पर रख कर और राष्ट्रीय महत्व के समस्त विषयो मे सघीय सरकार व राष्ट्रपति को "पहल का पर्याप्त क्षेत्र देकर सुनिश्चत की गई है।"

दसवी और अन्तिम बात यह है कि भारत की सघीय प्रणाली ससार के अधिकांश दूसरे संघीय राज्यो की तरह कठोर नही है। न उसे अतिशय कानूनवाद से दुर्बल ही बना दिया गया है। यह हम पहले देख ही चुके हैं कि हमारे सविधान के सघीय ढाचे को राष्ट्रीय आपात की दशाओ मे बिना किसी औपचारिक सशोधन के किस प्रकार एकात्मक ढाचे मे बदला जा सकता है। भारत के सविधान में सशोधन करना अमेरिका के सविधान मे सशोधन करने की अपेक्षा कही अधिक सरल है। सक्षेप मे, भारत की सघीय पद्धति के बारे में अन्तिमता का कोई भाव नहीं है। इसलिये हम डाक्टर डी० एन० बेनर्जी के स्वर में स्वर मिला कर कह सकते हैं कि "भारत का सविधान निश्चित एकात्मक अभिनति सहित देखने में सघीय है।"

भारत की संघीय प्रणाली में कठोरता नहीं है

संघीय कार्यपालिका

११८. राष्ट्रपति

भारत-सघ की कार्यपालिका-शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित है और वह इसका प्रयोग सविधान के उपबन्धो के अनुसार या तो स्वय या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियों के द्वारा कर सकता है।

भारत के राष्ट्रपति का निर्वाचन परोक्ष रीति से सानुपात प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार एकल सक्रमणीय मत के द्वारा एक ऐसे निर्वाचक-गण के सदस्य करते है

जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यों की विधान सभाओं के निर्वाचित सदस्य होते हैं। इस निर्वाचन में निर्वाचक-गण के प्रत्येक सदस्य द्वारा प्रयुक्त मतों की संख्या इस प्रकार निर्धारित की जाती है कि संसद के दोनों सदनों की मत-संख्या समस्त राज्यो की विधान सभाओं की मत-संख्या के समान हो। किसी राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होते हैं कि एक हजार के गुणित, उस भागफल में हो जो राज्य की जनसंख्या को उस सभा के निर्वाचित सदस्यो की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आये। संसद के प्रत्येक सदन के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के मतों की संख्या वही होती है जो समस्त राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यो के लिए नियत सम्पूर्ण मत-संख्या को, संसद के दोनो सदनों के निर्वाचित सदस्यो की सम्पूर्ण संख्या से भाग देने से आये।

राष्ट्रपति का निर्वाचन

यह कहा गया है कि भारतीय राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए अंगीकृत प्रणाली वैधानिक पद्धति के लिए एक मौलिक देन है। इस प्रश्न पर संविधान सभा में काफी वाद विवाद हुआ। कतिपय सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन के पक्ष में थे। उनका तर्क था कि इस प्रकार की प्रणाली अधिक लोकतन्त्रात्मक होगी और राष्ट्र राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष चुनाव करने में समर्थ हो सकेगा। लेकिन अन्त में परोक्ष-प्रणाली को ही अपनाया गया। इसके कई कारण थे। पहला कारण था कि प्रत्यक्षतः निर्वाचित राष्ट्रपति संसद लोकतन्त्र के अनुकूल नहीं होता क्योंकि संसद लोकतन्त्र में वास्तविक कार्यपालिका-शक्ति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के द्वारा प्रयुक्त होती है। "राष्ट्रपति का वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष मतदान द्वारा निर्वाचन, जबकि उसे केवल वैधानिक प्रधान ही होना है, बिल्कुल व्यर्थ समझा गया।"* संविधान निर्माताओं को भय था कि हो सकता है कि प्रत्यक्षतः निर्वाचित राष्ट्रपति वैधानिक शासक मात्र की स्थिति से सन्तुष्ट न हो। यदि कहीं उसने वास्तविक शक्तियां अपने हाथों में लेने की कोशिश की तो मन्त्रिमण्डल के साथ उसका मतभेद हो जायगा और इसके फलस्वरूप वैधानिक गतिरोध उत्पन्न हो जायगा। इसके अलावा यह भी भय था कि १८ करोड़ मतदाताओं वाले देश में राष्ट्रपति का राष्ट्रव्यापी प्रत्यक्ष निर्वाचन विपुल व्यावहारिक कठिनाइयां खड़ी कर देगा। दूसरा विकल्प यह सोचा गया था कि राष्ट्रपति अकेले संसद के द्वारा ही निर्वाचित हो सकता है। लेकिन इस प्रस्ताव को भी अस्वीकृत कर दिया गया क्योंकि यह राष्ट्रपति को बहुमत वाले दल के हाथों का खिलौना बना देता और उसे "स्वतन्त्रता व

प्रत्यक्ष निर्वाचन को न अपनाने के कारण

---

* के. सन्थानम : दि कांस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया पृ. ४८

महिमा के समस्त प्रदर्शन से वंचित कर देता।"† अतः संविधान में निश्चित प्रणाली को इसलिए अपनाया गया क्योंकि इस प्रकार से निर्वाचित राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करेगा और साथ ही साथ वैधानिक शासक भी बना रहेगा।

अर्हताएं

संविधान ने निश्चित किया है कि कोई व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा जब तक कि वह (क) भारत का नागरिक न हो, (ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो, (ग) लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता न रखता हो और (घ) भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारों में से किसी से नियन्त्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद न धारण किये हुए हो। इसका अभिप्राय यह है कि कोई सरकारी नौकर राष्ट्रपति पद के निर्वाचित होने का पात्र नहीं है। लेकिन यह नियम उस व्यक्ति के ऊपर लागू नहीं होता, जो संघ के राष्ट्रपति या उप-राष्ट्रपति अथवा किसी राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख का पद धारण किये हुए है। (ङ) संविधान के अनुसार यह भी आवश्यक है कि राष्ट्रपति न तो संसद के किसी सदन का और न किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य होगा। यदि संसद के किसी सदन का, अथवा किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का, सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाय तो यह समझा जायगा कि उसने उस सदन का अपना स्थान राष्ट्रपति के रूप में अपने पद ग्रहण की तारीख से रिक्त कर दिया है।

उसकी पदावधि और उपलब्धियां

राष्ट्रपति पांच वर्ष की अवधि तक पद धारण करता है। परन्तु वह अपनी पूर्ण पदावधि की समाप्ति के पूर्व त्यागपत्र दे सकता है अथवा महाभियोग द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है। राष्ट्रपति पुनर्निर्वाचन का पात्र है। वह विभिन्न भत्तों के अलावा १०,००० रुपये प्रतिमास वेतन प्राप्त करता है। उसे बिना किराया दिये सरकारी पदावास के उपयोग का भी हक है।

राष्ट्रपति की पद-च्युति

जब तक कि राष्ट्रपति अपनी पदावधि की समाप्ति के पूर्व अपने पद से त्यागपत्र न दे दे, उसे "संविधान के अतिक्रमण के लिये" महाभियोग के अलावा अन्य किसी उपाय द्वारा अपदस्थ नहीं किया जा सकता। महाभियोग एक प्रकार का सांसद मुकदमा है। दोष रोप दो तिहाई बहुमत से पास किए गए किसी प्रस्ताव में संसद के किसी भी सदन द्वारा उपस्थित किये जा सकते हैं। दूसरा सदन दोषा-

† वही पृ० ४८

रोपों की छान बीन करेगा और यदि वह दो तिहाई बहुमत से पास किये गये प्रस्ताव में यह घोषित कर दे कि दोषारोप सिद्ध हो गए हैं, तो राष्ट्रपति अपने पद को रिक्त कर देगा।

राष्ट्रपति की शक्तियां

सविधान सघ की कार्यपालिका-शक्ति राष्ट्रपति में निहित करता है। भारत सरकार के समस्त कार्यकारी कृत्य राष्ट्रपति की ओर से और राष्ट्रपति के नाम में सम्पादित होते हैं। राज्यो के राज्यपालो, भारत के राजदूतो और दूसरे कूटनीतिक प्रतिनिधियो, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति व दूसरे न्यायाधीशो, भारत के महान्यायवादी और नियंत्रक, महालेखापरीक्षक तथा सघ लोक सेवा-आयोग के अध्यक्ष व सदस्यो आदि की नियुक्तिया राष्ट्रपति ही करता है। प्रथम अनुसूची के भाग (ग) के राज्यो का शासन प्रबन्ध राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त कमिश्नर अथवा लैफ्टिनेंट गवर्नर करते हैं। राष्ट्रपति सरकार की कार्यवाही के सम्यक् सचालन के लिए नियम बना सकता है।

(क) कार्यकारी शक्तियां

सविधान राष्ट्रपति मे विशाल विधायिनी शक्तिया भी निहित करता है। राष्ट्रपति वर्ष मे कम से कम दो बार ससद को आहूत करता है। वह ससद के किसी भी सदन का सत्रावसान और लोक सभा का विघटन कर सकता। यदि ससद के दोनो सदन किसी विधेयक पर एकमत न हो सके, तो वह उनकी सयुक्त बैठक आहूत कर सकता है। राष्ट्रपति राज्य परिषद के १२ सदस्य भी मनोनीत कर सकता है। वह चाहे तो ससद के दोनो सदनो को पृथक रूपमे और चाहे तो उन्हे सयुक्त रूप से सम्बोधित कर सकता है। वह ससद के जिस सदन को चाहे सदेश भेज सकता है। ससद के प्रत्येक सत्र के प्रारम्भ होने पर राष्ट्रपति एक भाषण देता है। यह भाषण ब्रिटिश सम्राट द्वारा ससद में दिये गए भाषण के तुल्य होता है।

विधायिनी शक्तियां

ससद द्वारा पास किया गया कोई विधेयक उस समय तक अधिनियम नही बन सकता जब तक कि उस पर राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त न हो जाय। राष्ट्रपति किसी विधेयक पर, यदि वह धन विधेयक नही है, चाहे तो अपनी अनुमति दे सकता है और चाहे तो उसे रोक सकता है। लेकिन, यदि उस विधेयक को (जिस पर राष्ट्रपति ने अपनी अनुमति नही दी है और जिसे उसने पुनर्विचार के लिये ससद के पास लौटा दिया है) ससद के दोनो सदन राष्ट्रपति के

राष्ट्रपति का स्थगन-निषेधाधिकार

सन्देश में सुझाए गए संशोधन के सहित या रहित पुनः पास कर दें, तो राष्ट्रपति उस पर अपनी अनुमति देने के लिए बाध्य है।

राष्ट्रपति की अध्यादेश निकालने की शक्ति

संविधान ने संसद के विश्राति काल में राष्ट्रपति को अध्यादेश-प्रख्यापन की भी शक्ति प्रदान की है। अध्यादेश एक विशेष प्रकार का संकट कालीन कानून होता है। अध्यादेश का बल और प्रभाव संसद के अधिनियम के तुल्य ही होता है किन्तु अध्यादेश के लिये यह आवश्यक है कि वह संसद के पुनः समवेत होने पर उसके दोनो सदनो के समक्ष रखा जाये। अध्यादेश संसद के पुनः समवेत होने से छः सप्ताह की समाप्ति पर अथवा इस कालावधि से पूर्व दोनो सदनो द्वारा उसके निरनुमोदन का प्रस्ताव पास कर देने पर प्रवर्तन में नही रहता।

(ग) वित्तीय शक्तियां

राष्ट्रपति को कतिपय महत्वपूर्ण वित्तीय शक्तियां भी दी गई हैं। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में राष्ट्रपति संसद के समक्ष 'वार्षिक वित्तविवरण' अथवा वह बजट जो भारत सरकार की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियो और व्यय को प्रकट करता है, रखवाता है। राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना कोई भी धन विधेयक संसद में पुरःस्थापित नही किया जा सकता। राष्ट्रपति संघ और राज्यो के बीच करो के वितरण के सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए समय समय पर एक वित्त आयोग भी नियुक्त कर सकता है।

(घ) कानूनी विमुक्तियां और न्यायिक परमाधिकार

राष्ट्रपति कतिपय कानूनी विमुक्तियो और न्यायिक परमाधिकारों का उपभोग करता है। वह अपने पद की शक्तियो और कर्तव्यो के निर्वहन के लिए किसी न्यायालय के समक्ष उत्तरदायी नही है। वह केवल महाभियोग की प्रक्रिया के द्वारा ही सिद्धदोष ठहराया जा सकता है। उसको पदावधि में उसके विरुद्ध किसी भी प्रकार की फौजदारी प्रक्रियाए नही लाई जा सकती। राष्ट्रपति को उन अवस्थाओ समेत जिनमें कि दण्डादेश मृत्यु का हो, कतिपय स्थितियो में सिद्धदोष व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रविलम्बन, विराम या परिहार करने की अथवा दण्डादेश का निलम्बन, परिहार या लघूकरण की शक्ति प्राप्त हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय और राज्य के उच्च न्यायालयो के मुख्य न्यायाधिपति व न्यायाधीशो को नियुक्त करता है।

नए संविधान के सर्वाधिक विवादास्पद पहलुओं में से एक संघीय कार्यपालिका में निहित विपुल आपात शक्तियों से सम्बन्ध रखता है। राष्ट्रपति तीन प्रकार की आपातों का सामना करने के लिए इन असाधारण शक्तियों का प्रयोग कर सकता है, (१) युद्ध अथवा बाह्य आक्रमण अथवा आभ्यन्तरिक अशान्ति से उत्पन्न आपातें, (२) राज्यों में वैधानिक तन्त्र विफल हो जाने से उत्पन्न आपातें और (३) वित्तीय आपातें। पहले प्रकार की आपात के सम्बन्ध में संविधान ने निर्धारित किया है कि यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाये कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिससे कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यन्तरिक अशांति से भारत या उसके राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा संकट में है, तो वह आपात की उद्घोषणा निकाल सकता है। यह स्मर्त्तव्य है कि राष्ट्रपति इस प्रकार की उद्घोषणा युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यन्तरिक अशांति के घटित होने के पूर्व भी निकाल सकता हैं। आपात की उद्घोषणा निकालने के राष्ट्रपति के निर्णय को किसी भी न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकती और कोई आपात उपस्थित है या नही, इसका निर्णय एक मात्र राष्ट्रपति के हाथो में है। लेकिन राष्ट्रपति का अधिकार संसद के नियन्त्रण का विषय है। आपात की उद्घोषणा को संसद के दोनों सदनों के समक्ष रक्खा जाता है और वह दो मास की समाप्ति पर प्रवर्त्तन में नहीं रहती जब तक कि उसका उस कालावधि की समाप्ति से पहिले संसद के दोनों सदनो द्वारा अनुमोदन न कर दिया जाय।

(क) राष्ट्रपति की आपात-शक्तियां

(१) आपात की उद्घोषणा

राष्ट्रपति द्वारा की गई आपात की उद्घोषणा का सुदूरव्यापी वैधानिक प्रभाव होगा। जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है संसद को सम्पूर्ण देश के लिये अथवा उसके किसी भाग के लिये उन विषयों पर भी कानून बनाने का अधिकार होगा जो कि राज्य-सूची में प्रगणित हैं। राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निर्देश देने तक होगा कि वह अपनी कार्यपालिका-शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे। दूसरे शब्दो में संघीय विधानमण्डल और कार्यपालिका को राज्यो के विधानमण्डलों और कार्यपालिकाओं के कार्य का नियन्त्रण और निरीक्षण करने की शक्ति प्राप्त हो जायगी। अपरञ्च, आपात की उदघोषणा राष्ट्रपति को संघ और राज्यों के बीच राजस्व के साधारण वितरण का संशोधन करने की शक्ति दे देगी। इस प्रकार आपात की उद्घोषणा के प्रभावस्वरूप राज्यों की स्वायत्तता स्थगित हो जायगी तथा देश का संघीय

आपात की उद्घोषणा का प्रभाव

ढाचा एकात्मक ढाचे के रूप में परिवर्तित हो जायगा। इतना ही नही, आपात की उद्घोषणा सविधान द्वारा गारटी किये गये भारत के नागरिकों के कतिपय महत्वपूर्ण अधिकारों अर्थात् भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, शांतिपूर्वक सभा करने की स्वतन्त्रता, भारत के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतन्त्रता, सपत्ति के अर्जन, व्ययन और धारण की स्वतन्त्रता तथा वृत्ति, उपजीविका, कारबार और व्यापार करने की स्वतन्त्रता को स्थगित कर देगी। साधारण परिस्थितियो में ये अधिकार समर्थनीय हैं और नागरिक उन्हे प्रवर्तित कराने के लिये सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयोकी शरण तक ले सकते हैं। लेकिन जब आपातकी उद्घोषणा प्रवर्तन में है, राष्ट्रपति नागरिको के इस अधिकार को स्थगित कर सकता है।

स्पष्ट है कि सविधान आपातो का सामना करने के लिये सघीय कार्यपालिका को बहुत प्रबल शक्तिया प्रदान करता है। आलोचको का कहना है कि ये शक्तियाँ लोकतन्त्र के प्रतिकूल हैं। जब आपात शक्तियो से सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध पास किये जा रहे थे, विधानसभा के एक सदस्य ने कहा था—"यह लज्जा का दिन है। ईश्वर ही भारतीय जनता को बचाये।" एक अन्य सदस्य ने अनुच्छेद ३५९ के बारे में जो राष्ट्रपति को नागरिको के मूल अधिकारो के प्रवर्तन का निलम्बन करने की शक्ति देता है, कहा कि यह अनुच्छेद "सविधान के सर्वाधिक प्रतिगामी अध्याय की शानदार पराकाष्ठा और सबसे बडी महिमा है।" आपात काल मे नागरिको को उनके मूल अधिकारो से वचित करने की शक्ति के द्वारा देश के ऊपर तानाशाही शासन लादा जा सकता है। जर्मनी के तथाकथित लोकतन्त्रात्मक वीमर संविधान के अनुच्छेद ४८ ने जर्मन राष्ट्रपति को यह शक्ति दी थी कि वह घोर सकट की स्थिति मे नागरिको के मूल अधिकारो को निलम्बित कर सकता है। हिटलर ने इस शक्ति का मनचाहा प्रयोग कर जर्मनी मे अपने निरकुश शासन की जड जमायी। तथापि यह स्मर्त्तव्य है कि आपातो से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रकार के उपबन्ध बहुतसे लोकतन्त्रात्मक राज्यों के सविधानों में पाये जाते हैं। इनकी इस आधार पर प्रतिरक्षा की जाती है कि व्यक्ति के अधिकार अमर्यादित नही हैं और राजय की सुरक्षा की तुलना में उनका महत्व कम है। वी एन. शुक्ला ने लिखा है "ये उपबन्ध कठोर मालूम हो सकते हैं, विशेष रूप से एक ऐसे सविधान में जो लोकतन्त्र व मूल अधिकारों की नीव के ऊपर निर्मित होने की घोषणा करता है। लेकिन इन उपबन्धो का भारत के अतीतकालीन इतिहास के प्रकाश में अध्ययन करना चाहिये। जब कभी भारत की केन्द्रीय शक्ति कमजोर हुई, उसे बुरे दिनों का सामना करना पडा। यह अच्छा ही है कि सविधान विघटन की शक्तियों की ओर से सचेत है। राज्य के अस्तित्व तक के लिये खतरा पैदा करने वाली घटनाएं घटित हो सकती हैं और यदि इस प्रकार की आकस्मिक-

ताओं के लिए संरक्षण न हों, तो राज्य उस सबके साथ, जिसे मूलभूत और अचल रखना है, समाप्त हो जायगा।"*

सविधान ने निर्धारित किया है कि वाह्य आक्रमण और आभ्यन्तरिक अशान्तिसे रक्षा तथा राज्य की सरकार, सविधान के उपबन्धों के अनुसार चलायी जाय, यह सुनिश्चित करना सघ का कर्तव्य है। भारत का राष्ट्रपति अपने इस कर्तव्य का अच्छी तरह से निर्वाह कर सके, इस उद्देश्य से उसे अनुच्छेद ३५६ के अधीन कतिपय विशेष शक्तिया प्रदान की गई हैं। यदि किसी राज्य के राज्यपाल या राज्यप्रमुख से प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई हैं, जिसमें कि उस राज्य का शासन सविधान के उपबन्धों के अनुसार नही चलाया जा सकता, तो राष्ट्रपति इस आशय की आपात की उद्घोषणा निकाल सकता है। आपात की उद्घोषणा निकालने पर राष्ट्रपति राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य तथा राज्यपाल या राजप्रमुख अथवा राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी मे निहित या तत्तद्द्वारा प्रयोक्तव्य सब या कोई शक्तिया अपने हाथ में ले सकेगा और घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधानमण्डल की शक्तियां ससद के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होगी। राज्य का उच्च न्यायालय इस सम्बन्ध मे अपवाद रहेगा. इस प्रकार आपात की उद्घोषणा के समान ही राज्य में वैधानिक तत्र के विफल हो जाने की उद्घोषणा भी सम्बद्ध राज्य की स्वायत्तता को निलम्बित कर देगी और उसे समस्त विधायी और कार्यकारी मामलो में पूर्णतः सघ के प्राधिकार के अधीन कर देगी। यह उद्घोषणा दो महीने की समाप्ति पर यदि ससदके दोनो सदनों के द्वारा अनुमोदित नही हो जाती, प्रवर्तनमें नही रहेगी। यह उद्घोषणा एक बार में ६ महीने से अधिक के लिये नहीं निकाली जा सकती लेकिन इसे इस नियत अवधि की समाप्ति पर प्रतिबार ६ महीने के लिये बढाया जा सकता है। जितनी बार इसकी अवधि बढायी जाय, उतनी ही बार ससद के अनुमोदन की आवश्यकता है। लेकिन ऐसी उद्घोषणा किसी भी अवस्था में तीन वर्ष से अधिक प्रवृत्त नही रहेगी।

(२) राज्यों में वैधानिक तंत्र के विफल हो जाने से उत्पन्न आपात

अनुच्छेद ३५६ ने विधान सभा मे तीखा वाद-विवाद खड़ा कर दिया। आलोचकों ने कहा कि यह १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के विभाग ९३ का पुनरधि-

* बी. एन. शुक्लाः दि कंस्टीट्यूशन आफ इंडिया, पृ; ३३६।

नियमन है। इस अनुच्छेद के समर्थन में कहा गया है कि इसके अधीन आचरण करता हुआ राष्ट्रपति विभाग ९३ के अधीन आचरण करनेवाले राष्ट्रपति से सर्वथा भिन्न होगा। "राष्ट्रपति केवल सघ मत्रिमण्डल की मत्रणा पर जो ससदके प्रति उत्तरदायी है, आचरण कर सकता है। स्वय ससद में भी उस राज्य का प्रतिनिधित्व करने वाले सदस्य उपस्थित होगे, जिसका शासन इस अनुच्छेद के अधीन निलम्बित किया जासकता है। अनुच्छेद ३५६ का सीधा-सादा फल यह हुआ है कि उदघोषणा की स्थितिमें राज्य का शासन अस्थायी रूप से संघ शासन में विलीन हो सकता है यहाँ किन्ही भी परिस्थितियों में स्वेच्छाचारिता का कोई प्रश्न नही उठता। केवल राज्य की स्वायत्तता पर ही कुछ काल के लिये चोट पड सकती है।"*

यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि ऐसे स्थिति पैदा हो गई है जिससे भारत का वित्तीय स्थायित्व या प्रत्यय सकट में है तो वह वित्तीय आपात की उद्घोषणा निकाल सकता है। इस प्रकार की उद्घोषणा को यदि दो मास की समाप्ति के पूर्व ससद के दोनों सदनों द्वारा अनुमोदित नहीं कियाजाता, तो वह इस अवधि के गत होने पर प्रवर्तन में नही रहेगी। यह उद्घोषणा एक बार में छ: महीने से अधिक के लिए प्रवर्तन में नही रहेगी, लेकिन इसे ससद के अनुमोदन सहित प्रति बार छ. महीने के लिए बढाया जा सकता है। तथापि वह किसी भी अवस्था में तीन साल से अधिक के लिए प्रवृत्त नही रहेगी।

(३) वित्तीय आपात

उस कालावधि में जिसमें कि वित्तीय उद्घोषणा प्रवर्तन में है, राष्ट्रपति की कार्यपालिका-शक्ति का विस्तार किसी राज्य को वित्तीय औचित्य सम्बन्धी ऐसे सिद्धात का पालन करने के लिए निर्देश देने तक, जैसे कि निर्देशों में उल्लिखित हों और सर्वोच्च न्यायालय व उच्च न्यायालयो के न्यायधीशों के सहित सरकारी नौकरो के वेतन में कमी के लिए आज्ञा देने तक, होगा। वह इस बात की माग कर सकेगा कि विधेयक स्वीकृति के लिए उसके सम्मुख उपस्थित किया जाय। इसके अलावा देश के वित्तीय स्थायित्व को पुन: जमाने के लिए वह अन्य आवश्यक उपाय भी कर सकता है।

११६. राष्ट्रपति स्वेच्छाचारी है या ध्वजमात्र शासक ?

राष्ट्रपति ऊपर वर्णित शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग करेगा ? क्या ये उसकी वास्तविक शक्तिया हैं जिनका वह इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है ? अथवा ये

---

* के. सन्थानम : दि कंस्टीट्यूशन आफ इंडिया पृ. २८६

शक्तियां उसे केवल औपचारिक रूप से ही प्राप्त हैं जिनका वह अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा के अनुसार प्रयोग करने के लिए बाध्य है। विशुद्ध न्यायविद की दृष्टि रखने वाले कुछ टीकाकारो ने कहा है कि यदि राष्ट्रपति चाहे तो स्वेच्छाचारी शासक बन सकता है। सविधान के अनुच्छेद ५३(१) में कहा गया है, "सघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी तथा वह इसका प्रयोग इस सविधान के अनुसार या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियो के द्वारा करेगा।" डा० बी. एम. शर्मा के अनुसार "इससे राष्ट्रपति को यदि वह चाहे तो सघ का केवल ध्वजमात्र शासक ही नही अपितु वास्तविक शासक बनने का पर्याप्त क्षेत्र मिल जाता है।"† यह ठीक है कि अनुच्छेद ७४ (१) ने निर्धारित किया है कि, "राष्ट्रपति को अपने कृत्यो का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद होगी जिसका प्रधान प्रधान मन्त्री होगा।" लेकिन डा० डी. एन. बनर्जी के शब्दो में, "आवश्यक बात यह है कि क्या राष्ट्रपति अनुच्छेद ७४ (१) के अधीन अपनी मन्त्रि-परिषद की मन्त्रणा को समस्त परिस्थितियों में स्वीकार करने के लिए कानूनतः बाध्य है ? मेरा निवेदन यह है कि वह नही ह।"‡ विधान सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भी यही मत व्यक्त किया था। उन्होने कहा था "अनुच्छेद ७४ (१) यह नही कहता कि राष्ट्रपति उस मन्त्रणा को मानने के लिए बाध्य होगा।" उन्होने एक ऐसे उल्लिखित उपबन्ध के करने का सुझाव भी दिया था जिसके अनुसार राष्ट्रपति के लिए मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणा स्वीकार करना अनिवार्य हो जाय। लेकिन इस सुझाव को कार्यरूप मे परिणत नही किया गया।

राष्ट्रपति मन्त्रियोंकी मन्त्रणा पर आचरण करने के लिए कानूनतः बाध्य नहीं है

लेकिन यह कहना कि राष्ट्रपति तानाशाह बन सकता है; सविधान का आवश्यकता से अधिक कानूनी दृष्टिकोण से निर्वचन करना है। संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य स्पष्ट है। उन्होने भारतवर्ष के लिए पर्याप्त सोच-विचार के पश्चात् सासद शासन-प्रणाली अगीकृत की। यह निर्णय करते समय सविधान निर्माताओ ने मान लिया था कि सासद अथवा मन्त्रिमण्डल शासन प्रणाली की वे समस्त परम्पराएं, जो इगलैड में प्रचलित हैं, भारत में भी प्रचलित हो जायेंगी।

संविधान के निर्माताओं का उद्देश्य

† बी. एम. शर्मा : इंडियन 'जर्नल आफ पोलिटीकल सायंस' में "प्रेसीडेण्ट आफ इंडिया", भाग ११, अंक ४ पृ. १

‡ डी. एन. बनर्जी : 'माडर्न रिव्यू' में 'पोजीशन आफ दि प्रेसीडेण्ड आफ इंडिया' दिसम्बर-१९५० पृ. ४५८

सांसद शासन प्रणाली का यह सार है कि वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रिपरिषद द्वारा प्रयोक्तव्य होनी चाहिए। मन्त्रिगण विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मन्त्री सदैव राज्य के ध्वजमात्र अधिकारी प्रधान के नाम में आचरण करते हैं, परन्तु यह ध्वजमात्र कार्यकारी प्रधान समस्त मामलों में अपने मन्त्रियों के परामर्श को स्वीकार करता है। भारत की विधान सभा के संयुक्त मन्त्री और आलेखक एस. एन. मुनर्जी के अनुसार "संविधान के निर्माताओं ने संविधान में इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं कहा है कि राष्ट्रपति सदैव अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करेगा। उन्होंने इस चीज को इंगलैंड की तरह अभिसमयों के ऊपर छोड दिया है।"* प्रारूप समिति के उपाध्यक्ष डा० अम्बेदकर के अनुसार, "राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो अंग्रेजी संविधान में सम्राट् की। वह कार्यपालिका का नही, राष्ट्र का प्रधान है। वह राष्ट्र का शासन नही, अपितु प्रतिनिधित्व करता है। वह साधारणत मन्त्रियों के परामर्श से बंधा होगा। वह न तो उसकी मन्त्रणा के बिना और न उनकी मन्त्रणा के प्रतिकूल ही कुछ कर सकता है।"† भारत के राष्ट्रपति की स्थिति अमेरिका के राष्ट्रपति से भिन्न है। अमेरिका का राष्ट्रपति वास्तवित कार्यकारी है और वह संविधान द्वारा अपने में निहित शक्तियों का स्वविवेकानुसार प्रयोग करता है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने मन्त्रियों की बात माने ही माने।

सांसद शासन के अभि-समय

कहने का सार यह है कि संविधान का उद्देश्य भारत के राष्ट्रपति को प्रभूत गौरवमंडित, परन्तु वास्तविक शक्ति से हीन बनाना है। सांसद शासन के अभिसमयों की बात छोड देने पर भी राष्ट्रपति निरंकुश नहीं हो सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भूले भटके ऐसे अवसर आ सकते हैं जबकि राष्ट्रपति के लिए अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा के प्रतिकूल आचरण करना सम्भव हो जाय, परन्तु यदि उद्दंडतापूर्वक उनकी मन्त्रणा का उल्लंघन करता है, तो वे त्यागपत्र देकर वैधानिक गतिरोध पैदा कर सकते हैं। यदि संसद में उनका बहुमत है और उन्हें समग्र रूप से जनता का समर्थन प्राप्त है तो राष्ट्रपति को एक अवान्तरिक मन्त्रिमण्डल की रचना कठिन हो जायगा। इसके अलावा अत्यधिक महत्वाकांक्षी राष्ट्रपति की बुद्धि ठिकाने लगाने के लिए महाभियोग का शस्त्र विद्यमान है। यदि राष्ट्रपति

राष्ट्रपति निरंकुश क्यों नहीं हो सकता

---

*दि हिन्दुस्तान टाइम्स, गणराज्य-दिवस परिशिष्टांक, २६ जनवरी, १९५०
†कांस्टीट्यूएंट असेम्बली डिबेटस भाग ७, पृ. ३२

और मन्त्रिमण्डल दो विरोधी राजनीतिक दलों से सम्बन्ध रखते हैं, तो कठिनाइयां उठ खड़ी हो सकती हैं, परन्तु साधारणतः यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति को वैधानिक प्रधान की तरह आचरण करना पड़ेगा।

१२०. उपराष्ट्रपति

नए संविधान के अधीन भारत का एक उप राष्ट्रपति होगा। वह एकल संक्रमणीय मत के द्वारा सानुपात प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार संसद के दोनों सदनो द्वारा निर्वाचित होगा। उप-राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी व्यक्ति के पास निम्न अर्हताओ का होना आवश्यक है। (१) उसे भारत का नागरिक होना चाहिए, (२) उसकी अवस्था पैंतीस वर्ष से अधिक की होनी चाहिए, (३) उसमें राज्य परिषद के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता होनी चाहिए, (४) उसे भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा उक्त सरकारो में से किसी से नियंत्रित किसी स्थानीय या अन्य प्राधिकारी के अधीन कोई लाभ का पद धारण किए हुए नही होना चाहिए। उस व्यक्ति को जो सघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति अथवा किसी राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख या उप राजप्रमुख अथवा सघ का या किसी राज्य का मन्त्री है, इस नियम से छूट रहेगी।

उसका निर्वाचन और अर्हताएं

अमेरिका के उपराष्ट्रपति की तरह भारत का उप-राष्ट्रपति पदेन संघीय विधान मण्डल के उच्च सदन अर्थात् राज्य-परिषद का सभापति होगा। यदि राष्ट्रपति की मृत्यु, पदत्याग, पदच्युति या बीमारी के कारण राष्ट्रपति का पद अस्थायी रूप से रिक्त हो जाय, तो उप-राष्ट्रपति नए राष्ट्रपति के निर्वाचित होने तक राष्ट्रपति के रूप में कार्य करेगा। इस दृष्टि से वह अमेरिका के उपराष्ट्रपति से भिन्न है क्योंकि अमेरिका का उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति की मृत्यु, पदच्युति या पद-त्याग के पश्चात् शेष राष्ट्रपति पदावधि के लिए स्वतः राष्ट्रपति हो जाता है। भारत का उप-राष्ट्रपति, यदि वह स्वयं अपना पद त्याग न करे अथवा राज्य-परिषद के पूर्ण बहुत से पास किए गए ऐसे प्रस्ताव के द्वारा, जिस पर लोक-सभा ने भी अपनी स्वीकृति दे दी हो, अपदस्थ न कर दिया जाये, तो पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करता है।

उसके कृत्य

१२१ मंत्रि-परिषद

चूंकि राष्ट्रपति वैधानिक शासक है, इसलिए भारत संघ की वास्तविक कार्यपालिका मंत्रि-परिषद है जो सिद्धान्ततः राष्ट्रपति में निहित शक्तियों का वास्तविक

मंत्रि-परिषद और मंत्रिमण्डल

रूप से प्रयोग करती है। यहा हम मन्त्रिमण्डल और मन्त्रि-परिषद के भेद को समझ सकते हैं। सविधान में केवल मन्त्रि-परिषद का ही उल्लेख है। मन्त्रिमण्डल एक अनुपचारिक निकाय है और उसमें सबके सब मन्त्री शामिल नही हैं। दूसरे शब्दो में वह मन्त्रिपरिषद का एक भाग है अथवा जैसे कि ब्रिटिश *मन्त्रिमण्डल के बारे में कहा जाता है, चक्र के अन्दर एक चक्र है। मन्त्रि-परिषद में वे* कई छोटे मन्त्री (राज्य-मन्त्री और उप-मन्त्री) भी शामिल रहते हैं, जिन्हें कि मन्त्रि-*मण्डल का स्तर प्राप्त नही होता।* मन्त्रिमण्डल मत्रि-परिषद की वास्तविक नीति-निर्मात्री समिति है और वह ऊचे मन्त्रियो से मिल कर बनता है।

मंत्रि-परिषद की रचना

संविधान ने मन्त्रिपरिषद की रचना के लिए निम्न प्रक्रिया निश्चित की है। अनुच्छेद ७५ (१) कहता है, "प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा और अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा।" राष्ट्रपति को प्रधानमन्त्री की नियुक्ति में अपनी वैयक्तिक रुचि-अरुचि के प्रयोग करने का अत्यल्प अवसर है। लोक-सभा में जिस दल का बहुमत है, राष्ट्रपति उसके नेता को प्रधान मन्त्री नियुक्त करने के लिए बाध्य है। यदि लोक-सभा में कई दल हों, और उनमें से किसी को भी स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, उस स्थिति में राष्ट्रपति अवश्य अपनी थोड़ी सी रुचि-स्वातन्त्र्य का प्रयोग कर सकता है। प्रधानमत्री की नियुक्ति के पश्चात् राष्ट्रपति को उसके द्वारा चुनी गई टीम स्वीकार करनी पडती है। यदि कोई ऐसा व्यक्ति जो कि ससद के दोनो सदनों में से किसी का भी सदस्य नही है, मन्त्री नियुक्त किया जाता है तो उसे छ महीने की समाप्ति पर, यदि वह इसी बीच में दोनो सदनों में से किसी एक का सदस्य निर्वाचित नही हो जाता, अपना पद रिक्त करना पडेगा।

मंत्रिमण्डल के कृत्य

सघ-शासन में मन्त्रिमण्डल की स्थिति सबसे महत्वपूर्ण है। उसकी शक्तियां और उत्तरदायित्व अत्यन्त व्यापक हैं। उसे प्रशासनिक, व्यवस्थात्मक और वित्तीय मामलों का प्रबन्ध करना पड़ता है। वह मन्त्रिमण्डल ही है जो कि भारत-सघ की साधारण कार्यपालिका नीति निश्चित करता है। वह सम्पूर्ण शासन का संचालन करता है। उसका प्रत्येक सदस्य एक या एक से अधिक विभागो का प्रधान होता है। *मंत्रिमण्डल संघीय विधान मण्डल के व्यवस्थात्मक कार्यक्रम को* भी तय्यार करता है। सरकारी विधेयकों को संसद में मन्त्री ही पुरःस्थापित करते हैं।

वे ही उन्हें पास करवाते हैं। लोक-सभा में बहुमत होने के कारण संसद में मंत्रिमण्डल की स्थिति अत्यन्त प्रभाव पूर्ण होती है। यदि कोई प्राइवेट सदस्य किसी विधेयक को उपस्थित करता है और इस विधेयक के पीछे मंत्रिमण्डल का समर्थन नही होता, तो इसके पास होने की बहुत कम सभावना समझनी चाहिए। अपरंच, मन्त्रिमण्डल को कई वित्तीय कृत्य भी करने पडते हैं। वह बजट तय्यार करता है। वह इस बात का निश्चय करता है कि कौन कौन से कर लगाए जायेंगे और सघ की आय किस प्रकार खर्च होगी। समस्त धन-विधेयको का मन्त्रियों द्वारा पुरःस्थापित किया जाना आवश्यक है। अतश मन्त्रिमण्डल भारत सघ की वैदेशिक नीति निर्धारित करता है और इस लिए यह निश्चित करता है कि भारत सघ के ससार के अन्य देशों के साथ क्या सम्बन्ध होगे।

१२२. मंत्रिमंडल की कार्यप्रणाली

मन्त्रिमण्डल शासन की कार्यप्रणाली उन कतिपय सर्वमान्य सिद्धांतों पर आश्रित हैं, जो इगलैंड तथा स्वशासित डोमिनियनो में धीरे-धीरे विकसित हुए हैं। पहली बात तो यह हैं कि यद्यपि सिद्धातत मन्त्रिमण्डल का कार्य राष्ट्रपति को मन्त्रणा और सहायता देना हैं, लेकिन वस्तुत राष्ट्रपति उससे बाहर रहता हैं। यह राष्ट्रपति की तटस्थता निश्चित कर देता हैं और उसे दलगत राजनीति से ऊपर उठा देता हैं। मन्त्रिमण्डल द्वारा निश्चित किया गया प्रत्येक कार्य राष्ट्रपति के नाम में सम्पन्न होता हैं, लेकिन इस बात को हर कोई जानता हैं कि राष्ट्रपति का इस मामले में कोई उत्तरदायित्व नही होता। यदि शासन अच्छी तरह संचालित होता हैं, तो इसका श्रेय मन्त्रिमण्डल को मिलता हैं। इसके विपरीत यदि शासन मे गडबड़ी पैदा होती हैं, तो राष्ट्रपति को दोषी नही ठहराया जा सकता। ब्रिटिश सम्राट् की तरह राष्ट्रपति कोई गल्ती नही कर सकता क्योकि जो कार्य उसके द्वारा किया समझा जाता हैं, वह वास्तव मे मन्त्रियो द्वारा किया जाता हैं। हो सकता हैं कि राष्ट्रपति परोक्षरीति से मन्त्रियों के निर्णयो पर अपना प्रभाव डाल सके, लेकिन एक बार मन्त्रिमण्डल ने जहा किसी कार्य को करने का निश्चय कर लिया, राष्ट्रपति साधारणतः चिन्हित रेखा पर हस्ताक्षर कर ही देता हैं चाहे यह उसके मन के प्रतिकूल ही क्यों न हो।

राष्ट्रपति उससे बाहर है

दूसरी बात यह है कि मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करता हैं। प्रत्येक मन्त्री संसद के किसी न किसी सदन का सदस्य होता हैं। मन्त्री संसद के दोनों सदनों की बैठको में उपस्थित होते हैं, विधेयकों को पुरःस्था-

मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल का सहयोग

पित करते हैं और पास करवाते हैं, वाद-विवादों में भाग लेते है और अपनी नीतियों की प्रतिरक्षा करते हैं। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का यह सहयोग सांसद शासन प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता है। अमेरिकन अथवा राष्ट्रपतीय शासन प्रणाली में, जो शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धांत पर आश्रित है, यह विशेषता नही पायी जाती।

तीसरी बात यह है कि संसद शासन-प्रणाली के अधीन मन्त्रिमण्डल की एक प्रमुख विशेषता राजनीतिक सजातीयता होती है। साधारणतः सारे मन्त्री एक ही राजनीतिक दल के सदस्य होते हैं और इसलिए उनके एक से राजनीतिक दृष्टिकोण तथा सिद्धात होते हैं। भारत का पिछला काग्रेसी मन्त्रिमण्डल इस सिद्धात से विलग मालूम पड सकता था क्योंकि उसके कुछ सदस्य गैर-काग्रेसी थे। लेकिन मन्त्रिमण्डल में लिए जाने के पूर्व गैर-काग्रेसी सदस्यो ने काग्रेस शपथ पर हस्ताक्षर किए थे और काग्रेस दल के मूल सिद्धातो का पालन करनेकी प्रतिज्ञाकी थी।

राजनीतिक सजातीयता

चौथी बात यह है कि मन्त्रिमण्डल लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। इस उत्तरदायित्व का अभिप्राय यह है कि मन्त्रिमण्डन और इस दृष्टि से सम्पूर्ण मन्त्रि परिषद उसी समय तक सत्तारूढ रहती है जब तक कि उसे लोक-सभा का विश्वास अर्थात् उसके सदस्यो के बहुमत का समर्थन प्राप्त होता है। जैसे ही मन्त्रिमडल ने यह विश्वास खोया, सम्पूर्ण मन्त्रालय के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह या तो पद रिक्त कर दे अथवा राष्ट्रपति को लोक-सभा का विघटन करने और नये साधारण निर्वाचनों का आदेश देने की मत्रणा प्रदान करे। यह स्मर्त्तव्य है कि मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोक-सभा के प्रति उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल एक टीम है और उसके सदस्य साथ ही साथ डूबते अथवा साथ ही साथ तैरते हैं। यदि एक मन्त्री कोई कार्य करता है तो वह सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल का कार्य समझा जाता है और किसी एक मन्त्री की कोई गल्ती समग्र टीम का अधःपात कर सकती है। यदि लोकसभा किसी एक मन्त्री के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देती है, सारे मन्त्रियो को त्यागपत्र देना पड़ता है। यह भारतीय सविधान की एक प्रमुख विशेषता है कि उसमें लोकसभा के प्रति मन्त्रिपरिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व को स्पष्ट रूप से और उल्लि-

लोक-सभा के प्रति उत्तरदायित्व

यह उत्तरदायित्व सामूहिक है

खित रूप से उपबन्धित कर दिया गया है । इंगलैंड और डोमिनियनो में मन्त्रीय उत्तर-दायित्व सम्पूर्णतः अभिसमय पर आधारित है ।

प्रधानमन्त्री का नेतृत्व

पांचवी बात यह है कि मन्त्रिमण्डल प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में कार्य करता है । संविधान ने अनुच्छेद ७४ (१) में यह निर्धारित करके कि एक मन्त्रिपरिषद होगी जिसका प्रधान प्रधानमन्त्री होगा , प्रधान मन्त्री की शीर्ष-स्थानीय स्थिति को औपचारिक मान्यता दी है । ब्रिटिश प्रधानमंत्रीकी भांति, वह न केवल "Primus inter pares" अर्थात बराबर वालो के बीच में प्रथम ही है, अपितु "Inter stellas luna minores" अर्थात नक्षत्रो के बीच चन्द्रमा भी है । यह वह ही है जो दूसरे मन्त्रियों को चुनता है । यह वह ही है जो उनके बीच विभागो का वितरण करता है । यह वह ही है जो मन्त्रिमण्डल की बैठको के कार्यक्रम को निश्चित करता है और उनकी अध्यक्षता करता है । वह किसी भी समय एक मन्त्री से त्यागपत्र की माग कर और उसके स्थान पर किसी अन्य मन्त्री को नियुक्त कर मन्त्रिमण्डल मे फेरफार कर सकता है । यदि प्रधान मन्त्री त्यागपत्र देता है तो इसका अभिप्राय यह है कि सब मन्त्रियों को त्यागपत्र देना पडेगा । यदि प्रधानमन्त्री और किसी अन्य मन्त्री के बीच मतभेद हो जाय, तो वह पश्चादुक्त ही है जिसे कि या तो त्यागपत्र देना पडता हैं या झुकना पडता है ।

प्रधान मन्त्री की सर्वोच्चता मन्त्रिमण्डल के सामुदायिक उत्तरदायित्व के लिए आवश्यक गारण्टी है । डा० अम्बेदकर के शब्दो में, "स्पष्ट हैं कि सामुदायिक उत्तर-दायित्व के लिए कोई काननी अनुज्ञप्ति नही हो सकती । वह एकमात्र अनुज्ञप्ति जिसके द्वारा सामुदायिक उत्तरदायित्व को प्रभावी किया जा सकता है, प्रधान मन्त्री के द्वारा हैं । मेरे मत मे सामुदायिक उत्तरदायित्व दो सिद्धातो द्वारा प्रभावी होता हैं । एक सिद्धात तो यह हैं कि कोई भी व्यक्ति मन्त्रिमण्डल के लिये उस समय तक मनोनीत नही होगा, जब तक कि प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा न हो । दूसरा सिद्धात यह हैं कि यदि प्रधान मन्त्री कहे कि अमुक मन्त्री का अपने पद से हटना आवश्यक हैं, तो वह मन्त्रिमण्डल का सदस्य नही रहेगा ।"*

प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल और राष्ट्रपति के बीच मुख्य कडी भी हैं । वह मन्त्रि-मण्डल के निर्णयो को राष्ट्रपति तक पहुचाता है । यदि राष्ट्रपति सघीय मामलो के प्रशासन से सम्बन्ध रखने वाली सूचनाओं तथा व्यवस्थापन सम्बन्धी प्रस्तावो की माग करे, तो इन चीजो को उसके पास पहुँचाना प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य है । ससद मे प्रधान

* कंस्टीट्यूएंट एसेम्बली डिबेट्स, भाग ७, पृ. १५६।

मन्त्री को साधारण नीति के मामलों पर शासन का मुख्य प्रवक्ता समझा जाता है। अपनी मूर्धन्य स्थिति के कारण प्रधान मन्त्री देश की घरेलू और वैदेशिक नीति के स्वरूप-निर्धारण में निर्णायक हाथ रखता है।

इस प्रकार प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का केन्द्रबिन्दु है। लेकिन उसकी उच्चता का यह अभिप्राय नही समझना चाहिए कि वह स्वेच्छाचारी है और दूसरे मन्त्री खाली उसके अनुचर ही हैं। वह नेता है, अधिपति नहीं। साधारणत मंत्रिमण्डल के सदस्य दल के मुख्य नेता होते हैं और प्रधान मन्त्री उनके सहयोग तथा सद्भावना के बिना अपनी स्थिति कायम नही रख सकता। वह जानता है कि मन्त्री उसके दास नही, साथी हैं और उसे उनके साथ इसी प्रकार का व्यवहार करना पड़ता है

अधिपति नहीं, नेता

संघीय विधान मंडल

१२३. संसद

नए संविधान के अधीन संघीय (केन्द्रीय) विधान मण्डल संसद कहलाता है यह एक द्विसदनात्मक विधानमण्डल है जो राष्ट्रपति तथा संसद के दो सदनो से मिल कर बना है। ये सदन क्रमश राज्य परिषद तथा लोकसभा के नाम से प्रख्यात है। संविधान ने निर्धारित किया है कि संसद के सदनों का वर्ष में कम से कम दो बार आहूत होना आवश्यक है और उनके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए निश्चित तारीख के बीच ६ मास का अन्तर न होगा। इस उपबन्ध के अधीन रहते हुए राष्ट्रपति (१) संसद के सदनों को अथवा किसी सदन को आहूत कर सकता है, (२) सदनो का सत्रावसान कर सकता है तथा (३) आवश्यकता पडने पर लोक-सभा का विघटन कर सकता है।

१२४. राज्य-परिषद

संसद का उच्च सदन राज्य परिषद् के नाम से प्रख्यात होगा। जैसा कि इसके नाम से ध्वनित होता है, यह सदन राज्यो अर्थात् भारत-संघ के अंगभूत एककों के प्रतिनिधियो से मिल कर बनेगा। लेकिन जिस प्रकार अधिकाश टिपीकल संघो के उच्च सदनो में विभिन्न अवयवी राज्यो को समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है, वैसा भारत में नही किया गया है। संविधान ने राज्यपरिषद की अधिक से अधिक सदस्य संख्या २५० निश्चित की है। इनमें से १२ सदस्यो को राष्ट्रपति नामनिर्देशित करेगा। ये १२ सदस्य ऐसे व्यक्ति होगे जिन्हे साहित्य, विज्ञान, कला और सामाजिक सेवा के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है। शेष सदस्य राज्यों के

रचना

प्रतिनिधि होंगे। चतुर्थ अनुसूची के अनुसार राज्यों के बीच स्थानों का बंटवारा निम्न प्रकार होगा—

भाग (क) राज्य		भाग (ख) राज्य		भाग (ग) राज्य	
आसाम	६	जम्मू और काश्मीर	४	अजमेर-कुर्ग	१
उडीसा	९	त्रावनकोर कोचीन	६	कच्छ	१
पंजाब	८	पटियाला और पूर्वी		कूच-बिहार	१
पश्चिमी बंगाल	१४	पंजाब राज्य	३	दिल्ली	१
बिहार	२१	मध्यभारत	६	विलासपुर	
मद्रास	२७	मैसूर	६	हिमाचल प्रदेश	१
मध्यप्रदेश	१२	राजस्थान	९	भोपाल	१
बम्बई	१७	विन्ध्य प्रदेश	४	मनीपुर	
उत्तर प्रदेश	३१	सौराष्ट्र	४	त्रिपुरा	१
		हैदराबाद	११		
कुल	१५४	कुल	५३	कुल	७

राज्य परिषद के सदस्य चुने जाने के लिये व्यक्ति में निम्न अर्हताएं होनी आवश्यक है। उसे भारत का नागरिक होना चाहिए, उसकी अवस्था कम से कम तीस वर्ष होनी चाहिए और इसमें ऐसी अन्य अर्हताए होनी चाहिए जो संसद-निर्मित कानून के द्वारा निश्चित की जाये।

सदस्यों की अर्हताएं और निर्वाचन

राज्य परिषद के लिये प्रतिनिधि परोक्ष रीति से चुने जायेंगे। प्रथम अनुसूची के भाग (क) और (ख) में उल्लिखित राज्यो के प्रतिनिधि जनता के प्रत्यक्ष मत के द्वारा नही अपितु प्रत्येक राज्य की विधान सभा के द्वारा निर्वाचित किये जायेंगे। भाग (ग) राज्यो के प्रतिनिधि ऐसे ढंग से चुने जायेंगे, जैसा कि संसद निश्चित करे। राज्य परिषद एक स्थायी सदन होगी। दूसरे शब्दो मे उसका विघटन नही होगा। परिषद के सदस्य ६ वर्ष के लिये निर्वाचित होंगे लेकिन उनमें से एक तिहाई प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर निवृत हो जायेंगे। भारत का उपराष्ट्रपति पदेन राज्य-परिषद का सभापति होगा। परिषद अपने सदस्यों में से किसी एक को उप सभापति चुनेगी।

स्थायी सदन

१२५. लोकसभा

संसद का निम्न सदन लोक सभा के नाम से प्रख्यात होगा। यह उन ५०० से

सदस्यों से मिलकर बनेगा जो वयस्क मताधिकार के आधार पर सीधे जनता द्वारा निर्वाचित होंगे शुरू शुरू में: लोकसभा में ४९७ सदस्य होंगे। जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम लोकसभा में स्थानों का वितरण निम्न प्रकार से करता है—

रचना और निर्वाचन

भाग (क) राज्य		भाग (ख) राज्य		भाग (ग) राज्य		भाग (घ) राज्य	
आसाम	१२	हैदराबाद	२५	अजमेर	२	अडमान	
बिहार	५५	जम्मू		भोपाल	२	निकोबार	
बम्बई	४५	काश्मीर	६	विलासपुर	१	द्वीप	१
मध्यप्रदेश	२९	मध्यभारत	११	कुर्ग	१		
मद्रास	७५	मैसूर	११	दिल्ली	४		
उडीसा	२०	पेप्सू	५	हिमाचल			
पंजाब	१८	राजस्थान	२०	प्रदेश	३		
उत्तर प्रदेश	८६	सौराष्ट्र	६	कच्छ	२		
पश्चिमी		त्रावनकोर		मनीपुर	२		
बगाल	३४	कोचीन	१२	त्रिपुरा	२		
				विंध्य प्रदेश	६		
कुल...	३७४	कुल...	९६	कुल...	२६...	कुल	१

नये संविधान ने पृथक् साम्प्रदायिक निर्वाचक-गणो का उन्मूलन कर दिया है लेकिन अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनो के हित का दस वर्ष की अवधि के लिए सरक्षण का प्रबन्ध किया है। उसने राष्ट्रपति को यह भी अधिकार दे दिया है कि यदि उसकी राय हो कि लोकसभा में आग्ल भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नही है तो वह लोकसभा मे उस समुदाय के दो से अनधिक सदस्य नामनिर्देशित कर सकता है। लोकसभा के लिए होने वाले निर्वाचनो के प्रयोजनार्थ राज्यो का प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रो में इस प्रकार विभाजन कर दिया जायगा जिससे यह सुनिश्चित रहे कि प्रति ७,५०,००० जनसख्या के लिए से एक कम सदस्य तथा प्रति ५,००,००० जनसख्या के लिए एक से अधिक सदस्य न होगा। कोई व्यक्ति लोकसभा के लिए निर्वाचित होने के लिए तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो। कम से कम २५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो और ऐसी अन्य अर्हताएं न रखता हो जो ससद-निर्मित किसी कानून के द्वारा या अधीन निश्चित की जायें। साधारणत: लोकसभा की अवधि अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियुक्त तारीख से ५ वर्ष की है और इस कालावधि समाप्ति होते

सदस्यों की अर्हताएं

पर उसको विघटित क देना आवश्यक है। परन्तु लोक-सभा को उसकी पूर्ण अवधि के समाप्त होने के पूर्व भी विघटित किया जा सकता है। जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, लोकसभा की इस कालावधि को एक वर्ष के लिए बढाया जा सकता है, लेकिन ऊद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के छः मास पश्चात् यह कालावधि समाप्त हो जायगी।

सदन की अवधि

लोक-सभा अपने दो सदस्यो को क्रमशः अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनेगी। अध्यक्ष सदन की कार्यवाही का संचालन करेगा, उसमे व्यवस्था और अनुशासन कायम रक्खेगा और उनके सदस्यों के विशेषाधिकारो की रक्षा करेगा। साधारणतः अध्यक्ष की स्थिति वही होगी जो ब्रिटिश कॉमन सभा के स्पीकर की है। उसका सर्वथा निष्पक्ष तथा दल-गत भावनाओं से उच्च होना आवश्यक है। तथापि यह निश्चित नही है कि वे सब अभिसमय भारत में भी लागू होगे और भारतीय लोक-सभा का अध्यक्ष ब्रिटिश स्पीकर की भाँति अपने दल का सदस्य नही रहेगा तथा राजनीति से पृथक हो जायगा। आज जो स्थिति है, उसका श्री जी० वी० मावलकर ने निम्न शब्दो में साराश दिया है :—

अध्यक्ष (The speaker)

"आज भारत में लोक-सभा का अध्यक्ष ब्रिटिश कॉमन-सभा के स्पीकर की तरह राजनीतिक अखाडे से पूर्णत. बाहर नही है। जहा तक वर्तमान का सम्बन्ध है अध्यक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह राजनीतिज्ञ बना रहे हालांक उसके क्रिया-कलाप काफी मर्यादित हो। वह अपने दल का सदस्य बना रह सकता है लेकिन उसे दल के मामलों में, विशेषकर ऐसे मामलो मे जिनकी सदन के सम्मुख आने की सम्भावना हो, भाग न लेना चाहिए। कहनेका सार यह है कि उसे किसी प्रकारके प्रचारके साथ स्वय को एक रूप न करना चाहिये और न ऐसे मत व्यक्त करने चाहिए जिनसे कि उसके अध्यक्ष-पद के दलदल में फंसने की समावना हो अथवा जिनसे इस बात का कि अध्यक्ष पक्षावलम्बी है, भाव पैदा होने की गुंजायश रहे।"*

१२६. संसद के दो सदनों के पारस्परिक सम्बन्ध

ससद के दो सदनो की स्थिति समान नही है। वित्तीय व्यवस्थापन के सम्बन्ध में लोक सभा की स्थिति मूर्धन्य है और राज्य-परिषद की शक्तियाँ अत्यन्त मर्यादित

* जी. वी. मावलंकर : "पार्लेमेंटरी अफेयर्स' में पार्लेमेंटरी लाइफ इन इंडिया" भाग ४ अंक१ पृ. ११४

धन-विधेयकों के सम्बन्ध में

हैं। संविधान ने निश्चित किया है कि धन-विधेयक केवल लोक-सभा में ही पुरःस्थापित किया जा सकता है। जैसे ही लोक-सभा उसे पास कर देती है वह सिफारिशों के लिये राज्य परिषद के पास भेजा जाता है। राज्य-परिषद के लिए यह आवश्यक है कि वह विधेयक को अपनी सिफारिशो सहित चौदह दिन के भीतर ही भीतर लोक सभा के पास वापिस लौटा दे। इसके पश्चात् लोक-सभा चाहे तो इन सिफारिशो में से किसी को स्वीकार करे अथवा अस्वीकार, विधेयक दोनो सदनो द्वारा पास किया हुआ समझा जायेगा। यदि राज्य-परिषद चौदह दिन के भीतर ही भीतर विधेयक को लोक-सभा के पास वापिस नही भेज पाती, तब भी वह दोनो सदनो द्वारा पास किया हुआ समझा जाएगा। इस प्रकार राज्य-परिषद धन-विधेयक के अधिनियम में केवल दो सप्ताह की देरी कर सकती है। इस दृष्टि से परिषद ब्रिटिश लार्ड-सभा के तुल्य है। ब्रिटिश लार्ड-सभा भी धन-विधेयकों के बारे में सर्वथा शक्ति-हीन है।

धन-विधेयकों से अन्य विधेयकों के बारे में

लेकिन धन-विधेयको से अन्य विधेयको के बारे में दोनो सदनों की शक्तियां समान हैं। कोई भी अवित्तीय विधेयक उस समय तक अधिनियम का रूप धारण नही कर सकता, जब तक कि वह संसद के दोनों सदनों द्वारा पास न कर दिया जाय। लोक-सभा को राज्य परिषद के निर्णय का उल्लघन करने की शक्ति नही होगी। इस दृष्टि से राज्य-परिषद ब्रिटिश लार्ड-सभा से स्पष्टतः भिन्न है। ब्रिटिश लार्ड-सभा धन-विधेयकों से अन्य विधेयको के सम्बन्ध में भी, केवल विलम्ब करने वाले सदन के रूप में ही कार्य करता है।

संयुक्त बैठकें

कभी कभी ऐसा हो सकता है कि किसी अवित्तीय विधेयक के ऊपर लोक-सभा और राज्य परिषद मे मतभेद हो जाय। ऐसी स्थिति में गतिरोध दूर करने के लिये दोनो सदनों की एक सयुक्त बैठक की जा सकती है। सयुक्त बैठक में यदि कोई निर्णय करना होता है, तो वह सीधे सादे बहुमत के द्वारा किया जाता है। सयुक्त बैठक में लोक सभा का बोलबाला रहेगा क्योंकि उसकी सदस्य सख्या राज्ज-परिषद की सदस्य-सख्या से दुगनी होगी। दूसरे शब्दो में उच्च सदन उन मामलो में भी, जो कि धन से सम्बद्ध नही हैं, घाटे मे रहेगा। भारतीय राज्य-परिषद ब्रिटिश लार्ड-सभा की तरह गौण सदन नही होगी। फिर भी उसकी स्थिति लोक-सभा की तुलना में नीची रहेगी।

कार्यपालिका के ऊपर नियंत्रण

संघीय कार्यपालिका के ऊपर दोनों सदनो का जो नियत्रण है, जिस सीमा तक नियंत्रण है, उस क्षेत्र में भी यही बात दिखाई देती है। सविधान मत्रिपरिषद को दोनो सदनो के प्रति नही, अपितु अकेले लोक-सभा के प्रति उत्तर-दायी बनाता है। इसमें कोई सन्देह नही कि राज्य-परिषद सरकार की नीति पर विचार-विमर्श कर सकती है, प्रश्नो और 'कामरोको' प्रस्तावों द्वारा उसके ऊपर कुछ प्रभाव भी डाल सकती है। लेकिन सरकार के ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे अपद-स्थ करना केवल लोक-सभा के बूते की ही बात है।

१२७. संसद की शक्तियां और मर्यादाएं

(क) विधायिनी शक्तियां

संविधान संघ सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित समस्त विषयो पर कानून बनाने की शक्ति ससद में निहित करता है। साधारणत. वह राज्य सूची में सम्मिलित विषयो पर कानून बनाने के लिये सक्षम नही है। लेकिन यदि राज्य-परिषद घोषणा कर दे कि इन विषयो में से कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का हो गया है, तो ससद उसके सम्बन्ध में कानून बना सकती है। ससद आपात की उद्घो-षणा के प्रवर्तन-काल में अथवा राज्य में सांविधानिक तत्र के विफल हो जाने की उद्घो-षणा के प्रवर्तन काल में भी राज्य-विषयों के ऊपर कानून बना सकती है। ससद की शक्तियों पर एक अन्य प्रतिबन्ध यह है कि उसे पूर्ण और अपवर्जी सांविधान सांविधायी शक्तिया प्राप्त नही हैं। वह राज्यों के विधान मडलों की सहमति के बिना सविधान के महत्वपूर्ण उपबन्धो को संशोधित नही कर सकती। इससे भारतीय संसद और ब्रिटिश ससद के बीच के एक स्पष्ट अन्तर का पता चलता है। ब्रिटिश ससद प्रभुत्व-सम्पन्न विधानमडल है, उसे पूर्ण सांविधान सांविधायी शक्तियां प्राप्त हैं और वह देश के संविधान को जिस ढंग से चाहे, सशोधित कर सकती है। इसके अलावा भारतीय ससद द्वारा पास किये गए कानून न्यायिक पुनरीक्षण के विषय हैं। उन कानूनो को जो सांविधान के किन्ही उपबन्धों के प्रतिकूल पडते हैं, सर्वोच्च न्यायालय और राज्य के उच्च न्यायालय अवैधानिक घोषित कर सकते हैं। ब्रिटिश ससद इस प्रकार के किसी प्रतिबन्ध के अधीन नही है।

साधारणतः राज्य-विषय ससद की सक्षमता से बाहर है

संसद प्रभुत्वसम्पन्न कानून निर्मात्री निकाय नहीं है

यहा हम संसद की शक्तियों के ऊपर एक अन्य प्रतिबन्ध की चर्चा कर सकते हैं। प्रत्येक विधेयक के लिये राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है, राष्ट्रपति की

राष्ट्रपति का निषेधाधिकार

अनुमति प्राप्त होने पर ही उसे संविधि-पुस्तक में दर्ज किया जा सकता है। लेकिन जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, राष्ट्रपति ससद द्वारा पास किये गये किसी विधयक पर अपनी अनुमति देना अस्वीकार कर सकता है और उसे पुन-र्विचार के लिये संसद के पास वापिस भेज सकता है। लेकिन कार्यपालिका का यह निषेधाधिकार केवल निलम्बमान (Suspensory) ही है,अन्तिम नही। राष्ट्रपति विधेयक के अधिनियमन में खाली देर कर सकता है, उसकी हत्या नही कर सकता। ससद के दोनो सदन विधेयक को दुबारा सीधे सादे बहुमत से पास करके राष्ट्रपति के निषेधाधिकार का अतिक्रमण कर सकते हैं।

(ख) वित्तीय शक्तियां

ससद को विपुल वित्तीय शक्तिया भी प्राप्त है। वह ससद की थैली को नियन्त्रित करती है। जब तक स सद का अनुमोदन न हो, जनता के ऊपर कोई कर नही लगाये जा सकते और न किसी प्रकार का कोई व्यय ही किया जा सकता है। तथापि, व्यय की कुछ ऐसी मदे अवश्य हैं,जिन पर ससद मे मतदान नही हो सकता। हा विचार-विमर्श अवश्य हो सकता है। इन मदो का व्यय-भार ससद के अनुमोदन सहित भारत सचित-निधि के ऊपर पड़ता है।

(ग) संसद का सघीय कार्यपालिका के ऊपर नियंत्रण

चूकि भारतवर्ष मे सासद शासन प्रणाली को अपनाया गया है, अत. संघीय मन्त्रिपरिषद ससद के नियन्त्रण में रह कर कार्य करती है। इस नियन्त्रण का प्रयोग लोकसभा के द्वारा किया जाता है, जिसके प्रति मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। यदि मन्त्रिपरिषद लोकसभा का विश्वास खो देती है तो लोकसभा उसे (१) सीधे अविश्वास का प्रस्ताव पास करके, (२) किसी सरकारी विधेयक को अस्वीकार करके अथवा (३) सरकारी विधेयक में ऐसा सशोधन पास करके जिससे सरकार सहमत न हो, अपदस्य कर सकती है। संसद प्रश्नो और कामरोको प्रस्तावो आदि के माध्यम से प्रशासन के ऊपर सतर्क दृष्टि रख सकती है और जनता का ध्यान सरकार के क्रिया-कलापो की ओर आकृष्ट कर सकती है। ससद का कोई भी सदस्य सरकार के कार्यों और नीतियो के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रश्न पूछ सकता है। निसर्गत: यह सरकार की नीतियो को प्रकाश में लाने के लिये अथवा उसे सार्वजनिक महत्व के ऐसे मामलोंमें आवश्यक कदम उठाने के लिए विवश करने के लिए, जिनकी उसने उपेक्षा की है, शक्तिशाली उपाय है। 'कामरोको' प्रस्ताव सदन के साधारण कार्य व्यापार को स्थगित करने का, ताकि रेल

दुर्घटना, जलूस पर पुलिस की गोली-वर्षा अथवा भीषण उपद्रव आदि सार्वजनिक महत्त्व के मामलों पर विचार किया जा सके, प्रस्ताव है। कामरोको प्रस्ताव का वास्तविक उद्देश्य प्रशासन की भ्रष्टता और दुर्बलता तथा कार्यपालिका की नीतिकी गलतियों को प्रकाश में लाना है। संसद का नियन्त्रण कार्यपालिका को सतर्क रखता है और उसे स्वेच्छाचारी ढंग में काम करने से रोकता है।

संघीय न्यायपालिका

१२८. भारत का सर्वोच्च न्यायालय

संघ में न्यायपालिका की विशेष स्थिति

लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली में सबल, स्वतन्त्र और सुसगठित न्यायपालिका का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उसका कर्तव्य है कि वह सरकार को अपनी शक्ति के स्वेच्छाचारी ढंग में प्रयोग करने से रोके और नागरिकों के अधिकारो और स्वतत्रताओ की रक्षा करे। सघीय शासन-प्रणालीके अधीन न्यायपालिका का कार्य और भी महत्वपूर्ण होता है, वह सविधान के अभिभावक का कार्य करती है। सघवाद में सघीय सरकार और अवयवी एकको अथवा राज्यो की सरकारो के बीच शक्तियो का वितरण होता है। ऐसी पद्धति में क्षेत्राधिकार के प्रश्नो पर मतभेद अथवा विवाद उठ खडे होना सर्वथा सम्भाव्य है। इसके अलावा, सघीय सविधान शासन के विभिन्न अगो की शक्तियो और कृत्यो का स्पष्ट रूप से निरूपण कर देता है तथा उनकी मर्यादाएं बाध देता है। इसलिए, यदि शासन की कोई विशेष शाखा, अपने प्राधिकार की सीमाओ से आगे बढती है, तो विवाद उठ खडे हो सकते हैं। केवल एक शक्तिशाली न्यायपालिका ही ऐसे विवादो को सुलझा सकती है और शासन के विभिन्न अगो को अपने लिए विहित क्षेत्रो के भीतर रख सकती है। भारत का नया सविधान स्वरूप में संघीय है। इसी के अनुसार इस प्रकार के विवादो को सुलझाने के लिए और सविधान के अभिरक्षक व अन्तिम निर्वचक के रूप में कार्य करने के लिए एक सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की गई है।

सर्वोच्च न्यायालय का गठन

नए सविधान के अधीन संस्थापित सर्वोच्च न्यायालय देश का सबसे ऊंचा न्यायमण्डल है। वह देश की न्यायपालिका के शिखर पर आसीन है। उसका गठन १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के उपबन्धो के अधीन स्थापित संघीय न्यायालय के स्टेटस को ऊंचा उठा कर और उसे अपर क्षेत्राधिकार प्रदान कर दिया गया था। सर्वोच्च न्यायालय दीवानी और फौजदारी अपीलों की उन शक्तियों

का प्रयोग करती है, जिनका पहले प्रिवी कौंसिल प्रयोग करती थी।* कुछ मामलों में इन शक्तियो को पर्याप्त बढा दिया गया है। इस समय सर्वोच्च न्यायालय भारत के मुख्य न्यायाधिपति और सात दूसरे न्यायाधीशो से मिलकर बनता है। सविधान ने यह स्पष्ट उपबन्ध कर दिया है कि ससद कानून द्वारा न्यायाधीशों की सख्या को घटा या बढा सकती है। सर्वोच्च न्यायालयो के तथा राज्यों के उच्च न्यायालयों के ऐसे न्यायाधीशो से परामर्श करके, जिनसे इस प्रयोजन के लिए परामर्श करना राष्ट्रपति आवश्यक समझे, राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति को नियुक्त करता है। सर्वोच्च न्यायालय के दूसरे न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधिपति के परामर्श से करता है।

सर्वोच्च न्यायालय की रचना

न्यायाधीशों की नियुक्ति तथा अर्हताएं

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए कोई व्यक्ति तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह (१) भारत का नागरिक न हो, (२) राज्य के किसी उच्च न्यायालय में पाच वर्ष से अन्यून काम न कर चुका हो (३) किसी उच्च न्यायालय का दस वर्ष से अन्यून अधिवक्ता न रह चुका हो और (४) पारगत विधिवेत्ता न हो। सर्वोच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को बिना किराया दिए पदावास के उपयोग का हक्क है। मुख्य न्यायाधिपति को ५,००० रु. प्रतिमास और दूसरे प्रत्येक न्यायाधीश को ४,००० रु. प्रतिमास वेतन मिलता है। न्यायाधीश जहा एक बार नियुक्त हुए, फिर उनके भत्तो उपलब्धियो और विशेषाधिकारो में उनके लिए अलाभकारी किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नही किया जा सकता। न्यायाधीशों को नौकरी की गारण्टी दी जाती है। उनके सेवा-निवृत्त होने की आयु ६५ वर्ष निश्चित की गई है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश को अपने पद से केवल उसी समय हटाया जा सकता है जबकि सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के लिए उसके हटाए जाने हेतु ससद के दोनो सदनों ने राष्ट्रपति के सम्मुख एक समावेदन रख दिया हो और राष्ट्रपति ने उसके हटाये जाने का आदेश दे दिया हो। समावेदन के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा और उपस्थित व मतदान करने वाले सदस्यो के कम से कम दो तिहाई बहुमत के द्वारा पास किया गया हो। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश सेवा

न्यायाधीशों के वेतन आदि

न्यायाधीशों की पदच्युति

---

* सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना के साथ भारत का प्रिवी कौंसिल से सम्बन्ध टूट गया है।

निवृत्त होने के पश्चात किसी न्यायालय में अथवा किसी प्राधिकारी के समक्ष वकालत करने अथवा उपस्थित होने से वंचित कर दिए गए हैं।

सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियां

भारत का सर्वोच्च न्यायालय एक शक्तिशाली निकाय है। उसकी शक्तियां अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के सहित किसी अन्य संघ की सर्वोच्च न्यायिक सत्ता की शक्तियों से अधिक है। वह एक अभिलेख-न्यायालय है और उसे अपने अवमान के लिये दण्ड देने की शक्ति के सहित ऐसे न्यायालय की सब शक्तिया प्राप्त हैं। अभिलेख न्यायालय वह उच्च न्यायालय होता है जिसके निर्णयो और न्यायिक कार्यवाहियो को नित्य स्मृति के लिये लिख लिया जाता है। सर्वोच्च न्यायालय से अभिलेखों का साक्ष्यात्मक मूल्य होता है और जब किसी न्यायालय के सम्मुख उन्हे उपस्थित किया जाता है तब उनकी साक्षी पर किसी प्रकार का कोई सन्देह नही किया जा सकता।

(क) अभिलेख-न्यायालय

सर्वोच्च न्यायालय प्रारम्भिक, अपीलीय और परामर्शीय क्षेत्राधिकारो का प्रयोग करता है। उसका अपवर्जी प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार (१) भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यो के बीच के; (२) एक ओर भारत सरकार और कोई राज्य या राज्यो तथा दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यो के बीच के, अथवा (३) दो या अधिक राज्यों के बीच के, किसी विवाद मे, यदि और जहा तक ऐसा कोई प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है (चाहें कानून का हो, चाहे तथ्य का) जिस पर किसी कानूनी अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है, वहां तक होता है। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का विस्तार उस विवाद पर नही है जो पूर्वकालीन देशी राज्यो के साथ की गई सन्धियो के उपबन्धो से सम्बन्ध रखता है और जिसमें कोई राज्य एक पक्ष है।

(ख) सर्वोच्च न्यायालय का प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार

सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार में तीन तरह के मामले आते हैं, (क) वैधानिक, (ख) दीवानी और (ग) फौजदारी। वैधानिक मामलों में, किसी उच्च न्यायालय के चाहे तो फौजदारी विषयक और चाहे दीवानी कार्यवाही में दिये गये निर्णय की अपील सर्वोच्च न्यायालय में हो सकती है यदि वह उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस मामले में संविधान के निर्वचन का कोई सारवान् विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। दीवानी मामलों में, उच्च न्यायालय के किसी निर्णय, आज्ञप्ति या अंतिम आदेश की अपील सर्वोच्च न्यायालय में होगी यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित करे कि

(ग) सर्वोच्च न्यायालय का अपीलीय क्षेत्राधिकार

विवाद-विषय की राशि का मूल्य २०,००० रु० से कम नही है अथवा अपील मे कोई सारवान् विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। फौजदारी मामलो में किसी उच्च न्यायालय के दिये हुए निर्णय की सर्वोच्च न्यायालय में अपील होगी यदि उस उच्च न्यायालय ने (१) अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति की विमुक्ति के आदेश को पलट दिया है तथा उसको मृत्युदण्डादेश दिया है (२) अपने अधीन न्यायालय से किसी मामले को परीक्षण करने के हेतु अपने पास मगा लिया है तथा ऐसे परीक्षण मे अभियुक्त व्यक्ति को सिद्ध-दोष ठहराया है और मृत्यु-दण्डादेश दिया है, अथवा (३) प्रमाणित किया है कि मामला सर्वोच्च न्यायालय में अपील किये जाने लायक है। ससद, कानून के द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को बढा सकती है। सविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को कतिपय परामर्शीय कृत्य भी दिए हैं। यदि राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि कानून या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है, जो सार्वजनिक महत्व का है, तो उस पर वह सर्वोच्च न्यायालय की राय प्राप्त कर सकता है। इस क्षेत्राधिकार के अधीन राष्ट्रपति उन विवादो को भी सर्वोच्च न्यायालय को राय देने के लिए सौप सकता है जो पूर्वकालीन देशी राज्यो के साथ की गई सन्धियो और समझौतो के निर्वचन को अन्तर्ग्रस्त करते हैं।

(ग) सर्वोच्च न्यायालय का परामर्शीय क्षेत्राधिकार

सर्वोच्च न्यायालय भारत के नागरिको की स्वतन्त्रताओ और मूल अधिकारो का रक्षक है। यदि किसी विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कोई कानून उन मूल अधिकारो का उल्लघन करता है जो सविधान ने जनता को प्रदान किये है, तो न्यायालय उसको शून्य घोपित कर सकता है। निवारक निरोध अधिनियम के खड १४ के मामले में यह किया गया था, राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश निकाल कर इस खड को अपमार्जित कर दिया। अभी हालही में राज्यो के उच्च न्यायालयो ने और सर्वोच्च न्यायालय ने सविधान के अनुच्छेद १९ और ३१ के प्रतिकूल पड़ने वाले कतिपय कानूनो को निष्फल किया है। सर्वोच्च न्यायालय बन्दी प्रत्यक्षीकरण और मूल अधिकारों के प्रवर्तन के लिये लेख निकाल सकता हैं। इस प्रकार अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय की तरह भारत के सर्वोच्च न्यायालय को विधान मण्डलो द्वारा पास किए गए कानूनो का पुनरीक्षण करने और उन्हें, यदि वे संविधान के किसी उपबंध के विरुद्ध हों,

सर्वोच्च न्यायालय और मूल अधिकार

संविधान का अभिरक्षक और निर्वचक

अवैध घोषित करने की शक्ति दे दी गई है। दूसरे शब्दोंमें सर्वोच्च न्यायालय संविधान का अभिरक्षक और निवेचक है।

सर्वोच्च न्यायालय की स्वतन्त्रता

सविधान ने सर्वोच्च न्यायालय की निष्पक्षता और स्वतन्त्रता को सुनिश्चित करने व उसे कार्यपालिका या व्यवस्थापिका के हस्तक्षेप अथवा प्रभाव से दूर रखने का उचित उपबन्ध कर दिया है। न्यायाधीश जहा एक बार नियुक्त हुए, फिर उन्हे एक अत्यन्त कठिन प्रक्रिया के अलावा अन्य किसी रीतिसे अपदस्थ नही किया जा सकता। इसके अलावा, न्यायाधीशो के वेतन और सर्वोच्च न्यायालयो के प्रशासनिक व्ययो का भार भारत की सचित निधि के ऊपर पडता है। ये व्यय सघीय विधानमण्डल के मतापेक्षी नही हैं।

सारांश

भारत के नये सविधान की रचना मन्त्रि-मिशन योजना के उपबन्धों के अधीन १९४६ में निर्मित सविधान सभा ने की थी। यह ससार का सबसे बडा और विशाल वैधानिक प्रलेख है। इसमें आठ अनुसूचियो के अलावा ३९५ अनुच्छेद हैं। यह कठोर भी है यद्यपि अमेरिका के सविधान से कम कठोर है। यह देखने में सघीय है लेकिन इसकी आत्मा एकात्मक है। इसने भारतवर्ष के लिए सासद शासन प्रणाली को अंगीकृत किया है। इसमें नागरिको के मूल अधिकारो के ऊपर एक अध्याय है। ये अधिकार समर्थनीय हैं। लेकिन इसमे से कुछ महत्वपूर्ण अधिकारो को आपात-कालो में स्थगित किया जा सकता है। हमारे सविधान की एक अतुल विशेषता राज्य-नीति के निर्देशक तत्व हैं। इन तत्वो को न्यायालय द्वारा बाध्यता नही दी जा सकती। ये तत्व उन व्यक्तियो के लिए जो राज्य की सत्ता का प्रयोग करते हैं, नैतिक शिक्षाओ के रूप में हैं। सविधान ने भारतवर्ष मे धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना की है। ऐसे राज्य में सब धर्मों को समान दृष्टि से देखा जाता है।

भारतीय सविधान मे सघीय राजतन्त्र के विशिष्ट लक्षण विद्यमान हैं। राज्यों और सघ के बीच शक्तियो का स्पष्ट वितरण है, सविधान देश का सर्वोच्च कानून है और संविधान के अभिभावक तथा निर्वचक के रूप में न्यायपालिका का अपना विशेष कार्य है। लेकिन सविधान में सबल एकात्मक अभिनति पाई जाती है और वह केवल अर्ध-संघीय ही है। केन्द्र को अवशिष्ट शक्तियों सहित व्यापक शक्तिया दी गई हैं।

साधारण परिस्थितियों तक में केन्द्र राज्यों की स्वायत्तता में हस्तक्षेप कर सकता है। आपातों में संविधान को बिना किसी औपचारिक संशोधन के एकात्मक बनाया जा सकता है।

संघीय कार्यपालिका:—भारत-सघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित की गई है। वह राज्यों की विधानसभाओं तथा संसद के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यों द्वारा परोक्षतः निर्वाचित होता है। सविधान ने राष्ट्रपति को विपुल कार्यपालिका, विधायिनी, वित्तीय और न्यायिक शक्तिया प्रदान की हैं। लेकिन साधारणतः राष्टपति इन शक्तियों का प्रयोग मन्त्रियों की मन्त्रणा पर करता है। वह वैधानिक शासक है और उसकी स्थिति ब्रिटिश शासक के समान है। कुछ अधिकारी विद्वानों का कहना है कि चूंकि राष्ट्रपति सब मामलो में मन्त्रियों की मन्त्रणा को मानने के लिए कानूनत. बाध्य नही है, अत. वह कतिपय परिस्थितियो मे वास्तविक शासक अथवा तानाशाह बन सकता है।

लेकिन सासद शासन प्रणाली में, जिसे कि भारत मे अपनाया गया है वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद होती है। यह मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। प्रधानमन्त्री राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किया जाता है और दूसरे मन्त्री प्रधानमन्त्री की मन्त्रणा पर राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। मंत्रिपरिषद प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में विधानमण्डल के साथ सहयोगपूर्वक कार्य करती है।

सघीय विधानमण्डल—अथवा ससद द्विसदनात्मक है। उच्च सदन (राज्य परिषद) राज्यो की विधान-सभाओ के निर्वाचित सदस्यो द्वारा परोक्षतः निर्वाचित होता है। उसकी अधिकतम सदस्य-सख्या २५० है, १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित होते हैं। लोकसभा की अधिकतम सदस्य-सख्या ५०० है। इसके सदस्य वयस्क मताधिकार और सयुक्त निर्वाचक-गणों के आधार पर जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होने हैं। लोकसभाकी साधारण कालावधि ५ वर्ष है। राज्य-परिषद स्थायी सदन है। उसके सदस्य ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होते हैं, परन्तु तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष निवृत्त हो जाते हैं। संसद के दोनो सदन शक्तियो और प्रभाव की दृष्टि से समान नही हैं। वित्तीय मामलों में लोकसभा परमेष्ठ है लेकिन अ-वित्तीय मामलों में दोनों सदन बराबर हैं।

संघीय न्यायपालिका:—संविधान ने एक सर्वोच्च न्यायालय का उपबन्ध किया है। यह न्यायालय संघ का अन्तिम निर्वचक है। इसके साथ ही साथ वह देश का

सर्वोच्च न्यायमण्डल भी है। वह भारत के मुख्य न्यायाधिपति और ७ दूसरे न्याया-धीशों से मिल कर बनता है। वह प्रारम्भिक और अपीलीय क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है। उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार में वैधानिक, दीवानी और फौजदारी के मामले आते हैं। तथ्य या कानून के किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर राष्ट्रपति उससे परामर्श भी ले सकता है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली निकायों में से है।

———

अध्याय १६

भारत का नया संविधान—क्रमशः

(राज्य की सरकार)

१२६. भारत-संघ के राज्य

भारत-सघ के राज्य-क्षत्र में राज्यों के राज्य क्षेत्र समाविष्ट हैं। भारत सघ में अण्डमान और निकोबर-द्वीपो के अलावा राज्यो की श्रेणिया हैं और वे नये सविधान की प्रथम अनुसूची में उल्लिखित हैं। उन्हे निम्न तालिका मे दिखाया गया है—

भाग (क) राज्यो के नाम	भाग (ख) राज्यो के नाम	भाग (ग) राज्यो के नाम	भाग (घ) राज्यो के नाम
१. आसाम	१ जम्मू और काश्मीर	१. अजमेर	अण्डमान और निकोबर द्वीप
२. उडीसा	२ त्रावणकोर कोचीन	२. कच्छ	
३. पंजाब	३ पटियाला तथा पूर्वी पजाब राज्य सघ	३. कूच-बिहार	
४. पश्चिमी बगाल	४. मध्यभारत	४. कुर्ग	
५. बिहार	५. मैसूर	५. त्रिपुरा	
६. मद्रास	६ राजस्थान	६. दिल्ली	
७. मध्य प्रदेश	७. विंध्य प्रदेश	७. विलासपुर	
८. बम्बई	८. सौराष्ट्र	८ भोपाल	
९. उत्तर प्रदेश	९. हैदराबाद	९. मनीपुर	
		१० हिमाचल प्रदेश	

भाग (क) राज्य पूर्व कालीन भारतीय प्रान्तों के तत्स्थानी हैं और भाग (ख)

तथा (ग) प्राचीन देशी राज्यों के या उनके संघों के और पूर्व कालीन मुख्य-आयुक्तों के प्रान्तों के तत्स्थानी हैं ।

नया संविधान भारत को एक संघ बनाता है । फलतः राज्य जो संघ के अवयवी एकक हैं, एक स्वायत्त स्टेटस का उपभोग करते हैं । संविधान संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट वितरण करता है । साधारण परिस्थितियों में कतिपय विषय राज्योंके अपवर्जी क्षेत्राधिकार में आते हैं लेकिन संविधान में ऐसे कुछ उपबन्ध विद्यमान हैं जो संघ सरकार को उन विषयों पर भी,जो कि राज्यसूची में प्रगणित हैं कानून बनाने और नियन्त्रण रखने की शक्ति प्रदान करते हैं । यह प्रबन्ध भारत को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए किया गया है । इसलिए नया संविधान केन्द्रवाद और संघवाद के बीच समझौता है ।

नये संविधान के अधीन राज्यों का पद

१३०. संघ तथा राज्यों के सम्बन्ध

संविधान व्यवस्थापन के विभिन्न विषयों को तीन सूचियों, संघ-सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची में बांटता है । ये सूचियां सातवीं अनुसूची में दी हुई हैं । संघ-सूची में वे विषय हैं जिनके ऊपर संघीय (केन्द्रीय) सरकार को अपवर्जी प्राधिकार प्राप्त है और जिनके ऊपर वह कानून बना सकती है । इस सूची में ९७ विषय हैं । प्रतिरक्षा, विदेशी मामले, नागरिकता, देशीयकरण तथा अन्य देशीय, रेलवे, राष्ट्रीय राज्य पथ, चलार्थ, टकण और विधिमान्य, विदेशी विनिमय, भारत का रिजर्व बैंक, डाकघर बचत बैंक, विदेशी वाणिज्य, बीमा आदि विषय संघ सूची में सम्मिलित हैं ।

शक्तियों का वितरण

(१) संघ सूची

राज्य सूची में सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, जेल, स्थानीय शासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, शिक्षा, कृषि, वन, मीन-क्षेत्र, उद्योग और राज्य की लोक-सेवायें आदि के सहित ६६ विषय हैं । । संविधान में उल्लिखित केवल उन परिस्थितियों को छोडकर, जबकि संघ सरकार इन विषयों को अपने हाथ में ले सकती है, राज्य सरकार को इनके ऊपर अपवर्जी व्यवस्थात्मक तथा प्रशासनिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है ।

(२) राज्य सूची

समवर्ती सूची फौजदारी कार्यवाही, विवाह और तलाक, संविदायें, दीवानी कार्यवाही, श्रमिक संघ, श्रमिक कल्याण, मूल्य नियन्त्रण, कारखाने, आर्थिक और सामाजिक योजना, सामाजिक सुरक्षा और सामाजिक सीमा, विद्युत, समाचार पत्र, पुस्तकें और मुद्रणालय आदि को मिलाकर ४७ विषय प्रगणित करती है । समवर्ती सूची में उल्लिखित विषयों के ऊपर कानून बनाने के लिए संघ सरकार और

(३) समवर्ती सूची

राज्यों की सरकारें—दोनों ही सक्षम हैं। लेकिन इसमें एक शर्त है और वह यह कि यदि किसी समवर्ती विषय पर राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानून उसी विषय पर संसद द्वारा निर्मित कानून के प्रतिकूल पडता है, तो संसद द्वारा निर्मित कानून प्रभिभावी होगा तथा राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानून विरोध की मात्रा तक शून्य होगा।

अवशिष्ट शक्तियां

ये तीनों सूचियां बड़ी विशद हैं। लेकिन हो सकता है कि भविष्य में ऐसे किसी विषय का पता चले जो कि इनमें से किसी भी सूची में सम्मिलित न किया गया हो। संविधान के उपबन्धों के अनुसार ऐसे सब विषय संघ सरकार के क्षेत्राधिकार में आकर पड़ेंगे। दूसरे शब्दों में अवशिष्ट शक्तिया सघ में निहित की गई हैं।

यह स्पष्ट है कि नये सविधान के अधीन किये गये शक्तियों के वितरण का उद्देश्य केन्द्र को अत्यन्त शक्तिशाली बनाना है। अवशिष्ट शक्तियो को केन्द्र के हाथों में सौंप देने का भी यही उद्देश्य है। अमेरिका और स्विटजरलैंड जैसे टिपीकल सघों में अवशिष्ट शक्तिया अवयवी एंकको में निहित को गई हैं। भारत में उन सम्बन्धों मे भी जो सघ-सरकार को राज्यो के क्षेत्राधिकार का प्रतिक्रमण करने और राज्य-सूची में प्रगणित विषयो पर कानून बनाने की शक्ति देते है, केन्द्र को अधिकाधिक सबल बनाने की आकांक्षा प्रकट होती है। सघ और राज्यो के विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय सम्बन्धों का पर्यवेक्षण इस कथन की सत्यता को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।

विधायी सम्बन्ध

जहा तक संघ और राज्यों के विधायी सम्बन्धों का प्रश्न है, संघ और राज्यों के बीच शक्तियों के उक्त वितरण से यह प्रकट है कि सघ की सरकार और राज्य की सरकारें अपने अपने क्षेत्र में बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं। लेकिन यहा यह स्मर्तव्य है कि जहा राज्य का विधान मण्डल सघीय ससद के क्षेत्राधिकार का किसी भी दशा में अतिक्रमण नही कर सकता, सघीय ससद निम्न दशाओं में राज्य सूची प्रगणित विषयों पर कानून बना सकती है:—(१) यदि राज्य परिषद दो तिहाई बहुमत से इस आशय का एक प्रस्ताव पास करदे कि अमुक विषय राष्ट्रीय महत्व का है, तो संसद उस विषय पर कानून बना सकती है। (अनुच्छेद २४८)। (२) आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन काल में ससद राज्य-सूची में प्रगणित समस्त विषयों पर कानून बना सकती है। (अनुच्छेद २५०)। (३) यदि दो या दो से अधिक राज्य संसद से इस बात की प्रार्थना करें कि वह किसी राजय-विषय पर उनके लिए कानून बना दे, तो संसद उस विषय पर कानून बनाने के लिए सक्षम है। (अनु-

च्छेद २५२)। (४) संसद को किसी अन्य देश या देशों के साथकी हुई संधि या करार के परिपालन के लिए राज्य विधानमण्डल के क्षेत्राधिकार में आने वाले विषयों पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। (अनुच्छेद २५३) : (५) यदि ससद द्वारा निर्मित कानूनों और राज्यों के विधानमण्डलो द्वारा निर्मित कानूनो में असगति हो, तो ससद द्वारा निर्मित कानून, चाहे वह राज्यों के विधानमडलों द्वारा निर्मित कानूनों के पहले या पीछे पास हुआ हो, अभिभावी होगा और राज्यों के विधानमडलों द्वारा निर्मित कानून विरोध की मात्रा तक शून्य होगे। (अनुच्छेद २५४)। (६) राज्यों में वैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था में राष्ट्रपति राज्य के विधानमडल के अधिकार अपने हाथो में लेकर ससद को दे सकता है और उस दशा में उसके सब अधिकारो का प्रयोग ससद करेगी। (अनु० ३५६)। (७) राज्य विधानमडल द्वारा पास किये गये कुछ विधेयक ऐसे हैं जिन्हे राज्यपाल राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोक सकता है और जो राष्ट्रपति की स्वीकृति पाने पर ही कानून बन सकते हैं। (अनुच्छेद २०१)।

सविधान ने यह व्यवस्था को है कि प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका-शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा जिससे ससद द्वारा निर्मित विधियो का, तथा किन्हीं वर्तमान विधियो का, जो उस राज्य में लागू है, पालन सुनिश्चित रहे। सघ को अधिकार है कि वह इस सम्बन्ध में राज्यो प्रशासनिक को आवश्यक निर्देश दे सकता है। (अनुच्छेद २५६)। इसके सम्बन्ध साथ ही साथ सघ राष्ट्रीय महत्व के यातायात के साधनों के निर्माण तथा उनकी रक्षा करने के लिए राज्यो को आवश्यक निर्देश दे सकेगा। इन निर्देशो के पालन मे राज्यो को जो अतिरिक्त व्यय करना पड़ेगा, उसे संघ सरकार वहन करेगी। (अनु० २५७)। राष्ट्रपति राज्य-सरकार की अनुमति से राज्य के कर्मचारियो को सघीय सरकार के किसी भी काम को करने का आदेश दे सकता है। (अनु० २५८)। संसद को अन्तर्राज्यिक नदियो तथा नदी की घाटियो के सबन्ध मे उठने वाले झगडों के निबटारे के लिए कानून बनाने का अधिकार है। (अनु० २६२)। यदि विभिन्न राज्यो के मध्य अथवा राज्यो और सघ के मध्य ऐसे विषयों के ऊपर कोई विवाद उठे, जिनमें सामान्य हित हो, तो राष्ट्रपति उसकी परीक्षा करने तथा उस पर सिफारिश करने के लिए एक अन्तर्राज्यिक परिषद का निर्माण कर सकता है। (अनु० २५३)। देशी राज्यों के पास संविधान प्रारम्भ होने से पूर्व जो सेनाए थी, वे उनके पास उस समय तक बनी रहेगी, जब तक ससद कानून द्वारा उनकी कोई अन्य व्यवस्था न कर दे। ऐसी सभी सेनाए भारतीय सेना का अंग समझी जाएगी व उन पर सघ-सरकार का नियन्त्रण रहेगा। (अनु०-

च्छेद २५९)। आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन कालमें राज्यों की स्वायत्तता स्थगित हो जायेगी और सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को इस विषय में निर्देश देने तक होगा कि वह अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे। (अनु० ३५३)। संघ और राज्यो के प्रशासनिक सम्बन्धों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि स्वायत्त राजयों को अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार प्राप्त है, फिर भी सघ सरकार उनके प्रशासन मे पर्याप्त हस्तक्षेप कर सकती है। इसके अतिरिक्त द्वितीय श्रेणी के राज्यो पर तो स घ-सरकार का स विधान प्रारम्भ होने के दस वर्ष बाद तक काफी नियन्त्रण रहेगा।

वित्तीय सम्बन्ध

नए सं विधान ने संघ और राज्यो के बीच आर्थिक स्रोतों का बटवारा बहुत कुछ १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार ही किया है। कुछ कर तो पूर्ण रूप से सघ के हाथो मे हैं और कुछ राज्यो के। कुछ कर मघ लगाता है लेकिन राज्य एकत्रित करता है। कुछ कर ऐसे हैं जिन्हे सघ लगाता और सग्रहीत करता है परन्तु राज्यो को दे देता है। निम्न लिखित कर पूर्ण रूप से सघ के हाथ में हैं कृषि को छोडकर अन्य आय पर कर, सीमा-शुल्क जिसके अन्तर्गत निर्यात शुल्क भी है, भारत मे निर्मित या उत्पादित तमाकू तथा मानव-उपभोग के मद्य सारिक पानो, अफीम- भाग और अन्य पिनक लाने वाली औषधियो तथा स्वापको को छोड कर, किन्तु ऐसी औषधीय और प्रसाधनीय मामग्री को अन्तर्गत करके जिनमे मद्यसार का कोई पदार्थ अन्तर्विष्ट हो, अन्य सब वस्तुओ पर उत्पादन-शुल्क, निगम-कर, व्यक्तियो या समवायो की आस्ति में से कृषि-भूमि को छोड कर उसके मूलधन-मूल्य पर कर, समवायों के मूलधन पर कर, कृषि-भूमि को छोड कर अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के बारे में शुल्क, रेल या समुद्र या वायुयान से ले जाये जाने वाली वस्तुओ या यात्रियों पर सीमा-कर, रेल के जन-भाडे और वस्तु-भाडे पर कर, मुद्रांक शुल्क को छोड़ कर श्रेष्ठि-चत्वर और वादा-बाजार के सौदो पर कर, विनिमय-पत्रो, चेकों, वचन-पत्रों, वहन-पत्रो, प्रत्यय-पत्रो, बीमा-पत्रो, अंशो के हस्तातरण, ऋण पत्रो, प्रति-पत्रियों और प्राप्तियो के सम्बन्ध में लगने वाले मुद्रांक-शुल्क की दर, समाचार-पत्रो के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनो पर कर। (संघ सूची ८२-९२)।

निम्नलिखित कर पूर्ण रूप से राज्यों की सरकारों के आय के स्रोत हैं :—कृषि आय पर कर, कृषि-भूमि के उत्तराधिकार के विषय में शुल्क, कृषि-भूमि के विषय में सम्पत्ति शुल्क, भूमि और भवनो पर कर, स सद से विधि द्वारा खनिज-विकास के

सम्बन्ध में लगाई गई परिसीमाओं के अधीन रहते हुए खनिज-अधिकार पर कर, अफीम और भाग पर कर, विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर, समाचार-पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर कर, समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों को छोड़ कर अन्य विज्ञापनों पर कर आदि आदि। (राज्य-सूची ४६-६६)।

निम्नलिखित शुल्क और कर भारत सरकार द्वारा आरोपित और संग्रहीत किए जायेंगे किन्तु राज्यों को सौंप दिए जायेंगे — कृषि-भूमि से अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार विषयक-शुल्क, कृषि भूमि से अन्य सम्पत्ति-विषयक सम्पत्ति-शुल्क; रेल, समुद्र या वायु से वाहित वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा-कर, रेल-भाड़ों और वस्तु-भाड़ों पर कर, श्रेष्ठि-चत्वरों और वायदा बाजारों के सौदों पर मुद्रांक-शुल्क से अन्य कर; समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर। (अनु० २६९)।

संविधान ने निश्चित किया है कि कृषि-आय से अतिरिक्त अन्य आय पर करों को भारत सरकार द्वारा उद्गृहीत और संगृहीत किया जायगा तथा संघ और राज्यों के बीच में वितरित कर दिया जायेगा। (अनु० २७०)।

अनुच्छेद २६९ और २७० में किसी बात के होते हुए भी संसद उन अनुच्छेदों में निर्दिष्ट शुल्कों या करों में से किसी की भी किसी समय संघ के प्रयोजनों के लिए अभिभार द्वारा वृद्धि कर सकेगी तथा ऐसे किसी अभिभार के समस्त आगम भारत की संचित निधि के भाग होंगे। (अनु० २७१)।

संघ-सूची में वर्णित औषधीय तथा प्रसाधन- सामग्री पर उत्पादन-शुल्क से अन्य संघ-उत्पादन-शुल्क भारत सरकार द्वारा उद्गृहीत और संगृहीत किए जायेंगे किन्तु यदि संसद् विधि द्वारा यह उपबन्धित करे तो शुल्क लगाने वाली विधि जिन राज्यों को लागू होती हो उन राज्यों को भारत की संचित-निधि में से उस शुल्क के शुद्ध आगमों के पूर्ण अथवा किसी भाग के बराबर राशि दी जायगी और वे राशियां उन राज्यों के बीच विधि द्वारा सूत्रबद्ध वितरण-सिद्धांतों के अनुसार वितरित की जायेंगी। (अनु० २७२)।

आसाम, उड़ीसा, बिहार और पश्चिमी बंगाल पटसन और पटसन से बनी वस्तुओं पर निर्यात-शुल्क के स्थान में सहायक-अनुदान प्राप्त करेंगी। (अनु० २७३)।

ऐसी राशियां जो संसद विधि द्वारा उपबन्धित करे, उन राज्यों के राजस्वों के सहायक अनुदान के रूप में प्रतिवर्ष भारत की संचित निधि पर भारित होंगी जिन राज्यों के सम्बन्ध में संसद् यह निर्धारित करे कि उन्हें सहायता की आवश्यकता है, तथा भिन्न भिन्न राज्यों के लिये भिन्न राशियां नियत की जा सकेंगी। इसके अतिरिक्त

किसी राज्य के राजस्त्रों के सहायक अनुदान के रूप में भारत की संचित-निधि में से वैसी मूल तथा आवर्तक राशियां दी जा सकेंगी जैसी कि उस राज्य को उन विकास योजनाओं के खर्चो के उठाने में समर्थ बनाने के लिये आवश्यक हो, जो उस राज्य के अन्तर्गत अनुसूचित आदिम जातियों के कल्याण की उन्नति करने के प्रयोजन के लिए अथवा उस राज्य के अन्तर्गत अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासन-स्तर को उस राज्य के शेष क्षेत्रों के प्रशासन स्तर तक उन्नत करने के प्रयोजन के लिए उस राज्य ने भारत सरकार के अनुमोदन से हाथ मे ली हों। (अनु० २७५)।

किसी राज्य के विधान-मण्डल की ऐसे करों सम्बन्धी कोई विधि जो उस राज्य या किसी नगरपालिका, जिला-मण्डली, स्थानीय मडली अथवा उसमें अन्य स्थानीय प्राधिकारी के हित साधन के लिए वृत्तियों, व्यापारो- आजीविकाओ या नौकरियो के बारे में लागू होती है, इस आधार पर अमान्य न होगी कि वह आय कर है। राज्य को अथवा इसमें की किसी एक नगरपालिका, जिला-मण्डली, स्थानीय मण्डली या अन्य स्थानीय प्राधिकारी को किसी एक व्यक्ति के बारे में वृत्तियों, व्यापारों आजीविकाओं और नौकरियो पर करो द्वारा देय समस्त राशि दो सौ पचास रुपय प्रतिवर्ष से अधिक न होगी। इस सम्बन्ध में विधिया बनाने की राज्य के विधान-मण्डल की शक्ति का यह अर्थ नहीं होगा कि वृत्तियों,व्यापारों आजीविकाओ और नौकरियो से प्रोद्भूत या उत्पन्न आय पर करो के विषय मे विधियाँ बनाने की ससद् की शक्ति किसी प्रकार सीमित की गई है। (अनु० २७६)।

राज्य की कार्यपालिका

१३१. राज्यपाल

नए सविधान के अधीन भाग (क) राज्य की कार्यपालिका-शक्ति राज्यपाल में निहित की गई है। राज्यपाल भारत के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है * और

---

*यद्यपि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्देशित होता है, लेकिन यह नही समझना चाहिये कि वह राज्यमत्रालय के ऊपर लाद दिया जायगा। १९४७ और १९४९ के बीच परम्परा यह रही है कि राष्ट्रपति राज्यपाल को अन्तिम रूप से चुनने के पूर्व सम्बद्ध राज्य के मुख्य मंत्री से परामर्श कर लेता है। नये सविधान के अधीन इस परम्परा का चालू रहना अनिवार्य है।"
के. संथानमम: दि कांस्टीट्यूशन ऑफ इंडिया पृ. १६२।

उसके प्रसाद पर्यन्त पद धारण करता है। इस उपबन्ध के अधीन रहते हुए उसकी पदावधि पांच वर्ष होगी। कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने के लिये उस समय तक पात्र नही होगा, जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो और ३५ वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। अपनी पदावधि में उसे लाभ के किसी अन्य पद को धारण करने से वंचित कर दिया जाता है जब तक वह राज्यपाल का पद धारण करता है, उसके लिये यह आवश्यक है कि वह संसद के किसी सदन का अथवा राज्य के किसी विधानमंडल का सदस्य न हो। जब तक ससद इस सम्बन्ध में अन्यथा उपबन्ध न करे, राज्यपाल को बिना किराया दिये पदावास के उपयोग तथा अपने पद के कर्त्तव्यो का सुविधा और प्रतिष्ठा के साथ और निर्वहन करने के लिये यात्रा व व्यय सम्बन्धी दूसरे भत्तों † के अलावा ५, ५०० रु० प्रति मास वेतन का हक्क होगा।

राज्यपाल की नियुक्ति, पदावधि, अर्हताएं और उपलब्धियां

सविधान राज्यपाल को कई शक्तिया प्रदान करता है। इन शक्तियों को चार शीर्षको में बाटा जा सकता है। (क) कार्यपालिका,(ख) विधायिनी, (ग) वित्तीय और (घ)न्यायिक। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं राज्यपाल राज्य की कार्यपालिका शक्ति का भंडार है और वह इस शक्ति का या तो स्वय और या अपने अधीनस्त कर्मचारियो के द्वारा सविधान के अनुसार प्रयोग करता है। राज्यपाल की कार्यपालिका-शक्तिया उन सब विषयो के प्रशासन से सम्बन्ध रखती हैं जो राज्य-सूची में प्रगणित हैं और जिनके सम्बन्ध मे कानून बनाने के लिये राज्य का विधान मडल सक्षम हैं। समवर्ती सूची में प्रगणित मामलो के सम्बन्ध मे राज्यपाल की कार्यपालिका-शक्तिया राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियो के अधीन हैं।

राज्यपाल की शक्तियां

(क) कार्यपालिका शक्तियां

अपनी विधायिनी शक्तियो के बल पर राज्यपाल राज्य के विधानमंडल को आहूत कर सकता है, सदन या सदनों का सत्रावसान कर सकता और विधान-सभा का विघटन कर सकता है। यदि राज्य का विधानमडल द्विसदनात्मक है, तो वह विधान-परिषद के लिये कुछ सदस्यो को नामनिर्देशित भी कर सकता है। वह राज्य

विधायिनी शक्तियां

†वर्तमान काल में यू० पी० का राज्यपाल अपने वेतन के अलावा निम्न भत्ते प्राप्त करता है। व्यय सम्बन्धी भत्ते १६००० रु० (वार्षिक); सैनिक-मंत्री और व्यक्तिगत कर्मचारी मंडल १९,००० रु० (वार्षिक), पदावास की सामग्री और सजावट १५००० रु० (वार्षिक), सजावट का नया सामान ९३,००० रु० (पांच वर्षों में); सुसज्जा का भत्ता (नियुक्ति पर) १६०० रु०।मनोरंजन- भत्ते ५००० रु० (वार्षिक)

के विधानमंडल के किसी सदन को अथवा राज्य परिषद के साथ समवेत दोनो सदनों को सम्बोधित कर सकता है। राज्य के विधानमडल के प्रत्येक सत्र के प्रारम्भ में राज्यपाल विधान-सभा को अथवा राज्य में विधान परिषद होने की अवस्था में साथ समवेत हुये दोनो सदनों को सम्बोधित कर सकता है। राज्यपाल का यह सम्बोधन ब्रिटिश ससद में सम्राट द्वारा दिये गये भाषण का तत्स्थानी है। राज्य के विधानमडल द्वारा पास किया गया कोई भी विधेयक उस समय तक कानून नही बनता, जब तक कि उस पर राज्यपाल की अनुमति प्राप्त न हो जाय। राज्यपाल यदि चाहे तो विधेयक पर अपनी अनुमति दे सकता है, चाहे तो उसे रोक सकता है और चाहे तो उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर सकता है। राज्यपाल किसी विधेयक को, यदि वह धन-विधेयक नही है तो, पुनर्विचार के लिये राज्य के विधानमडल के पास वापिस भेज सकता है। यदि विधेयक दुबारा पास कर दिया जाता है, तो राज्यपाल उस पर अपनी अनुमति नही रोक सकता। कोई भी धन-विधेयक राज्यपाल की सिफारिश के बिना विधान-सभा में पुरःस्थापित नही किया जा सकता।

राज्यपाल की अध्यादेश निकालने की शक्ति

सविधान ने राज्य के विधानमडल के विश्रान्तिकाल में राज्यपाल को अध्यादेश निकालने की शक्ति प्रदान की है। राज्यपाल द्वारा निकाले गये अध्यादेश का वही बल होता है जो राज्य के विधानमडल के अधिनियम का होता है लेकिन वह विधानमडल के पुन. समवेत होने से छः सप्ताह की समाप्ति पर अथवा उस कालावधि की समाप्ति से पूर्व विधानमण्डल द्वारा उसके निरनुमोदन का प्रस्ताव पास किये जाने पर प्रवर्तन में नही रहता। कुछ अवस्थाओ में राज्यपाल राष्ट्रपति के अनुदेशो के बिना अध्यादेश नही निकाल सकता।

वित्तीय शक्तियां

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ होने से पूर्व राज्यपाल (मन्त्रियो के द्वारा) राज्य के विधानमण्डल के समक्ष "वार्षिक वित्त विवरण" रखता है। इसमे उस राज्य की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियों और व्ययो का विवरण होता है। किसी भी अनुदान-माग (अर्थात राज्य के राजस्व के किसी भाग को खर्च करने की शक्ति की माग) अथवा करारोप के प्रस्ताव को, सिवाय इसके कि राज्यपाल के नाम मे करते हुए मत्री उपस्थित करें, अन्य किसी प्रकार से उपस्थित नही किया जा सकता।

राज्यपाल को कतिपय न्यायिक शक्तियां भी प्राप्त हैं। वह जिला-न्यायाधीशों और दूसरे न्यायिक पदाधिकारियों की नियुक्तियो, पद-स्थापनाओं और पदोन्नति का

निर्णय कर सकता है। उसे विधि-न्यायालयों द्वारा सिद्ध दोष व्यक्तियों को क्षमा देने और उनके दंडादेश को कम करने की भी शक्ति प्राप्त है। राज्यपाल अपनी पदावधि में तमाम फौजदारी और दीवानी प्रक्रियाओं से वैयक्तिक उन्मुक्ति का उपभोग करता है। दूसरे शब्दों में देश के किसी भी न्यायालय में किसी भी अपराध के लिए उस पर मुकदमा नही चलाया जा सकता।

न्यायिक शक्तियां और उन्मुक्तियां

१३२. राज्यपाल की शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग होता है ?

जिस प्रकार कि भारत के राष्ट्रपति के सम्बन्ध मे सिद्धांत और व्यवहार के बीच व्यवधान है, वही स्थिति राज्य के राज्यपाल की है। सिद्धांततः राज्यपाल तमाम कार्यपालिका शक्तियों का पुंज है लेकिन व्यवहारतः वह एक वैधानिक शासक है और उसे सामान्यतः अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर आचरण करना पडता है। संविधान का कथन है, "जिन बातो में इस संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कृत्यों अथवा उनमें से किसी को स्वविवेक मे करे उन बातो को छोड कर राज्यपाल को अपने कृत्यो का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देनेके लिए एक मन्त्रि-परिषद होगी।" [अनुच्छेद १६३ (१)]

साधारणतः उसे अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा पर आचरण करना पड़ता है

यह एक महत्वपूर्ण उपबन्ध है। भारत के राष्ट्रपति के सम्बन्ध में इसका तत्स्थानी कोई उपबन्ध नही है। लेकिन साधारण परिस्थितियो में संविधान यह छोड कर कि आसाम का राज्यपाल कतिपय आदिम जाति जन-क्षेत्रो और सीमांत भूखण्डो के प्रशासन के सम्बन्ध में स्व-विवेक से कार्य कर सकता है, राज्यपाल को थोडी ही शक्तिया देता है। यह ऐसा इसलिए है क्योकि उसे भारत के राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप मे इन क्षेत्रो और भूखडो का प्रशासन करना पडता है। राज्य का राज्यपाल मुख्यमन्त्री को नियुक्त करने में, विधानसभा का विघटन करने में और राज्य में वैधानिक तन्त्र की विफलता का राष्ट्रपति को प्रतिवेदन देने में, स्वविवेक से कार्य कर सकता है। लेकिन इनमें से किसी भी मामले मे संविधान की वास्तविक क्रियान्विति में राज्यपाल की अपनी वैयक्तिक रुचि-अरुचि का कोई स्थान न होगा।

साधारण परिस्थितियों के अधीन थोड़ी सी स्वविवेकी शक्तियां

इस प्रकार, साधारण परिस्थितियो मे राज्यपाल से यह आशा की जाती है कि वह प्रायः समस्त मामलो में अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर कार्य करेगा अथवा दूसरे

साधारणतः राज्यपाल को वैधानिक शासक होना चाहिए

शब्दों में राज्य-प्रशासन का वैधानिक या ध्वजमात्र शासक होगा। यह ठीक है कि संविधान ने इस बात को स्पष्ट रूप से नहीं कहा है कि राज्यपाल के लिये अपने मन्त्रियों की मंत्रणा स्वीकार करना अनिवार्य है। लेकिन संसद शासन प्रणाली के अधीन, जिसे कि भारत में केन्द्र और राज्यों- दोनों स्थानों पर अंगीकृत किया गया है, यह अपरिहार्य है 'कि केवल कुछ उल्लिखित अपवादोंको छोड़ कर राज्यपाल अपने मन्त्रियोंकी जो विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं, मंत्रणा के अनुसार कार्य करे। उसका वास्तविक कार्य 'मंत्रणा देना चेतावनी देना और फिर झुक जाना है।" राज्यपाल के नाम से जो भी कार्य किया जाता है, उसका उत्तरदायित्व मंत्रियों के सिर पड़ता है। इसलिये यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि जो उत्तरदायित्वको वहन करते हैं, वे शक्ति का भी प्रयोग करें। चूंकि राज्यपाल का कोई उत्तरदायित्व नहीं है, इस लिये वह किसी शक्ति का प्रयोग नहीं करता। हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देश्य राज्यपाल को ध्वजमात्र शासक बनाना था, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि उन्होंने जनता के प्रत्यक्ष मतदान द्वारा उसके निर्वाचन का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और इसके स्थान पर, यह निश्चित किया कि वह राष्ट्रपति के द्वारा नियुक्त किया जायगा। यह सोचा गया कि "जनता द्वारा निर्वाचित राज्यपाल और विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी मुख्य मन्त्री का एक साथ होना तनाव और उसके फलस्वरूप प्रशासन में दुर्बलता उत्पन्न कर सकता है।"*

वे परिस्थितियां जिनके अधीन राज्यपाल अपने मन्त्रियों की मंत्रणा पर आचरण करने के लिए विवश न होगा

लेकिन ऐसी कतिपय उल्लिखित परिस्थितियां हैं। जिनके अधीन राज्य का राज्यपाल राष्ट्रपति के निर्देशन में आ जायगा और उस सीमा तक अपने मंत्रियों की मंत्रणा को स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं होगा। उदाहरणार्थ यदि राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा निकाल देता है, तो राज्यपाल राष्ट्रपति का अभिकर्ता बन जाता है और अपने मंत्रियों की मंत्रणा पर कार्य न करके उसके अनुदेशों के अधीन कार्य करता है। यही प्रभाव उस समय होगा जबकि अनुच्छेद ३५६ के अधीन उद्घोषणा द्वारा राष्ट्रपति इस बात की उद्घोषणा कर देता है कि राज्य का शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नहीं चलाया जा सकता और उच्च न्यायालय के कार्यों को छोड़ कर राज्य-सरकार के समस्त या कोई कार्य अपने हाथ में ले लेता है। इस प्रकार की

* ड्राफ्ट कांस्टीट्यूशन, पृ॰ ७५ पाद टिप्पणी।

उद्घोषणा के फलस्वरूप राज्य की मन्त्रि परिषद का विघटन कर दिया जायगा और भारत के राष्ट्रपति की ओर से राज्य का शासन सीधे राज्यपाल करेगा । यह एक असाधारण शक्ति है और संविधान सभा में उसकी कटु आलोलना हुई थी । आलोचकों का कथन था कि यह तो १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के दुष्टतापूर्ण विभाग ९३ का पुनराधिनियमन है और इसलिये साम्राज्यवादी अतीत का एक अवशेष है । संविधान के आपात-उपबन्धो के फलस्वरूप राज्य की स्वायत्तता स्थगित हो सकती हैं और राज्य सरकार अस्थाई रूप से संघ-सरकार में विलय हो सकती हैं । दूसरे शब्दो में संविधान राज्यों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना नही करता ।

१३२. मन्त्रि-परिषद

संविधान ने उपबन्ध किया है कि जिन बातों में संविधान द्वारा या इसके अधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने अथवा उनमे से किसी को स्वविवेक से करे उन बातो को छोडकर राज्यपाल को अपने कृत्यो का निर्वहन करने मे सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद होगी । मन्त्रि परिषद की नियुक्ति के लिए निम्न प्रक्रिया निर्धारित की गई है । राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करता है । मुख्यमन्त्री को नियुक्त करते समय राज्यपाल को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि इस व्यक्ति को राज्य की विधान सभा में स्थायी बहुमत तो प्राप्त है न ? दूसरे मन्त्रियो की नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमन्त्री की मन्त्रणा से करता है । समस्त मन्त्रियो के लिए यह आवश्यक है कि वे राज्य विधानमण्डल के सदस्य हो । ऐसा कोई व्यक्ति जो राज्य के विधानमडल का सदस्य न हो, मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है, परन्तु वह छ महीने की समाप्ति पर मन्त्री नही रहेगा यदि वह इसी कालावधि मे राज्य के विधानमडल के लिए निर्वाचित नही हो जाता । मन्त्रियो के बीच विभागो का वितरण राज्यपाल मुख्यमन्त्री की मन्त्रणा से करता है ।

नियुक्ति-प्रक्रिया

राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रि-परिषद है । यद्यपि प्रशासन राज्यपाल के नाम में संचालित होता है, लेकिन वास्तविक निर्णय मन्त्रियो द्वारा किये जाते है । राज्य के मुख्यमन्त्री का यह कर्तव्य है कि वह राज्य के मामलो के प्रशासन से सम्बद्ध मन्त्रि परिषद के निर्णयो को, व्यवस्थापन प्रस्तावों को तथा ऐसी सूचना को जो राज्यपाल मागे, राज्यपाल के पास पहुँचाये । यदि किसी मामले का निर्णय किसी व्यक्तिगत मन्त्री के द्वारा किया गया है तो राज्यपाल इस बात की मांग कर सकता है कि वह मामला समग्र परिषद के

मन्त्रि-परिषद और राज्यपाल के सम्बन्ध

सम्मुख उपस्थित किया जाय। इस तरह राज्यपाल का यह अधिकार है कि उसे सब प्रकार की सूचना मिलती रहे। मन्त्रियों द्वारा विचारित किसी कार्यक्रम के सम्बन्ध में उन्हें चेतावनी तथा मन्त्रणा देकर राज्यपाल उनके मार्ग-दर्शक और मित्र के रूप में भी कार्य कर सकता है। लेकिन जहाँ मन्त्रियों ने एकबार किसी बात का निश्चय कर लिया, राज्यपाल केवल उन थोडे से अपवादो को छोडकर, जिनका हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं, उनके निर्णयों को मानने के लिए बाध्य है। सविधान का कहना है कि मन्त्री राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपने पद धारण करेंगे। इस प्रकार सिद्धान्ततः राजयपाल यदि चाहे तो वह किसी मन्त्री को अपदस्थ कर सकता है लेकिन मन्त्रि परिषद का राज्य की विधान सभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व देखते हुए राज्यपाल सामान्यतः अपनी इस शक्ति का व्यवहार में प्रयोग नही करेगा।

मंत्रिपरिषद और राज्य विधान मण्डल के सम्बन्ध

सविधान ने इस बात का उपबन्धकि करके मन्त्रिपरिषद राज्यकी विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी [अनुच्छेद १६४ (२)] राज्य विधान मण्डल के साथ मन्त्रिपरिषद के सम्बन्ध का निरूपण किया है। इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्रिपरिषद उसी समय तक पदारूढ रह सकती है, जब तक कि उसे विधान-सभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है। मन्त्री राज्य -विधान मण्डल के सदस्य हैं। उन्हें उसकी बैठको में उपस्थित होने और उसकी कार्यवाहियो में भाग लेने का अधिकार है। वे सरकारी विधेयकों को पुरःस्थापित करते हैं और उन्हे पास करवाते हैं।

राज्य का विधान मण्डल मन्त्रियो के कार्य का कई तरह से नियंत्रण और निरीक्षण कर सकता है। विधान मण्डल के सदस्य सूचना को प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रश्न और पूरक प्रश्न पूछ सकते हैं। बजट वाद विवादो के दौरान में वे प्रशासन के विरुद्ध जनता की शिकायतो की आवाज को बुलन्द कर सकते हैं। वे अतिशय सार्वजनिक महत्व के मामलो पर काम रोको' प्रस्ताव उपस्थित कर सकते हे। इस प्रकार के प्रस्तावो द्वारा सरकार की नीतियों को प्रकाश में लाया जा सकता है और उसकी गलतियों की आलोचना की जा सकती है। अंशतः सामुदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के कारण विधान-सभा किसी सरकारी विधेयक को पास करना अस्वीकार करके किसी ऐसे गैर सरकारी विधेयक को पास करके जिसका मन्त्रियों ने विरोध किया हो, मन्त्रियों द्वारा उपस्थित की गई बजट की मांगों में कमी करके अथवा मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास का सीधा प्रस्ताव पास करके, मन्त्रिपरिषद को पदच्युत कर सकती है। कहने का सार यह है कि विधान मण्डल मन्त्रियों को बना या बिगाड़ सकता है। दूसरी ओर

मन्त्री भी विधान मण्डल को अपने नियन्त्रण और प्रभाव में रख सकते हैं। वे बहुमत वाले दल के नेता होते हैं। इस बहुमत का समर्थन मिलने के कारण साधारणतः वे अपने विधायी प्रस्तावों को पास करवाने में सफल हो जाते हैं। यदि दल का अनुशासन कठोर है और उसका विधान मण्डल में पूर्ण बहुमत है तो मन्त्रिपरिषद विधान मण्डल को अपने हाथ की कठपुतली बना सकता है। विधान मण्डल पदारूढ दल को उसी समय अपदस्थ कर सकता है जबकि दल का बहुमत संदिग्ध हो अथवा उसके सदस्यो में फूट हो।

राज्य का विधान मण्डल

१३३. एक सदनात्मक और द्विसदनात्मक राज्य विधान मंडल

संविधान ने निश्चित किया है कि प्रथम अनुसूची के भाग (क) में के प्रत्येक राज्यके लिए एक विधान मण्डल होगा जो राज्यपाल तथा विधान मण्डलके यथास्थिति एक या दो सदनो से मिल कर बनेगा। पंजाब, पश्चिमी बंगाल, बिहार, बम्बई मद्रास और उत्तर प्रदेश के राज्यो मे दो सदन होगे। भाग (क) के शेष राज्यो में एक सदनात्मक विधान मण्डल होगे। द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले राज्य में उच्च सदन विधान परिषद और निम्न सदन विधान सभा के नाम से प्रख्यात होगा। यदि राज्य का विधान मंडल एक सदनात्मक है, तो वह विधान सभा कहलाएगा। राज्यों को द्विसदनात्मक विधान मंडल देने के प्रश्न पर संविधान सभा मे खूब जोरदार बहस हुई थी। फलत. किसी राज्य मे द्विसदनात्मक विधान मंडल हो या न हो, इस बात का निश्चय उस राज्य के प्रतिनिधियो के मतानुसार किया गया। तीन राज्यो, आसाम, मध्य-प्रदेश और उडीसा ने द्वितीय सदन का समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत भाग (क) के शेष छ राज्यो ने द्वितीय सदन का समर्थन किया। इसलिए अनु० १६८ इन राज्यों के लिए द्विसदनात्मक विधानमंडलों का उपबन्ध करता है। लेकिन अनु० १६९ ने निश्चित किया है कि द्विसदनात्मक विधान मण्डल वाले राज्य के उच्च सदन का उत्सादन किया जा सकता है यदि राज्य की विधान-सभा ने इस उद्देश्य का प्रस्ताव सभा की समस्त सदस्य-संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के दो तिहाई से अन्यून बहुमत से पास कर दिया हो।

द्वितीय सदनों के उत्सादन के लिए उपबन्ध

१३४. विधान-सभा

संविधान ने निर्धारित किया है कि किसी राज्य की विधान-सभा ५०० से अन-

धिक और ६० * से अन्यून सदस्यों से मिल कर बनेगी।

रचना और निर्वाचन

विधान सभा की सदस्यता के लिए सार्वभौम वयस्क मताधिकार और सयुक्त निर्वाचक गणो के आधार पर प्रत्यक्ष निर्वाचन होगे।

सविधान ने पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचक गणो का उत्सादन कर दिया है, लेकिन विधान सभा में कतिपय अल्पसख्यक-वर्गों के प्रतिनिधित्व के लिए उपबन्ध कर दिया है। अनु० ३३२ ने निश्चित किया है कि विधान सभा में (क) अनुसूचित जातियो के लिए तथा (ख) आसाम के आदिम जाति क्षेत्रो में की अनुसूचित आदिम जातियो को छोड कर अन्य आदिमजातियो के लिए स्थान सरक्षित रहेंगे। सविधान ने आग्ल-भारतीय समुदाय के लिए भी विशेष उपबन्ध किया है। यदि किसी राज्य के राज्यपाल की राय हो कि उस राज्य की विधान सभा में आग्ल-भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व आवश्यक है और पर्याप्त नही है, तो उस विधान-सभा मे उस समुदाय के जितने सदस्य वह समुचित समझे नाम-निर्देशित कर सकता है। लेकिन यह स्मर्त्तव्य है कि अनुसूचित जातियो आदिम-जातियों तथा आग्ल-भारतीयो के लिए स्थानो के सरक्षण सम्बन्धी ये विशेष उपबन्ध सविधान के प्रारम्भ से दस वर्ष की कालावधि की समाप्ति पर प्रभावी न रहेगे और उस समय तक नही बढाये जायेंगे जब तक कि सविधान मे सशोधन न हो।

कतिपय वर्गों के लिए स्थानों का संरक्षण

किसी राज्य की विधान सभा मे के किसी स्थान के लिये चुने जाने के लिए सविधान ने निम्न अर्हताए निश्चित की हैं। प्रत्याशी के लिए यह आवश्यक है कि (क) वह भारत का नागरिक हो, (ख) २५ वर्ष की अवस्था पूरी कर चुका हो, और [ग] ऐसी अन्य अर्हताए रखता हो जो इस बारे में राज्य के विधान मडल द्वारा निर्मित किसी कानून के द्वारा या अधीन निश्चित की जायें। राज्य

सदस्यों की अर्हताएं

---

* जनता के प्रतिनिधित्व-अधिनियम (१६५०) ने प्रत्येक राज्य की विधान-सभा की सदस्य-सख्या निम्न प्रकार से निश्चित की है —

भाग (क) राज्य: आसाम: १०८, बिहार: ३३०, बम्बई ३१५, मध्य प्रदेश २३२, मद्रास: ३७५, उडीसा: १४०, पजाब १२६, उत्तर प्रदेश: ४३०, पश्चिमी बगाल: २३८।

भाग (ख) राज्य: हैदराबाद: १७५, मध्य भारत: ९९ मैसूर: ९९, पेप्सू: ६०, राजस्थान: १६०, सौराष्ट्र: ६० त्रावनकोर-कोचीन: १०८।

की विधान सभा अपने सदस्यों में से एक को अध्यक्ष और दूसरे को उपाध्यक्ष निर्वाचित करती है। प्रत्येक राज्य की विधान सभा की अवधि, यदि उसका पहले ही विघटन न कर दिया जाय तो अपने प्रथम अधिवेशन के लिए नियुक्त तारीख से ५ वर्ष की होगी। परन्तु इस कालावधि विधान सभा को, जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है, संसद की कानून द्वारा किसी कालावधि के लिए बढा सकती है, जो अवधि एक बार एक वर्ष से अधिक न होगी तथा किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् छ मास की कालावधि से अधिक विस्तृत न होगी।

१३५. विधान-परिषद

द्विसदनात्मक विधानमण्डल वाले राज्य की विधान-परिषद के सदस्यो की समस्त सख्या उस राज्य की विधानसभा के सदस्यों की समस्त सख्या की एक चौथाई से अधिक न होगी। तथापि यह निर्धारित कर दिया गया है कि किसी अवस्था में भी किसी राज्य की विधान-परिषद रचना के सदस्यो की समस्त सख्या चालीस से कम न होगी।"*
जब तक ससद कानून द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे, विधान-परिषद की रचना निम्न रीति से होगी (क) तृतीयाश स्थानीय निकायो के सदस्यों द्वारा निर्वाचित होगा, (ख) द्वादशाश ऐसे व्यक्तियो द्वारा निर्वाचित होगा जो किसी विश्वविद्यालय के कम से कम तीन वर्ष से स्नातक है, (ग) द्वादशाश ऐसे व्यक्तियो द्वारा निर्वाचित होगा जो राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशालाओ से अनिम्न स्तर की शिक्षा-सस्थाओ में पढाने के काम मे कम से कम तीन वर्ष से लगे हुए हैं, (घ) तृतीयाश राज्य की विधानसभा के सदस्यो द्वारा ऐसे व्यक्तियो में से निर्वाचित होगा जो सभा के सदस्य नही हैं और (ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा उन व्यक्तियों मे से नाम-निर्देशित किए जायेंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आदोलन और सामाजिक सेवा के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है। विधान परिषद के लिए तमाम निर्वाचन एकल सक्रमणीय मत के द्वारा सानुपात प्रतिनिधित्व प्रणाली के अनुसार होंगे।

विधान परिषद के लिये निर्वाचन में खडे होने वाले व्यक्ति में निम्न अर्हताओं

---

* जनता के प्रतिनिधित्व-अधिनियम (१९५०) के अधीन विभिन्न राज्यों की विधान-परिषदो की सदस्य-सख्या निम्न प्रकार से निश्चित हुई है.—भाग (क) के राज्य बिहार: ७२, बम्बई: ७२, मद्रास ७२, पजाब ४०, उत्तरप्रदेश. ७२, पश्चिमी बंगाल: ५१। भाग (ख) के राज्य. मैसूर. ४०।

का होना आवश्यक है: (क) उसे भारत का नागरिक होना चाहिए, (ख) उसकी आयु कम से कम तीस वर्ष की होनी चाहिए, और (ग) उसमें ऐसी अन्य अर्हताएं होनी चाहिये जो संसद इस बारे में कानून के द्वारा या अधीन निश्चित करे। राज्य की विधान परिषद अपने ही सदस्यों में से एक सभापति और एक उप-सभापति निर्वाचित करेगी। विधान परिषद स्थायी निकाय होगी और उसका विघटन नहीं किया जायगा। विधान परिषद के सदस्य ६ वर्ष के लिए निर्वाचित होंगे और तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष हट जाया करेंगे।

सदस्यों की अर्हताएं

राज्य के विधान मण्डल के सदन या सदनो को (यथास्थिति) राज्यपाल एक वर्ष में कम से कम दो बार अधिवेशन के लिये आहूत करेगा और उनके एक सत्र की अंतिम बैठक तथा आगामी सत्र की बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच ६ मास का अन्तर न होगा। इस उपबंध के अधीन रहते हुये राज्यपाल, समय समय पर सदन या सदनों को आहूत कर सकेगा, उनका सत्रावसान अथवा वि[illegible] सभा का विघटन कर सकेगा।

राज्य के विधानमण्डल के सत्र

१३६. राज्य-विधानमण्डल की शक्तियां और उसके कृत्य

राज्य के विधानमण्डल को राज्य सूची में प्रगणित समस्त विषयो पर कानून बनाने की शक्ति प्राप्त है। इस क्षेत्र में राज्य विधानमण्डल साधारणत अपवर्जी क्षेत्राधिकार का उपभोग करता है। राज्य विधानमण्डल समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों के सम्बन्ध में भी कानून बना सकता है। लेकिन इस क्षेत्र में उसका क्षेत्राधिकार अपवर्जी नहीं है। इन विषयो पर संसद भी कानून बना सकती है और यदि किसी समवर्ती विषय पर राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानून उसी विषय पर संसद द्वारा निर्मित कानून के विरुद्ध है तो संसद द्वारा निर्मित कानून, चाहे वह उसके अधिनियमन के पहले या पीछे पास हुआ हो, अभिभावी होगा और राज्य के विधानमण्डल द्वारा निर्मित कानून विरोध की मात्रा तक शून्य होगा। लेकिन यदि किसी समवर्ती विषय से सम्बद्ध राज्य के कानून के ऊपर, उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किये जाने के पश्चात् राष्ट्रपति की अनुमति मिल गई है तो वह उसी विषय पर पास किये गए संघीय कानून के ऊपर अभिभावी होगा।

विधायिनी शक्तियां

राज्य का विधानमण्डल राज्य के वित्त पर भी नियन्त्रण रखता है। इस क्षेत्र में यदि राज्य का विधानमण्डल द्विसदनात्मक है, तो विधानसभा की स्थिति सर्वोच्च

होती है। राज्य के राजस्वों पर भारित व्यय के अलावा, जिस पर राज्य का विधान मंडल वाद-विवाद कर सकता है, पर मतदान नहीं दे सकता, समस्त व्यय-प्रस्तावों का अनुदान मांगों के रूप में विधानसभा के सम्मुख उपस्थित किया जाना अनिवार्य है। विधानसभा मांग को स्वीकार या अस्वीकार अथवा उसकी राशि को कम कर सकती है। इसी प्रकार विधानसभा के अनुमोदन के बिना कोई भी कर नही लगाए जा सकते।

वित्तीय शक्तियां

नये सविधान ने केन्द्र और प्रांतों दोनो स्थानो पर सासद शासन-प्रणाली की स्थापना की है। फलत. राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रि-परिषद को विधान सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी बना दिया गया है। इस प्रकार विधानमंडल मन्त्रिपरिषद के ऊपर नियंत्रण और निरीक्षण रख सकता है तथा उसके ऊपर अविश्वास का प्रस्ताव पास करके उसे अपदस्थ कर सकता है। इसके अलावा जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं विधानमडल के सदस्य प्रश्नो, बजट के वाद-विवादो तथा 'कामरोको' प्रस्तावो के द्वारा शासन की गलतियो को जनता के सामने ला सकते हैं।

कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण

१३७. राज्य विधानमण्डल के दो सदनों के सम्बन्ध

द्विसदनात्मक विधानमडल वाले राज्य में निम्न सदन अर्थात विधान सभा को मूर्धन्य स्थान दिया गया है। उच्च सदन [अर्थात विधान परिषद] न केवल द्वितीय सदन ही है अपितु गौण सदन भी है। वित्तीय मामलों में विधान सभा को ही पूरी और अन्तिम सत्ता प्राप्त है। धन विधेयक के लिए यह आवश्यक है कि वह विधान सभामें ही पुर:स्थापित किया जाय। जब इस प्रकार का विधेयक सभा द्वारा पास कर दिया जाता है, तब वह विधान परिषद के पास भेजा जाता है। परिषद के पास भेजे जाने के १४ दिन के पश्चात वह विधेयक चाहे इस बीच में परिषद ने उसे पास किया हो या न किया हो, राज्यपाल की स्वीकृति मिल जाने पर कानून बन जाता है। इसके अलावा अनुदान मांगो पर केवल विधान सभा ही मत दे सकती है।

विधान सभा की परमेष्ठता

धन विधेयकों के सम्बन्ध में

धन विधेयको को छोडकर, अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में भी विधान सभा विधान परिषद की अपेक्षा महत्तर शक्तियों का उपभोग करती है। यदि विधान परिषद वाले

अन्य विधेयकों के सम्बन्ध में

राज्य की विधान सभा द्वारा धन विधेयक से किसी अन्य विधेयक के पास किये जाने तथा विधान परिषद के पास पहुँचाये जाने के पश्चात्;—[क] परिषद द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है, [ख] परिषद के समक्ष विधेयक रखे जानेकी तारीख से उससे विधेयक के पास किये जाये बिना तीन मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है; अथवा [ग] परिषद द्वारा विधेयक ऐसे सशोधनो सहित पास किया जाता है जिससे सभा सहमत नही होती, तो विधान सभा विधेयक को उसी या किसी आगामी सत्र में विधान परिषद द्वारा प्रस्तावित सशोधनो सहित या बिना, यदि कोई हों, पुनः पास कर सकती है और इस प्रकार पास किये गये विधेयक को विधान परिषद तक पहुचा सकती है। यदि विधान सभा द्वारा विधेयक के इस प्रकार दोबारा पास किये जाने तथा विधान परिषद तक पहुँचाये जाने के पश्चात—[क] परिषद द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है, अथवा [ख] परिषद के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से उससे पास हुए बिना एक मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है, अथवा [ग] परिषद द्वारा विधेयक ऐसे सशोधनो सहित पास किया जाता है, जिनमे सभा सहमत नही होती, तो विधेयक राज्य के विधानमडल के दोनो सदनो द्वारा उस रूप में पास किया समझा जायगा जिसमें कि वह विधान सभा द्वारा दूसरी बार पास किया गया था।

कार्यपालिका के ऊपर नियंत्रण रखने के संबंध में

राज्य की कार्यपालिका का नियन्त्रण विधान सभा के हाथ में रक्खा गया है और यदि किसी राज्य में द्वितीय सदन है तो विधान परिषद सूचना आदि प्राप्त करने के अलावा इस शक्ति में कोई हिस्सा नही रखती। सविधान ने मन्त्रिपरिषद को सामूहिक रूप से अकेले विधान सभा के प्रति उत्तरदायी बनाया है। दूसरे शब्दो में विधान परिषद नही, अपितु विधान सभा ही मन्त्रिपरिषद को अपदस्थ कर सकती है।

१३८. राज्य के विधानमण्डल की शक्तियों पर प्रतिबन्ध

कतिपय विधयकों की पुनःस्थापना के लिए राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी

नया सविधान राज्य विधानमण्डलो को उन शक्तियों की अपेक्षा कही अधिक व्यापक शक्तिया देता है जिनका प्रान्तीय विधानमण्डल १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अधीन उपभोग करते थे। साधारण परिस्थितियों के अधीन अपने निश्चित क्षेत्र में वे करीब करीब प्रभुत्व सम्पन्न हैं लेकिन उनकी सक्षमता के ऊपर लगाये गये कुछ प्रतिबन्ध हमारे सविधान की एकात्मक भावना को प्रकट करते हैं। पहली बात यह है कि कुछ विधेयक भारत के राष्ट्रपति की पूर्व मंजूरी के बिना राज्य के विधानमंडल

में प्रस्तावित नही किये जा सकते। उदाहरणार्थ यह शर्त उन विधेयकों के ऊपर लागू होती है जो राज्य के भीतर या दूसरे राज्यो के साथ वाणिज्य, व्यापार और समागम की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध आरोपित करते हैं। [अनु. ३०४]। दूसरी बात यह है कि राज्य विधानमण्डल द्वारा पास किये गये कुछ विधेयक उस समय तक प्रभावी नही हो सकते, जब तक कि वे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित किये जाने के पश्चात उसकी स्वीकृति प्राप्त न कर लें। इस कोटि में [१] राज्य द्वारा सम्पत्ति के अर्जन से सम्बद्ध विधेयक [अनु] और [२] समवर्ती मामलो से सम्बद्ध वे विधेयक,जो ससद द्वारा पास किये गये वतमान कानूनो के प्रतिकूल हो जाते हैं [अनु. २५४]। वे विधेयक भी जो ससद द्वारा समुदाय के जीवन के लिए आवश्यक घोषित की गई वस्तुओं के क्रय या विक्रय पर करारोपण करते हैं, राष्ट्रपति के विचार के लिये रक्षित किये जाने पर उसकी अनुमति बिना प्रभावी नही हो सकते [अनु. २८६]। तीसरी बात यह है कि संविधान ने ससद को राज्य सूची में के विषयो के बारे में कानून बनाने की शक्ति दी है। यदि राज्य परिषद उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो की दो तिहाई से अन्यून सख्या द्वारा समर्थित प्रस्ताव द्वारा यह घोषित करदे कि राष्ट्रीय हित मे यह आवश्यक या इष्टकर है कि ससद को राज्यसूची मे प्रगणित विषयो के ऊपर कानून बनाना चाहिए तो ससद उन विषयो के ऊपर कानून बना सकती है [अनु २४९]। इस उपबन्ध की कठोर आलोचना की गई है। आलोचको का कहना है कि यह उपबन्ध राज्यो की स्वायत्तता के ऊपर कठोर आघात है। तथापि यह स्मर्तव्य है कि राज्यसूची मे के किसी विषय को ससद के विधायी क्षेत्राधिकार को सौंप देने की राज्य परिषद की शक्ति अर्थ आपात व्यवस्थापन तक मर्यादित है। इस उपबन्ध के अधीन ससद द्वारा पास किये गये कानून केवल एक परिमित अवधि के लिए ही प्रभावी होगे। चौथी बात यह है कि जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन में है ससद भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र के अथवा उसके किसी भाग के लिए राज्य सूची में प्रगणित विषयो में से किसी के बारे में कानून बना सकती हैं [अनु २५०]। इस उपबन्ध के अधीन ससद द्वारा पास किया कानून उद्घोषणा प्रवर्तन की समाप्ति के पश्चात छ मास की कालावधि की समाप्ति पर प्रवर्तन में न रहेगा। पाचवी बात है कि संसद राज्यों में वधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की घोषणा के प्रवर्तन काल में भी राज्य सूची में प्रगणित विषयो पर कानून बना सकती है। जब तक ऐसी उदघोषणा प्रवर्तन में है राष्ट्रपति घोषणा कर सकता है

राज्य परिषद संसद को राज्य सूची में प्रगणित विषयों के ऊपर कानून बनाने की शक्ति दे सकती है

आपात काल में संसद राज्य सूची के विषयों पर भी कानून बना सकती है

कि राज्य के विधानमंडल की शक्तियां संसद के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होंगी [अनुच्छेद ३५६]।

१३९. भाग (ख) राज्य

संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग (ख) में उल्लिखित राज्यों में से प्रत्येक के राज्यक्षेत्र में वह राज्य-क्षेत्र समाविष्ट है जो संविधान के प्रारम्भ से ठीक पहले तत्स्थानी देशी राज्य में समाविष्ट था। स्वतन्त्र भारत की सबसे बडी सफलताओं में से एक इन राज्य क्षेत्रों का भारत-संघ के एकको के रूप मे आठ भाग (ख) राज्यो में और पांच भाग (ग) राज्यों में विलीनीकरण तथा भाग (क) राज्यो में अभिभावी परिस्थितियो के अनुकूल लोकतन्त्रीकरण हैं।

नये संविधान के अधीन भाग (ख) में के राज्यों के शासन-तन्त्र को भाग (क) राज्यो के शासन-तन्त्र के पद चिन्हो पर ले आया गया हैं। लेकिन इस सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है। उदाहरणार्थ इन राज्यो में से प्रत्येक का कार्यकारी प्रधान राज्यपाल नही राजप्रमुख कहलाता है। यद्यपि वह नरेश वर्ग का एक सदस्य है और उसकी उपलब्धियां एक भिन्न आधार पर निश्चित होती हैं फिर भी उसकी वैधानिक स्थिति भाग (क) के राज्यपाल की वैधानिक स्थिति के सदृश हैं। निजी थैली के रूप में राजप्रमुख को दिये गये भत्ते सम्बद्ध राज्य के राजस्वों पर भारित न होकर जैसा कि भाग [क] राज्य के राज्यपाल के वेतन व भत्तो के बारे में हैं, संघ के राजस्वो पर भारित होते हैं। संविधान ने उपबन्ध किया हैं कि इन राज्यों में से प्रत्येक का एक विधान मण्डल होगा जो राजप्रमुख और [क] मैसूर राज्य में दो सदनों व [ख] दूसरे राज्यों में एक सदन से मिल कर बनेगा। इन राज्यो में न्यायपालिका का संगठन उसी रीति से किया गया है जैसा कि भाग (क) राज्यो में है। लेकिन भाग (क) के उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतन जहां संविधान द्वारा निश्चित किये गये हैं, वहां भाग (ख) राज्यों के उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो के वेतन, भत्ते, छुट्टी और निवृत्ति-वेतन के नियम सम्बद्ध राजप्रमुख से परामर्श करने के पश्चात राष्ट्रपति द्वारा निश्चित किए जाते हैं।

राजप्रमुख

विधान मण्डल

न्यायपालिका

केन्द्र से भाग (ख) राज्यों के सम्बन्ध व्यावहारतः भाग [क] राज्यो के सम्बन्धो की तरह ही है। जहा तक समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों का प्रश्न है, उनके ऊपर उनका उन प्रतिबन्धों के अधीन रहते हुए जो

भाग (क) राज्यों के विधान मण्डलों पर लागू होते हैं, सामान्य क्षेत्राधिकार होगा। लेकिन जम्मू और काश्मीर के राज्य के बारे में विशेष उपबन्ध कर दिए गए हैं। इस राज्य के बारे में सघीय संसद की कानून बनाने की शक्ति [क] सघ सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित केवल उन विषयों तक जो प्रवेश लिखत द्वारा केन्द्र को दिए गए हैं तथा [ख] उन विषयो तक जो राज्य की सरकार की सहमति से राष्ट्रपति उल्लिखित कर दे, सीमित होगी।

केन्द्र से सम्बन्ध

(क) विधायी

जम्मू और काश्मीर

भाग [क] राजयो की वैधानिक स्थिति से भाग [ख] राज्यों की वैधानिक स्थिति में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर इन राज्यो के केन्द्र के साथ प्रशासनिक सम्बन्धों में निहित है। भाग [क] राज्यो के विपरीत भाग [ख] राज्य सघीय सरकार के साधारण निरीक्षण और नियन्त्रण मे हैं। इन राज्यो की सरकारो से यह अपेक्षा की जाती है कि ये उन विशेष निर्देशो का जो राष्ट्रपति समय समय पर प्रस्थापित कर सकता है, पालन करें। इस उपबन्ध को सविधान के प्रारम्भ होने से दसवर्षों की अवधि के लिए किया गया है लेकिन यदि संसद चाहे तो इसे घटा या बढा सकती है। इसके अलावा राष्ट्रपति को इस बात की शक्ति प्राप्त है कि वह भाग [ख] में के किसी राज्य को केन्द्र के साधारण नियन्त्रण से सम्बन्द्ध उपबन्ध से छुटकारा दे सकता है।

(ख) प्रशासनिक सम्बन्ध

कतिपय टीकाकारो ने सघीय सरकार के इस नियन्त्रण की आलोचना की है और इसे 'नई परमेष्ठता' बताया है। स्पष्टतः इसके कारण भाग [ख] राज्यों की स्वायत्तता भाग [क] राज्यो को दी गई स्वायत्तता से कम हो जाती है। लेकिन भाग [ख] राज्यों के ऊपर सघीय सरकार के इस साधारण नियन्त्रण का इस आधार पर कि ये राज्य पिछड़े हुए हैं और अधिकाशतः इनमें सुसगठित प्रशासनिक व न्यायिक प्रणाली का अभाव है एक अन्तर्कालीन उपबन्ध के रूप में औचित्य सिद्ध किया गया है। इन राज्यो के प्रशासन व सार्वजनिक जीवन-मानों को भाग [क] राज्यों के धरातल पर आने में कुछ समय लगेगा। जब तक ऐसा होता है, उनके ऊपर केन्द्रीय सरकार का थोडा नियन्त्रण होना आवश्यक है। भाग [क] राज्यों और केन्द्र के वित्तीय सम्बन्धो का नियमन करने वाले संविधान के साधारण उपबन्ध भाग [ख] राज्यों के ऊपर भी लागू होंगे। लेकिन संविधान ने

केन्द्रीय नियन्त्रण का औचित्य

(ग) वित्तीय सम्बन्ध

निश्चित किया है कि संघीय सरकार निम्न मामलो के सम्बन्ध में भाग [ख] राज्यों की सरकारों के साथ कोई भी समझौता कर सकती है [क] ऐसे राज्य में भारत सरकार द्वारा उद्गृहीत किए जाने वाले किसी कर या शुल्क का उद्ग्रहण तथा संग्रह करना और उसके आगम का वितरण करना; [ख] भारत सरकार द्वारा संविधान के अधीन उदगृहीत किये जाने वाले किसी कर या शुल्क से अथवा अन्य किन्ही स्रोतो से जो राजस्व राज्य पाता था, उसकी हानि के लिए ऐसे राज्य को केन्द्र द्वारा वित्तीय सहायता अनुदान करना और [ग] भाग [ख] राज्य द्वारा शासकों की निजी थैली के रूप मे किन्ही राशियों की करमुक्त देनगी के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार को दिया जाने वाला अंशदान।

कतिपय मामलों के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था

१४०. भाग (ग) राज्य

प्रथम अनुसूची के भाग (ग) राज्यो में पूर्वकालीन मुख्य आयुक्तों के प्रान्त (जैसे दिल्ली) और कतिपय पूर्वकालीन देशी राज्यो (जैसे हिमाचल प्रदेश और भोपाल) के राज्यक्षेत्र समाविष्ट हैं। संविधान ने निश्चित किया है कि इन राज्यों में से प्रत्येक का प्रशासन राष्ट्रपति द्वारा किया जाएगा और वह इस बारे मे अपने द्वारा नियुक्त किये जाने वाले मुख्य आयुक्त या उपराज्यपाल के अथवा पड़ौसी राज्य को सरकार के द्वारा कार्य करेगा। भाग (ग) राज्यो में लोकतन्त्रात्मक स्वशासन की स्थापना के बारे में पर्याप्त आंदोलन होता रहा है। संसद संविधान द्वारा प्रदान की गई शक्तियो के अधीन काम करती हुई एक ऐसे विधेयक पर विचार कर रही है जिसके द्वारा इन राज्यों में विधान मंडलों, मन्त्रिपरिषदो और परामर्शदाताओं का सृजन किया जा सके।

केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्र

भाग (ग) राज्यों में स्वशासन

१४१. भाग (घ) राज्य-क्षेत्र

प्रथम अनुसूची के भाग (घ) में अन्डमान और निकोबार-द्वीप समाविष्ट हैं। इनका और इस अनुसूची में अनुल्लिखित दूसरे राज्य-क्षेत्रो का प्रशासन राष्ट्रपति करता है और वह इस बारे में अपने द्वारा नियुक्त किये जाने वाले मुख्य आयुक्त या अन्य पदाधिकारी के द्वारा कार्य करता है। राष्ट्रपति ऐसे किसी राजय-क्षेत्र में शान्ति और सुशासन के लिए तथा संसद-निर्मित किसी कानून का अथवा किसी वर्तमान कानून का जो उस पर लागू है, निरसन या संशोधन करने के लिए विनियम बना सकता है।

सारांश

भारत राज्यों का संघ है। संविधान ने इन राज्यों का तीन विभिन्न कोटियों में वर्गीकरण किया है। संघीय पद्धति के अधीन ये राज्य अर्ध-स्वायत्त स्टेटस का उपभोग करते हैं लेकिन साधारण परिस्थितियों में इन्हे अपन उल्लिखित क्षेत्र के भीतर वास्तविक प्रभुत्व शक्ति प्राप्त है। आपातो में उनकी स्वायत्तता को स्थगित किया जा सकता है।

भाग (क) राज्य की कार्यपालिका-शक्ति औपचारिक रूप से राज्यपाल में निहित है। राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जाता है और पांच वर्ष तक पद धारण करता है। उसे व्यापक कार्यपालिका, विधायिनी, वित्तीय और न्यायिक शक्तियां प्राप्त हैं। लेकिन वह वैधानिक शासक है और साधारणत: अपने मंत्रियो की मंत्रणा पर कार्य करता है। यह केवल थोडी सी उल्लिखित अवस्थाओ की ही बात है, जब राज्यपाल केन्द्र का अभिकर्ता हो जाता है और अपने विवेक के अनुसार कार्य करता है।

राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मत्री-परिपद है मत्रीपरिपद सामूहिक रूप से राज्य के विधानमडल के प्रति (अथवा यदि राज्य मे द्वितीय सदन है तो केवल विधान-सभा के प्रति) उत्तरदायी है। राज्य की मत्रिपरिषद संघ की मन्त्रिपरिषद के पद चिन्हो का अनुसरण करती हुई ही कार्य करती है।

प्रत्येक राज्य में एक विधानमण्डल है। भाग (क) के छ राज्यो और भाग (ख) के एक राज्य में द्विसदनात्मक विधानमण्डल है। उच्च सदन (विधान परिषद) परोक्षत: निर्वाचित और नामनिर्देशित सदस्यो से मिल कर बनता है। विधान-सभा की तुलना मे विधान-परिपद सर्वथा शक्तिहीन है। वह स्थायी सदन है। उसकी अवधि ६ वर्ष है लेकिन प्रति दूसरे वर्ष उसके तिहाई सदस्य निवृत हो जाते हैं। विधान सभा जनता का सदन है। वह वयस्क मताधिकार और सयुक्त निर्वाचकगणो के आधार पर प्रत्यक्षत. निर्वाचित होती हैं। साधारणत. राज्य-सूची में प्रगणित विषयो के ऊपर राज्य के विधान मण्डल को अपवर्जी क्षेत्राधिकार प्राप्त है लेकिन कुछ परिस्थितियो में यह क्षेत्राधिकार ससद को हस्तातरित किया जा सकता है। राज्य का विधानमण्डल [द्विसदनात्मक विधानमण्डलो वाले राज्यो मे विधान-सभा] राज्य के वित्तों को नियन्त्रित करती है और मंत्रि-परिपद के कार्य का निरीक्षण करती है।

भाग [ख] राज्य का प्रशासन साधारणत: भाग [क] राजय के प्रशासन का तत्स्थानी है परन्तु कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है। भाग [ख] राज्य में राज्यपाल के स्थान पर राजप्रमुख होता है। चूंकि इनमें से अधिकाश राज्य पिछड़े हुये हैं और इनमें सुसगठित प्रशासनिक व न्यायिक तंत्र का अभाव है, अत: दस वर्ष की अन्तर्कालीन अवधि के लिए केन्द्रीय सरकार को इन राज्यों के ऊपर साधारण निरीक्षण रखने

और नियंत्रण करने की शक्ति दे दी गई है। यह आशा की जाती है कि इस अवधि की समाप्ति पर इन राज्यों के प्रशासन व सार्वजनिक जीवन के मान भी भाग [क] राज्यों के धरातल पर आ जायेंगे।

भाग [ग] के राज्य केन्द्र द्वारा शासित होते हैं। राष्ट्रपति अपने द्वारा नियुक्त मुख्य आयुक्तों अथवा उप राज्यपालों के द्वारा इनका शासन करता है। संसद ऐसे उपायों पर विचार कर रही है जिनसे इन राज्यों में विधान मण्डलो, परामर्शदाताओं व मन्त्रिपरिषदों की स्थापना के द्वारा लोकतंत्रात्मक स्व-शासन को कायम किया जा सके।

———

अध्याय १७

देशी राज्य : उनका विलीनीकरण और लोकतंत्रीकरण

१४२. देशी राज्यों की पृष्ठभूमि

ब्रिटिश भारत और देशी राज्य

आज भारतमें "राज्य" शब्द भारत-सघ के अवयवी एककों के लिये प्रयुक्त होता है। लेकिन ब्रिटिश शासन काल में यह शब्द देशी नरेशो के अधीनस्थ प्रदेशो के लिए लागू होता था। देशी राज्यो की सख्या ५६२ थी। ये राज्य सम्पूर्ण देश में फले हुये थे। इनमें सारे देश का ४५ प्रतिशत क्षेत्र और उसकी कुल जन-सख्या का २६ प्रतिशत भाग आ जाता था। विस्तार, जनसख्या और शक्तियो की दृष्टि से उनमें पर्याप्त अन्तर था। "एक ओर तो हैदराबाद था, जिसकी आबादी एक करोड ६५ लाख व वार्षिक आय १० करोड रुपये थी। दूसरी ओर बाबरी था जिसकी आबादी २७ और वार्षिक आय ८० रु. थी। काठियावाड में २८३ राज्य थे। इनमें ९ राज्यो की तो आर्थिक स्थिति कुछ अच्छी थी, बाकी २७४ राज्यों की कुल वार्षिक आय १३५ लाख रुपये थी। इस राशि को २७४ शासक-परिवारों का पालन करना पड़ता था और इससे आशा की जाती थी कि यह २७४ पृथक् अर्ध-स्वतन्त्र राज्यों के प्रशासनों का संचालन करे।"

राज्यों की उत्पत्ति

देशी राज्यों की उत्पत्ति विभिन्न रीतियों से हुई। कुछ राज्य बहुत पुराने थे। उदाहरणार्थ, कूचविहार, त्रावणकोर और कोचीन का इतिहास काफी पुराना था। मैसूर, जोधपुर और उदयपुर जसे कुछ दूसरे राज्य भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के काफी पूर्व से वर्तमान थे। बहुत से राज्य मुगल-शक्ति के पतन के पश्चात् उत्पन्न हुए। ब्रिटिश शासन की जड जमने के पूर्व भारत एक

अखंड देश नहीं था अपितु स्वतन्त्र राज्यों का एक समुदाय था। जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इन राज्यों के पारस्परिक संघर्षों में हस्तक्षेप करना शुरू किया, तब उसने उनमें से बहुतों को विजय अथवा दूसरे अधिक कारगर उपायों द्वारा अपने वश में कर लिया। लेकिन ऐसे भी बहुत से राज्य बाकी बच गये जिन्हे अंग्रेजों ने प्रत्यक्षतः अपने अधीन नही किया। अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्दी फांसीसियों को भारत से बाहर करने के लिए अंग्रेजो को उनकी सद्भावना तथा सहायता की आवश्यकता थी। फलतः उन्होंने इन राज्यों से सन्धि की और उन्हे पर्याप्त स्वतन्त्रता देकर अपना 'स्वामिभक्त मित्र' बना लिया। बहुत से उन भारतीयों को जिन्होने अंग्रेजो को भारतीय उप-महाद्वीप के ऊपर अपना आधिपत्य जमाने में सहायता दी, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जागीरें प्रदान की। इस रीति से भी अनेक राज्यो की उत्पत्ति हुई। स्पष्टतः इस ढग से प्रादुर्भूत राज्य अपने अस्तित्व के लिए सीधे ईस्ट इंडिया कम्पनी के निकट ऋणी हैं।

देशी राज्यों की अधोगति

देशी राज्य अधोगति के गर्त में डूबे हुए थे। राजनीतिक दृष्टि से वे सामन्तवाद और प्रतिक्रियावाद के गढ थे। अधिकाश राज्यो के नरेश स्वेच्छाचारी की भाति शासन करते थे। राज्य के प्रशासन मे जनता की कोई आवाज नही थी और वह राजनीतिक अधिकारो से सर्वथा वंचित थी। कुछ राज्यो मे विधान मण्डल थे परन्तु उनका कार्यपालिका के ऊपर कोई नियन्त्रण नही था। त्रावनकोर कोचीन, बडौदा और ग्वालियर जैसे कुछ राज्यो का शासन प्रबन्ध न्यूनाधिक रूप से प्रगतिशील था, लेकिन उनकी सख्या बहुमत कम थी। आर्थिक दृष्टि से भी राज्य अनुन्नत थे। केवल थोडे से राज्यों को छोड कर, शेप राज्यो मे औद्योगिक विकास की पूर्ण अपेक्षा की गई थी और उनमें सिर से पैर तक सामन्ती अर्थ-व्यवस्था वर्तमान थी। किसानो की दशा बडी दयनीय थी। जमीन्दार व जागीरदार उनका निर्दयतापूर्वक शोषण और दमन करते थे। राज्यो के साधन-स्रोत अत्यन्त सीमित थे। शासक आकठ विलासिता में मग्न रहते थे। उनके विलास के उपकरण जुटाने में ही राज्यो का आर्थिक मेरुदण्ड टूट जाता था, फलतः राष्ट्र निर्माण और सामाजिक सेवा के कार्यों के लिए कोष में अत्यल्प धनराशि बच पाती थी। अधिकांश राज्यों में जनता को शिक्षा अथवा चिकित्सा सम्बन्धी सुविधायें विल्कुल प्राप्त नही थी। केवल तीन राज्यो में विश्वविद्यालय थे और डिग्री कालिज केवल तीस राज्यों में थे। राज्यो मे कुल मिला कर केवल ३ प्रतिशत जनता साक्षर थी। यह ठीक है कि इस सम्बन्ध में कुछ राज्य अपवाद स्वरूप भी थे। उदाहरणार्थ त्रावनकोर और कोचीन में, भारत में सबसे अधिक ४० प्रतिशत साक्षरता थी।

१४३. सार्वभौम सत्ता

देशी राज्य किसी भी प्रकार प्रभुत्व सम्पन्न राज्य नहीं थे। इसके विपरीत वे ब्रिटिश सम्राट की सार्वभौम सत्ता के अधीन थे। 'सार्वभौम सत्ता' शब्द की सांगोपांग व्याख्या कभी नहीं की गई लेकिन साधारण रूप से इसका आशय यह था कि देशी राज्य ब्रिटिश सम्राट् के सार्वभौमत्व के अधीन हैं और इस सार्वभौमत्व का प्रयोग भारत में सम्राट् के प्रतिनिधि वायसराय करते हैं। देशी राज्यों के सम्बन्ध में ब्रिटिश सम्राट की सार्वभौम अथवा सर्वोच्च सत्ता का १९२६ में लार्ड रीडिंग ने हैदराबाद के निजाम को लिखे गये अपने पत्र में स्पष्ट रूप से निरूपण किया था। उन्होंने लिखा था, "भारत में ब्रिटिश सम्राट् की प्रभुत्व शक्ति सर्वोच्च है और इसलिए देशी राजय का कोई भी शासक ब्रिटिश सरकार से समानता के आधार पर बातचीत करने का दावा उपस्थित नही कर सकता।"

सार्वभौम सत्ता का अभिप्राय

इसलिए सार्वभौम सत्ता का अभिप्राय था कि देशी राज्य वास्तविक आशय में राज्य नही थे। व्हीटर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय कानून में उनकी कोई स्थिति नही थी। वे अधीनस्थ अथवा रक्षित राज्य थे। वे न तो युद्ध की घोषणा कर सकते थे और न विदेशी राज्यों के साथ सीधे सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे क्योंकि उनके वैदेशिक सम्बन्ध पूर्णतः ब्रिटिश सरकार द्वारा संचालित होते थे। राज्यों को आन्तरिक क्षेत्र में भी असीमित स्वतन्त्रता प्राप्त नही होती थी। साम्राज्य, न्याय अथवा सुशासन के हितो के अन्तर्ग्रस्त होने पर सम्राट् उनके मामलों मे हस्तक्षेप कर सकते थे। ब्रिटिश सरकार देशी राज्यो के घरेलू मामलो मे जब चाहे तब हस्तक्षेप कर बैठती थी। कभी कभी वह प्रशासक नरेशो को अधिकारच्युत तक कर देती थी। उदाहरणार्थ, १८९१ में मनीपुर के सेनापति को फासी दे दी गई। १९३८ में नाभा के महाराजा को पदच्युत और गिरफ्तार किया गया। १९३६ में अलवर के शासक को विवश किया गया कि वे २४ घण्टे के भीतर ही भीतर अपना राज्य छोड़कर चले जायं। किसी राज्य के उत्तराधिकार को निश्चित करने और दत्तक-ग्रहण के सम्बन्ध में यह आवश्यक था कि सम्राट् की अनुमति प्राप्त कर ली जाये। उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मतभेद पैदा होने पर अन्तिम निर्णय सम्राट् के हाथों में रहता था। ब्रिटिश सार्वभौमत्व की अधीनता में देशी राज्यों की स्थिति गुलामों के समान ही थी।

१४४. १९३५ के अधिनियम के अधीन प्रस्तावित संघ

भारत के आधुनिक इतिहास में १९३५ के अधिनियम ने प्रथमबार राज्यों और प्रान्तों को एक अखिल भारतीय संघ के अन्तर्गत सामान्य प्रशासन के अधीन लाने का

प्रस्ताव किया। तथापि, यह निश्चित कर दिया गया था कि सघ का आविर्भाव उसी समय होगा जबकि ऐसे देशी राज्यों के शासक जिनकी जनसंख्या समस्त राज्यो की कुल जनसंख्या की आधी से अन्यून हो और जो प्रस्तावित संघीय विधानमण्डल के उच्च सदन में देशी राज्यो के लिए नियत स्थानो में से कम से कम आधे स्थानों के लिए हकदार हों. सघ में सम्मिलि होने के लिये प्रस्तुत हो जायें। राज्यो का सघ में प्रवेश ऐच्छिक था और अमुक राज्य सघ मे सम्मिलित होगा या नही, इसका निर्णय वहां के शासक के ऊपर छोड दिया गया था।

योजना की असफलता

यह योजना कार्यान्वित न हो सकी क्योंकि भारतीय लोकमत के प्रत्येक वर्ग ने जिसमे देशी नरेश भी सम्मिलित थे, इसका विरोध किया। भारतीय जनता को यह सन्देह था कि जब तक राज्यो के आन्तरिक प्रशासन का लोकतन्त्रीकरण नही हो जाता, वे सघ मे प्रतिक्रियावादी रुख ग्रहण करेंगे और ब्रिटिश साम्राजयवाद की डगमगाती हुई नौका के लिए अवलम्ब तुल्य सिद्ध होगे। कांग्रेस ने इस सम्वन्ध में राष्ट्रवादी दृष्टिकोण को फरवरी १९३८ मे पास किये गये प्रस्ताव मे स्पष्ट किया, "एक सच्चे सघ के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र एकको से मिलकर बने, ये एकक लोकतन्त्रात्मक निर्वाचन पद्धति द्वारा न्यूनाधिक रूप मे एकसी स्वतन्त्रता, नागरिक स्वाधीनता तथा प्रतिनिधित्व का उपभोग करते हो।" नरेशो ने इस योजना का इसलिये अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उन्हें भय था कि यह उन्हे सम्राट और सघीय सरकार दो स्वामियो की अधीनता मे पटक देगी।

१४५. स्वतन्त्रता के बाद देशी राज्य

भारतीय स्वतन्त्रता-अधिनियम द्वारा उत्पन्न की गई उलझन

भारतीय स्वतन्त्रता अपने साथ कई नई समस्याये लाई। इन समस्याओं में सबसे जटिल समस्या देशी राज्यो की थी। भारत सघ के साथ उनका क्या सम्बन्ध होने को था? भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने एक बडी खतरनाक स्थिति पैदा करदी थी। अधिनियम ने घोषणा की थी कि राज्यो के ऊपर जो ब्रिटिश सम्राट् की सार्वभौम सत्ता थी, वह देश की नई केन्द्रीय सत्ता को हस्तान्तरित हुए बिना ही समाप्त हो गई। इससे भयकर उलझन पैदा हो गई। औपचारिक रूप से राज्य स्वतन्त्र हो गये और उनकी वही स्थिति हो गई, जो अंग्रेजो की अधीनता में आने के पूर्व थी। कानूनी तौर से राज्य दोनों डोमिनियनों (भारत या पाकिस्तान) किसी में भी सम्मिलित होने अथवा अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करने के लिए स्वतन्त्र थे। स्पष्ट है कि

यह भारत की एकता को भग करने और उसकी नव-प्राप्त स्वतन्त्रता को भंग करने की एक चेष्टा थी।

यदि कही अधिकाश राज्य अपने उक्त अधिकार का प्रयोग कर लेते, स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर देते, तो भारत की राष्ट्रीय एकता और शक्ति को तीव्र आघात पहुचता। निसगंत. भारत इस बात के लिए तय्यार नही था कि ५०० प्रभुत्व सम्पन्न सामन्ती राज्य उसकी सीमाओ के भीतर विद्यमान रहे। ये राज्य राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से किस प्रकार भारत में मिलाये जा सकते थे ताकि भारत एक प्रभुत्व सम्पन्न लोक-तन्त्रात्मक गणराज्य का रूप धारण कर सकता ? बिना किसी रक्तपात के पारस्परिक सहयोग के द्वारा इस समस्या का समाधान किस प्रकार सम्भव था ? राज्यों से वचित भारत बिलकुल लुजपुज हो जाता।

राज्यों का भारत संघ में प्रवेश

लेकिन सरदार पटेल जैसे भारतीय नेताओ के प्रयासो और कई नरेशो की देश-भक्ति के फलस्वरूप अधिकाश राज्य भारत सघ मे सम्मिलित हो गये। त्रावणकोर और हैदराबाद जैसे कुछ अपवाद भी थे। लेकिन बाद मे इन राज्यो को भी भारत सघ मे सम्मिलित कर लिया गया, पहले को तो शान्तिपूर्ण दबाव के द्वारा और दूसरे को शक्ति द्वारा। जूनागढ के नवाब ने अपने राज्य की भूगोलिक स्थिति और जनता की इच्छाओ की उपेक्षा करते हुए उसके पाकिस्तान में सम्मिलित होने की घोषणा करदी. लेकिन जनता के दृढ सकल्प ने शासक की कुचेष्टा को निष्फल कर दिया। काश्मीर के स्थायी प्रवेश का प्रश्न अभी अनिश्चित है। लेकिन भारत ने अपने अटल निश्चय की घोषणा कर दी है कि इस प्रश्न का निर्णय राज्य की जनता ही करेगी।

भारत सघ मे राज्यो का प्रवेशमात्र तो समस्या के समाधान में पहला कदम था। ६५२ राज्यो को उसी स्थिति मे, जिसमें वे ब्रिटिश शासन की अधीनता में थे, छोड देना मूर्खतापूर्ण था। लगभग उन सबके पास ऐसे साधन स्रोतो का अभाव था जिनसे कि वे एक प्रगतिशील शासन पद्धति कायम रख सकते और भारत सघ के पूर्ण विकसित एकक बने रहते। इसलिए राज्यो को थोडे से "विराटकाय और जीने योग्य" एकको के रूप में सगठित कर देना आवश्यक था। इस लक्ष्य को विलीनीकरण की प्रक्रिया के द्वारा पूरा किया गया। मुख्य रूप से इस कार्य को तीन तरह से किया गया है।

दृढ़ीकरण (राज्यों का विलीनीकरण)

विलीनीकरण की पहली प्रक्रिया छोटे छोटे राज्यो को पडौसी प्रान्तों में मिला देने की थी। यह प्रक्रिया पहली जनवरी १९४८ को शुरू हुई जब उड़ीसा और छत्ती-

राज्यों का प्रान्तों में विलीनीकरण

सगढ़ के ३९ राज्यों को (जिनका क्षेत्रफल ५६,००० वर्गमील और आबादी ७० लाख थी) उड़ीसा और सी. पी. के प्रान्तों में सम्मिलित कर दिया गया। १९ फरवरी, १९४८ को एक कोल्हापुर छोड़कर दक्षिण के समस्त राज्यों को बम्बई प्रेसीडेंसी में मिला दिया गया। १० जून १९४८ को गुजरात के राज्य, ताल्लुके और थाने, जिनकी संख्या १५७, क्षेत्रफल १९३०० वर्गमील और आबादी २७ लाख थी, बम्बई प्रेसीडेन्सी के भाग बन गये।

राज्यों के विलीनीकरण की दूसरी प्रक्रिया यह थी कि कई बड़े बड़े राज्यों को संघों [यूनियनों] के रूप में संगठित कर दिया गया ताकि वे जीने योग्य प्रशासनिक एकक बन सकें। सबसे पहले काठियावाड़ अथवा सौराष्ट्र के राज्यों का एक संघ बनाया गया। यह अनुष्ठान १५ फरवरी १९४८ को पूरा हुआ। इस संघ में ३० राज्य शामिल हैं। इसका क्षेत्रफल ३११८८५ वर्ग मील और जनसंख्या ३५ लाख से ऊपर है। न्यूनाधिक रूप से सौराष्ट्र के ही आदर्श पर देश से दूसरे भागो में राजस्थान, मध्यभारत और पेप्सू जैसे संघों का निर्माण हो गया है।

राज्यों का संघों में विलीनीकरण

तृतीयतः कुछ राज्यो अथवा राज्य समूहो को चीफ कमिश्नरों के प्रातो [भाग-ग राज्यों] में मिला दिया गया। इन प्रान्तो का शासन-प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकारकी देख रेख में होता है। इस प्रकार शिमला पहाडी के २२ राज्यों को [जिनका क्षेत्रफल ११,२५४ वर्ग मील और जनसंख्या १०.४६ लाख थी] हिमाचल प्रदेश के रूप में संगठित किया गया। विंध्य प्रदेश, भोपाल, विलासपुर, कच्छ और मनीपुर-त्रिपुरा इसी कोटि के राज्य हैं। इनका शासन-प्रबन्ध सीधे केन्द्रीय सरकार करती है।

चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों में विलीनीकरण

स्वतन्त्रता के स्वर्णोदय के पश्चात अधिकांश राज्यों में स्वेच्छाचारिता का अन्त करने और उनकी संस्थाओं व प्रशासन का लोकतन्त्रीकरण करने के समानान्तर लक्ष्य को सिद्ध कर लिया है। नए संविधान की प्रथम अनुसूची के भाग ख में सम्मिलित राज्य-संघों अथवा राज्यों के राजप्रमुख वैधानिक शासक हो गए हैं और उनकी स्थिति भाग के राज्यों के राज्यपालों के समान ही है। मूलभूत अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं के सम्बन्ध में इन राज्यों की जनता और प्रान्तों की जनता में कोई

लोकतंत्रीकरण

भेद नही है। भाग ख राज्यों को १० वर्ष के लिये केन्द्रीय शासन की देखरेख में रखा गया है ताकि अन्तर्काल के दौरान में इनके प्रशासन का नवीनीकरण हो सके। प्रथम अनुसूची के भाग ग में जो पूर्वकालीन देशी राज्य सम्मिलित हैं, उनमें लोकतंत्र की बहुत कम उन्नति हुई है लेकिन अब इस त्रुटि को दूर करने के यथासम्भव उपाय किए जा रहे हैं।

१५ अगस्त १९४७ के पश्चात् देशी राज्यों में जो परिवर्तन हुआ है, उसे एक गौरवपूर्ण रक्तहीन क्रान्ति कहा गया है। हैदराबाद, जूनागढ़ और काश्मीर को छोड़ कर शेष देशी राज्यों के विलीनीकरण और लोकतत्रीकरण
की दोहरी प्रक्रिया बिल्कुल शान्तिपूर्वक, लगभग अलक्षित रक्तहीन क्रांति
भाव से घटित हो गई है। यह सही है कि नरेशो के सह-
योग को प्राप्त करने के लिए एक बहुत बडी कीमत देनी पडी है। इनको निजी खर्च के तौर पर कुल मिला कर लगभग आठ करोड रुपये प्रति वर्ष दिए जाते हैं। भारत जैसे गरीब देश के लिए यह व्यय भार असह्य है। नरेशो को अपनी उपाधियाँ बनाए रखने और विशेषाधिकारो का उपभोग करने की भी आज्ञा दे दी गई है। उनमें से कुछ को राजप्रमुख और उपराजप्रमुख बना दिया गया है। लेकिन अधिकाश लोगों की राय में राष्ट्रीय एकता की प्राप्ति को देखते हुए, जिसका श्रेय सरदार पटेल की दृढ़ और दूरदर्शिनी राजनीतिज्ञता को जाता है, यह उत्सर्ग अनुचित नही है।

सारांश

ब्रिटिश शासन काल में भारत दो भागों—देशी और ब्रिटिश भारत में विभाजित था। देशी भारत में ५६२ देशी राज्यों के प्रदेश सम्मिलित थे। राज्य राजनीतिक दृष्टि से बहुत पिछडे हुए थे और उनका शासन सामन्ती नरेश स्वेच्छाचारी ढंग से करते थे।

देशी राज्य किसी भी प्रकार प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य नही थे। वे ब्रिटिश सम्राट की सार्वभौम सत्ता के अधीन थे। इसका अभिप्राय यह था कि ब्रिटिश सरकार उनके वैदेशिक सम्बन्धों को पर्णतः नियन्त्रित करती थी और कभी कभी उनके घरेलू मामलों में भी टांग अडा देती थी।

जब भारत स्वतन्त्र हुआ, राज्यों ने एक कठिन और जटिल समस्या उपस्थित की। कानूनी दृष्टि से राज्य भारत या पाकिस्तान में सम्मिलित होने या स्वयं को स्वतन्त्र घोषित कर देने के लिए स्वतन्त्र थे। निसगंतः यदि कहीं बहुत से प्रभुत्व सम्पन्न राज्य बनने के अपने कानूनी अधिकार का प्रयोग कर बैठते, तो सारे देश में अव्यवस्था फैल सकती थी। यह सरदार पटेल जैसे नेताओं की राजनीतिज्ञता और नरेशों की देश

भक्ति के प्रति श्रद्धांजलि है कि भारत की एकता के ऊपर मंडराने वाला यह खतरा राज्यों के भारत-संघ में प्रवेश करने से दूर हो गया। इस कार्य को तीन तरह से पूरा किया गया। कई छोटे-छोटे राज्यो को पडोस के प्रांतों में मिला दिया गया। कुछ बड़े राज्यो के संघ बना दिए गए ताकि वे जीने योग्य प्रशासनिक एकक हो सकें। कुछ राज्यों अथवा राज्य-समूहों को चीफ कमिश्नरो के प्रांतो के रूप मे (भाग ग राज्य) केन्द्रीय सरकार के प्रशासन में ले आया गया।

राज्यो के विलीनीकरण के साथ ही साथ उनका लोकतन्त्रीकरण भी होता गया है। देशी राज्यो के स्वरूप परिवर्तन और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली भारतीय एकता को एक गौरवपूर्ण और रक्तहीन क्रांति कहा गया है।

अध्याय १८

महात्मा गांधी और उनका सन्देश

१४६. गांधी जी : राजनीतिक नेता के रूप में

आर्थर कोएस्टिलर ने अपने ग्रथ 'दि योगी एण्ड दि कमीसार' में लिखा है कि मानव-सभ्यता का भविष्य मानव-मन के पुनर्गठन पर निर्भर है। 'आज की परिस्थिति मे न तो सन्त ही हमारी रक्षा कर सकता है और न क्रांतिकारी ही। दोनो के समन्वय में विश्व का कल्याण है।' महात्मा गाधी इस समन्वय के श्रेष्ठ प्रतीक थे। वे सन्त भी थे और क्रातिकारी भी। सन्त के रूप में उनकी तुलना कृष्ण, बुद्ध, और ईसा से की जाती है। क्रातिकारी के रूप में वे वाशिंगटन, मेजिनी और लेनिन के सदृश ठहरते हैं। गाधीजी के सन्त और क्रातिकारी रूपों के समन्वय का ही यह फल है कि उन्होंने आध्यात्मिक और ऐहिक का सुन्दर मेल मिलाया तथा दोनो का एक साथ निर्वाह किया। अरनेस्ट बारकर ने गाधीजी के समन्वयशील व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे यह ठीक ही लिखा है कि "मैंने उनमें सन्त फ्रासिस को पाया, जिसने समस्त विश्व के साथ सामजस्य और विश्व की सब वस्तुओं के साथ प्रेम अनुभव करते हुए गरीबी की सादी जिन्दगी बिताने की प्रतिज्ञा कर रखी थी, मैंने उनमें सन्त थामस एक्विन्स को भी पाया, जो ससार का एक महान् विचारक और दार्शनिक हो गया है और जो बडी बडी दलीलें देने में समर्थ था तथा विचारो के सब तोड-मोडों में उन बारीकियो से भलीभाति परिचित था। इन दोनो के अलावा मैने उनमें एक व्यावहारिक मनुष्य को भी पाया, जिसके पास अपनी व्यावहारिकता को मजबूत बनाने के लिए कानून की शिक्षा भी मौजूद थी और जो अपनी कुशल सलाह से लोगो का पथ-प्रदर्शन करने के लिए पहाड की चोटी से घाटी में भी उतर कर आ सकता था।"*

सेतुरूप और समन्वयकार

महात्मा गाधी स्वभावतः धर्मप्राण व्यक्ति थे, उन्हे राजनीतिज्ञ तो आवश्यकता के कारण बनना पडा। गांधीजी का राजनेतृत्व उस विशाल प्रासाद की भांति था

* अरनेस्ट बारकरः सर्वपल्ली राधाकृष्णन द्वारा सम्पादित 'गाधी अभिनन्दन-ग्रंथ' में पृ. ४७-४८

धर्मप्राण राजनीतिज्ञ

जिसका मूल आधार धर्म हो। सर्वपल्ली राधाकृष्णन के शब्दो में "राजनीतिज्ञ लोग आम तौर पर धर्म की गहराई में नही जाते क्योंकि एक जाति का दूसरी जाति पर राजनैतिक आधिपत्य और निर्बल तथा निर्धन मनुष्यों का आर्थिक शोषण आदि जो लक्ष्य राजनीतिज्ञों के सामने रहते हैं, वे धार्मिक लक्ष्यों से स्पष्ट ही इतने भिन्न तथा असम्बद्ध हैं कि वे लोग गम्भीरता से इन पर ठीक ठीक चिन्तन कर ही नही सकते।"‡ महात्मा गांधी इस कथन के अपवाद थे। उनके लिए तो सम्पूर्ण जीवन एक और अभेद्य वस्तु था। उन्होने स्वय लिखा है, "जिसे सत्य की सर्वव्यापक विश्व-भावना का साक्षात्कार करना हो, उसे जगत के निम्नतम प्राणी को आत्मवत् प्रेम करना चाहिए और जसकी ऐसी महत्वाकांक्षा है, वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपने को पृथक् नही रख सकता। यही कारण है कि सत्य का पुजारी होने के कारण मुझे राजनीति में आना पडा है और मैं बिना तनिक भी सकोच के तथा पूर्ण नम्रता से कह सकता हू कि जो लोग यह कहते हैं कि राजनीति का धर्म से कोई सम्बन्ध नही, वे नही जानते कि धर्म का अर्थ क्या है।"† और, "मुझे ससार के नश्वर वैभव की चाह नही है, मै तो स्वर्ग के साम्राज्य अर्थात आध्यात्मिक मुक्ति के लिए प्रयत्न कर रहा हूं...... । अत: मेरी देशभक्ति भी, अनन्त शांति और स्वतन्त्रता के देश की ओर मेरी यात्रा का एक पडावमात्र है। इससे प्रकट है कि मेरे लिए धर्म से रहित राजनीति की कोई सत्ता नही। राजनीति धर्म का साधन-मात्र है। धर्म रहित राजनीति मृत्यु का जाल है क्योकि उससे आत्मा का हनन होता है।"*

राजनीति को साधारणतः गन्दा खेल माना जाता है। महात्मा गाधी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने राजनीति के क्षत्र में आध्यात्मिकता का समावेश किया। अपनी इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप महात्मा गाधी साध्य और साधन के बीच कोई विभाजक रेखा नही मानते थे। उनका कथन था कि हमें श्रेष्ठ साधनो का प्रयोग करना चाहिए। यदि हमारे साधन दूषित होंगे, तो अच्छे से अच्छे साध्य के ऊपर उनकी काली छाया का पडना आवश्यम्भावी है। गान्धी जी के अनुसार "...साधन बीज है और साध्य वृक्ष। इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है, वही सम्बन्ध साधन और साध्य में है। मैं शैतान की उपासना कर के ईश्वर-भजन का फल नहीं पा सकता।"‡

---

‡ सर्वपल्ली राधाकृष्ण गाधी अभिनन्दन ग्रथ पृ. १

† सी. एफ. एंड्रूजः महात्मा गांधी—हिज ऑन स्टोरी पृ. ३५३-५४

* " " " पृ. ३५७

‡ रामनाथ सुमन-गांधीवाणी पृ. १०४

महात्मा गान्धी ने जहाँ राजनीति को आध्यात्मिक बनाया, वहाँ यह भी स्मर्तव्य है कि उन्होंने धर्म में लौकिकता का समावेश किया। महात्मा गान्धी का धर्म साम्प्रदायिक, संकुचित और गतानुगतिक धर्म नहीं था उनका धर्म विश्वजनीन धर्म था। उनके धर्म में अर्थ व्यवस्था और राजनीति आदि प्रत्येक विषय समाविष्ट था। कहने को तो वे हिंदू धर्म में आस्था रखते थे। पर उनके हिन्दू धर्म की दृष्टि अत्यन्त उदार थी। वे विश्व के विविध धर्मों को एक दूसरे का पूरक मानते थे। उन्होंने कहा था, "मेरा हिन्दू धर्म सर्वव्यापक है। उसमें न तो किसी के प्रति द्वेष भाव है, न अवगणना समस्त धर्म एक दूसरे के साथ ओत प्रोत हैं। प्रत्येक धर्म में कई विशेषताएं हैं, किन्तु एक धर्म दूसरे धर्म से श्रेष्ठ नही। जो एक में है वह दुसरे में नही है। इसलिए एक धर्म दूसरे धर्म का पूरक है।"† महात्मा गान्धी के अनुसार वास्तविक धर्म वही है जो हमें आत्म दर्शन कराता है, ईश्वर के समीप पहुँचाता है। उनके सम्मुख विश्व के समस्त धर्म एक ही लक्ष्य तक पहुचने के विभिन्न मार्ग थे। "यदि हम एक ही लक्ष्य तक पहूँचने के लिए विभिन्न मार्गों का आश्रय लेते हैं, तो क्या हुआ ?" महात्मा गाधी धर्म शास्त्रो को उसी समय तक शिरोधार्य करने के लिए प्रस्तुत थे जब तक कि वे उनकी बुद्धि को सन्तुष्ट कर सकते थे।

महात्मा गान्धी कवि शैली की उस चिडिया [स्काईलार्क] की भाति नही थे जो पृथ्वी पर स्थित अपने नीड की सुध-बुध भूल कर अनन्त आकाश में पर फैलाए उडती रहती है, वे कवि वर्डस्वर्थ की उस चिडिया के समकक्ष थे जिसे आकाश में उडते समय भी पृथ्वी पर स्थित अपने नीड का निरन्तर ध्यान बना रहता है। दूसरे शब्दो मे वे व्यावहारिक आदर्शवादी थे। उनका मत था कि आदर्शवाद को

व्यावहारिक आदर्शवादी

यथार्थ का रूप धारण करने के लिए व्यावहारिक होना आवश्यक है। वे भावात्मक सत्य को उस समय तक बिल्कुल व्यर्थ मानते थे, जब तक कि वह व्यक्तियो के जीवन में प्रकट नही होता। उनके संतत्व ने उन्हे आदर्शवादी बनाया और समन्वय-क्षमता ने यथार्थवादी। १९२० में उन्होने अपने एक लेख में लिखा था "मै स्वप्न नही देखा करता। मैं एक व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हू। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों और महात्माओ के लिये नही है। वह जन साधारण के लिए भी है। जिस तरह से हिंसा पशुओ का जीवन सिद्धान्त है, उसी तरह अहिंसा हम मानवों का।"*

---

† हरिजन सेवक- ११-२ ३३ पृ. २

* जवाहर लाल नेहरू- राष्ट्रपिता, पृ. ४३-४४

अहिंसा के देवदूत गांधी जी के ये वचन कि "जब मेरे सामने केवल दो विकल्प रह जायेंगे-कायरता और हिंसा, तो मैं हिंसा के लिए सलाह दूंगा। इसके बजाय कि भारत कायरतापूर्वक अपने ही असम्मान का शिकार बने या बना रहे मै यह पसन्द करूंगा कि वह अपने सम्मान की रक्षा के लिये हथियार उठाए।" अथवा "ससार निरे तर्क से ही शासित नही होता। स्वयं जीवन में ही थोड़ी बहुत हिंसा अन्तर्ग्रस्त है और हमें न्यूनतम हिंसा का मार्ग चुनना है" उनके व्यावहारिक आदर्शवाद के ही द्योतक हैं। आचार्य जे बी. कृपलानी के शब्दो में महात्मा गान्धी -'इस बात को भली भाति जानते थे कि कब दृढ रहा जाए और कब झुका जाऐ, कब और किन वस्तुओ में सहयोग किया जाए तथा किन में अ-सहयोग, कब प्रहार किया जाए और कब शान्त पडा रहा जाए, कभी कभी वर्षों तक।"* महात्मा गाधी ने सत्य और अहिंसा की अपनी नीति देश के सम्मुख एक राजनीतिक शस्त्र, स्वराज्य प्राप्ति के एक प्रभावशाली और सत्वर उपाय के रूप में उपस्थित की थी। इस सम्बन्ध में उनकी स्वय अपनी साक्षी मिलती है "मैं इस मत पर अटल हू कि मैंने अहिंसा को कांग्रेस के सम्मुख एक लाभप्रद उपकरण के रूप में उपस्थित कर अच्छा ही किया। यदि मुझे उसका राजनीति में समावेश करना था, तो मेरे लिए अन्य कोई चारा ही नही था - दक्षिण अफ्रीका मे भी मैने उसे लाभप्रद उपकरण के ही रूप मे उपस्थित किया था...यदि मैं ऐसे व्यक्तियों के साथ अपने कार्य को प्रारम्भ करता, जो अहिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार करते, तो उसको मानने वाला अकेला मैं ही रह जाता। चूंकि मै स्वयं अपूर्ण हूं अतः मैंने अपूर्ण स्त्री पुरुषो के साथ अपना कार्य प्रारम्भ किया और एक अपरचित समुद्र की यात्रा की।"‡

महात्मा गान्धी ने अपने ५० वर्षों से अधिक के राजनीतिक जीवन में इस बात को भली भांति सिद्ध कर दिया कि वे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-समर के प्रवीण सेनापति थे।

प्रवीण सेनापति

प्रवीण सेनापति से यह आशा की जाती है कि वह युद्ध की प्रत्येक स्थिति को अच्छी तरह समझे और तदनुसार ही आचरण करे। क्योकि उसका एक भी गलत कदम सारे राष्ट्र को विनाश के गर्त में ढकेल सकता है। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के सेनापति होने के नाते महात्मा गान्धी इस कसौटी पर पूरी तरह खरे उतरते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् जब उन्होंने भारत के राजनीतिक जीवन में विधिवत् प्रवेश किया देश की स्थिति उस ज्वालामुखी के तुल्य थी, जो बस फूट पडने वाला ही हो। रौलट एक्ट, पंजाब हत्याकाड और खिलाफत-प्रश्न को लेकर देश में प्रचड असन्तोष के बादल घुमड़

---

* आचार्य जे. बी. कृपलानी- गान्धी, द स्टेटसमैन पृ. ६०

‡ हरिजन १२-४-१९४२

रहे थे ; यदि उस समय महात्मा गाधी असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ न करते, तो यह निश्चितप्राय था कि विप्लववादी मैदान में आ जाते और सारा देश शोणित के नद में डूब जाता। इसी प्रकार जब १९२२-२३ में स्वराजवादियों व अपरिवर्तनवादियों के बीच कौंसिल प्रवेश की समस्या पर मतभेद उठ खड़ा हुआ था, महात्मा गांधी ने स्वराजवादियो को निर्वाचनो में भाग लेने और अपरिवर्तनवादियों को रचनात्मक कार्यक्रम में जुटे रहने का परामर्श देकर राष्ट्रीय शक्तियो के सम्भाव्य विघटन को रोक दिया। पुनश्च, १९२८ मे काग्रेस के अन्दर ही जवाहर लाल और सुभाष बोस के नेतृत्व में 'इंडिपेंडेंस' लीग की स्थापना के अनन्तर देश के राजनीतिक थर्मामीटर का तापक्रम एक बार फिर ऊचा चढा। साइमन-कमीशन की असफलता के कारण देश की जनता रोषानल से प्रदीप्त होरही थी। परिणामस्वरूप विप्लववाद ज़ोर पकड रहा था। ऐसी अवस्था मे गाधी जी ने सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ कर के देश के समस्त वर्गों-तरुणो और वृद्धो, वामपक्षियो और दक्षिणपक्षियो, उदारवादियो और उग्रवादियो को कधे से कंधा मिला कर राष्ट्र-मुक्ति सघर्ष में समान रूप से सक्रिय भाग लेने वाला सिपाही बना दिया। आचार्य जे० बी० कृपलानी के अनुसार "इतनी विभिन्न विचारधाराओ और भावनाओ वाली विभिन्न शक्तियो को एक स्थान पर ला एकत्रित करना एक प्रवीण राजनीतिक कलाकार का कार्य था।"* वस्तुतः महात्मा गान्धी एक प्रवीण राजनीतिक कलाकार थे। सत्याग्रह-आदोलन साल भर तक चला। इसके उपरात उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। महात्मा गाधी ने इस बात को तुरन्त भाप लिया। फलतः जैसे ही सरकार ने कांग्रेस के साथ समझौता करने की इच्छा व्यक्त की, गान्धी जी ने उसे चट से मान लिया। गान्धी इर्विन समझौता इसी का फल था। इसी प्रकार, जब द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के कूद पडने पर लडाई भारत के समीप आती प्रतीत हुई और क्रिप्स-मिशन का कोई फल न निकला, महात्मा गान्धी ने कांग्रेस के सामने "भारत छोडो" प्रस्ताव रक्खा। विदेशी आक्रमणो से अपनी रक्षा करने में असमर्थ भारतीय जनता की असहायता को देख कर गान्धी जी विचलित हो गये थे। परिणामस्वरूप उन्होंने देश को "करो या मरो" का सदेश दिया। "यदि गान्धी जी उस समय इस प्रकार का पग न उठाते, तो भारत के राष्ट्रीय सघर्ष की अन्तिम सफलता इतनी शीघ्र और अहिंसक न होती। उचित समय पर कार्यवाही कर के उन्होने इंगलेंड को यह विश्वास दिला दिया कि अपनी स्वतंत्रता के लिए भारत सब कुछ उत्सर्ग करने को प्रस्तुत है तथा भविष्य में क्रान्तीकारी एवं विद्रोही भारत को केवल दमन और शस्त्रास्त्रों के बल से दासता मे नही रक्खा जा सकता।"†

---

* जे० बी० कृपलानी : गान्धी दि स्टेटसमैन पृ० ३८।
† जे० बी० कृपलानी : गान्धी, दि स्टेटसमैन, पृ० ५६।

महात्मा गान्धी अपनी नैतिक और अध्यात्मिक विराटता के अतिरिक्त विश्व-इतिहास के सबसे महान् क्रान्तिकारी राजनीतिक नेताओं में से एक थे। "क्रान्तिकारी नेता की प्रथम चिन्ह इस तथ्य को पहचानना है कि वह परिस्थिति जिसका उसे सामना करना पड़ रहा है, क्रान्तिकारी है, उसका विकासवाद की धीमी प्रक्रिया और शनैः-शनैवाद से परिहार नही किया जा सकता, पश्चादुक्त समधान समस्याओं को सुलझाए बिना स्थिति को और बिगाड देगा तथा क्राति को जब वह अपरिहार्यत: आती है, अधिक नृशन्स, कठोर और निर्दय व अपने रोषानल की झोंक मे बहुत सी ऐसी श्रेष्ठ वस्तुओंका बिध्वंसक बना देगा जिसके पुर्ननिर्माण के लिए एक नूतन, अथवा एक प्रति-क्रांति अथवा एक दीर्घ एव पीडापूर्ण विकास-प्रक्रिया की आवश्यकता होगी।"* क्रांति-कारी नेता के रूप में महात्मा गाधी की यह सफलता थी कि उन्होंने १९१६ में भारतीय राजनीतिक जीवन में प्रवेश करते समय देश की क्रांतिकारी परिस्थिति को ठीक ठीक पहचान लिया और उसका एक सच्चे क्रातिकारी के समान प्रत्यक्ष कार्यवाही से सामना किया यद्यपि उनकी यह प्रत्यक्ष कार्यवाही थी अहिंसात्मक थी। वस्तुत: एक ऐसी निहत्थी जनता के लिए जो आधुनिक शस्त्रास्त्रों से पूर्णत. सज्जित शक्तिशाली विदेशी साम्राज्यशाही के विरोध में खडी हो, अहिंसक असहयोग सर्वाधिक उपयुक्त प्रणाली थी। दूसरे, क्राति को एक-दो समुदाय अथवा व्यक्ति नही लाते, क्राति तो जनसाधारण का आदोलन है। हो सकता है कि आदि में जनसाधारण आदोलन से विलग रहे, लेकिन किसी न किसी स्थिति पर उसका आंदोलन में सक्रिय योगदान अपरिहार्य है। क्रांतिकारी नेता से यह अपेक्षा की जाती है कि वह आंदोलन को जनसाधारण का आंदोलन बना दे। महात्मा गाधी ने भारत में यही किया था। उन्होने भारतीय स्व-तंत्रता-आदोलन को जो उनके पूर्व मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियो का ही आंदोलन था, देश के कोटि कोटि नगे और भूखे लोक-समूह का आंदोलन बना दिया। क्रातिकारी नेताओं के सम्बन्ध में तीसरी बात यह है कि वे सदैव 'अभी या कभी नही' की भावना में काम करत हैं। उनका विचार होता है कि "यदि हम वर्तमान समाज-व्यवस्था को तुरन्त नही बदल देते, तो समाज विनाश के गर्त में जा गिरेगा।"† महात्मा गाधी ने अपने संपूर्ण राजनीतिक जीवनमें इसी 'अभी या कभी नही' की भावना में काम किया। १९२० में उन्होंने कहा था-मुझे एकवर्ष के अन्दर स्वराज चाहिए। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस बातको भलीभाति समझ सकता था कि एक वर्ष के अन्दर स्वराज को प्राप्त करने की बात पागलपन के सिवाय कुछ नही है। लेकिन फिर भी एक वर्ष के अन्दर स्वराज्य प्राप्त करने का वचन देकर महात्मा गांधी ने जनता में वह प्रखर

* आचार्य जे. बी. कृपलानी : गान्धी दि स्टेटसमैन पृ० ६४।
† आचार्य जे० बी० कृपलानीःगान्धी दस्टेटसमैन पृ० ८५।

प्राणज्वाला फूंक दी कि जनता सब कुछ भूल गई और उसने आंदोलन में इस ढंग से भाग लिया मानो उसका सम्पूर्ण जीवन ही इस स्वप्न की पूर्ति पर निर्भर हो। १९३० में उन्होंने पुनः 'अभी या कभी नहीं' का जयघोष उच्चारित किया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं अपने आश्रम को तभी वापिस लौटूंगा जब भारत स्वतंत्र हो जायेगा। इस बार वे पुनः असफल हुये। १९४२ में उन्होंने देश को फिर एक बार 'अभी या कभी नहीं' "करो या मरो' का सन्देश दिया। अन्ततः क्रांतिकारी नेता अपने सम्मुख अपने ध्येय को सर्वोच्च रखता है। वह जिस काम में भी हाथ डालता है, उसका एक मात्र उद्देश्य अपने लक्ष्य की पूर्ति होता है। गांधी जी के जीवन में इस तथ्य की स्पष्ट साक्षी मिलती है। उनका प्रत्येक कार्य उनके क्रांतिकारी जीवन लक्ष्य भारत की स्वतंत्रता से सम्बन्ध रखता था। चाहे तो हम उनका चर्खा लेलें चाहे अछूतोद्धार, चाहे स्वदेशी ले लें, चाहे ग्रामोत्थान। अपने इन समस्त कार्यकलापों में उनका एकमात्र लक्ष्य-विन्दु स्वराज की एकनिष्ठ साधना करना था। चर्खे को वे आर्थिक उत्पादन का एक आधार नहीं समझते थे, उसमें उन्हे स्वराज के दर्शन होते थे। अस्पृश्यता उनके लिये एक सामाजिक अभिशाप ही नही था, उसे वह भारत के राजनीतिक विकास के मार्ग में प्रचंड बाधा मानते थे। जब तक उसका नाश नही हो जाता, स्वराज का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नही था। उनके लिए स्वदेशी देश की अर्थ व्यवस्था को सम्हालने का उपायमात्र नही उसे वे स्वराज के सारतत्व के रूप में ग्रहण करते थे। ग्रामोत्थान को ग्रामों की शोच-नीय स्थिति सुधारने के साधनमात्र के रूप में ही नही देखते थे, वह उनके मत से आदर्श स्वराज-व्यवस्था तक पहुँचने का एक अनिवार्य सोपान था। और तो और महात्मा गांधी ने अपनी प्रार्थना सभाओ तक का जनता को अनुशासित करने और राजनीतिक शिक्षा देने के लिए प्रयोग किया। उन्होने अपनी कतिपय सर्वाधिक महत्व-पूर्ण घोषणाए प्रार्थना सभाओ में की थी।

नव-मानवता के शिल्पी

भारत के राष्ट्रीय आदोलन के नेता होने के साथ साथ महात्मा गांधी नव मानवता के शिल्पी थे। उनकी "वसुधैव कुटुम्बकम्" के पुनीत सिद्धात में अचल निष्ठा थी। वे कट्टर राष्ट्रवादी थे, पर यह भी अनुभव करते थे कि मुझे सम्पूर्ण संसार को एक संदेश देना है। उनका विश्वास था कि सच्चा राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का विरोध नहीं, प्रत्युत पूरक होता है। उनके मत से राष्ट्रवाद स्वयं एक बुराई नही है, बुराई तो संकुचितता, स्वार्थभावना और वर्जनशीलता है। वे विश्व-मानवता की वेदी पर देश का बलिदान करने के लिये सदैव प्रस्तुत रहते थे। उन्होंने कहा था, "राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मेरा विचार यह है कि मेरा देश स्वतंत्र हो जाये, लेकिन यदि आवश्यकता पड़े, तो मानव-जाति को जीवित रखने के लिये वह सारा का सारा नष्ट हो

जाये। इसमें जातीय घृणा को कोई स्थान नहीं। हमारी राष्ट्रीयता ऐसी होनी चाहिए।"† महात्मा गांधी ऐसे भारत का स्वप्न देखते थे जो कि सम्पूर्ण संसार के लिये लाभकारी हो। वे यह सहन करने के लिये प्रस्तुत नहीं थे कि भारत दूसरे राष्ट्रो के ध्वसावशेषों पर उन्नति करे। उन्हे अपने मिशन का पूरा भान था। उनका कहना था "मेरा मिशन केवल भारतीय मानवता का भ्रातृत्व नही है। मेरा मिशन केवल भारत की स्वतंत्रता नही है यद्यपि आज वह निस्सन्देह मेरे सम्पूर्ण जीवन और सम्पूर्ण समय को ले लेता है।...मै भारत की स्वतत्रता को प्राप्त करने के माध्यम से मानव-भ्रातृत्व के मिशन को साक्षात्कृत और हस्तगत करना चाहता हूँ।"* महात्मा गाधी का यह दृढ विश्वास था कि मै भारत की सेवा करने के साथ साथ सम्पूर्ण मानवता की सेवा कर रहा हूँ। उन्होने भारत के समग्र राजनीतिक आंदोलन को सत्य और अहिंसा की आत्मिक शक्ति के ऊपर आधारित किया था। उनका मत था कि जहाँ इस आदोलन ने भारत में अपनी उपयोगिता सिद्ध की, सम्पूर्ण ससार पर उनका प्रभाव पडना अवश्यम्भावी है। मैं लिखित और उच्चारित शब्द की अपेक्षा विचार शक्ति मे अधिक आस्था रखता हू। यदि इस आदोलन में जिसका मै प्रतिनिधित्व करता हूँ कुछ शक्ति है और उसे दैवी आशीर्वाद प्राप्त है, तो वह मेरी भौतिक उपस्थिति के बिना ही ससार के विभिन्न भागों में व्याप्त हो जायेगा।"‡ महात्मा गाधी को विश्व-शाति की उत्कट कामना थी और उनकी दूरदर्शी दृष्टि ने इस बात को भलीभाँति देख लिया था कि मानव-कुल की सहस्त्रों वर्ष व्यापी ऐतिहासिक जययात्रा का एकमात्र सच्चा और काम्य-लक्ष्य अन्योन्याश्रित राज्यो का विश्व सघ ही है "विशाल राज्यों का लक्ष्य पृथक स्वतत्रता नही अपितु स्वेच्छित अन्तर्निर्भरता है। ससार के उन्नतमना व्यक्ति आज एक दूसरे से लडने वाले पूर्णत: स्वतत्र राष्ट्रो की इच्छा नही करते, प्रत्युत मित्रतापूर्ण एक दूसरे पर निर्भर राज्यों का सघ चाहते हैं।"† महात्मा गाधी ने विग्रह और अशाति से जर्जरित मानवता को सत्याग्रह की अपूर्व शक्ति से दुर्धर अत्याचार और अन्याय का प्रतिकार करने की विलक्षण युक्ति प्रदान कर भविष्य के लिए एक नूतन आलोक-पथ का निर्देश किया है।

१४७. महात्मा गांधी का राजनीति-दर्शन

जब हम महात्मा गाधी के राजनीति-दर्शन के सम्बन्ध मे विचार करते है, हमें यह

---

† निर्मल कुमार बोस : सेलेक्शन्स फ्रॉम गान्धी पृ०, ४३।
* आर०के० प्रभु और यू० आर० राव: दि माइंड आफ महात्मा गान्धी, पृ० १६०।
‡ " " " पृ० १५६।
† " " " पृ० १६१।

प्रारम्भ से ही समझ लेना चाहिये कि वे शास्त्रीय अर्थों में राजनीतिक दार्शनिक नही थे। उन्होने किसी राजनीति-दर्शन का सागोपाग और तर्क-सम्मत निरूपण नही किया है। महात्मा गाधी प्रारम्भ से ही अमली सुधारक और कर्मयोगी पुरुष रहे थे। उनकी स्थिति प्राचीन काल के उन पैगम्बरों और समाज-सुधारकों की भाति थी जिन्हें रोजमर्रा की व्यावहारिक कठिनाइयो का सामना करना पड़ता था और जिन्होंने इसके लिये अपने आपको किन्ही अपरिवर्तनीय प्रणालियो में न फसा कर अपने अनुयायियो के लिये कतिपय नैतिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धात स्थिर कर दिए थे। महात्मा गाधी अपने जीवन-काल में यह बार-बार कहा करते थे कि "गाधीवाद जैसी कोई चीज मेरे दिमाग में नही है। मै कोई सम्प्रदाय-प्रवर्तक नही हू। तत्वज्ञानी होने का मैने कभी दावा भी नही किया है। मेरा यह प्रयत्न भी नही है।"* वे यह मानते थे कि 'मैने किसी नये सत्य का आविष्कार नही किया है, बल्कि सत्य को जैसा मै जानता हू उसी के अनुसार चलने का और लोगो को बताने का प्रयत्न करता हूं। हा! कतिपय प्राचीन सत्य सिद्धातो पर नया प्रकाश डालने का मै दावा अवश्य करता हू।"†

महात्मा गाधी राजनीति-दर्शन का स्वरूप

महात्मा गाधी सम्पूर्ण जीवन को एक इकाई मानते थे। उनके अनुसार जीवन को आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक आदि विविध क्षेत्रो में नही बाटा जा सकता। उनके लिए जीवन के सभी पहलू एक दूसरे के साथ जुडे हुए थे। इसलिए महात्मा गाधी का राजनीति-दर्शन उनके जीवन-दर्शन का एक भाग था। निसर्गत गाधी जी के राजनीति-दर्शन को समझने के लिए उनके जीवन-दर्शन को समझना अत्यन्त आवश्यक है

राजनीति-दर्शन जीवन-दर्शन का एक भाग

महात्मा गांधी ने एक बार श्री पोलक से कहा था, "जिन धार्मिक व्यक्तियो से मै मिला हू, उनमे से अधिकाश छद्मवेष में राजनीतिज्ञ हैं। लेकिन मै जिसने राजनीतिज्ञ का छद्मवेष धारण कर रखा है, हृदय से धार्मिक व्यक्ति हू।"‡ वस्तुत महात्मा गाधी की सम्पूर्ण राजनीतिक विचारधारा उनके धार्मिक और नैतिक विश्वासो पर आधारित है।

गांधीजी का जीवन-दर्शन

---

* रामनाथ सुमनः गाधीवाणी, पृ.२४३।

† यंग इंडिया, २५-८-२१, पृ. २६७।

‡ स्पीचेज एण्ड राइटिंग्ज आफ महात्मा गांधी (जी. ए. नेट्सन, मद्रास, १९२२) एपेंडिक्स पृ. ४०

(१) ईश्वर और आत्मा सम्बन्धी मान्यता

महात्मा गांधी का ईश्वर और आत्मा में अडिग विश्वास था। वह कहा करते थे कि जिस व्यक्ति का ईश्वर और आत्मा में विश्वास नहीं है, उसका पूर्णतम विकास असम्भव है। वे इस बात को कहते हुए कभी नहीं थकते थे कि "ईश्वर में आस्था रखे बिना कोई व्यक्ति सच्चा सत्याग्रही नही हो सकता।"* महात्मा गांधी द्वारा प्रचारित सम्पूर्ण सत्याग्रह-दर्शन इसी सिद्धांत पर आश्रित है कि आत्मा सदैव अपराजेय है और सृष्टि के अधम से अधम प्राणी में कुछ न कुछ दैवी अंश वर्तमान है जो सदय और प्रेमपूर्ण व्यवहार के द्वारा अपने उत्कृष्टतम रूप में प्रकट हो सकता है।

(२) सत्य

महात्मा गांधी की दृष्टि में सत्य और ईश्वर पर्याय शब्द थे। उनके शब्दों में "संसार सत्य की सुदृढ नींव पर ठहरा हुआ है। असत्यका अर्थ असत् अर्थात् (अभाव) 'न रहना' है और सत्य का अर्थ है सत् भाव, 'जो है'। जब असत्यका भाव अर्थात् अस्तित्व ही नही, तब उसकी विजय का तो प्रश्न ही नही उठ सकता। और सत्य का तो अर्थ ही है वह 'जो है' (जिसका अस्तित्व है) इसलिए उसका नाश नहीं हो सकता।"‡ गांधी जी सत्य का अत्यन्त विशद अर्थ करते थे। उनकी दृष्टि में सत्य का अभिप्राय था, मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य का आचरण। वे सत्य को राजनीति समवेत जीवन के समस्त क्षेत्रो में समाविष्ट मानते थे।

(३) अहिंसा

गांधी जी के अनुसार सत्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए अहिंसा साधन थी। अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है 'न मारना', परन्तु गांधी जी सत्य की भांति इसे भी अत्यन्त व्यापक रूप में ग्रहण करते थे। उनके अनुसार "जब कोई आदमी अहिंसक होने का दावा करता है, तो उससे आशा की जाती है कि वह उस आदमी पर भी क्रोध नही करेगा जिसने उसे चोट पहुँचाई हो। वह उसकी कोई बुराई नहीं चाहेगा, वह उसकी कल्याण कामना करेगा...। वह गलती करने वाले द्वारा दी जाने वाली सब प्रकार की यन्त्रणा सहन करेगा...। पूर्ण अहिंसा समस्त जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण अभाव है। इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहां तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों तक का आलिंगन करती है।"†

---

* हरिजनः जून ३.३९, पृ. १४६।

‡ सी. एफ. एंड्रूज : महात्मा गांधी - हिज़ ओन स्टोरी पृ. २२५

† रामनाथ सुमन : गांधीवाणी, पृ. ३७

ऊपर महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन के स्वरूप, जीवन-दर्शन, नैतिक और धार्मिक विश्वासों का जो संक्षिप्त विवेचन किया गया है, उससे उनके राजनीति-दर्शनके मूल-तत्वों का सुगमतापूर्वक विश्लेषण किया जा सकता है।

महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन के मूलतत्व

महात्मा गांधी के राजनीति-दर्शन की सबसे प्रमुख विशेषता उनके धार्मिक आधार में दिखाई देती है। जेफरसन की भांति महात्मा गांधी भी राजनीति को धार्मिक भित्त-भूमि पर आश्रित करना चाहते थे। उनके लिए धर्म और नैतिकता से शून्य राजनीति का कोई महत्व नही था। उनके अनुसार 'धर्महीन राजनीति में कोई चीज नही। राजनीति धर्म की अनुचरी है। धर्महीन राजनीति को एक फांसी ही समझिये। वह आत्मा का नाश कर देती है।"‡

(१) धार्मिक तथा नैतिक आधार

महात्मा जी यदि राजनीति मे भाग लेते थे तो इसलिए कि उसने हमारे जीवन को चारों ओर से ऐसा परावृत्त कर रक्खा है कि हम उससे बचकर नहीं निकल सकते। गांधी जी धर्म को किसी साम्प्रदाय विशेष से एकान्वित नही करते थे। उनका धर्म तो वह धर्म था जो सब धर्मों के मूल में विद्यमान है, जो व्यक्ति को ऊंचा उठाता है, उसे पवित्रता की शिक्षा देता है। गांधीजीका धर्म तिलक लगाने और माला फेरने वाला धर्म न होकर संसार के शोषितो, दलितो और क्षुधितों की सेवा करने वाला धर्म था।

(२) साध्य और साधन का अभेद

चूंकि महात्मा गांधी का राजनीति-दर्शन धार्मिक आधार-भूमि पर स्थित था, इसलिए उनकी राजनीति पद्धति में द्वैधता को कोई स्थान नहीं था। उनका विश्वास था कि श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों का प्रयोग आवश्यक है। वे कौटिल्य और मैकियावेली के समान अच्छे साध्यों की प्राप्ति के लिए बुरे साधनों का उपयोग ठीक नही समझते थे।

(३) व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध

महात्मा गांधी व्यक्ति और समाज में कोई विरोध न मानते थे। उनका कहना था कि मनुष्य मानव-समाज का मूल है, स्वतन्त्रता और प्रगति का मापदण्ड है। वे इस सिद्धान्त में विश्वास रखते थे कि समाज के बिना मनुष्य अपना सर्वांगीण विकास नही कर सकता। महात्मा जी के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि वह अपने ऊपर समाज के ऋण को स्वीकार करे और अपने भाइयों की सेवा द्वारा उसे चुकाने में प्रवृत्त हो।

‡ रामनाथ सुमन : गांधीवाणी पृ. २३७

महात्मा गांधी का राजनीति-दर्शन केवल कल्पना लोक की वस्तु नही है, यद्यपि वे प्लेटो के तुल्य पक्के आदर्शवादी थे और सदैव स्वराज्य का स्वप्न देखा करते थे, फिर भी उनके राजनीनि-दर्शन के व्यावहारिक होने में कोई सन्देह नही किया जा सकता। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका और भारत में अपने राजनीति दर्शन का सफलतापूर्वक उपयोग कर उसकी क्रियात्मकता भली प्रकार सिद्ध कर दी। उनके लिए प्रत्येक सिद्धान्त उस समय तक निष्प्रयोजन था जब तक कि उस पर आचरण नहीं किया जा सकता। महात्मा जी का यह दावा था कि मेरा राजनीति-दर्शन केवल कुछ लोगों के लिए न होकर सम्पूर्ण ससार के लिए है।

(४) आदर्श की व्यावहारिकता

महात्मा गाधी स्वतन्त्रता के एकनिष्ठ साधक थे। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का वास्तविक प्रयोजन जीवन का सर्वांगीण अभ्युत्थान करना है। उनकी दृष्टि में सच्ची स्वतन्त्रता में राजनीतिक, आर्थिक और नैतिक तीनों प्रकार की स्वतन्त्रताए समाविष्ट हैं। स्वतन्त्रता के इन तीनो पहलुओं का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा था, 'राजनीतिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह है कि देश पर ब्रिटिश सेनाओ का किसी भी रूप में कोई शासन न रहे। आर्थिक स्वतन्त्रता का अभिप्राय ब्रिटिश पू जीपतियो और ब्रिटिश पूंजी के साथ ही उनके प्रतिरूप भारतीय पूजीपतियो और भारतीय पूंजी से पूर्ण छुटकारा पाना है। दूसरे शब्दो में छोटे से छोटे आदमी को भी यह अनुभव करना है कि वह बड़े से बड़े आदमी के बराबर है।......नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ देश की सुरक्षा के लिए रक्खी गई सशस्त्र सेनाओ से छुटकारा पाना है। रामराज्य की मेरी कल्पना मे ब्रिटिश फौजी हुकूमत की जगह राष्ट्रीय फौजी हुकूमत को बिठा देने की कोई गुजायश नही।"* महात्मा गाधी की स्वराज्य-कल्पना अत्यन्त उदात्त थी। अपने सपनो के भारत का चित्र खीचते हुए उन्होने लिखा था, "स्वराज्य में राजा से लेकर रक तक का एक भी अग अविकसित रहे, ऐसा नही होना चाहिए। उसमें कोई किसी का शत्रु न हो, सब अपना अपना काम करें, कोई निरक्षर न रहे, उत्तरोत्तर सबके ज्ञान की वृद्धि होती जाये, सारी प्रजा को कम से कम बीमारियां हों, कोई भी दरिद्र न हो, परिश्रम करने वाले को बराबर काम मिलता रहे, उसमें जुआचोरी, मद्यपान और व्यभिचार न हो, वर्ग-विग्रह न हो, धनिक अपने धन का विवेक पूर्वक उपभोग करें......। यह नही होना चाहिए कि मुट्ठी भर धनिक मीनाकारी के महलों में रहें और हजारो अथवा लाखों लोग हवा और प्रकाश रहित कोठरियों में।"‡

(५) स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा

* रामनाथ सुमन- गाधीवाणी पृ. १८५-१८६

‡ हरिजन सेवक १८-१२-३६, पृ. ३६

महात्मा गाधी स्वभाव से ही लोकतंत्रवादी थे। उनकी लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा में तीन बातें विशेषरूप से द्रष्टव्य हैं। प्रथमतः महात्मा गान्धी केन्द्रीयकरण और लोकतंत्र को एक दूसरे का विरोधी मानते थे। उनका विश्वास था कि सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना के लिए राजकीय सत्ता का विकेन्द्रीकरण आवश्यक है। दूसरे, गाधी जी के अनुसार लोकतन्त्र और हिंसा का साथ साथ निर्वाह नहीं हो सकता। उन्होंने लिखा था, "लोकतन्त्र बलप्रवर्ती उपायों द्वारा विकसित नहीं हो सकता। लोकतंत्र की भावना बाहर से नही लादी जा सकती। वह तो भीतर से आती है।"* चूकि इगलैंड घरेलू क्षेत्र में अहिंसक पर वैदेशिक क्षेत्र में हिंसक है, अतः वह सच्चा लोकतन्त्रात्मक देश नही है। गान्धी जी का विचार था कि पश्चिमी देशों के जनतन्त्र केवल तथाकथित ही है क्योकि, "इसमें ठीक जनतन्त्र के नमूने के कुछ कीटाणु व तत्व अवश्य हैं। मगर वह सच्चे अर्थों में जनतन्त्र तभी हो सकता है जब हिंसारहित हो जायेगा और इसमें से बदअमली व खुराफात अदृश्य हो जायेंगे।"† तीसरे गान्धी जी के मतानुसर आलोचना-प्रत्यालोचना लोकतन्त्र का प्राणतत्व है। उनकी लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा में समाज के प्रत्येक सदस्य को शासन की आलोचना करने का अधिकार है।

लोकतन्त्र सम्बन्धी धारणा

महात्मा गाधी ने अपनी रचनाओ में अहिंसक राज्य की रूपरेखा पर विस्तृत प्रकाश नही डाला है। इस सम्बन्ध में वे कार्डिनल न्यूमैन की 'One step enough for me' उक्ति के उपासक थे। फिर भी हम उनके विभिन्न भाषणो, वक्तव्यो और लेखो के अनुशीलन द्वारा उनकी राज्य-सम्बन्धी धारणा का थोड़ा सा परिचय पा सकते हैं।

राज्य-सम्बन्धी धारणा

अहिंसा के देवदूत महात्मा गान्धी के लिए हिंसा के प्रतीक राज्य को विरक्ति की दृष्टि से देखना सर्वथा स्वाभाविक था। उनका विश्वास था कि राज्य की दबाव डालने की प्रवृत्ति नैतिकता की दृष्टि से घातक है क्योंकि कोई भी ऐसा कृत्य जो ऐच्छिक नही है, नैतिक नहीं कहा जा सकता। महात्मा जी के विचार से आदर्श समाज-व्यवस्था राज्य-विहीन लोकतन्त्र है। "ऐसे राज्य में प्रत्येक व्यक्ति अपना शासक है। वह अपना शासन इस तरह करता है कि अपने पड़ोसी के लिए कभी विघ्न नही बनता।"‡ गाधी जी की आदर्श समाज-व्यवस्था में ग्राम सघ तथा ग्राम-समाज दोनों ही ऐच्छिक आधार पर संगठित होगे। ऐसी समाज-व्यवस्था में राजकीय शक्ति विकेन्द्रित रहेगी।

---

* निर्मल कुमार बोस-सेलेक्शन्स फ्राम गाधी पृ. ४२

† हरिजन सेवक ३-६-३८ पृ. २२८

‡ प्रो० जी० एन० धावन द्वारा पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गान्धी में उद्धृत पृ. २६६-२६७

गान्धी जी राज्य को स्वयं ही एक साध्य न मान कर जनता की अधिकतम कल्याण-साधना का एक उपाय मानते थे। वे हीगेल की इस मान्यता के विरुद्ध थे कि राज्य मानवीय संगठन का अन्तिम लक्ष्य है, अपने में ही एक [illegible] ।तिकता अनैतिकता की भावना से ऊपर है। उनकी दृष्टि में तो राज्य जनता की कल्याण साधना के लिए बहुत से साधनो में से एक साधन था। गांधी जी बहुवादियों और अराजकतावादियों की भांति राज्य के निरंकुश प्रभुत्व-सिद्धान्त का प्रतिवाद करते थे। उनका विशुद्ध नैतिक प्राधिकार पर आधारित जनता के प्रभुत्व में विश्वास था। गांधी जी का मत था कि व्यक्ति को राज्य के आदेश उसी समय तक मानने चाहिए जब तक कि वे उचित और न्यायपूर्ण हों।

महात्मा गाधी राज्य के कार्य क्षेत्र को न्यूनतम रखने के पक्षपाती थे। उनके अनुसार स्वराज्य का अर्थ "शासन के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने का अनावरत प्रयत्न"* है। उनके मत से राज्य के अधिकाश कृत्य ऐच्छिक समुदायो द्वारा सम्पादित होने चाहिए। गान्धी जी का कहना था कि अहिंसक राज्य के लिए विदेशी आक्रमणों का सामना भी, जहा तक हो सके, अहिंसक रीति से ही करना वाछनीय है।

महात्मा गांधी और विश्वशांति

आधुनिक युग की सबसे बडी समस्या शान्ति की समस्या है। अब यह विश्वास दिन प्रति दिन बल पकडता जा रहा है कि यदि मनुष्य ने अन्तर्राष्ट्रीय झगडों को युद्ध के द्वारा सुलझाना नही त्यागा, तो सम्पूर्ण मानव-संस्कृति और मानव जाति का विनाश हो जायेगा। विश्व शाति के सम्बन्ध में गान्धी जी का विचार था कि अब तक मनुष्य ने अपनी सामूहिक समस्याओं को गलत आधार पर, हिंसा, घृणा, द्वेष और विग्रह आदि के द्वारा सुलझाने का प्रयास किया है। उनका मत था कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे वह व्यक्तिगत हो या सामाजिक हो, राजनीतिक हो या आर्थिक हो, बुराई का परिहार बुराई से नही किया जा सकता, ठीक उसी तरह से जैसे कि शैतान शैतान को नही हटा सकता। गान्धी जी कहा करते थे कि आज की अव्यवस्था का मूल कारण मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन में सामंजस्य का न होना है। उनके अनुसार विश्वशांति की समस्या का स्थायी हल तभी निकल सकता है जबकि मनुष्य के व्यक्तिगत और सामूहिक जीवनमें सन्तुलन स्थापित-हो जाये। वे नैतिक मापदण्ड जो मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का नियमन करते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी प्रयुक्त किये जाने चाहिएं। यदि व्यक्तिगत जीवन में कोई मनुष्य छल, कपट और हिंसा आदि आसुरी वृत्तियों का आश्रय लेता है, तो वह निंदा

* यंग इंडिया, (२) पृ० २६०

का पात्र माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी ऐसा ही क्यों न हो ? गान्धी जी के मत से अहिंसा और सत्य के सिद्धान्त व्यक्तिगत आचरण के ही सिद्धान्त न बन कर समुदायों और राष्ट्रों के आचरण के सिद्धान्त बनने चाहिएं।

मनु य ने अपनी युग-युग व्यापी जययात्रा में अत्याचार और अन्याय का सामना करने के लिये अब तक हिंसा और घृणा और युद्ध का ही सहारा ढूंढना सीखा है। महात्मा गाधी ने ससार को अन्याय और अत्याचार का सामना करने के लिये सत्याग्रह के रूप में एक अभिनव पद्धति का सफलतापूर्वक प्रयोग कर इसकी व्यावहारिक उपयोगिता को भली भाति सिद्ध कर दिया।

महात्मा गाधी का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कार्यक्रम भी विश्व शांति का साधक है। आर्थिक क्षेत्र में गाधी जी विकेन्द्रित उद्योगों के पक्षपाती है यदि उद्योगो का पूंजीवादी आधार पर केन्द्रीकरण होता है, तो इससे शोषण और साम्राज्यवाद बढ़ता है। यदि उद्योगों का साम्यवादी आधार पर केन्द्रीकरण किया जाता है, तो इससे नौकरशाही बढती है। ऐसी स्थिति मे गान्धी जी का विकेन्द्रीकरण-सिद्धात शाति की दृष्टि से सर्वथा युक्तिकर है। सामाजिक क्षेत्र में गान्धी जी ने ऊंच और नीच के समस्त भेदभाव हटा कर शान्ति की सराहनीय साधना की है। राजनीतिक क्षेत्र में गान्धी जी लोकतंत्र के समर्थक थे। लेकिन उनके लोकतत्र में स्थानीय स्वायत्तता का बड़ा महत्व है। सक्षेपत. 'साधनों के अत्यधिक मान, अहिंसा और सत्य के आधार पर सामूहिक और राजनीतिक जीवन में नतिकता का पुट देकर, विवादों का हल करने के लिये सत्याग्रह को अपना कर, शोषण से उन्मुक्त प्रादेशिक अर्थतंत्र तथा विकेन्द्रित उद्योगो के ऊपर अवलम्बित रचनात्मक कार्यक्रम, ग्राम पचायतों के के माध्यम से स्वस्थ और शक्तिशाली स्थानाय स्वशासन तथा सबसे बढ़ कर उपयोगी कार्य में निरत व्यक्ति व समाज के योगयुक्त जीवन के द्वारा महात्मा गाधी नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में सामंजस्य तथा संश्लेषणलाना, प्रभावशाली लोकतन्त्र की स्थापना करना और विश्वशाति की साधना करना चाहते हैं।"*

महात्मा गान्धी के राजनीति-दर्शन पर समाजवादी और साम्यवादी तुल्य वामपक्षीय आलोचकों ने यह बार बार आक्षेप किया है कि वह सुधारवादी है, प्रति-

* आचार्य जे. बी. कृपलानीः गान्धियन प्रिंसिपल्स फॉर वर्ल्डपीस, (दि हिन्दुस्तान टाइम्स,- जनवरी ८-१९५३)

क्या गान्धी जी का राजनीति-दर्शन क्रान्तिकारी है ?

क्रियावादी है और क्रान्ति का विरोधी है। गान्धी जी के राजनीति दर्शन का निष्पक्ष मूल्यांकन इस आक्षेप को निराधार सिद्ध करता है। उनके राजनीति, दर्शन के क्रान्तिकारी स्वरूप का निर्णय करने से पूर्व 'क्रान्ति' शब्द पर विचार कर लेना वांछनीय है। 'क्रान्ति' का सर्व-सम्मत अर्थ पूर्ण अथवा सत्वर परिवर्तन है। क्रान्ति के लिये यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि परिवर्तन हिंसक और रक्तिम ही हो। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में क्रान्ति का अभिप्राय यह होता है कि प्राचीन जीर्णशीर्ण मान्यताएं ध्वस्त हो जायें और उनका स्थान नूतन उच्चतर नैतिक मान्यताएं ग्रहण करें। गान्धी जी का राजनीति-दर्शन इस कसौटी पर परखे जाने पर असदिग्ध रूप से क्रान्तिकारी ठहरता है। 'यदि हम क्रान्तिकारी से किसी ऐसी वस्तु का अभिप्राय ग्रहण करे, जो जनता के दृष्टिकोण में युगान्तर लाती है, जनता की परिवर्तित मनःस्थिति और मान्यताओं का नूतन मूल्यांकन लाती है तो गाधी जी द्वारा प्रतिपादित विचार व्यापकतम अर्थों में क्रान्तिकारी हैं।"† कहा जा सकता है कि गान्धी के विचार मौलिक तो हैं नहीं, पुराने ही हैं, फिर वे क्रान्तिकारी कैसे हुये ? इस सम्बन्ध में यह स्मर्त्तव्य है कि विचारों के क्रान्तिकारी होने के लिये उनका मौलिक होना अनिवार्य नहीं है। क्रान्ति की सच्ची कसौटी विचारों द्वारा लाए गए परिवर्तन की विशेषता है। इस दृष्टि से महात्मा गान्धी ने विचार-क्षेत्र में जो क्रान्ति उत्पन्न की हैं, वह सर्वथा अभूतपूर्व है। इसका प्रभाव भारत तक ही सीमित रहने वाला नहीं है, वह दूसरे देशों को भी अपनी ओर निश्चिततः आकृष्ट करेगा। महात्मा गाधी की ससार के राजनीति-दर्शन को देन यह नहीं है कि उन्होंने किन्ही नये सत्यो का आविष्कार किया, प्रत्युत यह है कि उन्होने प्राचीन सत्यों का अपने युग की समस्याओ के समाधान में प्रयोग किया। गाधी जी के सर्वोदय तत्व-दर्शन का एक व्यावहारिक प्रयोग आचार्य विनोबा भावे के भूदान-यज्ञ आन्दोलन में दिखाई देता है। भूदान-यज्ञ-आन्दोलन ने अब तक जो सफलता प्राप्त की है, इससे उसकी भावी सम्भावनायें अत्यन्त आशापूर्ण प्रतीत होती हैं। वह देश मे एक अहिंसक क्रान्ति का पथ प्रशस्त कर रहा है। यदि उसे अपने लक्ष्य में पूर्ण सफलता मिल जाती है, तो गान्धी-दर्शन मानवता के लिये अनुपम क्रान्तिकारी सिद्ध होगा।

१४८. गांधीवाद और मार्क्सवाद : एक तुलनात्मक विवेचन

कभी-कभी यह समझा जाता है कि गाधीवाद और मार्क्सवाद में कोई आधार-

---

† १० ए.के. शेवान: गन्धीयन पोलिटिकल फिलासफी-इज इट रिवोल्यूशनरी ? वोल्यूम १० नं० १ तथा २ पृ. ३०

मूल भेद नही है, दोनों 'जुड़वाभाई' हैं, दोनों के चरम उद्देश्य एक हैं। यदि दोनों में थोड़ा सा अंतर है भी, तो वह केवल साधन-प्रणाली का है। लेकिन उसे किसी भी प्रकार आधारभूत नही कहा जा सकता। इस मत के प्रतिपादकों का कहना है कि हिंसा और अहिंसा के बीच भेद की रेखा अत्यन्त सूक्ष्म है क्योंकि महात्मा गाधी ने स्वयं यह लिखा था कि "जहा सिर्फ कायरता और हिंसा के बीच किसी एक के चुनाव की बात हो, वहां मैं हिंसा के पक्ष में राय दूंगा।"* गाधीवाद और मार्क्सवाद के सम्बन्ध में इस प्रकार का मत विभ्रम दुर्भाग्यपूर्ण है। यह ठीक है कि दोनो के आदर्श में थोड़ी सी समानता दिखाई पड़ती है और वह यह है कि दोनों ही समाज के दलितों और शोषितों के प्रति अत्यधिक सदय है, दोनों ही एक ऐसी समाज-व्यवस्था को स्थापित करना चाहते हैं जिसमें मनुष्य का मनुष्य के द्वारा शोषण न हो सके और सबको बिना किसी भेदभाव के अपने विकास की समान सुविधायें उपलब्ध हो सकें। इस सामान्य आदर्श को छोड कर दोनों में अन्य कोई समानता नही है। आवश्यक है कि दोनों के दृष्टिभेद का सही सही मूल्यांकन किया जाये। गाँधी-दर्शन के प्रकांड पडित श्री किशोरीलाल मशरूवाला ने अपनी कृति 'गाँधी एण्ड मार्क्स' में गाधीवाद और साम्यवाद के दृष्टिभेद का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लिखा है कि "गाधीवाद और साम्यवाद एक दूसरे से इतने ही भिन्न हैं जैसे कि लाल से हरा भिन्न होता है यद्यपि हम जानते हैं कि आँख के उस रोगी को जिसे रंगभेद की पहचान नही होती, दोनो समान प्रतीत हो सकते हे।"† उक्त पुस्तक की भूमिका गाधी जी के प्रमुख शिष्य आचार्य विनोबा भावे ने लिखी है। उन्होंने भी गाधीवाद और साम्यवाद के दृष्टिभेद पर ऐसा ही मत व्यक्त किया है। उनके शब्दो में "दोनों विचार-धाराए बेमेल हैं, उनका अन्तर मूलभूत है" और "दोनों एक दूसरे की कट्टर विरोधी हैं।"‡

दार्शनिक आधार

मार्क्सवाद का दार्शनिक आधार द्वंद्वात्मक भौतिकवाद(Dialectical Materialism) है। वह 'थीसिस, एन्टी थीसिस और सिन्थीसिस' की पद्धति पर आश्रित है। द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार जगत का जो कुछ कार्य-व्यापार हमें इन्द्रियगोचर होता है वह आत्मा-परमात्मा जैसी किसी चेतन सत्ता की लीला नही है। उसका विश्वास है कि भौतिक पदार्थ ही वह आदिम बीज सत्ता है जिसका रूपान्तर यह दृश्यमान जगत हैं। आचार्य नरेन्द्रदेव की शब्दावली में 'मार्क्सवादी दर्शन जड और चेतन की पृथक पृथक् स्वतन्त्र सत्ता-द्वैतवाद नही मानता, वह बतलाता है कि आदिम अवस्था से अब

* यंग इंडिया ११ अगस्त, '२० पृ. ३ :
† किशोरीलाल मशरूवालाः गांधी एण्ड मार्क्स पृ० ३८।
‡ " " " पृ० १६-१७।

तक पदार्थ का जो रूपान्तर हुआ है उसके क्रम से ही अवस्था विशेष में चेतन का प्रादुर्भाव होता है, अर्थात चेतना विकासमान पदार्थ का एक गुण है।"*

गांधीवाद इससे बिल्कुल उल्टा है। वह सृष्टि के नियन्ता परमेश्वर में और आत्मा की परमेष्ठता में आस्था रखता है। गाधी जी का कहना था कि "जो लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करना नही चाहते, वे अपने शरीर के सिवा और किसी वस्तु के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।"‡ अथवा "मेरा अपना अनुभव तो मुझे इसी ज्ञान पर ले जाता है कि जिसके नियमानुसार सारे विश्व का सचालन होता है, उस शाश्वत नियम में अटल विश्वास रखे बिना पूर्णतम जीवन सम्भव नही है। इस विश्वास से विहीन व्यक्ति तो समुद्र से अलग आ पडने वाली उस बूद के समान है जो नष्ट होकर ही रहती है।"† मार्क्सवाद जहा चेतना को पदार्थ की छाया मानता है, वहा गांधीवाद पदार्थ को चेतना की छाया मानता है। गाधी जी के अनुसार 'मूलभूत सिद्धान्त पदार्थ ही, चेतना है। जिसे हम प्राणहीन पदार्थ कहते हैं, वह भी चेतना में और चेतना के द्वारा ही अपनी सत्ता रखता है। उसकी चेतना से स्वतन्त्र किंचिदपि कोई सत्ता नही है। सृष्टि चेतना मे उदित होती है, चेतना में विद्यमान रहती है और चेतना में अदृश्य होती है।"*

इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि जहा मार्क्सवाद प्रधानतः भौतिकवादी है, वह गांधीवादी प्रधानतः अध्यात्मवादी है।

वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त

मार्क्सवादी दर्शन की एक महत्वपूर्ण मान्यता वर्ग-सघर्ष का सिद्धात है। मार्क्सवाद वर्गों का उल्लेख समाज में प्रचलित उन उत्पादन सम्बन्धो को ध्यान में रख कर करता है जिनपर समाज की आर्थिक प्रणाली आश्रित होती है। बुखारिन के शब्दो में "सामाजिक वर्ग उन व्यक्तियों का समूह हे जो समाजिक उत्पादन में एक प्रकार का कार्य करते हैं और उत्पादन के क्रम में लगे हुए दूसरे व्यक्तियों के साथ उनका सम्बन्ध भी एक सा ही होता है। यह एक सा सम्बन्ध श्रम के साधनो के सम्बन्ध में भी लागू होता है।"† मार्क्सवाद के अनुसार आधार रूप से

* आचार्य नरेन्द्रदेवः राष्ट्रीयता और समाजवाद पृ० ४४३।
‡ हरिजन सेवक १३ जून '३६ पृ०१३२।
† " २५ अप्रैल, '३६ पृ० ७६।
* *किशोरीलाल मशरूवालाः गान्धी एण्ड मार्क्स पृ. ४३-४४*
† *बुखारिनः हिस्टोरिकल मैटिरियलिज्म, आचार्य नरेन्द्र द्वारा राष्ट्रीयता और समाजवाद में उद्धृत, पृ. ४१६।*

हर समाज में दो ही वर्ग रहते हैं, एक तो वे लोग जिनका स्थान समाज में मालिकों का होता है और जो उत्पादन साधनों पर एकच्छत्र आधिपत्य का उपभोग करते हैं दूसरे वे लोग जिनका कार्य आदेश-पालन करना ही होता और जो प्रथमोक्त वर्ग द्वारा नाना प्रकार से शोषित होते हैं। इन दोनो वर्गों के हित एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं और उनमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनवरत संघर्ष जारी रहता है। मार्क्सवाद मानव विकास के सम्पूर्ण इतिहास को इसी वर्ग-संघर्ष की गाथा मानता है। प्राचीनकाल में ये विरोधी वर्ग स्वतत्र मालिक और दास के रूप में थे, मध्यकाल में सामन्तगण और कृषक दास के रूप में थे और आजकल पूजीपति व श्रमिको के रूपमें दिखाई पडते हैं। वैसे तो समाज में इन आधारभूत वर्गों के अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के वर्ग भी पाये जाते हैं परन्तु इन वर्गों के हित अन्ततोगत्वा इन्ही आधारभूत वर्गों में से किसी एक के साथ सम्बद्ध होते हैं। मार्क्सवाद उन समस्त साधनो के उपयोग का कट्टर समर्थक है जिनके द्वारा वर्ग सघर्ष को उत्तेजना मिलती है। जो कृत्य वर्ग-सघर्ष की आग पर पानी डालते हैं, मार्क्सवाद उन्हे प्रतिक्रियावादी ठहराता है।

गान्धीवाद वर्ग-सघर्ष का नही, प्रत्युत वर्ग-सामजस्य का पुजारी है। वह समाज को स्थायी रूप से दो परस्पर विरोधी वर्गों मे विभाजित नही मानता। गान्धी जी के सर्वोदय-आदर्श में पूजीपतियो और श्रमिको दोनो के हितो के सरक्षण और विकास की समान व्यवस्था है। गान्धी जी जिस रामराज्य का स्वप्न देखते थे उसमें वे राजाओं और भिखारियो दोनों के अधिकारो की रक्षा की बात कहते थे। वे ऊचे और नीचे वर्गों की समस्या का वर्णाश्रम-धर्मके द्वारा सुलझाना चाहते थे। पूजीपतियो और श्रमिकोमें समवय स्थापित करने की दृष्टि से गान्धी जी कहा करते थे, 'पूजीपतियो और श्रमिकों को एक दूसरे का पूरक बन जाना चाहिए। उन्हे एक ऐसे विशाल परिवार के समान होना चाहिए जिसमें वे एकता और सामजस्य के साथ निवास कर सके।"* उनका मत था कि "मैं किसी ऐसे समय की कल्पना नही कर सकता जिसमें एक व्यक्ति दूसरे से अधिक धनी नही होगा। लेकिन मैं ऐसे समय की कल्पना अवश्य करता हू जब अमीर आदमी गरीबो का शोषण कर अमीर बनने से घृणा कर देगे और गरीब आदमी अमीरो से घृणा करनी बन्द कर देंगे।"† महात्मा जी पूजीपतियो का नही, पूंजी-वाद का ही विध्वस चाहते थे। पूजीपतियो के लिए परामर्श था कि आपको श्रमिकों का ट्रस्टी बन जाना चाहिए अथवा आचार्य विनोबा भावे की शब्दावली में "विश्वस्त वृत्ति से काम लेना चाहिए।"

---

* यग इंडिया २० अगस्त '२५ पृ. २८५
† " २१ जुलाई '२१ पृ. २२८

गान्धीवाद और मार्क्सवाद में एक प्रधान अन्तर साधन-प्रणाली के भेद को लेकर है। मार्क्सवादी विचारकों के अनुसार यदि हमारे साध्य श्रेष्ठ हैं तो हम उनको प्राप्त करने के लिये कैसे भी साधनों का प्रयोग क्यों न करें, सब क्षम्य हैं। यही कारण है कि मार्क्सवाद के अनुयायी अपने आदर्शों की सिद्धि के लिए छल, असत्य और हिंसा आदि बुरे समझे जाने वाले उपायों का आश्रय लेना भी अवांछनीय नही समझते। वैसे तो मार्क्सवादी अपने उद्देश्य लाभ के लिए शातिपूर्ण और वैधानिक कार्यवाहियों का भी सर्वथा तिरस्कार नही करते, परन्तु उनका विश्वास है कि सत्ता-च्युत पूंजीपति वर्ग की क्राति विरोधी प्रतिक्रियावादी हलचलों को नष्ट करने के लिये किसी न किसी स्तर पर रक्तपात और हिंसा का उपयोग अवश्यम्भावी है।

साधन प्रणाली का भेद

गान्धीवाद श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिए श्रेष्ठ साधनों का पक्षपाती है। वह अहिंसा तथा सत्य का एक निष्ठ पुजारी है और अपने कट्टर से कट्टर शत्रु के प्रति भी सदय व्यवहार का समर्थन करते हैं। चूंकि गान्धीवाद की धारणा है कि सृष्टि के प्रत्येक जीव में ईश्वर का अंश है, इसलिये वह मनुष्य के हृदय-परिवर्तन में आस्था रखता है। गान्धी जी का मत था कि उनके सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का सर्वत्र सफलतापूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। वे कहा करते थे कि 'हिंसा के ऊपर किसी भी स्थायी वस्तु का निर्माण नही किया जा सकता।' *

मार्क्सवादी विद्वान लोकतन्त्र के सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हैं। उनके मत से यह एक विशुद्ध पूंजीवादी धारणा है जिसका सर्वहारा वर्ग के लिए कोई उपयोग नही है। ट्राटस्की ने लिखा था—"लोकतन्त्र एक निकम्मा और निरर्थक स्वांग है। हम सर्वहारा वर्ग के नाम में इसका प्रतिकार करते हैं। लोकतन्त्र के द्वारा शक्ति प्राप्त करने का इरादा बिल्कुल बेकार है।"† मार्क्सवाद के अनुयायी 'लोकतन्त्रात्मक केन्द्रवाद', (Democratic Centralism) के सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं। वे अपने विरोधियो को भाषण अथवा प्रेस आदि की लोकतन्त्रात्मक स्वतन्त्रताएं प्रदान करने के लिए तनिक भी प्रस्तुत नही हैं। मार्क्सवादी अपने लक्ष्यवेध की सुविधा के विचार से चुनावो में भाग भले ही ले लें पर उनकी सामान्य

लोकतन्त्र की धारणा

* यंग इण्डिया १५ नवम्बर '२८ पृ. ३८१

† एस. एन. अग्रवाल द्वारा ' गांधीज्म एण्ड कम्यूनिज्म' लेख में उद्धृत, माडर्न रिव्य नवम्बर '५२ पृष्ठ ३५८

नीति तो भूमिगत कार्यवाहियों और सशस्त्र क्रान्ति का समर्थन करने की है। स्टालिन के शब्दों में "कौन और कहाँ यह कहता है कि संसदीय संघर्ष ही मजदूरों का मुख्य संघर्ष है ? क्या इतिहास यह सिद्ध नही करता कि संसद केवल एक सहायक के रूप में हमारी क्रान्ति की साधक है और मजदूरों की समस्यायें हड़ताल व सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा ही हल हो सकती हैं ?"† मार्क्सवादी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को उस समय तक कोई महत्व नही देते जब तक कि उसके साथ आर्थिक सुरक्षा सयुक्त न हो।

महात्मा गांधी जन्मजात लोकतन्त्रवादी थे। उनका मत था कि "असली लोक-तन्त्र तो अहिंसा का ही जात होसकता है।"‡ वे लोकतन्त्रात्मक धारणाओंको व्यक्तित्व के सर्वांगीए विकास के लिए अत्यावश्यक मानते थे। उनका कहना था कि लोकतन्त्र और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के अभाव में 'रामराज्य' की स्थापना असम्भव है। गाधी जी की आदर्श समाज व्यवस्था में क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति को महतो महीयान व्यक्ति की उन्मुक्त आलोचना करने का अधिकार प्राप्त था। गाधी जी प्रत्येक मनुष्य के लिए आर्थिक सुरक्षा को बहुत आवश्यक स्वीकार करते थे, परन्तु उसकी वेदी पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत नही हैं।

केन्द्रीकरण : विकेन्द्रीकरण

मार्क्सवाद सर्वाधिकारवादी राज्य की मान्यता पर आधारित है। वह सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद का प्रतिपादन करता है। सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद में प्रशासनिक और औद्योगिक शक्तियो का अधिकाधिक केन्द्रो-न्मुखी होना सर्वथा नैसर्गिक है। मार्क्सवाद का अन्तिम आदर्श राज्य विहीन समाज की स्थापना करना है, पर इतना उच्चतः केन्द्रोन्मुखी राज्य जैसा आज रूस में देखा जा रहा है, कैसे तिरोहित हो जायगा, यह आसानी से समझ में नही आता।

गाधीवाद विकेन्द्रीकरण का प्रतिपादन करता है। गाधी जी केन्द्रीकरण और लोकतन्त्र को एक दूसरे के बिल्कुल प्रतिकूल मानते थे। उनका कहना था कि केन्द्री-करण से हिंसा और सर्वाधिकारवाद को प्रोत्साहन मिलता है। यही कारण था कि महात्मा गाधी बडे बडे उद्योगों, मशीनो और केन्द्रोन्मुखी राजसत्ता के विरोधी थे। रूस में जिस विशाल पैमाने पर औद्योगीकरण और केन्द्रीकरण हुआ, वह गाधी जी को इष्ट नही था। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा था, "जब मै रूस की ओर देखता हूं जहा औद्योगीकरण अपने सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया है, तब मुझे वहां का जीवन

† स्टालिनः प्रोब्लेम्स आफ लेनिनिज्म, पृ. २३
‡ निर्मल कुमार बसुः सेलेक्शन्स फ्राम महात्मा गांधी पृ. ४२

प्रभावित नहीं करता। बाइबिल की भाषा में यदि मनुष्य अपनी आत्मा को खोकर संसार भी प्राप्त करले, तो उसे क्या लाभ होगा।"* गांधी जी अधिक से अधिक आत्म निर्भरता और विकेन्द्रित राजसत्ता सहित ग्राम पंचायतों की स्थापना का समर्थन करते थे। उनका विश्वास था कि सर्वश्रेष्ठ शासन तो वही है जो न्यूनतम शासन करता है।

१४९. भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन को महात्मा गांधी की देन

भारतीय राष्ट्रवाद के प्रतीक

१९१९ के पश्चात से भारत के राष्ट्रवादी आदोलन का इतिहास महात्मा गाधी की जीवन-गाथा है। प्राय तीस वर्षों तक भारत के राष्ट्रवादी रगमच पर महात्मा गाधी ने अपना एकच्छत्र आधिपत्य जमाये रक्खा। इस सम्पूर्ण अवधि में वे भारतीय राष्ट्रवाद के एकमात्र सच्चे प्रतीक, प्रणेता और प्रेरक थे। उनके एक एक कृत्य और वक्तव्य में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए व्यग्रभाव से संघर्षशील भारत की आत्मा बोलती थी। उनके विद्युन्मय नेतृत्व और चुम्बकमय व्यक्तित्व ने भारत के स्वातत्र्य-सग्राम को एक नूतन दिशा दी और उसे बीसवी शताब्दी का एक महाकाव्य बना दिया। इसमे कोई सन्देह नही कि सदियो की दासता-निद्रा को त्याग अंगड़ाई लेकर उठते हुये भारतीय राष्ट्र ने महात्मा गाधी के रूप मे अपनी समस्त राष्ट्रीय आकाक्षाओ की साकार प्रतिमूर्ति प्राप्त की।

महात्मा गांधी के पूर्व भारत की राजनीति

भारत के राष्ट्रवादी आदोलन को महात्मा गाधी की जो महान देन है, उसका ठीक ठीक मूल्याकन करने के लिये उनके पूर्व की भारतीय राजनीति का सक्षिप्त विहगावलोकन अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय महात्मा गाधी दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह-समर मे विजय प्राप्त कर भारत लौटे, उस समय यहाँ दो राजनीतिक दलों-उदारवादी दल और उग्रवादी दल की तूती बोल रही थी। उदारवादी दल अपने राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए वैधानिक और शातिपूर्ण आदोलन में विश्वास रखता था। उसका राजनीतिक लक्ष्य उस प्रकार की शासन-प्रणाली को प्राप्त करना था जिसका उपभोग ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित डोमीनियन करते हैं। उग्रवादी दल ब्रिटिश शासन का कटु आलोचक था। वह अपने राजनीतिक लक्ष्य के सम्बन्ध में बिल्कुल स्पष्ट और निश्चित नहीं था। उसका 'स्वराज्य' का लक्ष्य उदारवादियों के 'स्वशासन' से बहुत भिन्न नहीं था। उग्रवादियों की साधन-प्रणाली में भी अस्पष्टता की झलक मिलती है। आचार्य कृपलानी

* हरिजन सेवक २८ जून' ३९ पृ ४३८

के शब्दों में, "वे यह अनुभव करते थे कि परिस्थिति को देखते हुये कुछ क्रांतिकारी कार्यवाही करने की आवश्यकता है, परन्तु वह क्रांतिकारी कार्यवाही क्या होनी चाहिये, इसे वे न तो जानते ही थे, न निर्धारित ही कर सकते थे ।"* संक्षेपत: महात्मा गांधी के भारतीय राजनीतिक रंगमच पर अवतरण के पूर्व देश के पास न कोई स्पष्ट कार्यक्रम था और न कोई निश्चित राजनीतिक ध्येय । राष्ट्रीय आदोलन केवल कुछ मध्यवर्गीय शिक्षित जनों तक ही सीमित था और "हमारी जनता उत्तेजना, पीडा और संशय से भरे हुए कुछ इने गिने वर्षों से नही, बल्कि पीढियो से अपना खून और पसीना बहाती आई थी और यह क्रिया भारत की रगरग में घुसती हुई इतनी गहरी पहूँच चुकी थी कि उससे हमारे सामाजिक जीवन का एक एक पहलू विषाक्त हो गया था, ठीक उसी भयंकर रोग की तरह जो फेंफडों के तन्तुओं को खा जाता है और मनुष्य का धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप से अन्त कर देता है ।"†

निर्भयता का संदेश

किसी भी संग्राम के सिपाही के लिये निर्भयता अत्यन्त आवश्यक है । भारत के महान् राजनीतिक विचारक चाणक्य और याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि लोकनायकों का सब से बडा कर्तव्य जनता को अभयदान देना है । उन देशो में जहा राष्ट्रीय सरकारें विद्यमान हैं, जनसाधारण की निर्भयता भाषण-स्वातन्त्र्य में अभिव्यक्त होती है । यदि जनता सरकार की नीति को बुरा समझती है तो, उसकी निर्भय कठ से आलोचना करती है, उसे किसी प्रकार के दड की शंका नही होती । लेकिन उन देशो मे जो पराधीनता के पाश में जकडे होते है, जनता को भाषण की अथवा सरकार की मनचाही आलोचना करने की कोई स्वतंत्रता नही होती । भारत में भी यही बात थी । यहा "सबसे प्रमुख भावन भय की थी-एक सर्वव्यापी, दु:खदायी और गला घोटने वाला भय-फौज का भय, पुलिस का भय, अफसरो का भय, दमनकारी कानूनो का भय, जमीदार के गुमाश्ते का भय, महाजन का भय और उस बेकारी तथा भूख का भय जो हर समय मुंहबाये खडी रहती थी ।"‡

महात्मा गांधी ने भय के इन बादलों को तीव्र मारुत के वेग से छिन्न-भिन्न कर दिया । उन्होंने भारतीय जनता को निर्भयता का सन्देश देते हुये घोषणा की, "वह राष्ट्र महान है जो सदा मौत को तकिया बना कर सोता है ।"* वाइकाउण्ट सेम्युअल

---

* जे० बी० कृपलानी : गांधी दि स्टेटसमैन पृ० ८

† जवाहर लाल नेहरू : राष्ट्रपिता पृ०१४ ।

‡ जवाहर लाल नेहरू राष्ट्रपिता पृ० १५-१६

* महात्मा गांधी: हिन्द स्वराज्य पृ. ७३ ।

के अनुसार गांधी जी ने भारत को, "अपनी कमर सीधी करना सिखाया, अपनी आँखें ऊपर उठाना सिखाया और सिखाया अविचल दृष्टि से परिस्थितियों का सामना करना।"* गांधीजी ने अपने निर्भय नेतृत्व से 'पूर्वीय दब्बूपन के शिकार भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिकों को जिस कठिन असिधारा-व्रत पर साहसपूर्वक चलने की प्रेरणा दी, उसमें केवल आक्रमण का ही नही, प्रत्युत आत्म-रक्षा का भी अधिकार वर्जित है।

आंदोलन का नैतिक आधार

संसार के इतिहास में इस बात का एक भी उदाहरण नही मिलता जब कि किसी राष्ट्र ने विदेशी शासन से हिंसा और रक्तपात के बिना स्वतन्त्रता हस्तगत की हो। इटली के एकीकरण, अमेरिका के स्वातन्त्र्य-युद्ध और आयरलैंड के राष्ट्रीय आंदोलन-सबसे एक ही सत्य मुखर होता है कि यदि किसी देश को विदेशी साम्राज्यशाही से मुक्ति प्राप्त करनी है, तो हिंसा और रक्तपात अपरिहार्य है। स्वय हमारे देश में तिलक जैसे उग्रवादी नेता इस बात का समर्थन करते थे कि साध्य के सम्मुख साधन नगण्य हैं। उनका कहना था कि यदि हम श्रेष्ठ आदर्शों की प्राप्ति के लिये हीन उपायो का आश्रय लेते है, तो बिल्कुल अनुचित नही है।

महात्मा गाधी इस विचार के अनुयायी नही थे। वे साध्य और साधन में अन्योन्याश्रित-सम्बन्ध मानते थे। उनका विश्वास था कि श्रेष्ठ साध्य की प्राप्ति के लिये साधन भी श्रेष्ठ होने चाहिएं। वे भारत की स्वतन्त्रता के लिए अतीव उत्सुक थे, लेकिन इसके लिए हिंसा, छल, कपट और असत्य आदि जघन्य उपायो का आश्रय लेना उन्हे कदापि इष्ट नही था। उन्होने एक बार कहा था, "मेरे जीवन-दर्शन में साध्य और साधन का अतर नही है। कुछ लोग कहते हैं कि साधन तो आखिर साधन ही हैं। मै कहूंगा कि साधन ही तो आखिर सब कुछ हैं। जैसे साधन होगे, वैसा ही साध्य होगा। हिंसक साधन हिंसक स्वराज्य देगे। वह संसार के लिये और स्वय भारत के लिए एक खतरा होगा।"‡ गांधी जी ने भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन को आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान की। उन्होंने देशभक्ति को 'पूर्ण आत्मोत्सर्ग और गहन धार्मिक उत्साह की ऊंचाई पर उठा दिया।'† गाधी जी के नैतिक दृष्टिकोण का ही, जिसका उन्होंने राजनीति में अडिग भाव से पालन किया, यह फल था कि जहा उनसे कोई

* सर्वपल्ली राधाकृष्णन: गान्धी-अभिनन्दन-ग्रंथ पृ. २२८-२९।

‡ यंग इण्डिया: २६ दिसम्बर १९२४, पृ. ४३५।

† नगेन्द्रनाथ गुप्त: गान्धी एण्ड गान्धीज्म पृ. ८।

बडी भूल हुई, उन्होंने उसे निस्संकोच भाव से सार्वजनिकतः अपनी 'हिमालय-तुल्य भूल' कह कर स्वीकार किया, दूसरों के दोषों को भी अपने शीश पर ले लेने में कभी आगा पीछा नही सोचा, वार करने से पूर्व शत्रु को सदैव चेतावनी दी और कठोर से कठोर संकट की घड़ी में भी अपने विरोधी का अपकार नहीं चाहा। उन्हें अपनी दुर्बलताओं और बुराइयों को भी शत्रु के सामने खोल कर रख देने में हिचक नही होती थी। वे ईसा और बुद्ध की भांति पाप से घृणा करते थे, पापी से नही, अन्याय से घृणा करते थे, अन्यायी से नही। उन्होने भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम के सिपाहियो को सदैव यही उपदेश दिया कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोधी बने, ब्रिटिश जाति के नही। उनका कहना था, "मै अंग्रेजी के विरुद्ध नही हूं, अंग्रेजो के विरुद्ध नही हू, सरकार के विरुद्ध नही हूं, लेकिन असत्य के विरुद्ध हूं, पाखड के विरुद्ध हूं, अन्याय के विरुद्ध हूं।"‡

भारतीय राजनीति में गाधी जी के शुभागमन के पूर्व हमारा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम केवल कुछ मध्यवर्गीय पढे-लिखे लोगों तक ही सीमित था। जन-साधारण से उसका कोई सीधा सम्पर्क नही था। भारतीय राष्ट्रवाद
की वाहन कांग्रेस अंग्रेजी पढे-लिखे व्यक्तियो की सस्था जनता का
थी। उनकी सम्पूर्ण कार्यवाही अंग्रेजी मे सचालित होती आंदोलन
थी। उसके समस्त उद्देश्य शिक्षित वर्गों के अधिकारो से
सम्बन्ध रखते थे। वह शासन के ऊंचे पदो पर भारतीयों की नियुक्ति की माग करती थी, पर भारतीयो से उसका आशय अंग्रेजीदा शिक्षित भारतीय वर्ग ही होता था। राष्ट्रवादी नेता भारत के औद्योगिक पुनरुत्थान की बात अवश्य करते थे, लेकिन इस औद्योगिक पुनरुत्थान का आर्थिक आधार क्या हो, इस सम्बन्ध में उनकी कोई स्पष्ट विचारधारा नही थी। उन्हे भारतीयो की निर्धनता का ज्ञान अवश्य था, लेकिन यह ज्ञान उन्होंने पुस्तको से प्राप्त किया था। वे "उन्नीस सौ मील लम्बे और पद्रह सौ मील चौड़े भूतल पर छाये सात लाख गावों मे जगह जगह बिखरे पडे करोड़ों अधभूखों" की ज्वलत समस्याओ और कठिनाइयो से व्यवहारतः बिल्कुल ही अपरिचित थे। सक्षेपतः "उन दिनो की सम्पूर्ण कांग्रेस राजनीति भावनामय और अयथार्थ थी।"*

महात्मा गाधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन मे भाग लेते ही उक्त सारी स्थिति को बदल डाला। वे सच्चे अर्थों में जनता के नेता थे। उनकी घुटनो तक की धोती भारत की निर्धनता की साक्षात् प्रतीक थी। उन्हें भारत की ग्राम-समस्याओं का ठीक परि-

‡ आर. के, प्रभु और यू. आर. राव: दि माइंड ऑफ महात्मा गाधी, पृ. १७५।

* जे. बी. कृपलानी: गांधी दि स्टैट्समैन पृ. ७७।

चय था। उनके गतिशील नेतृत्व में राष्ट्रीय आन्दोलन जनता का आन्दोलन बन गया। गांधी जी ने कांग्रेस के संविधान में इस प्रकार संशोधन किया जिससे वह जनता की संस्था बन सके। उनकी प्रेरणा से कांग्रेस की सारी कार्यवाही अंग्रेजी के स्थान पर हिन्दुस्तानी में होने लगी। गांधी जी ने कहा कि असली भारत तो गांवों में बसा हुआ है। उन्होंने कांग्रेस के स्वयंसेवकों को गांव-गांव जाकर काम करने का परामर्श दिया। इस तरह भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम की आवाज एक एक गांव में, एक एक घर में पहुंच गई। गांधी जी ने जनता को आन्दोलन के लक्ष्य का ज्ञान कराया। उन्होंने कहा "मेरा स्वराज्य तो गरीबों का स्वराज्य है। जीवन की आवश्यकताएं नरेशों तथा धनिकों के साथ साथ आपको भी मिलनी चाहिए।... मैं इस सम्बन्ध में गतसन्देह हूं कि स्वराज्य उस समय तक पूर्ण स्वराज्य नहीं है जब तक आपकी इन आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती।"* गांधी जी ने अपने प्राणवान् नेतृत्व से उस 'पतित, कायर और निराश जनता को जिसे अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सभी प्रमुख दल पीडित और पद दलित करते आये थे और जिसमें विरोध की शक्ति ही नहीं रह गई थी, ऐसा बना दिया जिसमें आत्म-सम्मान की भावना जाग उठी, जिसे अपने पर भरोसा होने लगा, जो अत्याचार का विरोध करने लगी और जिसमें मिल कर काम करने तथा एक बड़े हित के लिए त्याग करने की सामर्थ्य आ गई।"‡

क्रान्तिकारी आन्दोलन

महात्मा गांधी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को लोक-आन्दोलन ही नहीं बनाया, प्रत्युत उसे "क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में भी बदल दिया।†" उनसे पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन विशुद्ध वैधानिकवाद तक ही सीमित था। राष्ट्रवादी नेता प्रस्ताव पास करते थे, लेख लिखते थे, धुआंधार भाषण देते थे, कभी कभी सरकार की हलकी-फुलकी निरर्थक आलोचना भी कर बैठते थे। अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए ठोस कार्यवाही करने का उन्हें कोई विचार नहीं सूझता था। गांधी जी दूसरी धातु के बने हुए थे। उनकी "आवाज शान्त और धीमी आवाज थी, लेकिन वह जनता की चीख से ऊपर सुनाई देती थी। वह आवाज कोमल और मधुर थी, लेकिन उसमें कहीं न कहीं फौलादी स्वर छिपा हुआ था।"* गांधी जी ने जनता को सन्देश दिया कि, "यदि हम स्वतन्त्र

---

* यंग इण्डिया २६ मार्च, १९३१ पृ. ४६।

‡ जवाहर लाल नेहरू: राष्ट्रपिता पृ २८।

† कूपलैंण्ड : इण्डिया, ए रिस्टेटमेंट पृ. १२९

* जवाहर लाल नेहरू : राष्ट्रपिता, पृ. ५

स्त्री-पुरुषों की भांति रह नहीं सकते, तो हमें मरने में सन्तोष लाभ करना चाहिए।"* उनका कहना था, "स्वराज्य एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के लिए दान कदापि नहीं है। यह वह निधि है जिसे राष्ट्र के सर्वश्रेष्ठ रक्त से खरीदा जाता है।"† उन्होंने जनता से यह दो टूक बात कह दी थी कि "स्वराज्य की जययात्रा में हमें जलियांवाला बाग के हत्याकाड जैसे अन्यायों की बारम्बार आवृत्तियों के लिए तय्यार रहना चाहिए।"‡ गांधी जी की राजनीति ने अपने पूर्ववर्ती नेताओं की राजनीति से प्रयाण चिन्हित किया। उनकी राजनीति आराम की नही कष्ट की, पलायन की नही जूझने की, बात की नही, कर्म की राजनीति थी।

१५०. महात्मा गान्धी और समाज-सुधार

पृष्ठ भूमि

प्राय: पिछले एक सहस्त्र वर्षों से भारतीय समाज ऐसी अनेक भीषण सामाजिक कुरीतियो से पीडित रहा है जिन्होंने उसकी उन्नति के मार्ग में अनुल्लंघनीय रोडे अटकाये हैं। इस बीच में समय समय पर भारत-भूमि में ऐसे बहुत से समाज सुधारको का प्रादुर्भाव होता रहा है जिन्होंने इन सामाजिक कुरीतियो को मिटाने की प्राणपण से चेष्टा की। इसमे कोई सन्देह नही कि उन्हे थोडी बहुत सफलता भी मिली, पर समग्रत: सामाजिक कुरीतियों ने भारतीय जनता का पिण्ड नही छोडा। जिस समय भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई, यहाँ कन्या-वध बाल-विवाह, शिशु-हत्या, दास-प्रथा, सती प्रथा और अस्पृश्यता जैसी घातक सामाजिक कुरीतिया अपने निकृष्टतम रूप में विद्यमान थी। ब्रिटिश शासको ने हमें दो सौ वर्षों तक अपने पराधीनता पाश में जकडे रक्खा। इसके लिए हम उन्हे चाहे कितना ही पानी पी-पी कर कोसें, हमें इस बात के लिए उनका हृदय से आभार मानना ही चाहिए कि उन्होने हमारे सामाजिक जीवन का सुधार करने मे महत्वपूर्ण भाग लिया। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से भारतीयों में नूतन जागृति उत्पन्न हुई और उन्होंने सत्वर सामाजिक सुधारों की आवश्यकता का अनुभव किया। लार्ड विलियम बेंटिक ने सती-प्रथा, बाल-वध और ठगी का, लॉर्ड एलेनबरो ने दास-प्रथा का और लॉर्ड डलहौजी ने धार्मिक पूजा के स्थानो पर नरबलि का अन्त किया। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज और रामकृष्ण मिशन प्रभृति जो विविध धार्मिक आन्दोलन उठे, उनका भी भारतीय समाज सुधार के क्षेत्र में अमूल्य योगदान है। गांधी जी ने अपने शतधार

---

*यंग इण्डिया : ५ जनवरी १९२२ पृ. ५

†यंग इण्डिया : ५ जनवरी १९२२ पृ. ४

‡यंग इण्डिया : १८ फरवरी, १९२० पृ. १००

व्यक्तित्व से जहां राजनीति क्षेत्र को आलोकित किया, वहा समाज सुधार का क्षेत्र भी उनकी प्रतिमा के प्रकाश से जगमगा उठा। उनके हाथों भारतीय समाज सुधार की दीपशिखा अपने उज्ज्वलतम रूप में प्रकट हुई।

उग्र सुधारक

महात्मा गांधी ने समाज सुधार के प्रश्न को साधारण मिश्नरी की भांति नहीं, प्रत्युत उग्र सुधारक की भांति हल किया। उन्होंने जनता के मन में यह बात बैठा दी कि जिन्हें हम सामाजिक कुरीतिया कहते हैं, वे केवल सामाजिक विघ्न नही हैं, प्रत्युत राजनीतिक विघ्न हैं, जब तक हम उनका निवारण नही करते, हमारे राष्ट्रीय जीवन का कोई उत्थान नही हो सकता। उन्होंने ६ अगस्त १९२१ को यंग इण्डिया में लिखा था "मेरा समाज सुधार का कार्य मेरे राजनीतिक कार्य से किसी भी प्रकार कम या हीन नहीं था। तथ्य यह है कि जब मैंने देखा कि मेरा समाज सुधार का कार्य राजनीतिक कार्य की सहायता बिना नही चल सकता, मैंने राजनीतिक कार्य को अपने हाथ में लिया और उसी सीमा तक जहां तक उसने समाज सुधारके कार्यमे सहायता दी। मै यह स्वीकार करता हू कि मुझे समाज या इस प्रकार की अंतःशुद्धि राजनीतिक कार्य की अपेक्षा सौगुनी अधिक प्रिय है।"* गांधी जी का विश्वास था कि जितनी शीघ्र हम यह समझ लेगें कि हमारी बहुतसी सामाजिक कुरीतिया हमारी स्वराज्य यात्रा को अवरुद्ध करती हैं, उतनी ही शीघ्रता से हम अपने प्रिय लक्ष्य की ओर पग बढ़ाने में समर्थ होंगे। वे कहा करते थे कि समाज सुधार को स्वराज्य-प्राप्ति के काल तक स्थगित करना स्वराज्य का अर्थ न जानना है।

अन्तर्साम्प्रदायिक एकता

अपने सामाजिक कार्यक्रम में गांधी जी अन्तर्साम्प्रदायिक एकता की स्थापना को सबसे उपयोगी मार्ग समझते थे। देश में शांति और सुव्यवस्था के लिए साम्प्रदायिक एकता की महत्ता को जितना उन्होंने समझा था, शायद ही और किसी ने समझा हो। वे साम्प्रदायिक एकता को राजनीतिक दृष्टि से ही आवश्यक नही मानते थे। वे भारत की साम्प्रदायिक एकता को मानवता के लिए एक मिसाल बना देने के आकांक्षी थे। गांधी जी ने इस तथ्य को अच्छी तरह से हृदयंगम कर लिया था कि भारतवर्ष नाना धर्मों, जातियों और साधनाओं का देश है, जब तक उनमें परस्पर सहानुभूति और सहिष्णुता का भाव नहीं रहेगा, देश उन्नति नहीं कर सकता। गांधी जी विभिन्न धर्मों के दीर्घ मंथन और अनुभव के पश्चात इस निष्कर्ष

---

* आचार्य कृपलानी द्वारा गांधी दि स्टेट्समैन में उद्धृत, पृ. २७

पर पहुंचे थे कि, "(१) सभी धर्म सच्चे हैं, (२) सभी धर्मों में कुछ न कुछ गलती है, (३) सभी धर्म मुझे हिन्दू धर्म की भांति प्रिय हैं।"*

महात्मा गांधी की अहिर्निश यही कामना रहती थी कि उनके सपनों का भारत एक ऐसे मनोहर उपवन के तुल्य बने जिसमें विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय सुवासित पुष्पों की भांति सुरभित हों। इस आदर्श की सिद्धि के लिए उन्होंने जीवन भर कोशिश की। वे साम्प्रदायिक एकता का अर्थ हृदय की वह सच्ची एकता मानते थे जो तोड़ने से भी न टूट सके। उनके मत से इस एकता को स्थापित करने की सर्वप्रथम शर्त यह थी कि "हर एक कांग्रेसजन, चाहे वह किसी भी धर्म का क्यों न हो, अपने आप में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जरथुश्ती, यहूदी आदि का, याने एक शब्द में हर एक हिन्दू और गैर हिन्दू का प्रतिनिधि बने।... इसके लिये हर एक कांग्रेसजन को दूसरे धर्म के व्यक्तियों के साथ व्यक्तिगत मित्रता कायम करनी और बढ़ानी चाहिए। उसे दूसरे धर्मों के प्रति उतना ही आदर रखना चाहिए जितना कि अपने धर्म के प्रति।"† भारतीय राजनीति में जिस विषाक्त साम्प्रदायिक त्रिभुज का विकास हुआ, उसके लिए गांधी जी मुख्य रूप से ब्रिटिश शासकों को ही दोषी ठहराते थे।

महात्मा गांधी भारत वर्ष को एक पक्षी तथा हिन्दुओं और मुसलमानों को उसके दो पंख बताया करते थे। '२४ में उन्होंने कहा था, "आज ये दोनों पंख अपंग हो गये हैं और पक्षी आकाश में उड़ कर स्वतन्त्रता का आरोग्यप्रद व शुद्ध हवा लेने में असमर्थ है"‡ स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय जब सम्पूर्ण भारत साम्प्रदायिक उपद्रवों की ज्वाला से भस्मीभूत होने लगा था, गांधी जी को मर्मांतक वेदना पहुँची थी और उन्होंने अपनी ढलती आयु और स्वास्थ्य की ओर बिलकुल ध्यान न देते हुए उपद्रव-ग्रस्त क्षेत्रों (बिहार और नोआखाली) की पैदल यात्रा की तथा साम्प्रदायिक आग पर पानी डालने का प्रयास किया। गांधी जी ने अपने जीवन का अन्तिम उपवास (१३ जनवरी '४८ से १८ जनवरी '४८ तक) साम्प्रदायिक एकता की स्थापना के ही लिए किया था। यह उनके सार्वभौम व्यक्तित्वका ही फल था कि कांग्रेस देशमें धर्म निरपेक्ष प्रजातन्त्र की नींव डालने में समर्थ हुई।

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता-निवारण के लिये जो प्रचण्ड संघर्ष किया, वह उनके राष्ट्र-निर्माण सम्बन्धी सबसे प्रभावशाली कृत्यों में से एक है। गांधी जी अस्पृश्यता

---

*निर्मल कुमार बसु : सेलेक्शन्स फ्राम गांधी पृ. २२६-२२७
†रामनाथ सुमन : गांधी-वाणी पृ. २२८
‡हिन्दी नवजीवन २-११-१९२४, पृ. ९५

अस्पृश्यता निवारण

को हिन्दू धर्म का कोढ़ मानते थे। उनकी कट्टरवादियों को चेतावनी थी कि यदि अछूतों के साथ होने वाले अन्यायोंका प्रतिकार न किया गया, तो हिन्दुओं का नाश हो जायगा। भारत के अछूतों को जिस सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता था, उन्हें निम्न से निम्न कार्य करने के लिये विवश होना पड़ता था, उन्हें मन्दिर-प्रवेश, कुएं से पानी भरने और सार्वजनिक स्थानों के स्वच्छंद प्रयोग जैसे मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया गया था, यह सब गांधी जी सहन नहीं कर सकते थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से अस्पृश्यता आर्यों की भारत-विजय का सामाजिक फल था। आर्यों ने इस देश पर विजय प्राप्त करने के बाद बहुत से विजितो को अपने गुट में मिला लिया। विजितो मेंसे जो सबसे पिछड़े हुए लोग थे, वे अछूत रह गये।* कालान्तर में अस्पृश्यता प्रथा को धार्मिक सम्मोदन प्राप्त हो गया। बुद्ध रामानुज, रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य तुकाराम और दयानन्द, प्रभृति लोकनायकों ने समय समय पर इस प्रथा को पानी कर देने की चेष्टा की, पर वे अपने लक्ष्य में पूर्ण सफल न हो सके।

महात्मा गाधी अस्पृश्यता-निवारण के लिये कितने आतुर थे, यह इस तथ्य से जाता जा सकता है कि यद्यपि धर्म उनके लिये सब कुछ था, फिर भी वे यह कहते हुए नही थकते थे कि यदि कोई यह सिद्ध कर दे कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म का एक अनिवार्य अग है, तो मैं हिन्दू धर्म को त्याग दूंगा। वे कहा करते थे कि यदि भारत दूसरे देशो के द्वारा पद दलित किया जा रहा है, तो इसका मूल कारण यही है कि भारत ने अछूतों के रूप मे अपनी पचमाश जनसख्या को पद-दलित कर रक्खा है। जब तक हम उन्हें उनकी हीनावस्था से मुक्त नहीं करते, स्वतन्त्रता असम्भव हैं। उन्हें यह कहते हुए सकोच नहीं होता था कि "यदि हिन्दू धर्म ने अस्पृश्यता को नहीं त्यागा, तो उसका मर जाना ही श्रेयस्कर है।"‡ दलित जनों के प्रति उनके हृदय में जो प्रगाढ प्रेम था निम्न उद्धरण उसका एक परिचय देता है, "मै फिर से जन्म लेना नहीं चाहता, लेकिन यदि मुझे फिर से जन्म लेना ही पड़े, तो मैं एक अछूत के रूप में जन्म ग्रहण करना चाहूँगा ताकि मैं उनके क्लेशों, कष्टों तथा अपमानों में भाग ले सकूं और इस दयनीय परिस्थितियों से स्वयं अपने को तथा उन्हें उबार सकूं। इसलिये मेरी प्रार्थना है कि यदि मुझे फिर से जन्म ग्रहण करना पड़े तो मुझे ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य अथवा शूद्र के रूप में नहीं, प्रत्युत अति शूद्र के रूप में जन्म मिलना चाहिये।"†

* ए. आर. देसाई: सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पृ. २४१।

‡ यंग इंडिया, २५ मई,' २१-पृ. १६५।

† यंग इंडिया, ४ मई, '२१, पृ. १४४।

महात्मा गांधी ने अछूतों के लिये हरिजन अर्थात् ईश्वर के जन शब्द गढ़ा था। १६३२ में जब भारत का नया संविधान बनाते समय ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने निर्वाचन के लिये अछूतों को हिन्दुओं से अलग करने का कुचक्र रचा, गांधी जी ने अपने प्राणों की बाजी लगा कर पूना पैक्ट द्वारा ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के इस दुष्प्रयत्न को विफल कर दिया। गाधी जी द्वारा संस्थापित हरिजन सेवक सघ ने अछूतोद्धार की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया है। हर्ष की बात है कि भारत के नये सविधान ने अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है।

नारी-जागृति

अर्वाचीन भारतीय इतिहास की एक द्रष्टव्य विशेषता नारियों की अभूतपूर्व जागृति है। ब्रिटिश पूर्व भारत में सुल्तान रजिया, चाद बीबी, नूर जहा और अहिल्याबाई होल्कर आदि कुछ इनी-गिनी राजमहिलाओको छोड कर स्त्रियां सामान्यत घर की चहारदीवारी में ही बन्द रहती थी। आज भारतीय नारियो में जिस अभूतपूर्व जागरण के दर्शन हो रहे हैं, वे महस्रो की संख्या मे राजनीति म भाग लेती उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करती और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने पुरुष भाइयों के साथ कधे मे कधा मिला कर आगे बढती दिखाई दे रही हैं, उसका बहुत कुछ श्रेय महात्मा गान्धी को प्राप्त है।

महात्मा गांधी ने भारतीय नारियो की उन्नति के लिये अकथनीय चेष्टा की। नारी जाति के प्रति उनके हृदय में अपार सम्मान की भावना थी। वे नारी को पुरुष की दासी नही, साथिन मानते थे। उनका विश्वास था कि मानसिक क्षमताओं की दृष्टि से नारी नर मे किसी प्रकार घट कर नही है। वे इस बात का दृढ़ समर्थन करते थे कि नारी को नर के समान ही आत्मविकास के समस्त अवसर सुलभ होने चाहिए। उनके अनुसार, "स्त्री अहिंसा की मूर्ति है। अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम और उसका अर्थ है कष्ट सहने की अनन्त शक्ति। पुरुष की माता, स्त्री से बढ कर इस शक्ति का परिचय अधिक से अधिक मात्रा में और कहा मिल सकता है?... युद्ध में फसी हुई दुनिया आज शाति का अमृतपान करने के लिए तडप रही है। यह शाति-कला सिखाने का काम भगवान् ने स्त्री को ही दिया है।"*

महात्मा गांधी चाहते थे कि स्त्रिया स्वयं को अबला कहना छोड़ दें और अपने सम्मुख सीता, मैत्रेयी, अनुसुइया तथा दमयन्ती जैसी उदात्त सतियो के महनीय आदर्श रक्खें। उनका कहना था कि "वह स्त्री जो दृढतापूर्वक यह मानती है कि उसकी पवित्रता ही उसके सतीत्व की सर्वोच्च ढाल है, उसका शील सर्वथा सुरक्षित है। ऐसी स्त्री के तेजमात्र से पर पुरुष चौंधिया जाएगा और लाज से गड जाएगा।"‡ गांधी

* हरिजन सेवक, २४-२-४० पृ. १६।
‡ „ „ १३-३-४२ पृ. ६७।

जी नारी जाति को जिस अपार श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे, निम्न अवतरण उस पर समुचित प्रकाश डालता है, "स्त्री को अबला कहना उसका अपमान करना है । उसे अबला कह कर पुरुष उसके साथ अन्याय करता है । यदि शक्ति का अभिप्राय पाशविक शक्ति है, तो निस्सन्देह पुरुष की अपेक्षा स्त्री में कम पशुता है । परन्तु यदि इसका अभिप्राय नैतिक शक्ति है, तो निश्चितत: पुरुष की अपेक्षा स्त्री अधिक शक्तिशालिनी है । यदि अहिंसा हमारे जीवन का मूलमन्त्र है, तो कहना होगा कि इस देश का भविष्य स्त्रियों के हाथ में है ।"*

महात्मा गांधी को हिन्दू-विधवाओं की दयनीय दशा देख कर अपार वेदना होती थी । यद्यपि वे आत्मसंयत और मनोनिग्रह के घोर पक्षपाती थे, परन्तु उन्हें विधवा विवाह अथवा विवाह-विच्छेद पर कोई आपत्ति नहीं होती थी । वे बाल विधवाओं को कुमारियां ही मानते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में बाल विवाह कोई विवाह ही नहीं था । उन्होंने दहेज-प्रथा के विरुद्ध भी अपनी आवाज उठाई थी और लिखा था, "जब वर कन्या के पिता से, विवाह करने की दया के लिए दण्ड लेता है, तब नीचता की हद हो जाती है । पैसे के लालच से किया गया विवाह विवाह नहीं है, एक नीच सौदा है ।"‡ गांधी जी परदे की भी भर्त्सना करते थे । उनका मत था कि पवित्रता परदे की आड में रखने से नहीं पनप सकती, वह तो मन को शुद्ध रखने से पनपती है । गांधी जी अपनी पतित बहिनों को भी नहीं भूल सके । उन्होंने उन्हें पवित्र जीवन यापन की प्रेरणा दी । वे मानते थे कि वेश्यावृत्ति उतनी ही पुरातन है जितनी यह दुनिया, पर वह आज कल की तरह नगर-जीवन का नियमित अंग शायद ही कभी रही हो । उन्होंने भविष्यवाणी की थी, "हर हालत में वह समय आये बिना नहीं रह सकता जब कि मानव जाति इस पाप के विरुद्ध आवाज उठाएगी और वेश्यावृत्ति को भूतकाल की वस्तु बना देगी ।"†

शिक्षा-पुनर्गठन

महात्मा गांधी आधुनिक शिक्षा-प्रणाली के कटु आलोचक थे । भारतीय विश्वविद्यालयों के सम्बन्ध में उनका विचार था कि इनमें "विश्वविद्यालयों जैसी कोई विशेषता नहीं । वे तो पश्चिमी विश्वविद्यालयों की एक निस्तेज और निष्प्राण नकल भर हैं । यदि हम उन्हें पश्चिमी सभ्यता का स्याहीसोख मात्र कहें, तो शायद बेजा न

---

* हिन्दी नवजीवन, १०-४-३० पृ. ३७७

‡ " " ६-९-२८ पृ. २४

† हिन्दी नवजीवन २८-५-२५ पृ. ३३८

होगा ।"‡ गांधी जी भारत की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को तीन कारणों से सदोष मानते थे— '(१) यह देशी संस्कृति की पूर्ण उपेक्षा कर विदेशी संस्कृति पर आधारित है, (२) यह हृदय और हाथ की शिक्षा पर ध्यान नही देती तथा अपने को केवल मस्तिष्क की शिक्षा तक ही सीमित रखती है ।"*

महात्मा गाधी की दृष्टि में शिक्षा का सच्चा अर्थ मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा का सर्वांगीण विकास है । वे शिक्षा का चरम लक्ष्य व्यक्ति का चरित्र गठन मानते थे । उनका विश्वास था कि "साहित्यिक शिक्षा व्यक्ति की नैतिक ऊंचाई में एक इंच की भी वृद्धि नही करती और चरित्र निर्माण साहित्यिक शिक्षा से स्वतन्त्र होता है ।"‡ गाधी जी ने जन साधारण के सांस्कृतिक जागरण के लिए बुनियादी तालीम अथवा वर्धा शिक्षा योजना की नीव डाली । उनका मत था कि असली शिक्षा तो तभी आ सकती है जबकि शरीर के अवयवो हाथ, कान, नाक आदि से डट कर काम लिया जाये । वर्धा शिक्षा योजना में इस सिद्धान्त का अच्छी तरह से समावेश है । इस शिक्षा-योजना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह छात्रों को आर्थिक आत्म निर्भरता प्रदान करती है ।

वर्तमान शिक्षा-पद्धति देशी भाषाओ के विकास के प्रति उदासीन है । गाधी जी को यह इष्ट नही था । उनका कहना था कि हमें अपनी देशी भाषाओ के उत्थान की ओर ध्यान देने की प्रचुर आवश्यकता है । उन्होने लिखा था, "यह स्पष्ट है कि जब तक हम इस काम को आगे नही बढाते, हम अपने स्त्री-पुरुषो के बीच और अपने वर्गों तथा जनता के बीच बढती हुई बौद्धिक और सास्कृतिक खाई को दूर नही कर सकेंगे । यह भी निश्चित है कि देशी भाषाओ का माध्यम ही अधिक से अधिक लोगों में मौलिक विचारधारा उत्पन्न कर सकता है ।"† लेकिन इसका यह आशय कदापि नहीं था कि गाधी जी दूसरी भाषाओं और संस्कृतियों के अनुशील को वर्जित करना चाहते थे । वे तो इस सिद्धान्त के उपासक थे कि, "मै यह नही चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दीवारें खडी हो और मेरी खिडकियां बन्द हो । मै चाहता हू कि सब देशों की संस्कृतिया मेरे घर के आसपास यथासभव स्वतन्त्रता पूर्वक बहे, परन्तु उनमें से कोई भी मेरे पैरों को उखाड़ दे, यह मै अस्वीकार करता हूं ।"* गाधी जी कहा करते थे कि उच्च कोटि के विद्वान पुरुषों को अग्रेजी भाषा का ही क्या, अन्यान्य समृद्ध विदेशी

‡ हरिजनसेवक २१-१-४२ पृ. ९१
* यग इंडिया १-९-२१, पृ २७६
‡ " " १-६-२१ पृ. १७२
† यंग इण्डिया, २५-४ २० पृ. ४६५
* " " १-६-२१ पृ. १७०

भाषाओं का भी अध्ययन कर उनकी चुनी हुई पुस्तकों का देशी भाषाओं में अनुवाद प्रस्तुत करना चाहिए।

हमारे वर्तमान शिक्षा-संगठन में एक भारी त्रुटि यह है कि इसमें छात्रों को नैतिक शिक्षा देने की कोई समुचित व्यवस्था नही की गई है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि आज के युग में राजनीतिक और सामाजिक जीवन के प्रासाद को नैतिक आधार पर खडा करना अतीव आवश्यक है। गाधी जी इस त्रुटि को दूर करने के लिए विद्यालयो में धार्मिक शिक्षाके पक्षपाती थे धार्मिक शिक्षासे उनका यह अभिप्राय कदापि नही था कि बच्चों को धर्म विशेष की रूढियो का ज्ञान कराया जाये। धार्मिक शिक्षा से उनका मन्तव्य यही था कि छात्रोको सत्य, अहिंसा अपरिग्रह, और ब्रह्मचर्य आदि उन सर्वभौम नैतिक सिद्धान्तों का ज्ञान कराया जाये जो सब धर्मों के मूल मे समान रूप से विद्यमान हैं।

महात्मा गाधी शराब, अफीम, गाजा आदि मादक द्रव्यो के घोर विरोधी थे। उनकी इच्छा थी कि लोग शराब पीना छोड दे क्योकि मद्यपान विषपान से भी अधिक घातक है। विष तो शरीर की हत्या करता है पर मद्य आत्मा को मार डालता है और मनुष्य को पशु बना देता है। गाधी जी मद्यपान को दुर्गुण की अपेक्षा बीमारी अधिक मानते थे। उनका कहना था, 'मै ऐसे बहुत से व्यक्तियों को जानता हू जो यदि शराब को छोड सकते, तो सहर्ष छोड सकते। मै कुछ ऐसे व्यक्तियो को जानता हू जिन्होंने कहा है कि यदि हमसे मद्यपान का लालच दूर कर दिया जाये, तो हम मद्यपान को अवश्य छोड देंगे। मद्यपान का लालच उनमे दूर किया गया फिर भी वे लुक-छिप कर मद्यपान करते हैं।...रोगी व्यक्तियो को स्वय अपने ही विरुद्ध उपचार की आवश्यकता है।"* गाधी जी का सरकार के लिए परामर्श था कि वह ऐसे विश्रांति-गृह खोले, जहा थके-मादे मजदूरों को विश्राम मिले और उनके लायक खेल खेलने का अच्छा प्रबन्ध हो। इस योजना का आचरण लोगो को स्वत: मद्यनिषेध की ओर प्रवृत्त करेगा। गाधी जी का विश्वास था कि मद्यनिषेध से जनता का शारीरिक, मानसिक और नैतिक सब प्रकार का कल्याण होगा। गाधी जी द्वारा प्रवर्तित असहयोग और सविनय अवज्ञा आदोलनो मे शराब की दुकानो पर धरना देना एक जरूरी कार्यक्रम रहता था। १६३७ मे जब भारत के ग्यारह प्रातों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलो की स्थापना हुई, उन्होंने गाधी जी की इगत पर आर्थिक हानि को सहते हुए भी कई स्थानो पर मद्यनिषेध की योजना को कार्यान्वित किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्यों की कांग्रेस सरकारें मद्यनिषेध के कार्यक्रम को यथासम्भव पूरा करने का प्रयास कर रही हैं।

मद्य-निषेध

* यंग इण्डिया ६-७-२१, पृ. २१०

१५१. गांधी जी की आर्थिक विचारधारा

जिस अर्थ में हम ऐडम स्मिथ और मार्शल को अर्थशास्त्री कहते हैं, महात्मा गांधी उस अर्थ में अर्थशास्त्री नही थे, फिर भी उनके समीप अपने निर्धन देशवासियों की सहायता करने के लिए एक व्यावहारिक आर्थिक कार्यक्रम था। यद्यपि महात्मा गाधी ने अर्थशास्त्र पर कोई स्वतंत्र पोथी नही लिखी है, पर जब हम उनकी प्रकीर्ण रचनाओं का अनुशीलन करते हैं, हमारे सम्मुख उनकी आर्थिक विचारधारा का एक सजीव चित्र उपस्थित हो जाता है। महात्मा गांधी ने शास्त्रीय दृष्टि से अर्थशास्त्री न होते हुये भी भारतीय अर्थशास्त्र पर व्यापक प्रभाव डाला है और "धीरे धीरे हम देखते हैं कि सेवाग्राम की विनीत वेदी से अर्थशास्त्र का क ऐसा विशिष्ट 'स्कूल' पनपता जा रहा है जो गाधी जी के आर्थिक विचारों को क्रमबद्ध करने और एक वैज्ञानिक आधार देने में प्रयत्नरत है।"* यह ठीक है कि गाँधीवादी अर्थशास्त्र अभी शैशवावस्था में ही है और समय समय पर उसकी 'शव-परीक्षा' भी होती रही है। इतने पर भी भारत के आर्थिक जीवन मे उसका जो महत्वपूर्ण स्थान बन गया है, उसे प्रचलित नपे-तुले आर्थिक सिद्धान्तो की शब्दावली द्वारा नही नापा जा सकता क्योकि वह इन प्रचलित नपे-तुले आर्थिक सिद्धातो की मूलस्थ धारणाओं को ही खुली चुनौती देता है।

एक विशिष्ट 'स्कूल'

महात्मा गाधी की अर्थशास्त्र सम्बन्धी मान्यता पश्चिम के 'क्लासिकल' कहे जाने वाले अर्थशास्त्रियों से बिल्कुल अलग थी। वे अर्थशास्त्र को न तो मार्शल की भाति "जीवन के सामान्य व्यवहार में मानव जाति का अध्ययन" मानते थे और न प्रो० केनन की तरह "उन साधारण कारणों की जिन पर मानव प्राणियो का भौतिक कल्याण निर्भर है, व्याख्या" ही स्वीकार करते थे। महात्मा गाधी की दृष्टि में तो अर्थशास्त्र जीवन के अन्यान्य सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आदि पहलुओं से सयुक्त था। उनकी आर्थिक विचारधारा का मूलाधार उनकी नैतिकता सम्बन्धी भावना है। वे अर्थशास्त्र और नैतिकता के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं खींचते थे। नका विचार था कि वह अर्थशास्त्र जिससे किसी व्यक्ति या राष्ट्र की नैतिकता को धक्का पहुँचता है, शत बार त्याज्य है। अर्थशास्त्र और नौतिकता के प्रगाढ़ सम्बन्धों का विवेचन करते हुए उन्होने लिखा था, 'वह अर्थशास्त्र जो नैतिक मूल्य की उपेक्षा और अवहेलना करता है, झूठा है।"† उनके मत से "सच्चा अर्थशास्त्र नैतिक

अर्थशास्त्र और नैतिकता

* डा० एच. बी. पी. श्रीवास्तव : नोटस ओन गान्धियन कासेप्ट आफ इकनौमिक्स (अमृत बाजार, ११-५-५३)

† यंग इंडिया: २६ दिसम्बर '२४, पृ० ४२१

मापदंडों के कभी विरुद्ध नहीं होता ठीक उसी प्रकार जैसे कि समस्त सच्चे नीतिशास्त्र का श्रेष्ठ अर्थशास्त्र होना भी आवश्यक है। वह अर्थशास्त्र जो कुबेर की उपसना सिखाता है और दुर्बल के मूल्य पर सबल को धन बटोरने में समर्थ करता है, एक झूठा और हीन विज्ञान है। सच्चा अर्थशास्त्र तो सामाजिक न्याय का प्रतिपादन करता है, दुर्बलतम व्यक्ति के सहित सबका समान रूप से भला चाहता है और ऊंचे जीवन के लिए अपरिहार्य है।"*

आर्थिक आदर्श

यद्यपि महात्मा गांधी अपने लिए निर्धनता को ही श्रेयस्कर मानते थे, पर उनकी यह अहर्निश इच्छा रहती थी कि जन साधारण का दारिद्र्य मिटे। वे इसके लिए कठिन श्रम भी करते थे। आज समाज में धन का जो विषम विभाजन है, महात्मा गांधी उसे एक गहरी सामाजिक बुराई के रूप में देखते थे। उनके अनुसार "किसी स्वस्थ समाज के अन्दर चन्द आदमियों में धन का केन्द्रित हो जाना और लाखों का बेकार होना एक महान् सामाजिक अपराध या रोग है जिसका इलाज अवश्य होना चाहिए।"† महात्मा गांधी आर्थिक समानता को अहिंसक स्वतन्त्रता की गुरुकुंजी मानते थे। उन्होंने लिखा था, "आर्थिक समानता के प्रयत्न के माने पूंजी और श्रम के शाश्वत विरोध का परिहार करना है। उसके माने ये हैं कि एक तरफ से जिन मुट्ठी भर धनाढ्यों के हाथ में राष्ट्र की सम्पत्ति का अधिकांश एकत्रित हो गया है, वे नीचे को उतरें, और जो करोड़ों नंगे और भूखे हैं, उनकी भूमिका ऊंची उठे। जब तक मालदार और भूखी जनता के बीच यह चौड़ी खाई मौजूद है, तब तक अहिंसक राज्य पद्धति सर्वथा असभव है।......अगर सम्पत्ति का और सम्पत्ति से होने वाली सत्ता का खुशी से त्याग नही किया जायेगा और सार्वजनिक हित के लिए उनका संविभाग नही किया जायेगा, तो हिंसक क्रांति और रक्तपात अवश्यम्भावी है।"‡ महात्मा गांधी ने भारत के आदर्श आर्थिक संगठन का चित्र खीचते हुए कहा था कि "उसमें भोजन और कपड़े की किसी को कमी नहीं रहेगी।"* उनका विचार था कि यदि उत्पादन के साधनों और जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर जनता का नियंत्रण हो जाये, तो ये आदर्श सर्वत्र प्राप्त किए जा सकते हैं। वे कहा करते थे, "ये वस्तुएं सबको ठीक उसी प्रकार प्राप्त होनी चाहिये जिस प्रकार कि ईश्वर की वायु और पानी सबको प्राप्य हैं अथवा होने चहिए। उन्हें दूसरों के शोषण का साधन बना लेना उचित नहीं है।"‡ महात्मा गांधी के मत

* हरिजन' ६ अक्टूबर' ३७ पृ. २६२।

† हरिजन सेवक : ८ जून'४०, पृ० १३८

‡ गांधी जी :कंस्ट्रक्टिव प्रोग्राम इटस मीनिंग एन्ड प्लेस पृ० १८

* यंग इंडिया, १५ नवम्बर,२८ पृ.३८१

‡ " " " "

से उत्पादन के साधनों और जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं पर किसी देश, जाति या जनसमूह का एकाधिकार सर्वथा अन्याययुक्त है।

'गांवों की ओर चलो'

भारत जैसे महादेश के लिए जिसकी ९०% जनसंख्या गावों में बसती है, गांवों को उपेक्षा की दृष्टि से देखना आत्मघात के समान ही है। प्राचीन काल में भारतीय गाव जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओ में स्वाश्रयी होते थे, पचायती-प्रथा के द्वारा अपना शासन आप करते थे और देश के आर्थिक व सास्कृतिक जीवन के मेरुदण्ड बने हुए थे। महात्मा गाधी का ब्रिटिश शासन पर एक गम्भीर आक्षेप यह था कि उसने भारत के सात लाख गावो को मरणासन्न स्थिति में पहुँचा दिया है। उन्होंने देशवासियों को 'है अपना हिन्दुस्तान कहां, वह बसा हमारे गावों में' पाठ बार बार पढाया। उनका सन्देश था कि देश के सास्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर घरबार से वियुक्त एक जगह पडे रहने वाले मजदूर वर्ग का नही, अर्थ-पिशाच महाजन या व्यापारी समाज का नही, प्रत्युत सरल स्वभाव ग्रामीण जनता का प्रभुत्व होना चाहिए। इसी उद्देश्य को सामने रख कर उन्होंने "गावो की ओर चलो" नारा उठाया था। भारत के गाव अशिक्षा-तम-अंध-परम्परा और सकीर्ण दृष्टिकोण जैसी असख्य व्याधियो से पीड़ित हैं। गाधी जी ने लोगो को बताया कि वे सम्वेदनामय हृदय लेकर गावो में जायें, वहा के निवासियों के सुख-दुख में एक रस होकर घुले-मिलें, उनकी समस्याओं को सहानुभूति से समझें और उनके समाधान में प्रवृत्त हों। गाधी जी का यह विश्वास था कि यदि गाव नष्ट हो गये, तो भारत नष्ट हो जायेगा, भारत के अस्तित्व के लिये ग्रामो का उत्थान अतीव आवश्यक है। वे कहा करते थे, 'अब तक हमें जीवित रखने के लिये सहस्रों गांव मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं। अब हमें उनको जीवित रखने के लिये मृत्यु को प्राप्त होना चाहिए।"* उनकी ग्राम-स्वराज की मान्यता ऐसे पर्ण गणराज्य की मान्यता थी जो अपनी बडी-बडी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये अपने पडोसियो से स्वतन्त्र हो,लेकिन ऐसी बहुत सी वस्तुओं में जिनमें अन्योन्याश्रित होना आवश्यक है, अन्योन्याश्रित भी हो।

मशीनों का विरोध

मशीनें जो आधुनिक सभ्यता की केन्द्रविन्दु हैं, गांधी जी की दृष्टि में महापाप हैं, क्योंकि वे "साप के बिल हैं जिनके भीतर एक नही सैंकडो साप होते हैं। एक के पीछे दूसरा निकलता ही आता है। जहा कल-कारखाने होगे, वहां बड़े शहर होगे ही। जहां शहर हों वहा रेल और ट्राम होनी ही चाहिये।

---

* यंग इंडिया: १७ अप्रैल, २४, पृ. १३०।

बिजली की रोशनी की जरूरत भी नहीं होती है। आप सच्चे वैद्य-डाक्टर से पूछें तो वे आपको बतायेंगे कि जहां रेल, ट्रमें आदि बढ़ी हैं, लोगों की तन्दुरुस्ती बिगड़ गई है।"†

भारत की आर्थिक अधोगति में कल-कारखानों की मार का बहुत बडा हाथ रहा है। मैंचेस्टर की मार ने भारत को जो हानि पहुँचाई है, उसकी कोई हद नही। भारत के हस्त-कला कौशल जो प्राय: समाप्त हो गए, यह मैंचेस्टर की ही कृपा है। गांधी जी के अनुसार भारत में मिलें खडी करने से यह अधिक अच्छा होगा कि हम मैंचेस्टर को पैसा दें और उसका रद्दी सद्दी माल इस्तेमाल करें क्योंकि "उसका कपडा काम में लाने से तो हमारा केवल पैसा ही जायेगा" जबकि "हिन्दुस्तान में मैंचेस्टर बनाने से हमारा पैसा तो हिन्दुस्तान में रहेगा पर वह हमारा खून लेगा क्योंकि वह हमारे चरित्र का नाश करेगा।... यह मानना ना समझी ही होगा कि अमरीका के राकफेलर से हिन्दुस्तान का राकफेलर अच्छा होगा।"*

मशीनो के ऊपर गांधी जी का मुख्य आक्षेप यह है कि "वे श्रम की इतनी बचत कर डालती हैं कि हजारो को भूखो मरना पड़ता है और उन्हें तन ढकने तक को कुछ नही मिलता।"‡ समय और परिश्रम का बचाव गांधी जी भी चाहते थे लेकिन "वह मुट्ठी भर आदमियों के लिए नही बल्कि सारी मानव-जाति के लिए।... आज यन्त्रों के कारण लाखों की पीठ पर मुट्ठी भर आदमी सवार हो बैठे हैं और उन्हे सता रहे हैं क्योंकि इन यन्त्रों के चलाने के मूल में लोभ है, धनतृष्णा है, जन कल्याण की भावना नही।"†

लेकिन गांधी जी यन्त्रमात्र के विरोधी नही थे क्योंकि "मैं जनता हू मेरा शरीर ही एक बडा नाजुक यन्त्र है। मेरा विरोध यन्त्रो के सम्बन्ध में फैले दीवानेपन के साथ है, यंत्रों के साथ नही।"* गांधी जी सिंगर की मशीन जैसी उपयोगी मशीनो का कोई विरोध नही करते थे। उनका कहना था कि हमें उन घरेलू मशीनो में जिनका प्रयोग लाखों स्त्री पुरुष कर सकें, हर प्रकार के सुधार का स्वागत करना चाहिए।

गांधी जी की आर्थिक विचारधारा में कुटीर उद्योगों के जीर्णोद्धार को बहुत

---

† गांधी जी: हिन्द स्वराज्य (हिन्दी, सस्ता साहित्य मंडल '४७) पृ. १०९-११०।
* गान्धी जी- हिन्द स्वराज्य पृ. १०७
‡ हिन्दी नवजीवन २ नवम्बर' २४ पृ. ६०
† हिन्दी नवजीवन २ नवम्बर: २४ पृ. ६०
* " " "

आवश्यक स्थान प्राप्त ह । उनके अनुसार अहिंसा और
केन्द्रित उद्योगों का एक साथ निर्वाह नही हो सकता । कुटीर उद्योगों का
विशाल पैदावार प्रकृति और मनुष्य दोनों का शोषण करता जीर्णोद्धार
है । फलतः गांधी जी भारत के उद्योगीकरण के विरोधी
थे । इस सम्बन्ध में उन्होंने यह स्पष्ट लिखा था, "जब भारत का उद्योगीकरण हो जाता है और वह दूसरे राष्ट्रो का शोषण प्रारम्भ कर देता है जैसा कि उसके उद्योगीकरण पर अवश्यम्भावी ही है, तब वह दूसरे राष्ट्रों के लिए एक अभिशाप संसार के लिए एक खतरा बन जाएगा । क्या आप स्थिति की यह दुर्घटना नही देखते हैं कि हम अपने तीस लाख बेकार लोगों के लिए काम पा सकते है लेकिन इंगलैण्ड अपने तीन लाख बेकार लोगों के लिए काम नही पा सकता और एक ऐसी समस्या से घिरा हुआ है कि जिसके समाधान में वहा के बडे बडे बौद्धिक दिग्गजों की बुद्धि हैरान है ।...यदि उद्योगीकरण का भविष्य पश्चिम के लिए अंधकारमय है, तो क्या वह भारत के लिए और अधिक अंधकारमय नही होगा ।"*

गांधी जी भारत में खादी और चरखे के प्रचार को अत्यधिक महत्व देते थे । वे खादी को मुक्तिदाता और चरखे को स्वराज्य का सबसे बडा हथियार कहा करते थे । चरखा उनके अहिंसक समाज की बुनियादी ईंट था । गांधी जी की दृष्टि में चरखा उनके रचनात्मक कार्यक्रम के ग्रहमण्डल में सूर्य के सदृश था । उन्होने बताया कि जिस प्रकार भारत के किसान अपने पेट के लिए अनाज पैदा करके स्वाश्रयी बने हुए हैं, उसी तरह वे अपने खेतो में पैदा की हुई कपास को अवकाश में कातकर कपडा तय्यार कर सकते हैं और विदेशो में जाने वाले करोडो रुपयो को बचा सकते हैं । मनुष्य की दो ही बडी आवश्यकताये हैं-रोटी और कपडा । जब वे उसे स्वतः प्राप्त हो जायेंगी उसे दूसरो के मुंह की ओर न ताकना पडेगा, वह स्वावलम्बी और स्वाश्रयी बन जाएगा । खादी के सम्बन्ध में उन्होने स्पष्ट घोषणा की थी, "स्वराज्य के समान खादी भी राष्ट्रीय जीवन के लिए श्वास जितनी ही आवश्यक है । जिस तरह हम स्वराज को नही छोड सकते, उसी तरह खादी को भी नही छोड सकते । खादी छोड़ देने के माने होगे-भारत की जनता को बेच देना, भारत की आत्मा को बेच देना ।"‡ महात्मा गांधी ने खादी और चरखे के प्रचार के लिए चरखा संघ की स्थापना की थी । चरखा संघ की शाखाओं-प्रशाखाओ ने सारे भारत में फैल कर लाखो लोगो को खादी-चरखे का भक्त बनाया ।

महात्मा गांधी साम्यवादी विचारकों द्वारा प्रतिपादित वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त में

---

* यंग इंडिया: १२ नवम्बर '२४ पृ. ३८६ ।

‡ हिन्दी नवजीवन: १९ जनवरी' २८ पृ. १७३ ।

विश्वास न रख कर वर्ग-सहयोग और वर्ग-सामंजस्य के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। उन्हें श्रमिकों द्वारा पूंजीपतियों का उन्मूलन इष्ट नहीं था।

श्रम और पूंजी

क्योंकि उनकी धारणा थी कि पूंजीपतियों का भी, चाहे वे कितनी ही शोषक-वृत्ति के क्यों न हों, हृदय परिवर्तन हो सकता है। गांधी जीके मतसे यदि पूंजीपति श्रमिकों के प्रति पितृात्मक भाव अपना लें और उन्हे अपने धनोपभोग में सहभागी बना लें, तो वे भी समाज के प्रति अपूर्व उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। अपने एक वक्तव्य में उन्होने कहा था, "श्रमिकों को पैदावार के साधनों का सेवक होने के स्थान पर, जैसा कि वह आजकल हैं, स्वामी होना चाहिए। पूजी को श्रम का दास होना चाहिए स्वाम नही।"* गांधी जी की श्रमिकों और पूंजीपतियों दोनों के लिए यह सलाह उचित ही थी कि उन्हें एक ओर तो एक दूसरे का तथा दूसरी ओर उपभोक्ताओ का ट्रस्टी बन जाना चाहिए। यदि वे ऐसा कर सकें, तो उनके आपसी विवाद नाममात्र को ही रह जायेंगे।

महात्मा गांधी का विचार था कि श्रमिको को उद्योगों के प्रबन्ध और नियमन में भाग लेने का, उचित अवकाश, अच्छे वेतन पाने का अधिकार मिलना चाहिए। वर्तमान काल में श्रमिकों की जो दयनीय स्थिति है, उससे उन्हें अपार क्षोभ होता था, और उनका यह बार-बार कहना था कि श्रमिको के नैतिक और बौद्धिक विकास के लिए भगीरथ कोशिश करने की प्रचंड आवश्यकता है। यदि पूंजीपति श्रमिकों की न्याययुक्त मागों को पूरा करने के लिए किसी भी प्रकार तय्यार न हों, तो गाधी जी के अनुसार श्रमिकों को अहिंसक हड़ताल करने का पूरा अधिकार है।

---

* डा० धावन द्वारा उद्धृत - पोलिटिकल फिलासफी आफ महात्मा गांधी पृ. २३६

अनुक्रमणिका

सहायक ग्रन्थों की सूची

BIBLIOGRAPHY

Author	Title
Adhikari, G	*Pakistan and National Unity*
Ahmad, J	*The Indian Constitutional Tangle*
Aiyer, Sir P S S	*Indian Constitutional Problems*
Ali, C Rahmat	*The Millat and the Mission*
"	*Pakistan*
Ambedkar, B.R	*Thoughts on Pakistan*
"	*Pakistan*
Anantanarayan, P K. :	*India, Bound and Free*
Ashraf, K M (Ed.)	*Pakistan*
Ashraf, Mohammad	*Cabinet Mission and After*
Bannerjee, A C	*Indian Constitutional Documents 3 vols*
"	*The Constitution of the Indian Republic*
Bannerjee, A K. .	*A Study of the New Constitution of India*
Bannerjee, D N	*Some Aspects of the New Constitution*
Bannerjee, H N	*India's New Constitution*
Bannerjee, Surendranath	*A Nation in Making*
Basu, B D.	*India Under the British Crown*
"	*Rise of Christian Power in India*
Besant, Annie	*How India Wrought for Freedom*
Beverley, Nicholas	*Verdict on India*
Bose, Subhas C.	*The Indian Struggle*
Bose, N.K :	*Selections from Gandhi*
Bowen, H C. .	*Mohammadenism in India*
Brailsford, H N.	*Rebel India*
"	*Subject India*
Brockway, A. Fenner :	*A Week in India*
Buch, M.A	*Rise of Indian Nationalism*
Casey, R G	*An Australian in India*
Chakravarti, A	*Call it Politics ?*
"	*Hindus and Mussalmans in India*
Chatterjee, A C	*India's Struggle for Freedom*
Chintamani, C.Y	*Indian Politics Since the Mutiny*
Chintamani and Masani :	*Indian Constitution at Work*
Chirol V.	*Indian Unrest*
Coatman, J.	*The Indian Riddle*
"	*The Years of Destiny*
Cobban, A. :	*National State and Self-determination*

Cotton, H. . *New India*
Coupland, R. : *The Indian Problem 1833-1935*
,, *Indian Politics 1936-42*
,, *The Future of India*
,, *India, A Restatement*
Dalal, Sir A. *An Alternative to Pakistan*
Datta, K K· *India's March to Freedom*
Desai, A.R. *Social Background to Indian Nationalism*
Dhawan, G.N. · *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi*
Durrani, F.M. : *The Meaning of Pakistan*
Dutt, R P *India Today*
Edib, Hilde *Inside India*
Fischer, Louis *Imperialism*
,, *A Week with Gandhi*
,, *The Life of Mahatma Gandhi*
Friedmann, W. *The Crisis of National State*
Fox, Ralph *Colonial Policy of British Imperialism*
Gadgil, D. R. *The Industrial Development of India in Recent Times*
Gandhi, M.K. : *My Experiments with Truth*
,, *Hind Swaraj*
,, *Satyagraha*
,, *To the Protagonists of Pakistan*
,, *Delhi Diary*
Garrat, G T *An Indian Commentary*
Hamza, El *Pakistan a Nation*
Hoyland, J S. *Indian Dawn*
,, *Gopal Krishna Gokhale, His Life & Speeches*
Hunter, Sir W. *The Indian Mussalmans*
Iqbal, Sir Mohd *Letters to Jinnah*
Irwan, Lord · *Some Aspects of the Indian Problem*
Jinnah, M A. *Speeches and Writings*
Jones, G.E *Tumult in India*
Joshi, G N. *The Constitution of India*
Kabir, Hamayun *Muslim Politics 1905-42*
Khan, The Aga *India in Transition*
Khan, Sir Sikandar Hayat : *Outlines of a Scheme of Indian Federation*
Keith, A.B *A Constitutional History of India*
Krishna, K B *The Problem of Minorities*
Lajpat Rai *Young India*
Latif, S A *The Muslim Problem in India*
Lele, R P. *Constituent Assembly*
Lovett, V. *History of the Indian Nationalist Movement*

Macartney, C A. — *National States and National Minorities*
Macdonald J Ramsay — *The Awakening of India*
Macnicol, N — *The Making of Modern India*
Majumdar, B — *Indian Political Thought from Ram Mohan to Dayanand*
Manshardt, C — *The Hindu Muslim Problem*
Mazumdar, A C — *Indian National Evolution*
Mehta and Patwardhan — *The Communal Triangle in India*
Mitchell, Kate — *India, an American View*
Moon, P — *Strangers in India*
Mukherjee, Radha Kamal — *An Economist Looks at Pakistan*
Mukherjee, Radha Kumud — *A New Approach to the Communal Problem*
Munshi, K M — *I Follow the Mahatma*
,, — *The Changing Shape of Indian Politics*
Narain, Jai Prakash — *Towards Struggle*
Naik, V N — *Indian Liberalism*
Nehru, Jawaharlal — *Autobiography*
,, — *Unity of India*
,, — *Discovery of India*
,, — *Independence and After (Speeches)*
Noaman, M. — *Muslim India*
Pal, B C — *The New Spirit*
,, — *Memories of My Life and Times*
Palande, M R — *Indian Administration*
Paranjpye R P — *The Crux of the Indian Problem*
Payne, Robert — *The Revolt of Asia*
Phillip, H C — *India*
Pithwala, M A — *An Introduction to Pakistan*
Polak, Brailsford and Pethick-Lawrence — *Mahatma Gandhi*
Prabhu, R K Lobo — *The Mind of Mahatma Gandhi*
Pradhan, R G — *India's Struggle for Swaraj*
Prasad, Beni — *India's Hindu-Muslim Problem*
Prasad, Rajendra — *India Divided*
,, — **खण्डित भारत**
,, — *Pakistan*
"Punjabi, A" — *The Confederacy of India*
Punniah, K M — *India's Constitutional History*
Rai, Ganpat (Ed) — *Pakistan X-rayed*
Rajput, A.B — *The Muslim League*
Run, K S — *The Crisis in India*
Rezul Karim — *Pakistan Examined*
Raghuvanshi, V.P S — *Indian National Movement and Thought*
Ramaswami, M. : — *The Constitution of Indian Republic*
Santhanam, K. . — *The Constitution of India*

Sayyid, H.M.	*Mohammad Ali Jinnah*
Sen, D.K	*Revolution by Consent ?*
Shah, K.T	*Why Pakistan, Why Not ?*
Sharma, Sri Ram	*The Constitutional History of India*
Shevlankar	*The Problem of India*
Shukla, V N	*The Constitution of India*
Singh, Gurmukh Nihal	*Landmarks in Indian Constitutional and National Development*
"	भारत का वैधानिक एवं राष्ट्रीय विकास
Sitaramayya, P	*The History of the Indian National Congress—2 vols*
"	कांग्रेस का इतिहास
"	*The History of the Nationalist Movement in India*
Smith, Robert A.	*Divided India*
Smith, W.C.	*Modern Islam in India*
Smith, W R	*Nationalism and Reform in India*
Spear, Percival :	*India, Pakistan and the World*
Spratt, Phillip :	*Gandhism*
Symonds, R	*The Making of Pakistan*
Thompson, E	*The Other Side of the Medal*
Thompson, E	*The Reconstruction of India*
Thompson, E	*Enlist India for Freedom*
Topa, I N	*The Growth and Development of Nationalist Thought in India*
Venkataraman, T S.	*A Treatise on Secular State*
Williams, Rushbrooke .	*What about India ?*
Zacharias, H.C.E	*Renascent India*
Zimmaern, A E	*Nationality and Government*